श्री सिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनम्

(बृहद्वृत्ति-लघुन्यास सहित)

चतुर्थो भागः

-: संपादक :-

आचार्यदेव रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरि प्रणीतं

श्री सिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनम्

[स्वोपज्ञ बृहद्वृत्ति एवं श्री कनकप्रभमनीषी विरचित
न्याससार-समुद्धार (लघुन्यास) सहितम्]

चतुर्थो भागः

-: संपादक :-

दीक्षा युग प्रवर्तक, परमशासन प्रभावक पूज्यपाद आचार्यदेव
श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा. के तेजस्वी शिष्यरत्न
बीसवीं सदी के महान्योगी, भावाचार्य तुल्य पूज्यपाद
पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य श्री के
चरम शिष्यरत्न जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर
पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

259

卐 प्रकाशन 卐

दिव्य सन्देश प्रकाशन
C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor,
बे.व्यु. बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे,
डॉ.एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002.
Cell 84 84 84 84 51 (only whatsapp)

आवृत्ति : द्वितीय • **मूल्य** : 1270/- रुपये • **प्रतियाँ** : 300
विमोचन दिनांक और स्थल : दि. 20-7-2025 • उदयपुर (राजस्थान)

प्रताकार में आद्य संपादक : विद्वद्वर्य पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय **उदयसूरीश्वरजी म.सा.**
पुस्तकाकार में प्रथम आवृत्ति संपादक : विद्वद्वर्य **पू.पं. श्री वज्रसेनविजयजी म.सा.** एवं **पू.मु. श्री रत्नसेनविजयजी म.**
पुस्तकाकार में द्वितीय आवृत्ति संपादक : मरुधर रत्न **पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.**

आजीवन सदस्य योजना

आजीवन सदस्यता शुल्क - 4000/- रु.

• आप जैन धर्म के रहस्य, जैन इतिहास, जैन तत्त्वज्ञान, जैन आचार मार्ग, प्रेरणादायी कथाएँ आदि का अध्ययन करना चाहते हों तो आज ही आप **दिव्य संदेश प्रकाशन** मुम्बई की आजीवन सदस्यता प्राप्त कर लें। सदस्य बनते ही अध्यात्मयोगी निःस्पृह शिरोमणि स्व. पूज्यपाद पंन्यासप्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** एवं उन्हीं के चरम शिष्यरत्न प्रवचन प्रभावक परम पूज्य ***आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.*** सा. द्वारा लिखित उपलब्ध 7 पुस्तकें दी जाएंगी और **अर्हद् दिव्य संदेश** मासिक तथा भविष्य में हिन्दी भाषा में प्रकाशित पुस्तकें (Open Book Exam साधु–साध्वी उपयोगी पुस्तकें एवं पुनः मुद्रित पुस्तकों को छोड़कर) घर बैठे प्राप्त होगी। आप आजीवन सदस्यता शुल्क मुंबई या बैंगलोर के पते पर दिव्य संदेश प्रकाशन-मुंबई के नाम से चैक व ड्राफ्ट से भेजें।

प्राप्ति स्थान

1. चेतन हसमुखलालजी मेहता
भायंदर (M.S.)
M. 9867058940

2. प्रवीण गुरुजी
C/o. श्री आत्म कमल लब्धिसूरि जैन पुस्तकालय
श्री आदिनाथ जैन टेंपल,
चिकपेठ, बेंगलोर-560 053.
M. 9036810930

3. चंदन एजेन्सी
607, चीरा बाजार,
मुंबई-400 002.M.9820303451

आजीवन सदस्यता शुल्क
Rs. 4000/- भिजवाने का पता एवं पुस्तक-प्राप्ति-स्थान :

(1) दिव्य संदेश प्रकाशन
C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डिंग,
विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी,
मुंबई-400 002. Mobile : 84 84 84 84 51 (only whatsapp)

(2) दिव्य संदेश प्रचारक
प्रकाश बड़ोल्ला, 52, 3rd Cross, शंकरमट रोड, शंकरपुरा,
बैंगलोर-560 004. M. 8971230600

प्रकाशक की कलम से...

कलिकाल सर्वज्ञ श्रीमद् हेमचन्द्राचार्यजी ने गुजरात के सम्राट् **सिद्धराज** की हार्दिक विनती का स्वीकार कर **``सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम्''** नाम के संस्कृत व्याकरण की रचना की थी ।

इस व्याकरण के ऊपर हेमचन्द्रसूरिजी म. ने 6000 श्लोक प्रमाण लघुवृत्ति, 18000 श्लोक प्रमाण बृहद्वृत्ति तथा 84000 श्लोक प्रमाण बृहन्न्यास की रचना की थी । वर्तमान में लघुवृत्ति एवं बृहद्वृत्ति तो पूर्ण रुप से उपलब्ध है परन्तु बृहन्न्यास आंशिक रुप से उपलब्ध है । परंतु उसी बृहन्न्यास के आधार पर चांद्रगच्छीय देवेन्द्रसूरिजी म. के शिष्य आचार्य श्री कनकप्रभसूरिजी म. ने लघुन्यास की रचना की थी जो वर्तमान मे पूर्णरुप से विद्यमान है ।

इस बृहद्वृत्ति व लघुन्यास का प्रताकार रुप में प्रथम मुद्रण वि.सं. 1962 में विद्वद्वर्य पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय उदयसूरिजी म. ने करवाया था ।

उसके ठीक 80 वर्ष बाद वि.सं. 2042 में पू.मु. श्री वज्रसेनविजयजी म. एवं **पू.मु. श्री रत्नसेनविजयजी म.** ने इस ग्रंथ का संपादन किया था ।

आज उस ग्रंथ की प्रतियाँ अप्राप्त हो गई है और वे प्रतियाँ जीर्ण भी हो गई है ।

उन ग्रंथों की वर्तमान स्थिति को देख मरुधररत्न **पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.** के दिल में उन ग्रंथों के पुनः संपादन की भावना जागृति हुई । प्रवचन, लेखन व संघ शासन की अनेकविध जवाबदारियों के बीच भी पूज्यश्री ने इस ग्रंथ का पुनः संपादन कर पूर्व प्रकाशन में रही भूलों का परिमार्जन किया है ।

पूर्व प्रकाशित ग्रंथों में कंपोजिंग पद्धति से Type Setting किया जाता था, अतः कई बार कई अक्षर टूट जाते थें, इस कारण भी मुद्रण में कई अशुद्धियाँ रह जाती थीं ।

इस बार कम्प्यूटर Type Setting कराया गया और टिकाऊ कागजों पर स्वच्छ मुद्रण किया गया है ।

पूर्व में तीन भागों में प्रकाशित इन ग्रंथों को इस बार चार भागों में विभक्त किया है । परम शासन प्रभावक, दीक्षा युग प्रवर्तक **पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा. की 34वीं पुण्यतिथि** असाढ वदी-14, दि. 23-7-2025 के शुभ दिन उन चार भागों का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यंत हर्ष हो रहा है ।

हमें आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि इस ग्रंथ का स्वाध्याय कर पाठक गण संस्कृत व्याकरण का सत्य बोध प्राप्त कर सकेंगें ।

तत्वज्ञान की प्राप्ति के लिए संस्कृत भाषा का बोध खूब जरुरी है ।

भाषा बोध के साधनरुप इन ग्रंथों के स्वाध्याय के बल से पूर्वाचार्य विरचित तत्त्वज्ञान के अमूल्य खजाने को प्राप्त कर सकते है ।

बस, सभी आत्माएं संस्कृत भाषा में प्रवीणता प्राप्त कर उसके माध्यम से वीतराग कथित तत्त्वज्ञान का सम्यग्बोध प्राप्त कर अपने जीवन को सफल व सार्थक बनाएं, इसी मंगल कामना के साथ ।

आभार-दर्शन

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्यजी विरचित

''सिद्धहेमचन्द्र शब्दानुशासनम्''

(स्वोपज्ञ बृहद्वृत्ति एवं साहित्य मनीषी कनकप्रभसूरि विरचित न्याससार समुद्धार-लघुन्यास सहितम्) के चतुर्थ भाग के प्रकाशन में

मरुधररत्न पू.आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा. की शुभ निश्रा में भद्रंकर नगर-लुणावा में मु. ललितभाई मण्डलेशा की भागवती दीक्षा प्रसंग पर ज्ञान खाते संबंधी चढावे की रकम में से अमूल्य सहयोग प्राप्त हुआ है । इसके लिए हम उनके खूब आभारी हैं ।

सूचना :– **प्रस्तुत ग्रंथ के प्रकाशन में ज्ञानखाते की रकम का उपयोग हुआ है,** अत: कोई भी सद्गृहस्थ उसका मूल्य ज्ञानखाते में जमा कराकर उसकी मालिकी रख सकते है ।

–: निवेदक :–

दिव्य संदेश प्रकाशन-मुंबई

॥ अर्हम् ॥

संपादक की कलम से...

आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

अनंतज्ञानी, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवंतोंने ज्ञान के पाँच भेद बतलाए हैं–(1) मतिज्ञान, (2) श्रुतज्ञान, (3) अवधिज्ञान, (4) मन: पर्यवज्ञान और (5) केवलज्ञान ।

❖ इन पाँच ज्ञानों में मति और श्रुतज्ञान आत्म-परोक्ष हैं और अवधि, मन:पर्यव और केवलज्ञान आत्म-प्रत्यक्ष है ।

❖ छद्मस्थ आत्मा को इन पाँचों ज्ञानों में से चार ज्ञान संभव / शक्य हैं । केवलज्ञान की प्राप्ति एकमात्र वीतराग आत्मा को ही होती है ।

❖ इन पाँच ज्ञानों में से प्रथम चार ज्ञान का विषय मर्यादित / सीमित है, जबकि केवलज्ञान का विषय अनंत है । केवलज्ञान के द्वारा आत्मा जगत् के समस्त पदार्थों के समस्त पर्यायों को साक्षात् जान सकती है ।

❖ इन पाँचों ज्ञानों में एकमात्र **'श्रुतज्ञान'** की ही अभिव्यक्ति हो सकती है, शेष चार ज्ञान मूक हैं ।

❖ इन पाँचों ज्ञानों में परोपकार में समर्थ एकमात्र **'श्रुतज्ञान'** ही है शेष चार ज्ञान स्वोपकार प्रधान है ।

❖ इन पाँचों ज्ञानों में से एकमात्र श्रुतज्ञान का ही आदान-प्रदान हो सकता है, शेष चार ज्ञानों का नहीं ।

जैनशासन का लोकोत्तर-व्यवहार मार्ग 'श्रुतज्ञान' के ऊपर ही अवलंबित है और इस व्यवहार का पालन तीर्थंकर परमात्मा और अन्य केवली भगवंत भी करते हैं ।

❖ तीर्थंकर परमात्मा भी समवसरण में बैठकर देशना के प्रारम्भ में **'नमो तित्थस्स'** कहकर द्वादशांगी रूप **'श्रुतज्ञान'** को नमस्कार करते हैं ।

❖ तीर्थंकर परमात्मा भी केवलज्ञान द्वारा दृष्ट जगत् के भावों का निरूपण **'द्रव्य-श्रुत'** के माध्यम से ही करते है । इसीलिए प्रभु की वाणी **'सम्यग्श्रुत'** स्वरूप है ।

❖ जैनागमों में **'नमो बंभीलिवीए'** कहकर श्रुत की जननी-स्वरूप ब्राह्मी-लिपि को भी नमस्कार किया गया है ।

❖ 'श्रुत' के सम्यग् बोध के लिए और द्वितीय महाव्रत के पालन / रक्षण व संवर्धन के लिए व्याकरण का सम्यग्बोध अत्यंत ही जरूरी है ।

'प्रश्नव्याकरण' रूप दसवें अंग में कहा गया है–

अह केरिसयं पुणाइ सच्चं भासिअव्वं ?
जं तं दव्वेहिं पज्जवेहिं य गुणेहिं कम्मेहिं बहुविहेहिं

सिप्पेहिं आगमेहिं य नामक्खायनिवायउवसग्ग-तद्धिअ-समास-संधि-पदहेतु-जोगिय-उणाइ-किरिआविहाण-धातु-सर-विभत्ति-वण्णजुत्तं तिकल्लं दसविहं सच्चं....वत्तव्वं । (सूत्र 24)

अर्थ :– हे भगवंत ! किस प्रकार का सत्य बोलना चाहिये ?

(भगवान–) जो द्रव्य, पर्याय, गुण, कर्म, बहुविधशिल्प तथा आगम से युक्त हो और नाम, आख्यात, उपसर्ग, तद्धित, समास, संधि, पदहेतु, योगिक, उणादि, क्रिया-विधान, धातु-स्वर, विभक्ति और वर्ण से युक्त हो, वैसा त्रिकालविषयक दसविध सत्य बोलना चाहिये ।

इस आगम-प्रमाण से स्पष्ट है कि मोक्षाभिलाषी मुमुक्षु आत्मा को श्रुत के सम्यग् बोध के लिए व्याकरण-शास्त्र का अवश्य अभ्यास करना चाहिये ।

महोपाध्याय श्रीमद् विनयविजयजी म. ने **'हैमलघुप्रक्रिया'** के मंगलाचरण में **'श्री हैमव्याकरण'** को भी नमस्कार किया है और उन्होंने युक्ति-प्रयुक्ति के द्वारा उसकी नमस्करणीयता को सिद्ध किया है ।

'श्रीहैमव्याकरण' सम्यग्दृष्टि द्वारा प्रणीत होने से श्रुतज्ञान रूप है और सकल शास्त्रों की व्युत्पत्ति बोध में हेतु रूप होने से लोक में भी महान् उपकारी है, अत: उसको नमस्कार समुचित ही है और यह व्याकरण सरस्वती रूप होने से व्याकरण को नमस्कार करने से सरस्वती को भी नमस्कार हो जाता है ।

व्याकरण की महिमा का गान करते हुए किसी विद्वान् ने ठीक ही कहा है–

अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां, शब्दा एव निबन्धनम् ।
तत्त्वावबोध: शब्दानां, नास्ति व्याकरणं विना ।।

अर्थ :– विषयक प्रवृत्ति के रहस्य में शब्द ही कारण हैं और शब्दों का वास्तविक बोध व्याकरण के बिना संभव नहीं है ।

व्याकरण के सम्यग् बोध के अभाव में वाणी के विचित्र (उपहास्य) प्रयोगों पर कटाक्ष करते हुए किसी कवि ने ठीक ही कहा है–

नाङ्गीकृतं व्याकरणौषधानां, अपाटवं वाचि सुगूढमास्ते ।
कस्मिंश्चिदुक्ते तु पदे कथंचित् स्वैरं वपु: स्विद्यति वेपते च ।।

भावार्थ :– 'जिन व्यक्तियों ने व्याकरण रूप औषध का सेवन नहीं किया है, उनकी वाणी में अत्यंत अपटुता होती है और इस कारण जब वे किसी व्याकरणविद् के मुख से कोई पद / वाक्य सुनते हैं...तो उस वाक्य के अनवबोध के कारण उनके देह में पसीना छूटने लगता है और उनकी देह काँपने लगती है ।'

अस्तु ! विद्वज्जन के आगे व्याकरण की महिमा का गान, यह तो माता के सामने, मामा के घर के वर्णन समान ही है, क्योंकि विद्वज्जन व्याकरण के माहात्म्य से सुपरिचित ही होते हैं ।

प्रस्तुत **'श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम्'** के ग्रन्थकर्ता कलिकालसर्वज्ञ **श्रीमद् हेमचन्द्राचार्यजी** के पुण्यनाम से भला कौन अपरिचित होगा ? वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी

थे । गुर्जरसम्राट् सिद्धराज और परमार्हत् कुमारपाल को प्रतिबोध कर, उन्होंने जिनशासन की अद्‌भुत प्रभावना की हैं । उनके विराट् व्यक्तित्व का परिचय वाणी से अगोचर है, फिर भी प्राचीन और अर्वाचीन अनेक विद्वानों ने उनके विराट् व्यक्तित्व को आंशिक रूप से शब्द-देह देने का प्रयास किया है ।

'सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम्' के तृतीय भाग में मैंने ग्रंथकार का संक्षिप्त जीवन-परिचय देने का अल्प प्रयास किया है, परन्तु वह परिचय तो बालक द्वारा अपने हाथ पसार कर उदधि / सागर का माप बतलाने तुल्य ही है ।

कलिकालसर्वज्ञ श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य भगवंत के विराट् व्यक्तित्व का परिचय देने वाली तत्कालीन विद्वानों की अनेक काव्य-पंक्तियाँ इतिहास के स्वर्ण-पृष्ठों पर अंकित हैं, उनमें से कतिपय पंक्तियाँ यहाँ उद्‌धृत की जा रही है–

विराट् आत्मा का विराट् व्यक्तित्व और अद्‌भुत कृतित्व

(1) **सम्यग्ज्ञाननिधेर्गुणैरनवधेः श्रीहेमचन्द्रप्रभोः ।**
ग्रंथे व्याकृतिकौशलं, वसति तत् क्वास्मादृशां तादृशं ।।

अर्थ :– सम्यग्ज्ञान के निधि और गुणों से अवधि रहित श्री हेमचन्द्रप्रभु के ग्रन्थ में जो व्याकृति (व्याकरण-शब्दविज्ञान) का कौशल है, वैसा कौशल हमारे जैसे में कहाँ से हो ?

–श्री महेन्द्रसूरि कृत अनेकार्थ-कैरव कौमुदी

(2) **विद्याम्भोनिधिमंथमंदरगिरिः श्रीहेमचन्द्रो गुरुः ।**

– श्री देवचन्द्रसूरि कृत चन्द्रलेखा नाटक

अर्थ :– विद्या रूपी समुद्र को मथने के लिए श्री हेमचन्द्र गुरु मंदरगिरि के समान हैं ।

(3) **क्लृप्तं व्याकरणं नवं विरचितं, छन्दो नवं द्व्याश्रया-**
ऽलंकारौ प्रथितौ नवौ प्रकटितौ श्री योगशास्त्रं नवं ।
तर्कः संजनितो नवो जिनवरादीनां चरित्रं नवं,
बद्धं येन न केन केन विधिना, मोहः कृतो दूरतः ।।

अर्थ :– नवीन व्याकरण, नवीन छन्दोनुशासन, नवीन द्व्याश्रयमहाकाव्य, अलंकार शास्त्र, योग-शास्त्र, प्रमाण-शास्त्र तथा जिनेश्वर देवों के चरित्रों की रचना करके (श्रीमद् हेमचन्द्राचार्यजी ने) किस-किस प्रकार से अपना मोह दूर नहीं किया है ? अर्थात् अनेक प्रकार से दूर किया है ।

– श्री सोमप्रभसूरिकृत शतार्थकाव्य-टीका श्लोक 93

(4) **निःसीमप्रतिभैकजीवितधरौ, निःशेषभूमिस्पृशां,**
पुण्यौघेन सरस्वतीसुरगुरू, स्वांगैकरूपौ दधत् ।
यः स्याद्वादमसाधयन् निजवपुर्दृष्टान्ततः सोऽस्तु मे,
सद्बुद्ध्यम्बुनिधिप्रबोधविधये, श्रीहेमचन्द्रः प्रभुः ।।1।।

ये हेमचन्द्रं मुनिमेतदुक्तग्रन्थार्थ-सेवामिषतः श्रयन्ते ।
संप्राप्य ते गौरवमुज्ज्वलानां, पदं कलानामुचितं भवन्ति ।।

—श्री मल्लिषेणसूरिकृत स्याद्वादमंजरी

अर्थ :— समस्त पृथ्वीवासियों की पुण्यराशि को इकट्ठी करके असीम प्रतिभा से एक जीवित धारण करने वाली सरस्वती और बृहस्पति को जिन्होंने अपने शरीर में एक रूप करके धारण किया है और अपने देह के दृष्टांत से जिन्होंने स्याद्वाद को सिद्ध किया है, ऐसे चन्द्रतुल्य श्री हेमप्रभु मेरी सद्बुद्धिरूपी सागर के प्रबोध (विकास) के लिए चन्द्र समान हो ।

जो इस ग्रन्थ के अर्थ की सेवा के बहाने से श्री हेमचन्द्रमुनि का आश्रय लेते हैं, वे गौरव प्राप्तकर उज्ज्वल कलाओं के उचित स्थान रूप बनते है ।

(5) जयसिंहदेववयणाउ, निम्मियं सिद्धहेमवागरणं ।
नीसेससद्दलक्खणनिहाणमिभिणा मुणिंदेण ।।

अर्थ :— जयसिंह (सिद्धराज) राजा के वचन से इस मुनीन्द्र के द्वारा समस्त शब्द लक्षण के निधान स्वरूप सिद्धहैम व्याकरण रचा गया ।

(6) किं स्तुमः शब्दपाथोधेर्हेमचन्द्रयतेर्मतिम् ।
एकेनापि हि येनेदृक् कृतं शब्दानुशासनम् ।।

अर्थ :— शब्द-समुद्र रूप हेमचन्द्रमुनि की बुद्धि की क्या स्तुति करें (कैसे स्तुति करें ?) ? क्योंकि जिन्होंने अकेले ही ऐसे (महान्) शब्दानुशासन की रचना की है ।

(7) शब्द-प्रमाण-साहित्य-छन्दो-लक्ष्म-विधायिनां ।
श्रीहेमचन्द्रपादानां, प्रसादाय नमो नमः ।।

अर्थ :— शब्द, प्रमाण, साहित्य, छंद और व्याकरण के विधायक, श्री हेमचन्द्र भगवंत के प्रसाद गुण को बारबार नमस्कार हो ।

— श्री रामचन्द्रसूरि तथा श्री गुणचन्द्रसूरि कृत नाट्यदर्पण

(8) तुलीय-तवणिज्ज-कती-सयवत्त-सवत्त-नयण-रमणिज्जा ।
पल्लविय-लोयलोयण-हरिसप्पसरा सरीर-सिरी ।।1।।
आबालत्तणओ बिहु चारित्तं जणिय-जण-चमक्कारं ।
बावीस-परिसहसहण-दुद्धरं तिव्व-तव पवरं ।।2।।
मुणिय-विसमत्थसत्था-निमियवायरण-पमुह-गंथगणा ।
परवाइ पराजय-जायकित्तीमई जयपसिद्धा ।।3।।
धम्म पडिवत्तिजणणं, अतुच्छ-मिच्छत्त मुच्छिआणं पि ।
महु-खीरपमुह-महुरत्त-निम्मियं धम्मवागरणं ।।4।।
इच्चाइ गुणोहं हेमसूरिणो, पेच्छिऊण छेयजणो ।
सद्दवहइ अदिट्ठे वि हु तित्थंकर-गणहरप्पमुहे ।।5।।

अर्थ :– शतपत्र अर्थात् कमल समान नयन से रमणीय और लोगों के नयनों में हर्ष के प्रसार को पल्लवित करने वाली जिनकी शारीरिक संपदा तपनीय अर्थात् सुवर्ण की कांति के समान थी ।।1।।

बाल्यकाल से ही जिनका चारित्र लोगों में चमत्कार पैदा करने वाला और बावीस परीषहों को सहन करने से दुर्जय और तीव्र तप के कारण उत्तम था ।।2।।

विषमार्थ शास्त्र के बोध वाली, व्याकरणादि ग्रंथों को रचने वाली और परवादी का पराजय कर कीर्ति प्राप्त करने वाली जिनकी बुद्धि थी ।।3।।

मिथ्यात्व से मूर्च्छित बने हुओं को भी धर्मबोध देने वाला जिनका धर्मकथन अतुच्छ और मधु-क्षीर प्रमुख माधुर्य वाला था–इत्यादि गुणों वाले हेमचन्द्राचार्यजी भगवंत को देखकर, चतुर-निपुणजन अदृष्ट तीर्थंकर और गणधर भगवंतों पर भी श्रद्धा करते हैं ।।4-5।।

–श्री सोमप्रभसूरि कृत प्रबंध

(9) सप्तर्षयोऽपि सततं गगने चरन्तो, रक्षुं क्षमा न मृगीं मृगयोः सकाशात् ।
जीयाच्चिरं कलियुगे प्रभुहेमसूरि-रेकेन येन भुवि जीववधो निषिद्धः ।।

–विविधगच्छीय पट्टावली संग्रह

अर्थ :– आकाश में सतत घूमने वाले सप्तर्षि भी शिकारी के पास से हरिणी का रक्षण करने में समर्थ न बन सके, जबकि कलियुग में प्रभु हेमचन्द्राचार्यजी ने अकेले ही पृथ्वी पर जीववध का निषेध करा दिया, ऐसे हेमचन्द्र प्रभु दीर्घकाल तक जय पाए ।

(10) गुरुर्गुर्जरराजस्य, चातुर्विद्यैकसृष्टिकृत् ।
त्रिषष्टिनरसद्वृत्तकविर्वाचां न गोचरः ।।

–श्री मुनिरत्नसूरि कृत अममचरित्र

अर्थ :– गुर्जर सम्राट् के गुरु, चार प्रकार की विद्याओं का सर्जन करने में विशिष्ट और त्रिषष्टिशलाका पुरुषों के पवित्र चरित्र को लिखने में कवि ऐसे **श्री हेमचन्द्राचार्यजी** वाणी से अगोचर हैं अर्थात् इस वाणी द्वारा उनकी स्तुति शक्य नहीं है ।

(11) वैदुष्यं विगताश्रयं श्रितवति श्रीहेमचन्द्रे दिवम् ।

–राजकवि सोमेश्वरदेवरचित सुरथोत्सव

अर्थ :– श्री हेमचन्द्र प्रभु के स्वर्ग-गमन पर विद्वत्ता आश्रयरहित हो गई ।

प्रचंड प्रतिभा के स्वामी कलिकाल सर्वज्ञ **श्रीमद् हेमचन्द्राचार्यजी** भगवंत की दैविक-प्रतिभा के दर्शन हमें उनकी कृतियों में मिलते हैं । प्राचीन-अर्वाचीन अनेक विद्वानों ने उनकी काव्य-कृतियों की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है ।

संस्कृतभाषा-बोध के लिए आज तक अनेक व्याकरण-ग्रन्थ रचे गए हैं, उन ग्रन्थों में इस व्याकरण-ग्रन्थ की अपनी मौलिक विशेषताएँ हैं, जो अध्यापक व पाठकगण स्वयं ही समझ सकते हैं ।

'सिद्धहेम' के अध्ययन-अध्यापन में उपयोगी कतिपय प्राचीन-अर्वाचीन ग्रंथों की यहाँ सूची दी जा रही है–

1. क्रियारत्न-समुच्चय–**आ. गुणरत्नसूरि कृत** (सं. 1466)
2. स्यादि-समुच्चय-**आ. अमरचन्द्रसूरि कृत**
3. हैमविभ्रम-सटीक–**आ. गुणचन्द्रसूरि कृत**
4. हैमविभ्रम-सवृत्तिक–**आ. जिनप्रभसूरि कृत**
5. लिंगानुशासनवृति–**आ. जयानंदसूरि कृत**
6. लिंगानुशासनदुर्गपदप्रबोधवृत्ति–**श्री वल्लभगणि कृत**
7. हैम-कविकल्पद्रुम–**पं. हर्षकुलगणि कृत**
8. स्यादिशब्ददीपिका–**आ. जयानंदसूरि कृत**
9. प्राकृतशब्द समुच्चय–**आ. अमरचंद्रसूरि कृत**
10. द्व्याश्रय-काव्यवृत्ति (संस्कृत)–**उपा. अभयतिलकगणि कृत**
11. द्व्याश्रयवृत्ति-प्राकृत–**पं. पूर्णकलश गणि कृत**
12. न्यायसंग्रह-न्यायार्थ मंजूषा न्यास–**हेमहंस गणि कृत**
13. अभिधान-चिंतामणि निर्णीति–**महो. भानुचन्द्र गणि कृत**
14. अभिधान-चिंतामणि-सारोद्धारवृत्ति–**श्री वल्लभ गणि कृत**
15. हैमीनाममाला–**आ. जिनदेवसूरि कृत**

सिद्धहेम पर से अवतरित व्याकरण–

1. सिद्ध सारस्वत–**आ. देवानंदसूरि कृत (सं. 1334)**
2. हैमलघुप्रक्रिया–**महो. विनयविजय गणि कृत (सं. 1712)**
3. हेमप्रक्रिया प्रकाश–**महो. विनयविजय गणि कृत**
4. चन्द्रप्रभा (हैमकौमुदी)–**महोपाध्याय मेघविजय गणि कृत (सं. 1758)**
5. हेमशब्दचन्द्रिका–**महो. मेघविजय गणि**
6. हैमप्रक्रिया–**वीरसी कृत**
7. बृहद् हेमप्रभा–**आ. विजयनेमिसूरि कृत**
8. सिद्ध प्रभा–**आ. सागरानंदसूरि कृत**
9. हेमबृहत् प्रक्रिया–**पं. गिरिजाशंकर शास्त्रीकृत**
10. हेमसंस्कृतप्रवेशिका (गुजराती)–**पं. शिवलाल कृत**

न्याय सारसमुद्धार (लघुन्यास) के कर्त्ता का संक्षिप्त परिचय–

कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्यजी भगवंत विरचित **'श्री सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम्'** के बृहन्न्यास में से पू. आचार्य श्री कनकप्रभसूरीश्वरजी म.सा. का परिचय देना भी अत्यंत अनिवार्य है। प्राचीन इतिहास के ग्रंथों के अवलोकन के बाद भी उनके जीवन संबंधी विशेष

जानकारी तो नहीं मिल पाई है, फिर भी न्याससार समुद्धार के अन्त में प्रशस्ति काव्यों के द्वारा उनकी विद्वत्ता का हमें अवश्य बोध होता है ।

प्रशस्तिकाव्य—

आसीद् वादिद्विरदपृतनापाटने पञ्चवक्त्र,
श्चान्द्रेगच्छेऽच्छतरधिषणो धर्म्मसूरिर्मुनीन्द्रः ।
पट्टे तस्याजनि जनमनोऽनोकहानन्दकन्दः,
सूरि सम्यग्गुणगणनिधिः ख्यातिभाग् रत्नसिंह ।।1।।
यस्योपरागसीमाया-मुदयः परभागभाग् ।
देवेन्द्रसूरिस्तत्पट्टे जज्ञे नव्य नभोमणिः ।।2।।
भूपालमौलिमाणिक्य-मालालालितशासनः ।
दर्शनषट्कनिस्तन्द्रो, हेमचन्द्रो मुनीश्वरः ।।3।।
तेषामुदयचन्द्रोऽस्ति, शिष्यःसंख्यावतां वरः ।
यावज्जीवमभूद्यस्य, व्याख्याज्ञानामृतप्रपा ।।4।।
तस्योपदेशाद् देवेन्द्रसूरिशिष्यलवो व्यधात् ।
न्याससारसमुद्धारं, समनीषी कनकप्रभः ।।5।।

अर्थ :— चान्द्रगच्छ में वादी रूपी हाथियों की सेनाओं को फाड़ने में सिंह समान अत्यंत बुद्धि निधान आचार्य धर्मसूरि थे ।

जन-मन रूपी वृक्ष के आनंद रूपी कंद वाले सम्यग् गुण गण के महासागर और अत्यंत प्रसिद्ध रत्नसिंहसूरि उनके पट्टधर थे ।

''उपराग अर्थात् विपक्षाक्रमण की पराकाष्ठा में जिनका उदय गुणोत्कर्ष को भज रहा था, ऐसे नवीन सूर्य समान देवेन्द्रसूरिजी म. उनके पट्ट पर पैदा हुए । नवीनता का कारण यह है कि राहु ग्रहण की पराकाष्ठा में सूर्य तेजस्विताहीन उदित होता है, जबकि देवेन्द्रसूरिजी म. परवादियों के आक्रमण में अधिक दीप्तिमान हो रहे थे ।

माणिक्य की श्रेणी से सुशोभित मुकुट वाले राजा भी जिनकी आज्ञा का स्वीकार करते थे, ऐसे षड्दर्शन के ज्ञाता श्री हेमचन्द्रसूरिजी हुए ।

उनके अनेक शिष्यों में उदयचन्द्र नाम के शिष्य है, जो सदैव जीवन-पर्यन्त व्याख्या ज्ञान रूपी अमृत की प्रपा (प्याऊ) थे ।

उनके उपदेश से देवेन्द्रसूरि के शिष्य मनीषी कनकप्रभ ने न्याससारसमुद्धार की रचना की ।''

उपर्युक्त प्रशस्ति-काव्यों से स्पष्ट होता है कि **श्री हेमचन्द्रसूरिजी आचार्य भगवंत** के शिष्य पंडित उदयचन्द्र गणि की सत्प्रेरणा से **आचार्य देवेन्द्रसूरिजी** के शिष्य मनीषी पू. कनकप्रभमुनि ने **'न्याससारसमुद्धार'** की रचना की है ।

पू. कनकप्रभमनीषी चान्द्रगच्छ के अन्तर्गत राजगच्छ में हुए हैं ।

चान्द्रगच्छ में आचार्य धर्मघोषसूरि नाम के एक महान् प्रभावक आचार्य हुए है, जिनका दूसरा नाम 'धर्मसूरि' था । वे व्याकरण के पारगामी, न्याय-शास्त्र में निष्णात, सूत्र-अर्थ के समर्थ व्याख्याता और अपूर्व बुद्धिशाली थे । वे महावादी थे । अंबिका देवी के कृपा-पात्र थे ।

नागौर के राजा आल्हण, शाकंभरी के राजा अजयराज, अर्णोराज तथा विग्रहराज को उन्होंने प्रतिबोध किया था । उनके उपदेश से प्रभावित होकर विग्रहराज ने जैनधर्म स्वीकार किया था, और उसने अपने राज्य में पर्व-दिनों में अमारि पालन करवाया था ।

पू. आचार्य धर्मघोषसूरिजी म. के पट्टधर पू.आ. रत्नसिंहसूरिजी म. थे । वे भी अत्यंत प्रभावक और प्रतिभा संपन्न थे । उन्होंने भी अपने जीवन में अनेक ग्रन्थों की रचना की है ।

पू.आ. श्री रत्नसिंहसूरिजी म. के पट्टधर पू.आ. श्री देवेन्द्रसूरि हुए और उनके शिष्य पं. कनकप्रभ महर्षि थे । वे भी प्रतिभावंत और जिनशासन के अनुरागी थे ।

`जैन धर्म के रहस्य को समझना हो तो उसके लिए संस्कृत-प्राकृत भाषा का ज्ञान खूब जरुरी है, क्योंकि सभी आगम ग्रंथ प्राकृत भाषा में है और उन आगमों के रहस्य को जानना हो तो आगमों पर विवेचित टीकाएँ एवं अन्य पूर्वाचार्य विरचित ग्रंथों का अभ्यास जरुरी है और वे सभी ग्रंथ एवं टीकाएँ संस्कृत भाषा में है ।

☙ संस्कृत भाषा को समझने के लिए व्याकरण का बोध जरुरी है ।

☙ संस्कृत भाषा के सामान्य साहित्यबोध के लिए संस्कृत की दो बुक का अभ्यास पर्याप्त हैं, परंतु शब्दों के गहन रहस्य तक पहुंचना हो तो संस्कृत व्याकरण का बोध खूब जरुरी है ।

☙ प्रांतीय भाषाओं का स्वरुप समय समय पर बदलता रहता है ।

☙ 350 वर्ष पूर्व हो चूके महोपाध्याय यशोविजयजी म. के गुजराती टबा आदि की भाषा और वर्तमान की गुजराती भाषा में बहुत बडा अंतर है ।

परंतु संस्कृत भाषा का साहित्य, चिरंजीवी है । सैकडों हजारों वर्षों के बाद भी उस भाषा में परिवर्तन को अवकाश नहीं है ।

☙ आगम एवं पूर्वाचार्य विरचित संस्कृत साहित्य को समझने के लिए व्याकरण के बोध की उतनी ही आवश्यकता है ।

प्रस्तुत संपादन

वि.सं. 2033 में मेरी भागवती दीक्षा के बाद मेरे निरंतर चार चातुर्मास पाटण (उ.गु.) में हुए थे । पूज्यपाद गुरुदेव अध्यात्मयोगी **पू. पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** की आज्ञा एवं मेरे आत्महितैषी **पू.मु. श्री वज्रसेनविजयजी म.** के मार्गदर्शनानुसार मैंने

पंडितवर्य शिवलालभाई के पास **'सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम्'** संस्कृत व्याकरण का अभ्यास किया था । वि.सं. 2035 में लघुवृत्ति के साथ बृहद्वृत्ति का भी अध्ययस चल रहा था ।

उस समय बृहद्वृत्ति के ऊपर बृहन्न्यास एवं लघुन्यास का भी निरीक्षण किया था ।

उस समय **पू.मु. श्री वज्रसेनविजयजी म.** ने मुझे न्याससार समुद्धार-लघुन्यास के संपादन के लिए प्रेरित किया था ।

बृहद्वृत्ति व लघुन्यास की प्रतियाँ जीर्णशीर्ण अवस्था में थी ।

वि.सं. 2040 के रतलाम चातुर्मास दरम्यान मैंने उस ग्रंथ की पाण्डुलिपी–Press Copy तैयार की थी, जिसका तीन भागों में प्रकाशन वि.सं. 2042 दीपावली पर्व के शुभदिन दानसूरिज्ञान मंदिर-कालूपूर रोड अहमदाबाद में सौजन्यमूर्ति पू.आचार्यदेव श्रीमद् विजय प्रद्योतनसूरीश्वरजी म.सा. की शुभ निश्रा में भव्य समारोह के साथ हुआ था ।

आज इस बात को 39 वर्ष बीत गए है । उन पुस्तकों की प्रतियाँ भी अप्राप्य हो गई है । उपलब्ध पुस्तके भी जीर्ण अवस्था में है ।

उन पुस्तकों की जीर्ण अवस्था को देखकर उनके पुनरुद्धार की भावना पैदा हुई ।

पुस्तक की मोटाइ Thickness को ध्यान में रखते हुए उन्हें चार भागों में एक साथ प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया ।

वि.सं. 2080 के पोसालिया (राज.) के चातुर्मास दरम्यान इस महाकाय ग्रंथ के पुनः संपादन का कार्य प्रारंभ किया गया ।

परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री की अदृश्य कृपा के फलस्वरुप 10 मास की अवधि में इन चारो भागों का संपादन कार्य पूर्ण हुआ ।

यद्यपि प्रुफ रीडिंग आदि में पूर्ण सावधानी बर्ती गई है, फिर भी मतिमंदता आदि के कारण कहीं भी त्रूटियां रह गई हो तो उसके लिए **त्रिविध-त्रिविध मिच्छा मि दुक्कडम् ।**

श्री नागेश्वर पार्श्वनाथ जैन तीर्थ
भद्रंकर नगर-लुणावा (राज.)
चैत्र वदी 10, वि.सं. 2081
दि. 23-4-2025 बुधवार

अध्यात्मयोगी पूज्यपाद पंन्यास
प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य
कृपाकांक्षी
रत्नसेनसूरि

TABLE OF CONTENTS

अनुक्रमणिका

तत्र षष्ठोध्याय 1031

1. द्वितीयः पादः 1098

2. तृतीयः पादः 1140

3. चतुर्थः पादः 1205

सप्तमोऽध्यायः

4. प्रथमः पादः 1252

5. द्वितीयः पादः 1310

6. तृतीयः पादः 1362

7. चतुर्थः पादः 1417

॥ अर्हं ॥
॥ अनन्तलब्धिनिधानाय श्रीगौतमस्वामिने नमः ॥
॥ श्रीमद् दान-प्रेम-रामचन्द्र-भद्रङ्करसद्गुरुभ्यो नमः ॥

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्रसूरिभगवत्प्रणीतं

॥ श्री सिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनम् ॥

[स्वोपज्ञ-तत्त्वप्रकाशिकाभिध-बृहद्वृत्ति-मनीषिकनकप्रभसूरिविरचित-न्याससारसमुद्धार (लघुन्यास) संवलितम्]

तत्र षष्ठोऽध्याय

तद्धितोऽणादिः ॥ 6. 1. 1.॥

अणादिः प्रत्ययो य इत ऊर्ध्वं वक्ष्यते स तद्धितसंज्ञो विज्ञेयः । औपगवः, कापटवः । तद्धितप्रदेशाः ``ऋतो रस्तद्धिते'' (1. 2. 26.) इत्यादयः ॥1॥

न्या०स०—तद्धितोऽणादिः—तस्मै लौकिक-वैदिकशब्दसंदर्भाय ताभ्यः प्रकृतिभ्यो विकृतिभ्यो वा हितः, आद्यं मतं जैनेन्द्रस्य, द्वितीयमुत्पलस्य । ``हितादिभिः'' (3. 1. 71.) इति समासः ।

पौत्रादि वृद्धम् ॥ 6. 1. 2. ॥

परमप्रकृतेः अपत्यवतो यत्पौत्राद्यपत्यं तद्वृद्धसंज्ञं भवति । गर्गस्यापत्यं पौत्रादि गार्ग्यः, एवं वात्स्यः । पौत्रादीति किम् ? अनन्तरापत्ये गार्गिः वात्सिरित्येव भवति, पौत्रस्यापत्यत्वात् तदाद्यपत्यमेव विज्ञायते । वृद्धप्रदेशाः ``वृद्धाद्यूनि'' (6. 1. 30.) इत्यादयः ॥2॥

न्या०स०—पौत्रादि वृद्धम्—अपत्यवत इति विशेष्यं परमप्रकृतेरिति विशेषणं, अन्यथा परमप्रकृतेर्विशेष्यत्वे अपत्यवत इत्यस्य स्त्रीत्वं स्यात्, परमा प्रकृष्टा प्रकृतिः परमप्रकृतिर्यस्मात् परोऽन्यो न ज्ञायते, यद्यपि पितामह–प्रपितामहादिनीत्या वृद्धसंतानस्यानन्त्यं तथापि यन्नाम्ना कुलं व्यपदिश्यते स परमप्रकृतिरित्युच्यते ।

गार्ग्य इति–बाह्वादीञो बाधको गर्गादेर्यञ् । गार्गिरिति–अत्र इञो बाधक ऋष्यण् प्राप्नोति, तद्बाधनाय बाह्वादित्वादिञ् ।

वंश्य–ज्यायोभ्रात्रोर्जीवति प्रपौत्राद्यस्त्री युवा ॥6. 1. 3.॥

वंशे भवो वंश्यः पित्रादिरात्मनः कारणम् । ज्यायान् भ्राता वयोऽधिक एकपितृक एकमातृको वा, प्रपौत्रः पौत्रापत्यम् परमप्रकृतेश्चतुर्थः । स्त्रीवर्जितं प्रपौत्राद्यपत्यं जीवति वंश्ये ज्यायोभ्रातरि वा युवसंज्ञं भवति । गार्ग्यायणः, वात्स्यायनः । वंश्यज्यायोभ्रात्रोरिति किम् ? अन्यस्मिन् जीवति गार्ग्यः । ज्यायोग्रहणं किम् ? कनीयसि भ्रातरि गार्ग्यः । जीवतीति किम् ? मृते गार्ग्यः । प्रपौत्रादीति किम् ? पौत्रो गार्ग्यः। अस्त्रीति किम् ? स्त्री गार्गी। वचनभेदः पृथग्निमित्तत्वद्योतनार्थः ॥3॥

*न्या०स०–वंश्यज्यायोभ्रा०–*वंश्य इति–आदिपुरुषे रूढिवशाद् वर्त्तते ।

सपिण्डे वयः–स्थानाधिके जीवद् वा ॥6. 1. 4. ॥

ययोरेकः पूर्वः सप्तमः पुरुषस्तावन्योन्यस्य सपिण्डौ, वयो यौवनादि, स्थानं पिता पुत्र इत्यादि । परमप्रकृतेः स्त्रीवर्जितं प्रपौत्राद्यपत्यं वयःस्थानाभ्यां द्वाभ्यामप्यधिके सपिण्डे जीवति जीवदेव युवसंज्ञं वा भवति । पितृव्ये पितामहस्य भ्रातरि वा वयोऽधिके जीवति जीवत् गार्ग्यस्यापत्त्यं गार्ग्यः गार्ग्यायणो वा, एवं वात्स्यः वात्स्यायनो वा । सपिण्ड इति किम् ? अन्यत्र गार्ग्यः । वयः स्थानाधिक इति किम् ? द्वाभ्यामन्यतरेण वा न्यूने गार्ग्यः । जीवदिति किम् ! मृतो गार्ग्यः । जीवतीत्येव ? मृते गार्ग्यः । प्रपौत्रादीत्येव ? पौत्रौ गार्ग्यः । अस्त्रीत्येव ? स्त्री गार्गी ॥4॥

*न्या०स०–सपिण्डे वयःस्थाना०–*पितृव्ये इति–न वाच्यं पितृव्ये वाच्ये वंश्यद्वारा पूर्वणैव भविष्यति, पितृव्यस्य वंश्यताया अभावात् । पित्रादिरात्मनः कारणमिति ह्युक्तम् । अन्यत्रेति-मातुलादावित्यर्थः ।

द्वाभ्यामन्यतरेणेति-लघौ पितृव्यजे द्वाभ्यां न्युनत्वं लघौ पितृव्ये जीवत्यऽन्यतरेण न्युनत्वमिति ।

पौत्रो गार्ग्यं इति-गर्गस्यापत्यमनन्तरमपि वृद्धत्वोपचारात् गार्ग्यस्तस्यापत्यं युवेति कुते गार्ग्यायण इति प्राप्नोति, तन्न भवति ।

युव–वृद्धं कुत्सा–ऽर्चे वा ।। 6. 1. 5. ।।

युवा च वृद्धं चापत्यं यथासंख्यं कुत्सायामर्चायां च विषये युवसंज्ञं वा भवति, यूनः कुत्सायां पक्षे युवत्वं निवर्त्यते, तत्र वृद्धप्रत्ययेनाभिधानं भवति । गार्ग्यस्यापत्यं युवा कुत्सितो गार्ग्यः गार्ग्यायणो वा जाल्मः । गुर्वायत्तो भूत्वा स्वतन्त्रो यः स एवमुच्यते, कुत्साया अन्यत्र गार्ग्यायण एव । वृद्धस्य चर्चायां पक्षे युवत्वं प्राप्यते, तत्र युवप्रत्ययेनाभिधानं भवति । गर्गस्यापत्यं वृद्धमर्चितं तत्रभवान् गार्ग्यायणः गार्ग्यो वा । अर्चाया अन्यत्र गार्ग्य एव । अस्त्रीत्येव ? गर्गस्यापत्यं पौत्रादि स्त्री गार्गी ।।5।।

*न्या०स०–युववृद्धं०–*युवत्वं निवर्त्यत इति–``वंश्यज्यायः'' (6. 1. 3.) इत्यनेन नित्यं प्राप्तम् ।

संज्ञा दुर्वा ।। 6. 1. 6. ।।

या संज्ञा संव्यवहाराय हठान्नियुज्यते सा दुसंज्ञा वा भवति । देवदत्तीयाः, दैवदत्ताः, सिद्धसेनीयाः, सैद्धसेनाः । ``द्रुप्रदेशाः दोरीयः'' (6. 3. 31.) इत्यादयः ।।6।।

*न्या०स०–संज्ञा दुर्वा-*संज्ञायतेऽनया स्थादित्वात् कः, बाहुलकात् स्त्रीत्वं, संज्ञानं वा, ``उपसर्गादातः'' (5. 3. 110.) इत्यङ् ।

त्यदादिः ।। 6. 1. 7. ।।

सर्वाद्यन्तर्गतास्त्यदादयो दुसंज्ञा भवन्ति । त्यदीयम्, तदीयम्, यदीयम्, इदमीयम्, अदसीयम्, एतदीयम् एकीयम्, द्वीयम्, युष्मदीयम्, अस्मदीयम्, किमीयम्, त्यादायनिः, यादायनिः ।।7।।

*न्या०स०–*त्यदादिः भवदन्यैर्नोदाहृतः इत्यस्माभिरपि नोदाहृतः, प्रयोगस्तु भावतायनिः ।

वृद्धिर्यस्य स्वरेष्वादिः ।। 6. 1. 8. ।।

यस्य शब्दस्य स्वरेषु मध्ये आदिः स्वरो वृद्धिसंज्ञो भवति स शब्दो दुसंज्ञो भवति । आम्रगुप्तायनिः, शालगुप्तायनिः, आम्बष्ठ्यः, शालीयः, मालीयः, ऐतिकायनीयः, औपगवीयः । वृद्धिरिति किम् ? दत्तस्येमे दात्ताः, अत्र स्वरेष्वादिः अकारोस्तीति दुसंज्ञा

स्यात्, शालीया इत्यादिषु तु न स्यादिति वृद्धिग्रहणम् । यस्येति संज्ञिनिर्देशार्थम् । अनेन हि स इत्याक्षिप्यते । स्वरेष्विति व्यञ्जनानपेक्षया बुद्धिसंनिकृष्टस्वरसंनिवेशापेक्षमादित्वं यथा विज्ञायेतेत्येवमर्थम्, तेन व्यञ्जनादेरपि दुसंज्ञा सिद्धा भवति । आदिरिति किम् ? सभासन्नयने भवः साभासंनयनः ॥8॥

न्या०स०—वृद्धिः-स्वरेष्विति-स्वरौ च स्वराश्च एकशेषे, शालायां भवो जातो वा ``दोरीयः'' (6. 3. 32.) । आम्बष्ठ्य इति-आम्बष्ठानां राष्ट्रस्य राजा, आम्बष्ठस्य राज्ञोऽपत्यंवा, ``दुनादि'' (6. 1.118.) इति ञ्यः । ऐतिकायनीय इति इतिकस्यापत्यं वृद्धं नडाद्यायनण्, तस्य छात्र इति कृते ``गोत्राददण्ड'' (6. 3. 169.) इत्यकञ् न शिष्यवर्जनात्, ततो ``दोरीयः'' (6. 3. 32.) एवमौपगवीयः ।

अकारोऽस्तीति-स्वरेषु हि आदौ अकारः चात्रास्ति शालीया इत्यादिषु तु आदिस्वरोऽकारो नास्ति किन्तु द्वितीय आकार इति न स्यात् ।

एदोद् देश एवेयादौ ॥ 6. 1. 9. ॥

देश एव वर्तमानस्य यस्य शब्दस्य स्वरेष्वादिः स्वर एकार ओकारो वा भवति स ईयादौ प्रत्यये विधातव्ये दुसंज्ञो भवति । सैपुरिका, सैपुरिकी, स्कौनगरिकी । सेपुरं स्कोनगरं च वाहीकग्रामौ । देश इति किम् ? दैववाचकं नन्द्यध्ययनम् । एवकारोऽन्यत्र वृत्तिव्यवच्छेदार्थः, तेन देशेऽन्यत्र च वर्तमानस्य न भवति । क्रोडं नामोदग्ग्रामस्तत्र भवः क्रौडः, देवदत्तं नाम वाहीकग्रामस्तत्र भवो दैवदत्तः । क्रोडशब्दः स्वाङ्गेऽपि वर्तते । देवदत्तशब्दः पुंस्यपि क्रिया-शब्दश्च । ईयादाविति किम् ? आयनिञादौ न भवति ॥9॥

न्या०स०—एदोद् देश०-ईयादाविति—``ईयः स्वसुश्च'' (6. 1. 89.) ``जातेरीयः सामान्यवति'' (6. 3. 139.) इत्यादेरीयस्य न ग्रहस्तेषु दुसंज्ञानिबन्धनकार्याभावात् ।

सैपुरिकेति-सिन्वन्तीति विच् गुणः सयां पुरं सेपुरं, तत्र भावा ``व्यादिभ्यो णिकेकणौ'' (6. 3. 34.) इत्यधिकारे ``वाहीकेषु ग्रामात्'' (6. 3. 36.) ।

देववाचकमिति-देवान् वक्ति बाहुलकात् णकः, देववाचकेन कृतं प्रोक्तं वा कृते, तेन प्रोक्ते वा अण्, अवश्यं नन्दतीति ``णिन्चावश्यक'' (5. 4. 36.) इति णिन्, नन्दिनोऽध्ययनं नन्दन्ति भव्यप्राणिनोऽनया नन्दी चासावध्ययनं च इति वा ।

आयनिञादाविति-उपचारात् सेपुरस्थः पुरुषोऽपि सेपुरस्तस्यापत्यमवृद्धादायनिञ्, न

च वक्तव्यं देशे एव न वर्त्तते इति, मुख्याभिधेयापेक्षया देशे एव वर्त्तते इत्युक्तमन्यथा सर्वेऽपि शब्दा उपचारेण स्वार्थं त्यजन्त्येव ।

प्राग्देशे ॥ 6. 1. 10. ॥

प्राग्देशे वर्तमानस्य यस्य शब्दस्य स्वरेष्वादिः स्वर एकार ओकारो वा भवति स ईयादौ प्रत्यये विधातव्ये दुसंज्ञो भवति, कः पुनः प्राग्देशः यः शरावत्याः सरितः पूर्वोत्तरेण वहन्त्याः पूर्वतो दक्षिणतो वा भवति । यस्तु पश्चिमत उत्तरतो वा स उदक् । यदाहुः

प्रागुदञ्चौ विभजते हंसः क्षीरोदके यथा,
विदुषां शब्दसिद्ध्यै या सा वः पायाच्छरावती ॥1॥

एणीपचने भव एणीपचनीयः । गोनर्दीयः, भोजकटीयः, कोशवृक्षीयः, गोमयहृदीयः, एकचक्रकः । क्रोडं नाम प्राग्ग्रामस्तत्र भवः क्रोडीयः, देवदत्तं नाम प्राग्ग्रामस्तस्य काश्यादिपाठात् णिकेकणौ, दैवदत्तिका, दैवदत्तिकी । पूर्वकं देशग्रहणम् एवकारेण संबद्धमिति पुनरिह देशग्रहणम् । देश एवेति नियमनिवृत्त्यर्थं वचनम् ॥10॥

न्या०स०–प्राग्देशे प्राङ् चोसौ देशश्च प्राचां देश इति वा । पूर्वोत्तरेणेति-पूर्वावयवयोगात् पूर्वं, उतरावयवयोगादन्तरालमुत्तरं, पूर्वं च तदुत्तरं च । ईशानतो नैर्ऋतं गच्छति । गोमह्लदीये इति-वाहीकेषु बाधकः ``कखोपान्त्य'' (6. 3. 59.) इति ईयः, ननु प्राचीति क्रियतां देशविकारे सति किं पुनर्देशग्रहणेन ? इत्याह-एवकारेण संबद्धमिति तदनुवृत्तावेवकारोऽप्यनुवर्त्तेत: तन्निवृत्त्यर्थं पुनर्ग्रहणमित्यर्थः । ननु प्राचीति सूत्रकरणसामर्थ्यादेवकाररहित एव देश इत्यनुवर्तिष्यते, यदि ह्येवकारसंबद्धं देश इत्यनुवत्तिष्यते त्तदा प्राचीत्येतदपि न कुर्यात्, पूर्वेण सामान्येन सिद्धत्वात् ?

सत्यं, प्राचीति कृते सूत्रसामर्थ्यात् प्राचि कालेऽपि वर्त्तमानस्य दुसंज्ञा स्यादित्य- प्याशङ्का स्यादिति देशग्रहणं, पूर्वसूत्रे सामान्ये देशे दुसंज्ञा सामान्यमध्ये विशेषो ब्रुडित एव, ततः किं वचनेन ? इत्याह–देश एवेति ।

वा–ऽऽद्यात् ॥ 6. 1. 11. ॥

वा इति च आद्यादिति च द्वितयमधिकृतं वेदितव्यम्, तत्र वाधिकारादित ऊर्ध्वं वक्ष्यमाणाः प्रत्यया विकल्प्यन्ते, तेन पक्षे यथाप्राप्तं वाक्यं समासश्च भवति । उपगोरपत्यम, उपग्वपत्यम् इति । उत्त्सर्गरूपस्तु तद्धितोऽपवादविषये ``पीलासाल्वामण्डूकाद्वा'' (6. 1. 68.) इत्यादौ वाग्रहणान्न भवति । आद्यादित्यधिकारात्सूत्रे यदादौ निर्दिष्टं तस्मात्प्रत्ययो भवति नान्यस्मात्,

तेन ``सास्य'' (6. 2. 98.) इत्यधिकारे देवतेत्यादौ सेति प्रकृतिरस्येति प्रत्ययार्थो व्यवस्थितो भवति । इन्द्रो देवतास्य ऐन्द्रम् हविः, ऐन्द्रो मन्त्रः ॥11॥

न्या०स०—वाद्यात्-नन्वत्र यथा वक्ष्यमाणतद्धितप्रत्ययानां विकल्पनात् पक्षे वाक्यसमासौ दर्श्येते तथा कथमपवाद प्रत्ययानां विकल्पेन पक्षे नोत्सर्गप्रत्यय इत्याह उत्सर्गेत्यादि ।

व्यवस्थितो भवत्तीति-आद्यादिति विना तु अस्येति प्रकृतिर्देवतार्थे इत्यपि स्यात् ।

गोत्रोत्तरपदाद् गोत्रादिवाऽजिह्वाकात्य–हरितकात्यात् ॥ 6. 1. 12. ॥

गोत्रमपत्यम्, जिह्वाकात्यहरित कात्यवर्जिताद्गोत्रप्रत्ययान्तोत्तरपदात् यदगोत्रप्रत्यया-न्तमुत्तरपदं तस्मादिव वक्ष्यमाणः प्रत्ययो भवति, यथेह ईयो भवतिचारायणीयाः, पाणिनीयाः, जैमिनीयाः रौढीयाः तथा कम्बलचारायणीयाः, ओदनपाणिनीया, कडारजैमिनीयाः, घृतरौढीया इत्यादावपि भवति । यथा चेहाञ् भवति शाकलाः, काण्वाः, दाक्षाः, पान्नागाराः तथा व्रैहिशाकलाः, पैङ्गलकाण्वाः, कापिलदाक्षाः, क्षैरपान्नागारा इत्यत्रापि भवति । अजिह्वाका-त्यहरितकात्यादिति किम् ? यथेहेयो भवति कात्यस्य छात्राः कातीयास्तद्वदिह न भवति, जिह्वाचपलः कात्यो जिह्वाकात्यः, हरितभक्षः कात्यो हरितकात्यः तस्येमे छात्राः जैह्वाकाताः हारितकाताः ॥12॥

न्या०स०—गोत्रो०-परमश्चासौ गार्ग्यश्च परमगार्ग्यस्तस्यापत्यं पारमगार्ग्यायण इति न भवति, शैषिकेऽर्थे सूत्रस्य प्रवृत्तत्वात्, शैषिकः कथं लभ्यते इति चेत् 1 सत्यं, ईयादावित्य-धकारे ईयस्यादिरीय आदिरस्येति च समासात् ।

पाणिनीया इति-पणनं पणः, ``पणेर्माने'' (5. 3. 32.) (इति) अल्, पणोऽस्यास्तीति पणी, ``अतोऽनेकस्वरात्'' (7. 2. 6.) (इति) इन्, पणिनोऽपत्यं वृद्धं, ``ङसोऽपत्ये'' (6. 1. 28.) (इति) अण् पाणिनस्यापत्यं युवा, ``अत इञ्'' (6. 1. 31.) पाणिनेरिमे च्छात्रा ईयविषये ``युनि लुप्'' (6. 1. 137.) इति इञो लुपि दोरीयः ।

शाकला इति-शकलस्यापत्यं ``गर्गादेर्यञ्'' (6. 1. 42.) तस्येमे ``शकलादेर्यञ्'' (6. 3. 27.) इत्यञि ``अवर्णेवर्णस्य'' (7. 4. 68.) इत्यनेनालोपे ``तद्धितयस्वरे'' (2. 4. 92.) इति यलुप् । एवं काण्वाः।

प्राग् जितादण् ॥ 6. 1. 13. ॥

प्राग् जितशब्दसंकीर्तनात् पादत्रयं यावत् येऽर्था अपत्यादयस्तेष्वपवादविषयं परित्यज्याण् प्रत्ययो वा भवति । उपगोरपत्यमौपगवः, मञ्जिष्ठया रक्तं वस्त्रं माञ्जिष्ठम्, भिक्षाणां समूहो भैक्षम्, अश्मनो विकार आश्मः, स्रूघ्ने भवः स्रौघ्नः, णकारो वृद्ध्यर्थः । अधिकारः परिभाषा विधिर्वाऽयम्, अधिकारपक्षे प्राग्जितादित्युत्तरार्थम् । अन्यथेकणित्यादिवदणित्येव सिद्धम् ॥13॥

न्या०स०—प्राग्जि०—भैक्षमिति-औत्सर्गिकाणो बाधकस्य ``कवचि'' (6. 2. 14.) इतीकणो बाधको भिक्षादेरण् । अधिकार इति ननु कोऽत्र परिभाषाधिकारयोर्भेदः ? उच्यते, परिभाषा हि एकदेशस्थैव सकलं शास्त्रमभिज्वलन्ती व्यवहितेऽपि अनन्तरोत्तरादौ प्रवर्त्तमाना न प्रतिहत-शक्तिर्भवति, अधिकारस्तु नदीस्रोतोरूपतया अनन्तर एव प्रवर्त्तते न व्यवहिते, विधिरपि युज्यते एव यतः प्राग्जित्ताद्ये अर्थाः तेषामिह बुद्ध्या संकलय्य निर्देशात्, तेनानेनैव सर्वेष्वर्थेष्वण् विधीयते, अतः पक्षत्रयेऽप्यदोष इति ।

धनादेः पत्युः ॥ 6. 1. 14. ॥

धनादेर्गणात्परो यः पतिशब्दस्तदन्ताद्धनपतीत्येवमादेः प्राग्जितीयेऽर्थेऽण् प्रत्ययो वा भवति । धनपतेरपत्यं तत्र भवस्तत आगतो वा धानपतः, आश्वपतः, राष्ट्रपतेरिदं राष्ट्रपतम्, धान्यपतम् प्राणपतम् । धन, अश्व, गज, शत, गण कुल, गृह, पशु, धर्म, धन्वन्, सभा, सेना, क्षेत्र, अधि, राष्ट्र, धान्य, प्राण इति धनादिः । केचित्तु गृहसेनाशब्दौ न पठन्ति, तन्मते गार्हपत्यं सैनापत्यम् इत्युत्तरेण ञ्य एत्र । पत्युत्तरपदलक्षणस्य ञ्यस्य राष्ट्रादिषु त्रिषु ``दोरीयः'' (6. 3. 31.) इतीयस्य चापवादोऽयम् ॥14॥

अनिदम्यणपवादे च
दित्यदित्यादित्य यम–पत्युत्तरपदाञ्ञ्यः ॥ 6. 1. 15. ॥

दिति-अदिति-आदित्ययमशब्देभ्यः पत्युत्तरपदाच्च प्राग्जितीयेऽर्थे इदमर्थवर्जितेऽपत्या-दावर्थे योऽणोऽपवादः प्रत्ययस्तद्विषये च ञ्यः प्रत्ययो भवति । दितेरपत्यं दैत्यः, अदितेरपत्यमादित्यः । दितिरदितिरादित्यो वा देवतास्य दैत्यम् आदित्यम्, आदित्य्यम् एवं याम्यम्, पत्युत्तरपद-बृहस्पतेरपत्यं बार्हस्पत्यः, प्राजापत्यः, बृहस्पतिर्देवतास्य बार्हस्पत्यम्, एव प्राजापत्यम् । अणपवादे च आदित्यस्यापत्यमादित्य्यः, यमस्यापत्यं याम्यः, अत्र परत्वात् ``अत इञ्'' (6. 1. 31.) इतीञ् स्यात् । वनस्पतीनां समूहो वानस्पत्यम्, अत्रचित्तलक्षण इकण् स्यात्, ञ्यो हि प्राग्जितीयमणं बाधित्वा सावकाश इति अणपवादग्रहणम् । अणग्रहणं किम् ?

वास्तोष्पत्यभार्यः । असत्यण्ग्रहणे स्वापवादविषयेऽप्यस्य समावेशे सति ``तद्धितः स्वरवृद्धिहेतुः'' (3. 2. 55.) इत्यादिना पुंवद्भावनिषेधात् वास्तोष्पत्याभार्य इति स्यात् । अनिदमीति किम् ? आदित्यस्येदमादितीयम्, उष्ट्रपतिर्नाम वाहनम् तस्येदमौष्ट्रपतम्, `` वाहनात्'' (6. 3. 176.) इत्यत्र ञकारस्य वृद्धिः ``ञिदार्षादणिञोः'' (6. 1. 140.) इति च प्रयोजनम् ॥15॥

न्या०स०—अनिद० आदित्यमिति-अदितेरपत्यं ञ्यः, आदित्यो देवतास्येति ञ्यः, ``अवर्णेवर्ण'' (7. 4. 68.) ``तद्धितयस्वर'' (2. 4. 92.) इति यलोपः, ``ततोऽस्याः'' (1. 3. 34.) द्वित्वं, अथवा अदितिर्देवताऽस्य ञ्यः, आदित्यो देवताऽस्येति ञ्यः ``अवर्णेवर्णस्य'' (7. 4. 68.) इत्यकारलोपः तदा यस्य लुप् न भवत्यनपत्यत्वात् । आदित्यस्यापत्यमिति—अदितिर्देवता अस्याऽपत्ये तु वाच्ये आपत्यस्य यस्य लोपः स्यात्, अत्र ``अवृद्धाद्धोर्नवा'' (6. 1. 110.) इत्यायनिञः पक्षे इञ् प्राप्नोति, स बाध्यते ।

ञ्यो हीति-ननु च ञ्योऽप्यणपवाद् इञादयोऽपि तत्र यदीञादयो ञ्यं बाधित्वापि स्युः, तदा ञ्यस्य कोऽवकाश इत्यनवकाशत्वात् परानपीञादीनसौ बाधेत किमणपवादग्रहणेन ? इत्याह—ञ्यो हीत्यादि अयमर्थः ``प्राग्जितात्'' (6. 1. 13.) इत्यनेन यो विहितोऽण् तस्यान्योऽपवादो नास्ति, तत्रैतत्सूत्रं सावकाशं ततश्चेह आदित्यस्यापत्यं वनस्पतीनां समूह इत्यादावुभयप्राप्तौ असत्यणपवादग्रहणे इञादिरेव स्यात् न ञ्यः ।

अणपवादग्रहणमिति-अणोऽपवादविषये ञ्यो न स्यात्, तत्राणपवाद एव स्यादित्यर्थः । स्यापवादविषयेपीति-स्वस्यापवादः स्वापवादः तस्य तथाहि वास्तोष्पत्यभार्य इत्यत्र वास्तोष्पतिर्देवतास्या इति वाक्ये ``देवता'' (6. 2. 101.) इत्यणपवादोऽनेन ञ्यःप्राप्तस्तदपवादो ``यावापृथिवी'' (6. 2. 108.) इति य इति तस्यापवादोऽयं स्यादित्यर्थः ।

ननु ञ्यस्य ``द्यावापृथिवी'' (6. 2. 108.) इति यस्य वा को विशेष इत्याह-तद्धितः स्ववृद्धिरिति-आदित्यस्येरमिति-अदितेरपत्यमिति कर्त्तव्यं, अन्यथेये आपत्याभावात् ``तद्धितय स्वर'' (2. 4. 92.) इति लुप् न स्यात् । न वाच्यं ``गोत्राददण्ड'' (6. 3. 169.) इतीयबाधकोऽकञ् स्यात्, यतस्तत्र स्वापत्यसंतानस्येति विशिष्टं गात्रं लातं, एतच्च ``पुनर्भूपुत्र'' (6. 1. 39.) इति सूत्रे पूनर्भ्वाद्यपत्यस्या-ऽगोत्रत्वात् गोत्राधिकारविहिता लुप् संघाद्यऽण् च न भविष्यतीति भणनात् ज्ञायते ।

ञिदार्षादणिञोरिति चेति-यमस्यापत्यं वृद्धं याम्य, याम्यस्यापत्यं युवा ``अत इञ'' (6. 1.31.) ``ञिदार्षादणिञोः'' (6. 1. 140.) इति लोपे याम्यः पिता पुत्रश्च ।

बहिषष्टीकण् च ॥ 6. 1. 16. ॥

बहिस् इत्येतस्मात् प्राग्जितीयेऽर्थे टीकण् प्रत्ययो भवति चकाराद् ञ्यश्च । बहिर्जातो बाहीकः, बाह्यः, बाह्या । ``प्रायोऽव्ययस्य'' (7. 4. 65.) इति अन्त्यस्वरादिलोपः, टकारो ङ्यर्थः । बाहीकी । णकारो णित्कार्यार्थः ॥16॥

न्या०स०–बहिषष्टीकण् च-बाहीक इति–``जातेऽर्थे'' (6. 3. 89.) भवेतु ``यङ्गे ञ्य'' (6. 3. 134.) इत्यधिकारे ``गम्भीरपञ्चजन'' (6. 3. 135.) इति ञ्य एव स्यात् न टीकण्, ञ्योऽप्यऽत्र जात एव, भवे तु सिद्धत्वात् ।

कल्यग्नेरेयण् ॥ 6. 1. 17. ॥

कलि अग्नि इत्येताभ्यां प्राग्जितीयेऽर्थेऽनिदम्यणपवादे च एयण् प्रत्ययो भवति । कलिर्देवतास्य कालेयम्, आग्नेयम्, कलौ भवं कालेयम्, आग्नेयम्, कलिना दृष्टं साम कालेयम्, आग्नेयम्, कलेरिदम् कालेयम् आग्नेयम् । अणपवादे च, कलेरागतं कालेयम्, आग्नेयम् । अत्र ``नृहेतुभ्यः'' (6. 3. 155.) इत्यादिना रूप्यमयटौ स्याताम्, अन्ये तु जितार्थात्परेष्वपि प्राग्वतीयेष्व र्थेष्वेयणमिच्छन्ति । कलये हितं कालेयम् आग्नेयम् । कलेर्निमित्तं उत्पातः संयोगो वा कालेयः, आग्नेयः ॥17॥

कल्यग्नेरेयण्-आग्नेयमिति-गौणमुख्ययोरिति अग्निरिवाग्निर्यदा तदा न भवतीति भोजपरिभाषावृत्तिः, एतश्च भाष्यानुयायि, एवं ``वासुदेवार्जुनादकः'' (6. 3. 207.) इत्यादावपि ।

पृथिव्या ञा–ऽञ् ॥ 6. 1. 18. ॥

पृथिवीशब्दात्प्राग्जितीयेऽर्थेऽनिदम्यणपवादे च ञाञ् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः । पृथिव्यां भवः पार्थिवः, ञाञो स्त्रियां विशेषः । पार्थिवा, पार्थिवी । अणपवादे च पृथिव्या अपत्यं पार्थिवः, पार्थिवा, पार्थिवी । अत्र एयण् स्यात्, ङी ``बहुषु लुप्'' संघादिष्वणिति प्रयोजनमञ्विधानस्य ॥18॥

न्या०स०–पृथिव्या-पार्थिवेति-जातित्वेऽप्यजादित्वादाप् यद्वा प्रत्ययद्वय-विधानस्य व्याप्तिपुरःसरत्वेन व्याख्यानादाबित्यनेनैवाप् न तु जातिद्वारा ङीः ।

बहुषु लुबिति-पृथिव्या अपत्यानि, अनेनाञ्, ``यञञः'' (6. 1. 126.) इति लुप् ``ङ् चादेः'' (2. 4. 95.) इति ङीनिवृत्तिर्न गौरादौ पृथिवीति पाठात्, ``गोश्चान्त'' (2. 4. 96.) इति ह्रस्वत्वे जसि पृथिवयः । संघादिष्विति–पृथिव्या अपत्यानि अञो लुपि पृथिवीनां संघादीति

विवक्षायां ``गोत्राददण्ड'' (6. 3. 169.) इत्यकञ्विषये ``न प्राग्जितीये'' (6. 1. 135.) इति अञो लुबभावे अकञ्बाधके ``संघघोषाङ्क'' (6. 1. 172.) इत्यणि पार्थिवः ।

उत्सादेरञ् ॥ 6. 1. 19. ॥

उत्स इत्येवमादिभ्यः शब्देभ्यः प्राग्जितीयेऽर्थेऽनिदम्यणपवादे चाञ् प्रत्ययो भवति । उत्सस्येदमौत्सम्, औदपानम्, अणपवादे च,–उत्सस्यापत्यम् औत्सः, औदपानः, तरुण्या अपत्यं तारुणः, तालुनः, पञ्चालेषु भवः पाञ्चालः । अत्र इञ् एयण् अकञ् च प्राप्नुवन्ति । कुरोरपत्यं कौरव्य इति ञ्यविधौ कुरुशब्दोपादानस्यानवकाशत्वात् भवति । कौरव इति त्वपत्यस्यापीदमर्थ विवक्षायां भविष्यति । उत्तरत्र वष्कयशब्दस्य समासे प्रतिषेधादुत्साद्यन्तस्यापोह प्रत्यया, तेन गोधेनुभ्य आगतं गौधेनवमिति सिद्धम् । अन्यथा रूप्यमयटौ स्याताम् । उत्स, उदपान, विकर, विनद, महानद, महानस, महाप्राण, महाप्रयाण, तरुण, तलुन, धेनु, पङ्क्ति, जगती, बृहती, त्रिष्टुभ, अनुष्टुभ्, जनपद, भरत, उशीनर, ग्रीष्म, अच्छन्दसि, पीलुकण, उदस्थान, देशे, वृषद्, अंशे, वृषदंश इत्यन्ये । भल्लकिय रथन्तर मध्यंदिन बृहत् महिमन् । मिहदित्यपि केचित् । सत्वत् सच्छब्दो मत्वन्तः । सत्वतोऽपत्यं तत्र भवो वा सात्वतः, अन्ये तु नागममिच्छन्ति, सात्वन्तः, कुरु पञ्चाल इन्द्रावसान उष्णिह् ककुभ् अकारान्तावेतावित्यन्ये । सुवर्ण, हंसपथ, वर्धमान इति उत्सादि ॥19॥

न्या०स०–उत्सा० औत्स इति ``अत इञ'' (6. 1. 31.) प्राप्नोति । तारुण इति ``ङसोऽपत्ये'' (6. 1. 28.) इत्येतस्य बाधको ``ङ्याप्त्यूङः'' (6. 1. 70.) इत्यनेनैयण् स्यात् ।

पाञ्चाल इति-``ईतोऽकञ'' (6. 3. 41.) इत्यधिकारे भवार्थे ``बहुविषयेभ्यः'' (6. 3. 45.) इत्यकञ् प्राप्नोति । कुरोरपत्यमिति - ननु यद्यणपवादेऽप्यञ भवति कथं कौरव्य इति ? इत्याह- कुरोरपत्यमिति-ञ्यविधाविति-राष्ट्रक्षत्रियवाचकस्य ``दुनादि'' (6. 1. 118.) इत्यादिना बाह्मण- वाचकस्य तु ``कुर्वादेर्ञ्यः'' (6. 1. 100.) ।

विवक्षायां भविष्यतीति – अनेनैवाञ् प्रत्यय इति, अन्यथा किं तत्र समासप्रतिषेधेन ग्रहणवता नाम्ना इत्यनेनैव न्यायेन केवलस्य लब्धत्वात् ।

गौ धेनवमिति–``जङ्गलधेनु'' (7. 4. 24.) इति वोत्तरपद वृद्धिः ।

अच्छन्दसीति– अच्छन्दसीत्यादयो ग्रीष्मादीनामर्थनिर्देशार्थाः सप्तम्यन्ताः ।

पञ्चाल इति–``अमद्रस्य दिशः'' (7. 4. 16.) ``मद्रादञ्'' (6. 3. 24.) इत्येतयोः सूत्रयोर्यानि सुपांचालकादीनि दर्शितानि तानि मतान्तरेण, ते हि उत्सादौ ब्राह्मणवाचिनं

पश्चाल शब्दं पठन्ति । राष्ट्रवचनात्त्वकञेव, स्वमते त्वकञ् च प्राप्नुवन्तीति भणनाद् राष्ट्राकञ् प्राप्तौ उत्सादिपाठ इति अकञ् न स्यादेव ।

बष्कयादसमासे ॥ 6. 1. 20. ॥

बष्कयशब्दादसमासे वर्तमानात् प्राग्जितीऽर्थेऽनिदम्यणपवादे चाञ् प्रत्ययो भवति । बष्कयस्यापत्यं बाष्कयः । असमास इति किम् ? सुबष्कयस्यापत्यं सौबष्कयिः । इञेव ॥20॥

*न्या०स०—बष्क०—*बाष्कय इति-वस्कते गोर्दूरं ``गयहृदयादयः'' 370 (उणादि) । बस्कतेऽल्पक्षीरतां बष्काऽच् पृषोदरादित्वात् षत्वं बष्कां याति ``आतो ड'' (5. 1. 76.) इति डः ``ङ्यापो बहुलं नाम्नि'' (2. 4. 99.) इति ह्रस्वः ।

देवाद् यञ् च ॥ 6. 1. 21. ॥

देवशब्दात्प्राग्जितीयेऽर्थेऽनिदम्यणपवादे च यञ् चकारादञ् प्रत्ययो भवति । देवस्येदं देवादागतं वा दैव्यम् दैवम्, यञन्तादञन्ताच्च ङ्यां दैवी वाक् । केचित्तु ञ्यप्रत्ययमपीच्छन्ति, तन्मते दैव्या ॥21॥

*न्या०स०—देवाद्यञ्च—*दैवी वागिति ``यञो डायन् च वा'' (2. 4. 67.) इति वा डायनि दैव्यायनीत्यपि ।

अः स्थाम्नः ॥ 6. 1. 22. ॥

स्थामन्शब्दात्प्राग्जितीयेऽर्थे अः प्रत्ययो भवति । अश्वत्थाम्नोऽपत्यमश्वत्थामः ॥22॥

*न्या०स०—*अः स्थाम्नः अश्वत्थाम्न इति, अश्व इव तिष्ठति ``मन् वन्क्वनिप्'' (5. 1. 147.) पृषोदरादित्वात् सस्य तः, इष्टिवशात्तदन्ताद् विधिः, एवमुत्तरत्र ।

लोम्नोऽपत्येषु ॥ 6. 1. 23. ॥

लोमन्शब्दात्प्राग्जितीयेऽपत्यलक्षणेऽर्थे अः प्रत्ययो भवति । उडुलोम्नाऽपत्यानि उडुलोमाः, शरलोमाः, उडुलोमैः, शरलोमैः । अपत्येष्विति बहुवचनात् एकस्मिन्नपत्ये द्वयोश्च वाह्वादित्वादिञेव, औडुलोमिना औडुलोमिभ्याम् ॥23॥

द्विगोरनपत्ये य–स्वरादेर्लुबद्विः ॥ 6. 1. 24. ॥

अपत्यार्थादन्यस्मिन् प्राग्जितीयेऽर्थे उत्पन्नस्य द्विगोः परस्य यकारादेः स्वरादेश्च प्रत्ययस्य सकृल्लुप् भवति न तु द्विः । द्वयो रथयार्द्विरथ्या वायं वोढा द्विरथः । 'रथात्सादेश्च वोढ्रङ्गे' इत्यर्थे ``यः'' (6. 3. 176.) इति यः । पञ्चसु कपालेषु पञ्चकपाल्यां वा सस्कृंतः पञ्चकपालः, पञ्चेन्द्राण्यः पञ्चेन्द्राणि वा देवतास्य पञ्चेन्द्रः, चतुरोऽनुयोगान् चतुरनुयोगी वाधीते चतुरनुयागः । एवं त्रिवेदः । एष्वण् । द्विगोरिति किम् ? पूर्वशालायां भवः पौर्वशालः, त्र्यवयवा विद्या त्रिविद्या तामधीते त्रैविद्यः । अनपत्य इति किम् ? द्वैमातुरः, पाञ्चनापितिः । यस्वरादेरिति किम् ? पञ्चभ्यो गर्गेभ्य आगतं पञ्चगर्गमयम् । अद्विरिति किम् ? पञ्चसु कपालेषु संस्कृतं पञ्चकपालं तस्येदं पाञ्चकपालम् । एवं त्रवेदम् । प्राग्जितादित्येव ? द्वौ रथौ वहति द्विरथ्यः, ``वहति'' (7. 1. 2.) इत्यादिना यः । द्वाभ्यां नौभ्यां तरति द्वैनाविकः ॥24॥

न्या०स०–द्विगोर०–द्विरथ इति-यदा द्वयो रथयोर्वोढेति वाक्यं तदा तद्धितविषये द्विगुः, यदा तु द्विरथ्या वेति तदा समाहारविषये द्विगुः यथासंभवं ``ङ्यादेः'' (2. 4. 95.) इति ङी निवृत्तिः, एवमन्यत्रापि ।

अद्विरिति किमिति-अयमर्थः ननु अद्विरिति विनापि द्वितीय प्रत्ययस्य लुब् न भविष्यति लुप्तस्य प्रथमप्रत्ययस्य स्थानित्वेन द्विगोर्व्यवधायकत्वात्तत् किमद्विर्ग्रहणेन ? नैवं, ``द्रेरञणः'' (6. 1. 123.) इत्यत्र यौधेयस्य भर्गादिपाठात् प्रत्ययलोप इति न्यायस्यानित्यत्वं, भर्गादिपाठो हि यौधेयात् शस्त्रजीविसंघविवक्षायां ``यौधेयादेरञ्'' (7. 3. 65.) इति स्वार्थाञन्तात् ``गोत्राददण्ड'' (6. 3. 169.) इति प्राप्तस्याऽकञो बाधकः, ``संघघोष'' (6. 3. 172.) इत्यण् यथा स्यान्नाकञित्येवमर्थः, यदि च प्रत्ययलोप इति न्यायः स्यात्तदा भर्गादिपाठो व्यर्थः स्यात् ।

पौर्वशाल इति-पूर्वा चासौ शाला च ``पूर्वापरप्रथम'' (3. 1. 103.) इति समासः ततः पूर्वशालायां भवः, ``भवे'' (6. 3. 133.) (इति) अण्, यदा तु पूर्वस्यां शालायां भवः तदा ``दिक् पूर्वादनाम्नः'' (6. 3. 23) इति णः, ``दिगधिकम्'' (3. 1. 98.) इति समासश्च ।

पाञ्चनापितिरिति-पञ्चानां नापितानामपत्यं ``अत इञ्'' (6. 1. 31.) द्वैनाविक इति-अस्मिन्नेव वाक्ये ``नावः'' (7. 3. 104.) इत्यट् समासान्तः ``तरति'' (6. 4. 9.) इत्यनेन इकण् च ।

प्राग् वतः स्त्री–पुंसात् नञ्–स्नञ् ॥ 6. 1. 25. ॥

प्राग्वतो येऽर्थास्तेप्वनिदम्यणपवादे च स्त्रीशब्दात् पुंस्शब्दाच्च यथासंख्यं नञ् स्नञ्

प्रत्ययौ भवतः । स्त्रिया अपत्यं स्त्रैणः, पौंस्नः, स्त्रीणां समूहः स्त्रैणम्, पौंस्नम्, स्त्रीषु भवं स्त्रैणम्, पौंस्नम्, स्त्रीणामियं स्त्रैणी, पौंस्नी, स्त्रीणां निमित्तं संयोग उत्पातो वा स्त्रैणः, पौंस्नः, स्त्रीभ्यो हितं स्त्रैणम्, पौंस्नम् । प्राग्वत इति किम् ? स्त्रिया अर्हं कृत्यम्, स्त्रीया तुल्यं वर्तत इति वा, स्त्रीवत्, पुंवत्, ञकारो ञित्कार्यार्थः ॥25॥

न्या०स०–प्राग्वतः–``प्राग्वतः'' (6. 1. 25.) इति ``तस्यार्हे'' (7. 1. 51.) इति विहितादित्यर्थः, वत इति प्रत्ययस्यावधित्वेऽपि न प्रत्यय इमौ प्रत्ययौ संभवत इति वच्छब्देन तदर्थो निर्दिश्यते ।

त्वे वा ॥ 6. 1. 26. ॥

स्त्रीशब्दात्पुंस्शब्दाच्च त्वे त्वप्रत्ययविषये भावे यथासंख्यं नञ् स्नञ् प्रत्ययौ वा भवतः । स्त्रिया भावः स्त्रैणं स्त्रीत्वं स्त्रीता, पौंस्नम्, पुंस्त्वम्, पुंस्ता, पुनर्वाग्रहणं प्रत्ययविक-ल्पार्थम् ॥26॥

गोः स्वरे यः ॥ 6. 1. 27. ॥

गोशब्दात् स्वरादितद्धितप्रसङ्गे यः प्रत्ययो भवति । गोरिदं गव्यम्, गोरपत्यं गव्यः, गवि भवं गव्यम्, गौर्देवतास्य गव्यः, गवा चरति गव्यः । स्वर इति किम् ? गोभ्यो हेतुभ्य आगतं गोरूप्यम्, गोमयम् ॥27॥

न्या०स०–गोः–गोरपत्यमिति-यदा क्रियते तदा ``चतुष्पाद्भ्य एयञ्'' (6. 1. 83.) तस्य बाधकः ।

ङसोऽपत्ये ॥ 6. 1. 28. ॥

अणादयोऽनुवर्तन्ते । ङसः षष्ठ्यन्तान्नाम्नोऽपत्येऽर्थे यथाभिहितमणादयः प्रत्यया भवन्ति । उपगोरपत्यमौपगवः । धानपतः, दैत्यः, औत्सः, स्त्रैणः पौंस्नः । अपत्य इत्यपत्यमात्रं विवक्षितं न लिङ्गसंख्यादि, तेन द्वयोर्बहुषु स्त्रीलिङ्गादौ च भवति । औपगवो, औपगवाः, औपगवी इत्यादि । ङस इति किम् ? देवदत्तेऽपत्यम् । अपत्य इति किम् ? भानोरयं भानवीयः, श्यामगवीयः । ``तस्येदम्'' (6. 3. 159.) इत्येवाणादिसिद्धौ अपत्यविवक्षायां तदपवादबाधनार्थं वचनम्, तेन भानोरपत्यं भानवः, श्यामगवः । अत्र ``दोरीयः'' (6. 3. 31) इत्तीयो न भवति । कम्बल उपगोः अपत्यं देवदत्तस्येत्यत्र तु असामर्थ्यान्नि भवति ॥28॥

*न्या०स०–ङसोऽपत्ये–*षष्ठ्यन्तादिति ङस्ग्रहणस्य षष्ठ्युपलक्षणत्वात् षष्ठी लभ्यते। संख्यादिति–आदिशब्दाद्विद्यमानाविद्यमानादि, ब्राह्मणत्वादि वा।

श्यामगवीय इति-श्यामा चासौ गौश्च ``गोस्तत्पुरुषात्'' (7. 3. 105.) बहुव्रीहिर्वा।

तदपवादबाधनार्थमिति-तस्य तस्येदमित्यणोऽपवादो यो दोरीय इत्यादिस्तस्य बाधनार्थमन्यथा दुसंज्ञकादपत्यविवक्षायामपि ईय एव स्यात्।

असामर्थ्यान्न भवतीति-अयमर्थः उपगोरित्यस्य कम्बलेन संबन्धित्वान्न तत्संबन्धित्वेनापत्यं चक्तुमण् प्रत्ययः समर्थः।

आद्यात् ॥ 6. 1. 29. ॥

अपत्ये येऽणादयः प्रत्ययास्ते आद्यात् परमप्रकृतेरेव भवन्ति। पौत्राद्यपत्यं सर्वपूर्वजानामापरमप्रकृतेः पारंपर्येण संबन्धादपत्यं भवति, तत्र तैस्तैः संबन्धविवक्षायामनन्तरवृद्धयुवभ्योऽपि प्रत्ययः प्राप्नोतीति नियमार्थ आरम्भः। उपगोरपत्यमनन्तरं वृद्धं वा औपगवः, तस्याप्यौपगविः, औपगवेरप्यौपगवः, गर्गस्यापत्यं पौत्रादि गार्ग्यः, गार्गेरपि गार्ग्यः, गार्ग्यस्यापि गार्ग्यः गार्ग्यायणस्यापि गार्ग्यः। अनन्तरादयोऽपि परमप्रकृतिरूपेणैवापत्ये प्रत्ययमुत्पादयन्ति ॥29॥

*न्या०स०–आद्यात्–*परम परमप्रकृतेरेवेति गर्गादिरूपान्न गार्गिरित्यादिरूपादित्यर्थः।

पौत्राद्यपत्यमिति ननु यस्यैवाङ्गजत्वेनानन्तरः संबन्धः तस्यैव तदपत्यमुच्यते, अतस्तस्मादेवापत्यप्रत्ययो युज्यते नान्यस्मादित्याशङ्का।

तत्र तैस्तैरिति तत्र परम प्रकृतौ तैस्तैर्गागिप्रभृतिभिरपत्यैः सह संबन्धविवक्षायामित्यर्थः।

नियमार्थ आरम्भ इति अयमर्थः गर्गस्यापत्यमनन्तरं गार्गिरितीञन्तात्, गर्गस्यापत्यं वृद्धं गार्ग्य इति यञन्तात्, गार्ग्यस्यापत्यं युवा गार्ग्यायण इत्यायनणन्ताच्चापत्यप्रत्ययो मा भूत् किन्तु या मूलप्रकृतिरूपा गर्गादिलक्षणा तस्या एवाऽपरोपि अपत्यप्रत्ययः समुत्पद्यते नान्यापत्यप्रत्ययान्तायाः, युवार्थापत्यप्रत्ययं प्रति च वृद्धार्थापत्यप्रत्ययान्तैव प्रकृतिराद्या वक्ष्यते, ततः स्थितमेतत् अपत्यप्रत्ययोऽनपत्यप्रत्ययान्ताया एव प्रकृतेर्भवतीति। आगच्छति चापरे प्रत्यये अग्रेतनो निवर्त्तत एव।

अनन्तरादयोऽपीति न केवलं गर्ग इत्येवंरूपा प्रकृतिः परमप्रकृतिरूपेण प्रत्ययमुत्पादयति, गार्गि-गार्ग्य-गार्ग्यायण दयोऽपि अनन्तरवृद्धयुवानः परम प्रकृतिरूपेणैव प्रत्ययमुत्पादयन्ति। अयमर्थः पुत्रपौत्रादयोऽपि मूल प्रकृतेरेवोत्पन्नैः प्रत्ययैरभिधीयन्ते न तत्तद्विभिन्नप्रत्ययान्तायाः प्रकृतेरुत्पन्नैः।

वृद्धाद्-यूनि ॥ 6. 1. 30. ॥

यून्यपत्ये विवक्षिते यः प्रत्ययः स आद्यात्–वृद्धात् परमप्रकृतेर्यो वृद्धप्रत्ययस्तदन्ताद्भवति । ``आद्यात्'' (6. 1. 29.) इत्यस्यापवादः । वृद्धादिति यूनि प्रकृतिर्विधीयते । गर्गस्यापत्यं वृद्धं गार्ग्यः, तस्यापत्यं युवा गार्ग्यायणः । दक्षस्यापत्यं पौत्रादि दाक्षिः, तस्यापत्यं युवा दाक्षायणः, नडस्यापत्यं वृद्धम् नाडायनः, तस्यापत्यं युवा नाडायनिः । यूनीति किम् ? गार्ग्यः, नाडायनः । आद्यात् इत्येव ? उपगोरपत्यं वृद्धमौपगवः तस्यापत्यं युवा औपगविः । गार्ग्यायणस्य अपत्यं युवा गार्ग्यायणः, अत्रायनण् इञ् च न भवनि ॥30॥

न्या०स०–वृद्धाद्यनि-यूनि प्रकृतिरिति यूनि प्रत्यये विधातव्ये वृद्धप्रत्ययान्त एवाद्य इत्यर्थः । तस्याप्यपत्यं युवा औपगविरिति पुनर्वृद्धप्रत्ययान्तलक्षणात् परमप्रकृतेरिञ् नेञन्तादन्यो युवार्थ-प्रत्यय इत्यर्थः ।

अत्रायनण् इञ् च न भवतीति, ननु ``वृद्धाद्यूनि'' (6. 1. 30.) इति वचनात् वृद्धप्रत्ययान्ता-देव यूनि प्रत्ययो, न तु युवप्रत्ययान्तादित्यत्र प्राप्तिरेव नास्ति ? सत्यं, अत्र औपगव्यादि यत् युवसंज्ञमपत्यं तत्पौत्रादि वृद्धमिति सामान्येन भणनात् वृद्धमप्यस्तीति प्राप्तिः ।

अत इञ् ॥ 6. 1. 31. ॥

ङसोऽपत्य इति वर्तते, अकारान्तात् ङसन्तान्नाम्नोऽपत्येऽर्थे इञ् प्रत्ययो भवति, अणोऽपवादः । दक्षस्यापत्यं दाक्षिः, अस्यापत्यम् इः । अत इति किम् ? शौभंयः, कैलालपः, । केचित्तु शुभंयाकीलालपाशब्दाभ्यामणमपि नेच्छन्ति कथं `त्यजस्व कोपं कुलकीर्तिनाशनम्, भजस्व धर्मं कुलकीर्तिवर्धनम् ॥ प्रसीद जीवेम सबान्धवा वयं, प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली ॥1॥

तस्येदमिति विवक्षायामण् भविष्यति, अपत्यविवक्षायां तु दाशरथिरित्येव भवति । अथ काकबकशुकादेः कस्मान्न भवति । जात्यैवापत्यार्थस्य पौत्रादेरनन्तरस्य चाभिहितत्वात्, यत्र त्वर्थप्रकरणादेर्विशेषप्रतीतिरस्ति तत्र भवत्येव, यथा कुतश्चरति मायूरिः केन कापिञ्जलिः कृशः, एतेन काक्यादिभ्य एयणादयोऽपि व्याख्याताः । कथं तर्हि क्रौञ्चः कौकिलः, गौधेरः, चाटकैर इति । जातिशब्दा एवेते यथाकथंचिद्व्युत्पाद्यन्ते । यथा क्षत्रं क्षत्रियः, राजा राजन्यः, मनुः मनुष्यो, मानुष इति । अनभिधानाच्च शतसर्ववृद्धकारकराज पुरुषमाथुरकुरकुररादिभ्यो न भवति । ञकारो ञित्कार्यार्थः ॥31॥

न्या०स०–अत इञ्-इरिति नन्वग वृष्णित्वाण् प्राप्नोति ? न, तत्र प्रसिद्धा वंश्याख्या क्षत्रिया गृह्यन्ते, अयं तु न तथाविधः । शौभंय इति शुभं याति । यातीति विच्, शुभंयोऽपत्यं एवं कैलालपः । मैथिलीति मिथिलाया अयं स्वामी ``तस्येदम्'' (6. 3. 160.) अणि मैथिलस्यापत्यं ऋष्यणि ङीः । मैथिलस्य राज्ञोऽपत्यं वा ``राष्ट्र क्षत्रियाद्'' (6. 1. 114.) इत्यञ् ।

जात्यैवेति यतः सर्वोऽपि लोकः काकं दृष्ट्वा काकोऽसावित्येव व्यवहरति न काकापत्यमिति ।

एतेनेति पूर्वोक्तप्रकारेणेत्यर्थः ।

एयणादयोऽपीति विशेषप्रतीतौ भवन्ति, अन्यत्र जात्याभिहितत्वान्न भवन्तीत्यर्थः ।

कौंश्च इति एषु त्रिषु गोधावर्जमजादित्वादाप् तत्र द्वयोः शिवादित्वादण् ।

यथाकथमिति न किमप्यपत्यविवक्षाफलं तादृशमस्तीति भावः । क्षत्रमिति क्षणनं क्षत्, क्विप् ``गमां क्वौ'' (4. 2. 58.) इति नलोपे तागमे क्षतस्त्रायते, क्षणनं क्लीबे क्तः ``यमिरमिनमि'' (4. 2. 50.) इत्यन्तलोपः । क्षतात् जायते ``स्थापा'' (5. 1. 142.) इति के पृषोदरादित्वादऽस्य लोपः । क्षदि हिंसार्थः सौत्रो वा ``हुयामा'' 491 (उणादि) इति त्रः ।

बाह्वादिभ्यो गोत्रे ॥ 6. 1. 32. ॥

स्वापत्यसंतानस्य स्वव्यपदेशकारणमृषिरनृषिर्वा यः प्रथमः पुरुषस्तदपत्यं गोत्रम् । बाह्वादिभ्यो ङसन्तेभ्यो गोत्रेऽपत्येऽर्थे इञ् प्रत्ययो भवति, अनकारान्तार्थो बाधकबाधनार्थश्चारम्भः । बाहोरपत्यं बाहविः, औपवाकविः, नैवाकविः, औदश्चिः, इहोदाश्चिति पैलादिषु चोदश्चीति सनकारस्य पाठादनर्चायामपि नलोपाभावः । गोत्र इति किम् ? योऽद्यत्वे बाहुर्नाम तस्यापत्यं बाहवः । संभवापेक्षं च गोत्रग्रहणम्, तेन पञ्चानामपत्यं पाश्चिः, साप्तिः, आष्टिः इत्यादि सिद्धम् । बाहु, उपवाकु, निवाकु, वटाकु, चटाकु, उपबिन्दु, चाटाकु, वृकला, कृकला, चूडा, बलाका, जङ्घा, छगला, भगला, लगहा, ध्रुवका, धुवका, मूषिका, सुमित्रा, दुर्मित्रा । वृकलादिभ्यो यथासंभवमेयणो मानुषीनामलक्षणस्य चाणोऽपवादोऽयमिञ् । युधिष्ठिर, अर्जुन, राम, संकर्षण, कृष्ण, गद, प्रद्युम्न, शाम्ब, सत्यक, शूर, असुर, अजीगर्त, मध्यंदिन, एषु ऋष्यादिलक्षणस्याणोऽपवादः । सुधावन् स्वधावत्, पुष्करसद्, अनुरहत्, अनडुड्, पञ्चन् सप्तन्, अष्टन्, क्षेमधन्विन्, माषाशिरोविन्, शृङ्खलतोदिन्, खरनादिन् प्राकारमर्दिन्, नगरमर्दिन्, इन्द्रशर्मन्, मद्रशर्मन्, अग्निशर्मन्, देवशर्मन्, उपदश्च, उदश्च, कुनामन् सुनामन् सुदामन्, शिरस् लोमन् एतौ तदन्तौ । हस्तिशिरसोऽपत्यं हास्तिशिर्षिः, औडुलोमिः, शारलोमिः, इति बाह्वादयः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम्, तेन सख्युरपत्यं साखिः ।

संवेशिनः सांवेशिः, उदङ्कस्य औदङ्किः, एवमौद्दालकिः, वाल्मीकिः, आरुणिः इत्यादि सिद्धम् भवति। शिवादेश्च प्राग्येऽकारान्ता बिदादयन्तेभ्य ऋष्यणं बाधित्वा उक्तादर्थादन्यत्रानेनैवेञ्। बिदादेवृद्धेऽञ् वक्ष्यते, बिदस्यापत्यमनन्तरं बैदिः, और्विः, गर्गादेर्यञ् गार्गिः, वात्सिः, कुञ्जादेर्ञायन्य, कौञ्जिः, ब्राध्निः, अश्वादेरायनञ्, आश्विः, आर्किः, नडादिभ्य आयनण् नाडिः, मौञ्जिः। अनकारान्तेभ्यस्त्वणेव औपमन्यवः, जामदग्नः, भास्मः सौमनसः, लैगवः, शारद्वतः। इतः प्रभृति गोत्र इत्यधिकारात् गोत्रे संभवति ततोऽन्यत्र प्रतिषेध ॥32॥

न्या०स०—बाह्वा—खरनादिन्निति गणपाठात् ``पूर्वपदस्था'' (2.3.64.) इति न णत्वम्।

उक्तार्थादन्यत्रेति कोऽर्थः वृद्धार्थादन्यत्राकारान्तानां बिदादीनां ``ऋषिवृष्ण्यन्धक'' (6.1.61.) इत्यनेनाण् स्यात्, सोऽनेन बाध्यते।

भास्म इति भस्मनोऽपत्यं ऋष्यणि `अणि' इति प्रतिषेधे प्राप्ते ``अवर्म्मणो मनोऽपत्ये'' (7.4.49.) इत्यनेनान्त्यस्वरादिलोपः।

ततोऽन्यत्रेति अयमर्थः, यत्र गोत्रमगोत्रं च संभवति तत्र ततो गोत्रादन्यत्रेञ् प्रतिषेधः, यत्र गोत्रं न संभवत्येव तत्रागोत्रेऽपीञ्।

वर्मणोऽचक्रात् ॥ 6. 1. 33. ॥

चक्रशब्दवर्जितात्परो यो वर्मन्शब्दस्तदन्तादपत्येऽर्थे इञ् प्रत्ययो भवति। इन्द्रवर्मणोऽपत्य-मैन्द्रवर्मिः, अचक्रादिति किम्? चाक्रवर्मणः ॥33॥

न्या०स०—वर्म—चाक्रवर्मण इति चक्रं वर्म यस्य चक्रवर्मा अथवा चक्रमेनं वृषीष्ट ``तिक्कृतौ नाम्नि'' (5.1.71.) मन्, ``नोपदस्य'' (7.4.61.) इत्यनेनान्तलोपे प्राप्ते ``अणि'' (7.4.52.) इति प्रतिषेधः, ``अवर्म्मणो मनो'' (7.4.59.) इत्यनेन भविष्यतीति च न वाच्यं, तत्र वर्मन्वर्जनात्।

अजादिभ्यो धेनोः ॥ 6. 1. 34. ॥

अजादिभ्यः परो यो धेनुशब्दस्तदन्तादपत्येऽर्थे इञ् प्रत्ययो भवति। आजधेनविः, बाष्कधेनविः। अजादयः प्रयोगतोऽनुसर्तव्याः ॥34॥

न्या०स०—अजा०—आजधेनविरिति अजा चासौ धेनुश्चेति कार्य, ``पोटायुवति'' (3.1.111.) इति समासः, न त्वजा धेनुर्यस्येति तदा ``स्वाङ्गान्ङीः'' (3.2.56.) इति पुंवन्निषेद्यः स्यात्।

ब्राह्मणाद्वा ॥ 6. 1. 35. ॥

ब्राह्मणशब्दात्परो यो धेनुशब्दस्तदन्तादपत्येऽर्थे इञ् वा भवति । ब्राह्मणधेनविः ब्राह्मणधेनवः ॥35॥

भूयस–संभूयो-ऽम्भो-ऽमितौजसः स्लुक् च ॥ 6. 1. 36. ॥

भूयस्, संभूयस्, अम्भस्, अमितौजस् इत्येतेभ्योऽपत्येऽर्थे इञ् प्रत्ययो भवति सकारलोपश्चैषाम् । भूयसोऽपत्यं भौयिः, एवं सांभूयिः, आम्भिः, आमितौजिः । भूयसो नेच्छन्त्यन्ये । अकतसोऽपीच्छन्त्येके आकतिः ॥36॥

शालङ्क्यौदि–षाडि–वाड्वलि ॥ 6. 1. 37. ॥

शालङ्किः, औदि, षाडि, वाड्वलि इत्येते शब्दा अपत्येऽर्थे इञ्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । शलङ्कोरपत्यं शालङ्किः । अत्रेञ् प्रत्यय उकारलोपश्च निपात्येते । उदकस्यौदिः, अत्रेञ् कलोपश्च । षण्णां षाडिः, अत्रेञ् अन्त्यस्य च डत्वम् । वाचं वदति वाग्वादस्तस्यापत्यं वाड्वलिः, अत्रेञि वाचोऽन्तस्य डत्वं वलभावश्चोत्तरपदस्य ॥37॥

व्यास–वरुट–सुधातृ–निषाद–बिम्ब–चण्डालादन्त्यस्य चाऽक् ॥ 6. 1. 38. ॥

व्यासादिभ्योऽपत्येऽर्थे इञ् प्रत्ययो भवति तत्संनियोगे चैषामक् इत्ययमन्तादेशो भवति । व्यासस्यापत्यं वैयासकिः, वरुटस्य वारुदकिः, सुधातुः सौधातकिः, निषादस्य नैषादकिः, वृद्धे तु परत्वाद्विदादिलक्षणोऽञ् । नैषादः, बिम्बस्य, बैम्बकिः, चण्डालस्य चाण्डालकिः, सुधातृव्यासाभ्यामणोऽपवादः । वरुटात् कारुञ्यस्यापवादः । शेषेभ्योस्त्येव । कर्मारव्याघ्राग्निशर्मभ्योऽपोच्छन्त्येके । कर्मारकिः, वैयाघ्रकिः, आग्निशर्मकिः ॥38॥

पुनर्भू–पुत्र–दुहितृ–ननान्दुरनन्तरेऽञ् ॥ 6. 1. 39. ॥

पुनर्भूपुत्रदुहितृननान्दृ इत्येतेभ्यो ङसन्तेभ्योऽनन्तरेऽपत्येऽर्थे अञ् प्रत्ययो भवति । पुनर्भ्वा अनन्तरमपत्यं पौनर्भवः पौनर्भवौ, पौनर्भवाः, पौत्रः, दौहित्रः, नानान्द्रः । अनन्तर इति किम् वृद्धेऽञ् न भवति । अञो ञित्करणमुत्तरार्थम्, इह तु सूत्रेऽञि अणि वा नास्ति विशेषः ।

नन्वस्त्येव विशेषः, अञि हि ``यञञोऽश्यापर्णे'' (6. 1. 126.) इत्यादिनाञो बहुषु लुप् स्यात् यथा बैदः, बैदौ, बिदा इति, तथा संघादिष्वर्थेषु ``संघघोषाङ्क'' (6. 3. 171.) इत्यादिनाञः परोऽण् स्यात् यथा बैदमिति, अणि तु तदुभयमपि न भवति यथौपगवाः औपगवकमिति । तथा पुत्रशब्दादञ्प्रत्ययान्तात् ततोऽप्यपत्यविविक्षायाम् ``अत इञ्'' (6. 1. 31.) इतीञि ``ञिदार्षादणिञोः'' (6. 1. 140.) इति तस्य लुपि पौत्र इति स्यात् यथा बैद पिता, वैदः पुत्रः । अणि तु ``द्विस्वरादणः'' (6. 1. 109.) इत्यायनिञ् स्यात् यथा कार्त्रायणिरिति ? उच्यते,–पुनर्भ्वाद्यपत्यस्यागोत्रत्वाद्गोत्राधिकारविहिता लुप् संघाद्यण् च न भविष्यति । पौत्रशब्दाच्चावृद्धप्रत्ययान्तत्वादञ्यणि च इञ् आयनिञ् च न भविष्यतीति विशेषाभाव एव, केचित्तु पुनर्भ्व इति लुपमप्युदाहरन्ति, तेषां पुनर्भूरिति गोत्रं तत्रेहाप्यस्ति विशेषः ।।39।।

न्या०स०–पुनर्भू–यथा बैदमितीति बिदस्यापत्यानि बिदादेर्वृद्धेऽञ्, बिदानां संघादि बहुषु वर्तमानस्याञो न लुप् ``न प्राग्जितीये स्वरे'' (6. 1. 135.) इति प्रतिषेधात्, ततो ``गोत्राददण्ड'' (6. 3. 169.) इत्यकञ्बाधकः ``संघघोष'' (6. 3. 172.) इत्यण् ।

ततोऽप्यपत्यविवक्षायामिति-आपातमात्रे पूर्वपक्षोऽयम्, अन्यथा ``वृद्धाद्यूनि'' (6. 1. 30.) इति वचनात् अनन्तराद्यूनि प्रत्ययो न स्यात्, न च वृद्ध एव भविष्यतीति वाच्यं यतः ``आद्यात्'' (6. 1. 29.) इति सूत्रात्पुत्र इत्येवंरूपायाः परमप्रकृतेरेव स्यात् । किं च तदा `ञिदार्षादणिञोः लापो न स्यात्, तत्र युवप्रत्ययग्रहणात् ।

बैदः पुत्र इति बिदस्यापत्यं वृद्धं बिदादेर्वृद्धे अञ्, बैदस्यापत्यं युवा ``अत इञ्'' (6. 1. 31.) ``ञिदार्षादणिञोः'' (6. 1. 140.) इति लोपः ।

कार्त्रायणिरितीति कर्तुरपत्यं वृद्धं ``ङसोऽपत्ये'' (6. 1. 28.) अण्, कार्त्तस्यापत्यं युवा ``द्विस्वरादाणः'' (6. 1. 109.) आयनिञ् अस्य च ब्राह्मणत्वात् ``अब्राह्मणात्'' (6. 1. 141.) इति न लुप् ।

विशेषाभाव एवेति ननु तर्हि इञ्बाधकः पुत्रादञित्येव क्रियतां किं गुरुणा सूत्रेण, यतः शेषेभ्यः सामान्योऽण् अस्त्येव ? उच्यते, मताभिप्रायेण पुनर्भूपुत्रदुहितृ ननान्दृग्रहणमिति दर्शितं, यतस्तन्मते दुहित्रादीनां पूर्वदर्शितं गोत्रे फलमस्तीति ।

परस्त्रियाः परशुश्चाऽसावर्ण्ये ।। 6. 1. 40. ।।

परस्त्रीशब्दादनन्तरेऽपत्येऽञ् प्रत्ययो भवति तत्संनियोगे परस्त्रीशब्दस्य परशुभावश्चा-सावर्ण्ये न चेत् पुरुषेण सह समानो वर्णो ब्राह्मणत्वादिस्तस्या भवति । परा पुरुषाद्भिन्नवर्णा

स्त्री परस्त्री, तस्या अनन्तरापत्यं पारशवः । असावर्ण्य इति किम् ? परस्य स्त्री परस्त्री तस्या अनन्तरापत्यं पारस्त्रेणेयः । कल्याण्यादिपाठादेयण् अन्तस्य चेनादेशः, अनुशतिकादिपाठादुभयपदवृद्धिश्च ॥40॥

विदादेर्वृद्धे ॥ 6. 1. 41. ॥

विदादिभ्यो वृद्धेऽपत्येऽर्थे अञ् प्रत्ययो भवति । विदस्यापत्यं वृद्धं बंदः, वैदौ, विदाः, और्वः, और्वौ, उर्वाः, काश्यपः, काश्यपौ, कश्यपाः, भारद्वाजः, भारद्वाजौ, भरद्वाजाः । अथेन्द्रहूः सप्तमः काश्यपानाम् भारद्वाजानां कतमोऽसीत्यत्र बहुषु लुप् कस्मान्न भवति । नायमञ् किंतु अस्येदम् इति विवक्षाऽयामण्, सर्वेषामपि हि पितरोऽभेदोपचारेण कश्यपाः, यथा बभ्रुः मण्डुः लमक इति । वृद्ध इति किम् ? विदस्यापत्यमनन्तरं वैदिः । विद, उर्व, कश्यप, कुशिक, भरद्वाज, उपमन्यु, किलात, कीदर्भ, विश्वानर, ऋष्टिषेण, ऋतभाग, हर्यश्व, प्रियक, पियक अपस्तम्भ, कुवाचर, कूवाचर, शरद्वत्, शुनक, धेनु । उत्सादिष्वपि धेनुशब्दः पठ्यते । स प्रत्यग्रप्रसवगव्यादिवाचकः, अयमृषिवचनः । अश्व शङ्ख, गोपवन, शिग्रु, विन्दु, ताजम, अश्वावतान, श्यामाक, श्यापर्ण, हरित, किन्दास, वस्यस्क, अर्कलुश, वध्योग, विष्णुवृद्ध, वृष्णिवृद्ध, प्रतिबोध, रथीतर, रथंतर, गविष्ठिर, गविष्ठिल, निषाद, शबर, मठर, सृदाकुं, पृदाकु । केचिदेतौ हरितादेः प्राक् पठन्ति । तन्मते ``हरितादेरञः'' (6. 1. 55.) इत्यायनण् न भवति । मठरशब्दं गोपवनादावपि अञो लुबभावार्थं केचित्पठन्ति । अन्ये तु मठराद्यकारादिमञमिच्छन्ति । माठर्यः, माठर्यौ । बहुष्वञो लुपि संनियोगशिष्टत्वात् यस्यापि निवृत्तिरिति मठराः ॥41॥

न्या०स०—विदा—सप्तमः काश्यपानामिति अत्र कश्यपसंतानापेक्षया बहुवचनं न तु भ्रातृ—वर्गापेक्षया, अथ गणः, विन्दत्यवयवी-भवति स्वगोत्रे ``विन्देर्नलुक्च'' 6 (उणादि) इति अः विदः, उर्वति अष्टप्रकारं कर्म उर्वः, कशामर्हति कश्यः, अनया व्युत्पत्त्या पुरुष एव लभ्यते न मद्यं, न पुरुषो मद्ययोगात् कशायोग्यः अतस्तदेव कशायोग्यं, कश्यं पिबति कश्यपः । कुश्यति सत्कर्मसु ``कुशिक'' 503 (उणादि) इति साधुः । वजण् वर्जिणि गन्तो वा, भरन्तं वाजयति भरद्वाजः, उपगतं मन्युं बहुव्रीहिर्वा उपभन्युः ।

किरतीति ``नाम्युपान्त्य'' (5. 1. 54.) इति के किलस्तमतति किरातस्य स्थाने वा किलातः । कस्य भार्या की, क्यां दर्भ इव पवित्रः कीदर्भः । विश्वे नरा अस्य विश्वानरः । ऋष्टयः सेनायां ऋष्टिवत् सेना वा यस्य ऋष्टिषेणः । ऋतेन सत्येन भागो भागधेयं यस्य ऋत भागः ।

हरयो नीलवर्णा अश्वा यस्य हर्यश्वः । प्रिय एव प्रियकः प्रियं कायति वा ।

पिबति उष्णं पानीयादिकं ``कीचक'' 33 (उणादि) इति पियकः ।

अपस्तभ्नाति अष्टप्रकारं कर्म्म अपस्तम्भः । कुत्सितं वान्ति विच्, कुवाः तेषां पार्श्वेन चरति कुवाचरति कुवाचरः, बाहुलकात् दीर्घत्वे कूवाचरः ।

शरद् उपकारकतयाऽस्यास्ति शरद्वत् । शुनति परमां गतिं ``कीचक'' 33 (उणादि) इति ``नाम्युपान्त्य'' (5. 1. 54.) इति के शुन इव शुनकः । धीयते अस्मात्तत्वमिति धेनुः । गोपानुप वनति वनुते वा गोपवनः । शेरते गुणा अत्र शिनोति वा शिग्रुः । वेत्तीत्येवंशीलो ``विन्द्विच्छू'' (5. 2. 34.) विन्दुः । तां लक्ष्मीं जमति ताजमः ।

अश्वानवतनोति अश्वावतानः । श्यायतेः ``मवाक'' 37 (उणादि) श्यामाकः । श्यायन्ते श्याः श्यायां वसतौ गताना पर्णयति आद्रीकरोति देशनया श्यापर्णः ।

``हृश्या'' 210 (उणादि) इति हरितः । किमपि दासते किंदासः ।

वसिमस्यति ``भीण्शलि'' 21 (उणादि) इति के वस्यस्कः । अर्कमपि कशति तेजसा अर्कलुशः ! वधमर्हन्ति वध्यास्तान् उङ्गति ``मूलविभुज'' (5. 1. 144.) इति के वध्योगः । विष्णुवत् वृष्णिवद् वा वृद्धः विष्णुवृद्धः । वृष्णिवृद्धः । प्रतिबोधयति प्रतिबोधः । रथ्या तरति रथीतरः । ``भृवृजि'' (5. 1. 112.) इति खे रथंतरः । निषीदन्ति गुणा अवेति निषादः । ``ऋच्छिचटि'' 397 (उणादि) इत्यरे शबरः । मठरः । ``सृपृभ्यां दाकुक्'' 756 (उणादि) सृदाकुः, पृदाकुः इति विदादयः । गोपवनादावपीति–न केवलं हरितादौ ।

गर्गादेर्यञ् ॥ 6. 1. 42. ॥

गर्गादिभ्यो ङसन्तेभ्यो वृद्धेऽपत्येऽर्थे यञ् प्रत्ययो भवति । गर्गस्यापत्यं वृद्धं गार्ग्यः, वात्स्यः । वृद्ध इत्येव ? गर्गस्यापत्यमनन्तरं गार्गिः । गोत्र इत्येव ? गर्गो नाम कश्चित् तस्यापत्यं वृद्धं गार्गिः । ननु मनोरत्र पाठाल्लोहितादित्वात् स्त्रियां नित्यं डायनि ङ्यां च मानव्यायनीति स्यात् तत्कथं मानवी प्रजेति ? उच्यते, अपत्यसामान्यविवक्षायां ``ङसोऽपत्ये'' (6. 1. 28.) इत्यणि भविष्यति । कथमनन्तरो रामो जामदग्न्यः, व्यासः पाराशर्यः पुत्रेऽपि पौत्रादिकार्यकरणात् ? तथोच्यते, अनन्तरापत्यविवक्षायां जामदग्नः पाराशरिः, कथं पाराशरः ? तस्येदमिति विवक्षायां भविष्यति । गर्ग, वत्स, वाज, अज, संकृति, व्याघ्रपाद्, विदभृत्, पितृबध्, प्राचीनयोग, पुलस्ति, रेभ, अग्निवेश, शंख, शट, धूम, अवट, नमस, चमस, धनंजय, तृक्ष, विश्वावसु, जरमाण, कुरुकत, अनडुह, लोहित, संशित, वक्र, बभ्रु, बभ्लु, मण्डु, मङ्क्षु मङ्खु, शस्थु, शङ्कु, लतु लिगु, गूहल, जिगीषु, प्रनु, तन्तु, मनुतन्तु,

मनायी। अणेयणोः प्राप्तावस्य पाठः। पुंवद्भावस्तु ``कौण्डिन्यागस्त्ययोः'' (6. 1. 127.) इति कौण्डिन्यनिर्देशादनित्य इति न भवति। सूनु स्त्रुव, कच्छक, ऋक्ष, रुक्ष, रूक्ष, तलुक्ष, तण्डिन् वतण्ड, कपि, कत, शकल, कण्व, वामरथ, गोकक्ष, कुण्डिनी, यज्ञवल्क, पर्णवल्क, अभयजात, विरोहित, वृषगण, रहोगण, शण्डिल, मुद्गर, मुद्गल, मुसर, मुसल, पराशर, जतूकर्ण, मन्द्रित, अश्मरथ, शर्कराक्ष, पूतिमाष, स्थूर, स्थूरा, अरराका, पिङ्ग, पिङ्गल, कृष्ण, गोलून्द, उलूक, तितिम्भ, भिष, भिषज, भिष्णज, भण्डित, भडित, दल्भ, चिकित, देवहू, इन्द्रहू, यज्ञहू, एकलू, पिष्यल्लु, पत्यलू, वृहलू, पप्फलू, बृहदग्नि, जमदग्नि, सुलामिन, कुटीगु, उक्थ, कुटल, चणक, चुलुक, कर्कट, अलापिन् सुवर्ण, सुलाभिन् इति गर्गादिः ॥42॥

न्या०स०—गर्गा० गणः—गिरति वदति निरवद्यमिति ``गम्यमि'' 92 (उणादि) इति ``मावावद्यमि'' 564 (उणादि) इति च गतौ। गर्गः, वत्सः, वाजयत्यच् वाजः। न जातः अजः। संस्करणं संकृत्तिः। गणपाठात् सडभावः। व्याघ्रस्येव पादौ यस्य व्याघ्रपाद्। विदं बिभर्ति, पितरं बध्नाति क्विप् विदभृत्, पितृबध्। बहुव्रीहौ प्राचीनयोगः। अगिविलित्यस्तिकि पुलस्तिः।

रेभते अच् रेभः। अग्निमपि विशति अग्निवेशः। ``शमिमनि'' 84 (उणादि) इति खे शंखः। ``दिव्यवि'' 142 (उणादि) इति अवटः। ``तप्पणि'' 569 (उणादि) इति नमसः। चमतः। धनं जयति धनंजयः। तृक्षति तृक्षः। विश्वस्मिन् वसूनि यस्य विश्वावसुः। जिंजृइति ऋकारान्तं मन्यते तन्मते जरमाणः। ``पृषिरञ्जि'' 208 (उणादि) इति कनः कुरूणां कतः। चसौ वा। ``हृश्या'' 210 (उणादि) इति रोहितः, 'लत्वे लोहितः'।

``हनिया'' 733 (उणादि) इति बभ्रुः लत्वे बभ्लुः। मण्डते ``भृमृ'' 740 (उणादि) इति मण्डुः। 'मस्जि' इति सुक्? बाहुलकान्न-लोपाभावे मङ्क्षु।

'उखनख' इति 'भृमृ' इति मङ्खु।

शंवाति, केवयुनिपातः ``कैशी'' 749 (उणादि) इति शङ्कुः। ``कृलाभ्यां कित'' 780 (उणादि) लतुः। ``रङ्धिलङ्घि'' 740 (उणादि) इति लिगुः। ``गृहलुगुग्गुलु'' 724 (उणादि) इति गृहलुः। जेतुमिच्छुः जिगीषुः। मन्यते इति मनु ``कृसिकृमि'' 773 (उणादि) इनि तन्तुः, मनुश्चासौ तन्तुश्च मनुतन्तुः। ``निघृषि'' 511 (उणादि) इति किति वे सुवः। कच्छते कच्छकः।

``ऋजिरिषि'' 567 (उणादि) इति ऋक्षः। रूक्षणं रूक्षः। तरून् क्षयति तरूक्षः, लत्वे

तलुक्षः । अवश्यं तण्डते तण्डी, वनेश्च वतण्डः । ``अम्भिकुण्ठि'' 614 (उणादि) इति कपिः । ``प्रषिरञ्जि'' 208 (उणादि) इति कित्यते कतः । प्रसे वामरथः ।

गोरिव कक्षो भक्ष्यः पार्श्वो वा अस्य गोकक्षः । अवश्यं कुण्डते कुण्डिनी । यज्ञे वल्कोऽस्य यज्ञवल्कः, प्रसे अभयः । जायते स्म जातः, चसे अभयजातः । विशेषेण रोहति ``हृश्या'' 210 (उणादि) इति विरोहितः । वृषान् गणयति वृषगणः रहो गणयति रहोगणः ।

``कल्यनि'' 481 (उणादि) इति शण्डिलः । ``मुदिगूरिभ्यां'' 404 (उणादि) मुद्गरः लत्वे मुद्गलः । मुसं राति मुसरः ``तृपिवृपि'' 468 (उणादि) इति मुसलः ।

परावृत्त्या श्रृणाति पराशरः । जतुवत् कर्णौ यस्य जतूकर्णः । मन्द्रो गम्भीरः शब्दः सोऽस्याऽस्ति ``तदस्य'' (7. 1. 138.) इतीतः, मन्द्रं करोति वा ततः क्ते मन्द्रितः ।

अश्मवद्रथोऽस्य अश्मरथः । शर्करावत् अक्षिणी यस्य ``सक्थ्यक्ष्णः'' (7. 3. 126.) शर्कराक्षः । पूतयो माषा यस्य पूतिमाषः । ``स्थाविडे'' 429 (उणादि) स्थूरः । अरा अराकाराणि भक्ष्याणि राति ``भीण्शलि'' 21 (उणादि) इति अरराका । ``स्फुलिकसि'' 102 (उणादि) इति पिङ्गः, पिङ्गं लाति पिङ्गलः ।

गां लुनाति ``कुमुद'' 244 (उणादि) इति गोलुन्दः, गोलायामुनत्ति स्नाति वा, उलिः सौत्रः ओलति ``शम्बूक'' 61 (उणादि) इति उलूकः । स्तभ्नाति ``जजल'' 18 (उणादि) इति तितिम्भः । मिषिः सौत्रः के भिषः, `भिषेर्भिषभिष्णौ च वा' भिषजः, भिष्णजः । पतौ साधु- स्तल्लुनाति पत्यलूः । वृहं लुनाति वृहलूः । फलानि लुनाति पृषोदादित्वात् पप्फलूः ।

मधु–बभ्रोर्ब्राह्मण–कौशिके ॥ 6. 1. 43. ॥

मधुशब्दाद्-बभ्रुशब्दाच्च यथासंख्यं ब्राह्मणे कौशिके च वृद्धेऽपत्येर्थे यञ् प्रत्ययो भवति । माधव्यो ब्राह्मणः, माधवोऽन्यः, बाभ्रव्यः कौशिकः, बाभ्र वोऽन्यः । बभ्रोगर्गादिपाठाद्यञि सिद्धे कौशिके नियमार्थं वचनम् । गर्गादिपाठस्तु लोहितादिकार्यार्थः तेन बाभ्रव्यायणीति नित्यं डायन् । केचित्तु अकौशिकेऽपि लोहितादिपाठाद्यञमिच्छन्ति, तन्मतेनेदं यञ्विधानं बभ्रोलोहितादेर्बहिष्करणार्थम्, तेन कौशिके यनि सति लोहितादिकार्यं न भवति, तथा च स्त्रियां डायन् वा भवति । बाभ्रवी बाभ्रव्यायणी च कौशिकी ॥43॥

कपि–बोधादाङ्गिरसे ॥ 6. 1. 44. ॥

कपिबोधशब्दाभ्यामाङ्गिरसेऽपत्यविशेषे वृद्धे यञ् प्रत्ययो भवति । कपेरपत्यं वृद्धमाङ्गिरसः काप्यः, एवं बौध्यः, अन्य कापेयः, बौधिः, कपिशब्दो गर्गादिषु पठ्यते तस्येहोपादानं

नियमार्थम् । आङ्गिरस एव यञ् नान्यत्रेति । लोहितादिकार्यार्थश्च गणपाठः । काप्यायनी, मधुबोधयोस्तु यञन्तयोरुभयम् । माधवी, माधव्यायनी, बौधी, बौध्यायनी ॥44॥

न्या०स०—कपि—यञन्तयोरुभयमिति ``यञो डायन् च वा'' (2. 4. 67.) इत्यनेन विकल्प इत्यर्थः ।

वतण्डात् ॥ 6. 1. 45. ॥

वतण्डशब्दादाङ्गिरसेऽपत्यविशेषे यञेव भवति । वतण्डस्यापत्यं वृद्धमाङ्गिरसः वातण्ड्यः । आङ्गिरसादन्यत्र गर्गादिशिवादिपाठद्यञ् अण् च भवतः । वातण्डयः, वातण्डः । गर्गादिपाठादेव यञि सिद्धे वचनमाङ्गिरसे शिवाद्यण्बाधनार्थम् । शिवादिपाठोऽप्यस्य वृद्ध एवाण्विधानार्थः । अन्यत्र हि ऋषित्वादेव अण् सिद्धः ॥45॥

न्या०स०—वतण्डा—शिवादिपाठोऽप्यस्येति ननु यः शिवादौ अण् सोऽपत्यमात्रे विहितो गर्गादौ तु यञ् वृद्धापत्ये तस्माद् विशेषविधानादेव आङ्गिरसेऽन्यत्रापि च यञ्सिद्धौ किमर्थं सूत्रम् ? इत्याशङ्का अण् सिद्ध इति-अनन्तरे बाह्वादित्वादिञ् प्राप्नोति इति न वाच्यं, शिवादेश्च प्रागिति वचनस्य गर्गादिगणापेक्षया तु बाह्वादिभ्य इति बहुवचनस्याऽतन्त्रत्वात् ।

स्त्रियां लुप् ॥ 6. 1. 46. ॥

वतण्डाशब्दादाङ्गिरसेऽपत्यविशेषे वृद्धे स्त्रियां यञो लुब् भवति, वतण्ड—स्यापत्यं वृद्धं स्त्री आङ्गिरसी वतण्डी, जातिलक्षणो ङीः । अनाङ्गिरसे तु शिवादिपाठात् वातण्डी, लोहितादिपाठाद्वातण्ड्यायनी ॥46॥

कुञ्आदेर्ञायन्यः ॥ 6. 1. 47. ॥

कुञ्आदिभ्यो ङसन्तेभ्यो वृद्धेऽपत्येऽर्थे ञायन्यः प्रत्ययो भवति । कुञ्अस्यापत्यं वृद्धं कौञ्आयन्यः, कौञ्आयन्यौ ब्राध्नायन्यः, ब्राध्नायन्यौ । वृद्ध इत्येव ? कुञ्अस्यापत्यमनन्तरं कौञ्जिः । कुञ्अ, ब्रध्न, गण, भस्मन्, लोमन्, लौमायन्य । तदन्तादेव केचित् । औडुलोमायन्यः । शट, अयं गर्गादिष्वपि । शाक, शुण्डा, शुभा, विपाश्, अयं शिवादिष्वपि । स्कन्ध स्कम्भ शङ्ख, अयं गर्गादावश्वादौ विदादौ च । इति कुञ्आदिः । ञकारो ञित्कार्यार्थः ॥47॥

न्या०स०—कुञ्जा-यदाकुञ्जस्यापत्यं वृद्धं कौञ्जायन्यः तस्याप्यपत्यानि युवानः ``अत इञ्'' (6. 1. 31.) ``ञिदार्षात'' (6. 1. 140.) इति तस्य लुपि एकत्वद्वित्वरूपनिमित्ताभावात् ञ्यायन्यनिवृत्तौ बहुत्वसद्भावात् ``स्त्रीबहुष्वायनञ्'' (6. 1. 48.) इत्यनेनायनञ् भवति तदा कौञ्जायना इति रूपं, यदा तु कुञ्जस्यापत्यानि वृद्धानि कौञ्जायनास्तेषामपत्यं युवा इञो ``ञिदार्षात्'' (6. 1. 140.) इति लुपि आयनञ्निमित्तबहुत्वाभावात् तन्निवृत्तौ ञायन्यनिमित्तैकत्व भावात् ञायन्ये सति कौञ्जायन्य इत्येव रूपम् ।

स्त्रीबहुष्वायनञ् ॥ 6. 1. 48. ॥

कुञ्जादिभ्यो ङसन्तेभ्यो बहुत्वविशिष्टे वृद्धे स्त्रियां वाबहुत्वेऽपि आयनञ् प्रत्ययो भवति । कुञ्जास्यापत्यं स्त्री कौञ्जायनी, ब्राध्नायनी, कुञ्जस्यापत्यानि कौञ्जायनाः, बाध्नायनाः । ञकरो ञित्कार्यार्थः ॥48॥

अश्वादेः ॥ 6. 1. 49. ॥

अश्वादिभ्यो वृद्धेऽपत्ये आयनञ् प्रत्ययो भवति । अश्वस्यापत्यं वृद्धमाश्वायनः, शांखायनः । वृद्ध इत्येव ? आश्विः । गोत्र इत्येव ? अश्वो नाम कश्चित् तस्यापत्यं वृद्धमाश्विः । अश्व, शंख, जन, उत्स, ग्रीष्म, अर्जुन, वैल्य, अश्मन्, विद, कुट, पुट, स्फुट, रोहिण, खर्जुल, खर्जूर, खर्जूल, पिञ्जूर, भदिल, भटिल, भडिल, भण्डिल, भटक, भडित, भण्डित, प्रादृत, राम, उद, क्षान्ध, ग्रीव, रामोद, रामोदक्ष, अन्धग्रीव, काश, काण, गोल आह्व, गोलाह्व, अर्क, स्वन, अर्कस्वन, शुन, वन, पत, पद, चक्र, कुल, ग्रीवा, श्रविष्ठा, पावितृ, पवित्रा, (पावित्र) पविन्दा, गोमिन्, श्याम, धूम, धूम्र, वस्त्र, वाग्मिन्, विश्वानर, विश्वतर, वत, सनख, सन, खड, जड, गद, जण्ड, अर्ह, (अर्थ) वीक्ष, विशम्प, विशाल, गिरि, चपल, गिरिचपल, चुप दासक, चुपदासक, धाय्या, धन्य, धर्म्य, पुंसिजात, शूद्रक, सुमनस्, दुर्मनस्, आतव, उत्सातव, कितव, किव, शिव, खिव, खिप, खदिर, आनडुह्य, आनडुह्यायन इति यञन्तादायनणापि सिध्यति प्राग्जितीयस्वरादौ तु ``यूनि लुप्'' (6. 1. 137.) इति नित्यलुबर्थमस्योपादानम् इत्यश्वादिः । अत्र योऽश्वादिर्वृद्धकाण्डेऽन्यत्रापि पठ्यते तस्य सोऽपि भवति । अश्वशब्दाद्विदादिषु पाठादञ्, इहायनञ् आश्वः, आश्वायनः । शंखशब्दाद्विदादिष्वञ् गर्गादिषु यञ् कुञ्जादिषु ञायन्यः इहायनञ् । शाङ्खः शाङ्ख्यः, शांखायन्यः, शांखायनः । जनशब्दान्नडादिषवायनण् इहायनञ् । तत्र यूनि प्रत्यये विधेये विशेषः, जानायनिः जानायनो युवा । उत्सग्रीष्मयोरुत्सादिषु पाठोऽनन्तरार्थोऽनपत्यार्थश्च इह तु वृद्धेऽयमेव यथा

स्यादित्येवमर्थः। औत्सायनः, ग्रैष्मायणः। अर्जुनशब्दस्य वाह्वादिषु पाठोऽनन्तरार्थः। वृद्धे त्वयमेव–आर्जुनायनः, वैल्येति विलिशब्दो ञ्यान्तस्ततो यूनि प्रत्ययः, वैल्यायनो युवा ।।49।।

न्या०स०–अश्वा-गणः ``लटिखटि'' 505 (उणादि) इति अश्वः, ``शमिमनी'' 84 (उणादि) इति शङ्खः। अचि जनः। ``ऋजिरिषि'' 567 (उणादि) इति किति से उत्सः। ग्रसते ``रुक्मग्रीष्म'' 346 (उणादि) इति ग्रीष्मः। ``यम्यजि'' 288 (उणादि) इत्युने अर्जुनः।

विलेरपत्यं ``दुनादि'' (6. 1. 118.) इति वैल्यः। ``विन्देर्नलुक् च'' 6 (उणादि) इति विदः। ``नाम्युपान्त्य'' (5. 1. 64.) इति के कुट, पुट, स्फुट। ``विपिन'' 284 (उणादि) इति रोहिणः। `खर्जमार्जने च' ``कुमुल'' 487 (उणादि) इति खर्जुलः। ``मीमसि'' 427 (उणादि) इति खर्जुरः, लत्वे खर्जुलः।

पिञ्जयति ``मीमसि'' 427 (उणादि) इति पिञ्जूरः। भन्दते सुखी भवति ``स्थण्डिल'' (6. 2. 139.) इति भदिलः। भटति ``कल्यनि'' 481 (उणादि) इति भटिलः। भण्डते ``भण्डेर्नलुक् च'' 482 (उणादि) भडिलः, भण्डिलः।

भटस्य तुल्यो भटकः, भण्डति ``पुतपित्त'' 204 (उणादि) इति भडितः। भण्डनं भण्डः संजातोऽस्य भण्डितः। प्रादृते ``पुतपित्त'' 204 (उणादि) इति प्रादृतः।

उन्दैप् स्थादित्वात् के उदः। क्षैजे क्विप् तान् अन्धयति क्षान्धः। ``प्रह्व'' 514 (उणादि) इति ग्रीवः। रामामुनत्ति राममुदकं यस्य वा रामोदः। अक्षौ रामाणामुदक्षः रामोदक्षः। अन्धन गृणाति अन्धग्रीवः। अचि काशः। घञि काणः। ग्रहाद्भ्यः किति गोल करणे के आह्वः, कर्मधारये गोलाह्वः। सुष्ठु अनिति स्वनः, अर्काणां स्तावकानां स्वनः अर्कस्वनः। के शुनः। अचि वन, पत, पद। `कृगो द्वे च' चक्रः। के कुलः। श्रवणं श्रवः, ततो मतुः, बहूनां मध्ये श्रववती श्रविष्ठा।

``पूङ् त्वष्टृक्षत्तृ'' 865 (उणादि) पावितृः। ``ऋषिनाम्नाः करणे'' (5. 2. 86.) पवित्रा। पविं वज्रं ददाति पविन्दाः। ``गोः'' (7. 2. 50.) इति मिन्प्रत्यये गोमिन्। अन्ये सुगमाः।

सह नरवैर्वर्त्तते सनखः। सन्त्यचि सनः। खडण् णिचोऽनित्यत्वेऽचि खडः। जल धात्ये डलयोरैक्ये अचि जडः। अचि गदः। अर्हः। वीक्षः। विशाम्यति ``भापा'' 296 (उणादि) इति विशम्यः। णके, दासकः। कर्म्मधारये चुपदासकः। धनं लब्धा धन्यः।

धर्मादनपेतो धर्म्यः। पुंसि जायते स्म पुंसिजातः। शूद्रं कायात शूद्रकः। आतनोति ``कैरव'' 519 (उणादि) इति आतवः। कर्मधारये उत्सातवः ``कितिकुडि'' 518 (उणादि)

इति कितवः । कित ज्ञाने ``प्रह्व'' 514 इति किवः । खनूग् ``प्रह्व'' 514 इति । ``पम्पा'' 300 इति खिवः खिपः, नित्यलुबर्थमिति, अन्यथा ``वायनणायनिञोः'' (6. 1. 72.) इति विकल्पः स्यात् । यूनि प्रत्यये विधेये विशेष इति । आयनिञो ञित्वात् ``ञिदार्षादणिञोः'' (6. 1. 140.) इत्यनेन यून्युत्पन्नस्येञा लुब् भवति न त्वायनणः ।

शप–भरद्वाजादात्रेये ।। 6. 1. 50. ।।

शपभरद्वाज इत्येताभ्यामात्रेयापत्ये वृद्धे आयनञ् प्रत्ययो भवति । शापायनः भारद्वाजायनः आत्रेयश्चेत् । आत्रेय इति किम् ? शापिः, भारद्वाजः, भारद्वाजौ बिदादौ ।।50।।

भर्गात्–त्रैगर्त्ते ।। 6. 1. 51. ।।

भर्गशब्दात्त्रैगर्त्तेऽपत्ये वृद्धे आयनञ् प्रत्ययो भवति । भार्गायणस्त्रैगर्त्तश्चेत्, अन्यो भार्गिः ।।51।।

आत्रेयाद् भारद्वाजे ।। 6. 1. 52. ।।

आत्रेयशब्दाद्वृद्धप्रत्ययान्ताद्भारद्वाजे यून्यपत्ये आयनञ् प्रत्ययो भवति । आत्रेयायणो भारद्वाजो युवा । आत्रेयोऽन्यः । ``ञिदार्षात्–'' (6. 1. 140.) इतीञो लुप् ।।52।।

न्या०स०–आत्रे-अत्रेरपत्यं वृद्धम् ``इतोऽनिञः'' (6. 1. 72.) आत्रेयस्यापत्यं युवा अनेनायनञ् । द्वितीये बाह्वादीञ् ``ञिदार्षात्'' (6. 1. 140.) लुप् ।

नडादिभ्य आयनण् ।। 6. 1. 53. ।।

नडादिभ्यो ङसन्तेभ्यो वृद्धेऽपत्ये आयनण् प्रत्ययो भवति । नडस्यापत्यं वृद्धं नाडायनः, चारायणः । वृद्ध इत्येव ? नडस्यापत्यमनन्तरं नाडिः, णकारो वृद्ध्यर्थः । नड, चर, बक, मुञ्ज, इतिक, इतिश, उपक, लमक, सप्तल, (सत्तल) सत्वल, व्याज, (वाज) व्यतिकेत्येके । प्राण नर, सायक, दाश, मित्र, दाशमित्र, द्वीपा, द्वीप, पिङ्गर, पिङ्गल, किंकर, किंकल, कातर, काथल, काश्यप, काश्य, नाव्य (ताव्य), अज, अमुष्य, लिगु, चित्र, अमित्र, कुमार, लोह, स्तम्ब, स्तम्भ, अग्र, शिंशपा, तृण, शकट, मिकट, मिमत, सुमत, जन, ऋच्, इन्ध, ऋगिन्ध, मित, जनंधर, जलंधर, युगंधर, हंसक, दण्डिन्, हस्तिन्, पञ्चाल, चमसिन्, सुकृत्य, स्थिरक, ब्राह्मण, चटक, अश्वल, खरप, बदर, शोण, दण्डम, छाग, दुर्ग, अलोह, आलोह, कामुक, (कामक) ब्रह्मदत्त, जदुम्बर, सण, लङ्क, केकर, (ककर)

नाब्य, आलाह, ऋग, वृषगण, अध्वर, बालिश, दण्डप इति नडादयः । बहुवचनमाकृति-गणार्थम् ॥53॥

यञिञः ॥ 6. 1. 54. ॥

वृद्ध इति यञिञोर्विशेषणम्, वृद्धे विहितो यौ यञिञौ तदन्ताद्यून्यपत्ये आयनण् प्रत्ययो भवति । ``वृद्धाद्युनि'' (6. 1. 30) इति वचनाद्यूनीनि लभ्यते । गार्ग्यस्यापत्यं युवा गार्ग्यायणः, वात्स्यायनः । दाक्षेरपत्यं युवा दाक्षायणः, प्लाक्षायणः, औदुम्बरायणः, तैलखलायनः । वृद्धविहितस्येञो ग्रहणादिह न भवति । उदुम्बराणां राजा औदुम्बरिस्तस्यापत्यमौदुम्बरः औदुम्बरायणिर्वा । ``अवृद्धाद्दोर्नवा'' (6. 1. 110) इति पक्षे आयनिञ्, गार्ग्या अपत्यं गार्गेयः दाक्षेय इत्यत्र परत्वात् ``ङ्याप्त्यूङः'' (6. 1. 70) इत्येयण् भवति ॥54॥

न्या०स०—यञि-औदुम्बरायण इति उदुम्बरस्य राज्ञोऽपत्यं वृद्धं ``साल्वांश'' (6. 1. 117.) इतीञ्, तस्यापत्यं युवा, एवं द्वितीयेऽपि ।

हरितादेरञः ॥ 6. 1. 55. ॥

बिदाद्यन्तर्गणो हरितादिः । वृद्धे विहितो योऽञ् तदन्तेभ्यो हरितादिभ्यो यून्यपत्ये आयनण् प्रत्ययो भवति । हरितस्यापत्यं युवा हारितायनः, कैन्दासायनः । हरितादेरिति किम् ? वैदस्यापत्यं युवा बैदः । अत्रेञो लुप् । अञ इति किम् ? हरितस्यापत्यं वृद्धं हारितः ॥55॥

क्रोष्टृ—शलङ्कोर्लुक् च ॥ 6. 1. 56. ॥

क्रोष्टृं शलङ्कु इत्येताभ्यां वृद्धेऽपत्ये आयनण् प्रत्ययो भवति तयोश्चान्तस्य लुग्भवति । क्रोष्टुरपत्यं वृद्धं क्रोष्ट्रायनः, शालङ्कायनः ॥56॥

दर्भ—कृष्णा—ऽग्निशर्म रण—शरद्वच्छुनकादाग्रायण—ब्राह्मण—वार्ष—गण्य वाशिष्ठ—भार्गव—वात्स्ये ॥ 6. 1. 57. ॥

दर्भादिभ्य आग्रायणादिषु यथासंख्यं वृद्धेष्वपत्येषु आयनण् प्रत्ययो भवति । दर्भादाग्रायणे, दर्भस्यापत्यमाग्रायणश्चेत् दार्भायणः, दार्भिरन्यः । कृष्णाद्ब्राह्मणे, कार्ष्णायनो ब्राह्मणः,

कार्ष्णिरन्यः । अग्निशर्मणो वार्षगण्ये, आग्निशर्मायणो वार्षगण्यः, आग्निशर्मिरन्यः । रणाद्वासिष्ठे, राणायनो वासिष्ठः, राणिरन्यः । शरद्वतो भार्गवे, शारद्वतायनो भार्गवः, शारद्वतोऽन्यः । शुनकाद्वात्स्ये, शौनकायनो वात्स्यः, शौनकोऽन्यः । शरद्वच्छुनकौ बिदादी ।।57।।

*न्या०स०–दर्भकृष्णा-*दर्भादिभ्यः पक्षे बाह्वादीञ् ।

जीवन्त–पर्वताद् वा ।। 6. 1. 58. ।।

जीवन्तपर्वताभ्यां वृद्धेऽपत्ये आयनण् प्रत्ययो वा भवति । जैवन्तायनः, जैवन्तिः, पार्वतायनः, पार्वतिः, वृद्धे इत्येव ? जैवन्तिः ।।58।।

द्रोणाद् वा ।। 6. 1. 59. ।।

योगविभागाद्वृद्ध इति निवृत्तम्, द्रोणशब्दादपत्यमात्रे आयनण् प्रत्ययो वा भवति । द्रौणायनः, द्रौणिः ।।59।।

शिवादेरण् ।। 6. 1. 60. ।।

शिवादिभ्यो ङसन्तेभ्योऽपत्यमात्रेऽण् प्रत्ययो भवति । अत इञादेरपवादः । शिवस्यापत्यं शैवः, प्रौष्ठः, प्रौष्ठिकः । शिव, प्रौष्ठ, प्रौष्ठिक, वष्ट (चण्ड) जम्ब, जम्भ, ककुभ, कुथार, अनभिम्लान, ककुस्थ, कोहड, कहूय, रोध, पिलधर, वतण्ड, तृण, कर्ण, क्षीरहृद, जलहृद, परिषिक, शिलिन्द, गोफिल, गोहिल, कपिलक, जटिलक, बधिरक, मञ्जिरक, वृष्णिक, खञ्जार, खञ्जाल, रेख, लेख, आलेखन, वर्तन, ऋक्ष, वर्तनर्क्ष, विकट, पिटाक, तृक्षाक, नभाक, ऊर्णनाभ, सुपिष्ट, पिष्टकर्णक, पर्णक, मसुरकर्ण, मसूरकर्ण, खडूरक, गडेरक, यस्क, लह्य, द्रुह्य, अयस्थूण, भलन्द, भलन्दन, विरूप, विरूपाक्ष, भूरि, संधि, भूमि, मुनि, क्रुञ्चा, कोकिला, इला, सपत्नी, जरत्कारु, उत्केया, काय्या, सुरोहिका, पीठीनासा, महित्री, आर्यश्वेता, ऋष्टिषेण, गङ्गा, पाण्डु, विपाश, तक्षन् इति शिवादिः । अत्राविरूपाक्षादिञोऽपवादः । भूर्यादीनामा आर्यश्वेताया एयणः, ऋष्टिषेणस्य सेनान्तस्य सेनान्तञ्येञोः, बिदादिपाठाद्वृद्धेऽञेव भवति तदन्ताच्च यूनि ``अत इञ्'' (6. 1. 31.) तस्य `ञिदार्षादणिञोः'' (6. 1. 140) इति लुपि आर्ष्टिषेणः पिता आर्ष्टिषेणः पुत्रः । तथा ऋष्टिषेणस्यापत्यं वृद्धं बहवः विदाद्यञ् तस्य ``यञञः'' (6. 1. 126) इत्यादिना लुपि ऋष्टिषेणाः, पाण्डुपाठः शुभ्राद्येयणा गङ्गापाठस्तिकाद्यायनिञा च समावेशार्थः, तेन पाण्डोर्द्वैरूप्यं गङ्गायाश्च

त्रैरूप्यं सिद्धम् । पाण्डवः, पाण्डवेयः, गाङ्गः, गाङ्गायनिः, गाङ्गेयः । विपाश्पाठः कुञादिलक्षणेन ञायन्येन समावेशार्थः । वैपाशः, वैपाशायन्यः । तक्षन्पाठः कुर्वादिञ्येन समावेशार्थः । ताक्ष्णः, ताक्षण्यः ।।60।।

*न्या०स०—शिवा—*प्रवृद्धावोष्ठौ यस्य पौष्ठः, ``वोऽब्ठौतौ'' (1. 2. 17.) इति वा लुपि । पौष्ठावस्य स्तः ``अतोऽनेक'' (7. 2. 6.) इतीके पौष्ठिकः ।

जनैच् ``तुम्बस्तुम्बादय'' 320 (उणादि) जम्बः । कुथमियर्ति कर्म्मणोऽणि कुथारः । कु ``अव्ययस्य कोद् च'' (7. 3. 31.) इत्यकि ककु कुत्सितं तिष्ठन्ति विपक्षा अस्मिन् स्थादिभ्यः के ककुस्थः । कं ह्वयति क्विपि य्वृति दीर्घे कहू याति ``क्वचित्'' (5. 1. 171.) इत्यनेन डे कहूयः ।

ऋषि–वृष्ण्यन्धक कुरुभ्यः ।। 6. 1. 61. ।।

ऋषयो लौकिका वसिष्ठादयः अपत्ययोगात् । वृष्णयः अन्धकाः । कुरवश्च प्रसिद्धा वंशाख्याः क्षत्रियाः । ऋष्यादिवचनेभ्यः शब्देभ्योऽपत्येऽण् प्रत्ययो भवति । इञोऽपवादः । ऋषि, वासिष्ठः, वैश्वामित्रः, गौतमः, वृष्णि वासुदेवः, आनिरुद्धः, वाभ्रः, प्रातिवाहनः, औदारः, अन्धक, श्वाफल्कः, रान्ध्रसः, चैत्रकः, कुरु, नाकुलः, साहदेवः, दौःशासनः, दौर्योधनः । अत्र्यादिभ्यस्तु परत्वात् एयण् ञ्येञो च भवतः । आत्रेयः, जातसेन्यः जातसेनिः, औग्रसेन्यः, औग्रसेनिः, वैष्वक्सेन्यः, वैष्वक्सेनिः, भैमसेन्यः, भैमसेनिः । कथं दौर्योधनिः ? क्रियाशब्द त्वात् दुःखेन युध्यत इति । यौधिष्ठिरिराजुं निरित्यत्र तु बाह्वादित्वादिञेव ।61।

*न्या०स०—ऋषि-*वंशाख्या इति वंशनिमित्ता आख्या अभिधानं येषां ते । श्वाफल्क इति ``द्वारादेः'' (7. 4. 6.) इति न भवति व्युत्पत्तेरनाश्रयणात्, श्वानं फालयतीति तु वर्णनिर्णयार्थं वाक्यम्-एञण् ञेञ्यो चेति ``इतोऽनिञः'' (6. 1. 72) ``सेनान्तकारु'' (6. 1. 102.) इत्येताभ्याम् ।

कन्या–त्रिवेण्याः कनीन–त्रिवणं च ।। 6. 1. 62. ।।

कन्याशब्दात् त्रिवेणीशब्दाच्चापत्येऽण् प्रत्ययो भवति तत्संनियोगे कनीन त्रिवण इत्येतौ च यथासंख्यमादेशौ भवतः । कन्याया अपत्यं कानीनो व्यासः कानीनः कर्णः, त्रिवेण्या अपत्यं त्रैवणः । एयणोऽपवादः ।।62।।

शुङ्गाभ्यां भारद्वाजे ।। 6. 1. 63. ।।

शुङ्गशब्दात्पुंलिङ्गात् स्त्रीलिङ्गाच्च, भारद्वाजेऽपत्येऽण् प्रत्ययो भवति । शुङ्गस्य शुङ्गाया वा अपत्यं शौङ्गो भारद्वाज, शौङ्गिः शौङ्गेयश्चान्यः । 'नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' इति सिद्धे परत्वात् ``द्विस्वरादनद्याः'' (6. 1. 71.) इत्येयण् प्राप्नोति तद्बाधनार्थं द्विवचनेन स्त्रीलिङ्गः शुङ्गाशब्द उपादीयते ।।63।।

न्या०स०–शुङ्गा-शुङ्गश्च शुङ्गा च ``पुरुषः स्त्रिया'' (3. 1. 126.) इति पुरुषः शिष्यते ।

विकर्ण–च्छगलाद् वात्स्या–ऽऽत्रेये ।। 6. 1. 64. ।।

विकर्णछगल इत्येताभ्यां यथासंख्यं वात्स्ये आत्रेये चापत्येण् प्रत्ययो भवति । वैकर्णो वात्स्यः, वैकर्णिरन्यः छागल आत्रेयः, छागलिरन्यः ।।64।।

न्या०स०–विक-वैकर्णिरन्य इति ऋषित्वेऽपि व्यावृत्तिबलात् ``अत इञ्'' (6. 1. 31.) बाह्वादित्वाद् वा ।

णश्च विश्रवसो विश्लुक् च वा ।। 6. 1. 65. ।।

विश्रवसोऽपत्येऽण् प्रत्ययस्तत्संनियोगे णकारश्चान्तादेशो भवति णसंनियोगे विश्शब्दलोपश्चास्य वा, विश्रवसोऽपत्यं वैश्रवणः । विश्लुकि तु रावणः, अण् सिद्ध एवादेशार्थं वचनम् । एवमुत्तरत्र ।।65।।

सङ्ख्या–सं–भद्रान्मातुर्मातुर्च ।। 6. 1. 66. ।।

संङ्ख्यावाचिनः सम्भद्र इत्येताभ्यां च परो यो मातृशब्दस्तदन्तादपत्येऽण् प्रत्ययो भवति मातुश्च मातुर् इत्यादेशः । द्वयोर्मात्रोरपत्यं द्वैमातुरः, षाड्मातुरः । शतस्य माता शतमाता तस्यापत्यं शातमातुरो भरतः । संगता माता संमाता, तस्या अपत्यं सांमातुरः भद्रायाः भद्रस्य वा माता भद्रमाता, तस्या अपत्यं भाद्रमातुरः, । ``संबन्धिनां संबन्धे'' (7. 4. 121.) इति वचनात् धान्यमातुर्न भवति, तेन द्वयोर्मात्रोरपत्यं द्वैमात्रः । अत्रादेशो न भवति । संङ्ख्यासंभद्रादिति किम् ? सौमात्रः, शुभ्रादिपाठाद्वैमात्रेयः ।।66।।

न्या०स०–संङ्ख्या-द्वैमात्र इति नन्वत्र ञ्णिति तद्धिते ``नामिनोऽकलिहलेः'' (4. 3. 51.) इत्यन्तस्य, यद्वाख्यात-कृत्प्रकरणमेकमेव तत्साहचर्यादत्र प्रकरणे यत्सूत्रं तद्विहितप्रत्ययो

गृह्यते, अयं तु भिन्नप्रकरणविहितः ।

अदोर्नदी–मानुषीनाम्नः ॥ 6. 1. 67. ॥

अदुसंज्ञकान्नदीनाम्नो मानुषीनाम्नश्चापत्येण् प्रत्ययो भवति, एयणोऽपवादः यामुनः प्रणेतः, ऐरावतः उद्ध्यः, वैतस्तः पलाशः (ल) शिराः, नार्मदो नीलः, मानुषी, दैवदत्तः । सौदर्शनः सौतारः, स्वायंप्रभः, चैन्तितः, शैक्षितः । अदोरिति किम ? चान्द्रभागेयः, वासवदत्तेयः । नदीमानुषीग्रहणं किम् । सुपर्ण्याः सुपर्णाया वापत्यं सौपर्णेयः, वैनतेयः । देव्यावेते इत्येके, पक्षिण्यावित्यन्ये । नामग्रहणं किम् ? शौभनेयः । शोभनाशब्दो नद्यां मानुष्यां च वर्तते न तु नामधेयत्वेन ॥67॥

न्या०स०–अदोर्नवामानुषी–दैवदत्त इति अदोरेवेति सावधारणव्याख्यानात् या नित्यं दुसंज्ञा सैवात्र गृह्यते, न ``संज्ञा दुर्वा'' (6. 1. 6.) इति वैकल्पिको, तेन दैवदत्त इत्यादि सिद्धं, अन्यथाऽत्र संदेहः स्यात्, अत एव व्यावृत्त्युदाहरणे नित्या दुसंज्ञा उदाहृता । चान्द्रभागेय इति चन्द्रभागौ नाम नगौ, ताभ्यां प्रभवति, अण् शोणादित्वात् वा ङ्यामापि च चान्द्रभाग्याः चान्द्रभागाया वाऽपत्यम् सुपर्णाय वेति गरुडमातुर्जातित्वमन्ये न मन्यन्ते इत्याप् ।

देव्याविति ननु सुपर्णाविनताशब्दयोरेक एव शब्दार्थस्तत्कथं देव्याविति द्विवचनम् ? उच्यते, शब्दभेदादर्थभेदो भवतीत्याश्रयणात् ।

पीला–साल्वा–मण्डूकाद् वा ॥ 6. 1. 68. ॥

पीलासाल्वामण्डूकशब्देभ्योऽपत्येऽण् प्रत्ययो वा भवति । पैलः, पैलेयः, साल्वः, साल्वेयः, माण्डूकः, माण्डूकिः । पीलासाल्वाभ्यां द्विस्वरैयणि मण्डूकादिञि प्राप्ते वचनम्, वाग्रहणं मण्डूकस्य इञर्थम् ॥68॥

न्या०स०–पीलासाल्वा-इञर्थमिति अन्यथा वाग्रहणं विनापि ह्युत्तरेण चानुकृष्टेभ्य एभ्यस्त्रिभ्योऽप्येयण्, अनेन त्वण् भवति, मण्डूकात्तु कथमपीञ् न स्यादिति ।

दितेश्चैयण् वा ॥ 6. 1. 69. ॥

दितिशब्दान्मण्डूकशब्दाच्च ङसन्तादपत्ये एयण् वा भवति । दैतेयः, दैत्यः, माण्डूकेयः, माण्डूकिः, चकारो मण्डूकार्थः । पीलासाल्वाभ्यां ह्यण्विकल्पादेव एयण् सिद्धः । मण्डूके

त्रैरूप्यं सिद्धमेव । वाग्रहणं दितेर्ज्यार्थम् । ``इतोऽनिञः'' (6. 1. 72.) इत्येव दितेरेयणि सिद्धे ``अनिदम्यणपवादे च''–(6. 1. 15.) इत्यनेन तस्य बाधायां प्रतिप्रसवार्थं वचनम् ।।69।।

न्या०स०–दिते-एयण् सिद्ध इति ``द्विस्वरादनद्याः'' (6. 1. 71.) इत्यनेन । मण्डूके त्रैरूप्यमिति अत्र वाग्रहणं विनापि पूर्वसूत्रे वाग्रहणेन मण्डूकेऽणिञो: सिद्धत्वात्, अनेन च एयण्विधानात् त्रैरूप्यं सिद्धमित्यर्थः ।

ङ्याप्त्यूङः ।। 6. 1. 70. ।।

ङ्यन्तादावन्तात्त्यन्तादूङन्ताच्चापत्ये एयण् प्रत्ययो भवति । सौपर्णेयः, वैनतेयः, यौवतेयः, कामण्डलेयः ।।70।।

न्या०स०–ङ्याप्त्यूङ–यौवतेय इति एयेऽग्नाय्येवेति नियमात् पुंवत्त्वाभावात्तेर्न निवृत्तिः । कामण्डलेय इति देवीवचनोऽत्र कमण्डलूशब्दः, मानुषीव वनात्तु ``अदोर्नदी'' (6. 1. 67.) इत्यण् चतुष्पादवचनात्त्वेयञ् स्यात्, ``अकद्रुपाण्ड्वोः'' (7. 4. 69.) इति उवर्णस्य लुक् ।

द्विस्वरादनद्याः ।। 6. 1. 71. ।।

द्विस्वरात् ङ्याप्त्यूङन्तादनदीवाचिनोऽपत्ये एयण् प्रत्ययो भवति । दात्तेयः, गौप्तेयः । अनद्या इति किम् ? सीताया अपत्यं सैतः, संध्यायाः सान्ध्यः, वेण्णाया वैण्णः, सिप्रायाः सैप्रः, रेवायाः रैवः, शुद्धायाः शौद्धः, कुलायाः कौलः, मह्या माहः, सीतादयो नद्यः । अदोर्नदीमानुषीनाम्नोऽपबादो योगः ।।71।।

न्या०स०–द्विस्व०–दात्तेय इति ङ्याप्त्यूङो बाधकस्य ``अदोर्नदी'' (6. 1. 67.) इत्यणो बाधकोऽनेनैयण् ।

इतोऽनिञ ।। 6. 1. 72. ।।

इञन्तवर्जितात् द्विस्वरादिकारान्तादपत्ये एयण् प्रत्ययो भवति । नाभेरपत्यं नाभेयः, अत्रेरात्रेयः । अहेराहेयः, दुलेदौलेयः, वलेर्वालेयः, निधेर्नैधेयः । इत इति किम् ? दाक्षिः । अनिञ इति किम् ? दाक्षायणः । द्विस्वरादित्येव ? मरीचेरपत्यं मारीचः, कथमजबस्तेरपत्यमाजबस्तेयः शकन्धेरपत्यं शाकन्धेयः परिधेः पारिधेयः शकुनेः शाकुनेयः अतिथेरातिथेय इति,

शुभ्रादित्वाद्भविष्यति ।।72।।

शुभ्रादिभ्यः ।। 6. 1. 73. ।।

शुभ्रादिभ्योऽपत्ये एयण् प्रत्ययो भवति । यथायोगमिञादीनामपवादः । शौभ्रेयः, वैष्टपुरेयः । शुभ्र, विष्टपुर, विष्टपर, ब्रह्मकृत, शतद्वार, शताहार, शालाधल, किट (टीक), शालूक, कृकलास, प्रवाहण, भाण, भारत, भारम, कुदत्त, कर्पूर, इतर, अन्यतर, आलीढ, सुदत्त, सुदक्ष, तुद, अकशाप, वादन, शतल, शकल, (शक) शवल, खडुर, कुशम्ब, शुक्र, विग्र, वीज, अश्व, वीजाश्व, अजिर, मवक्र, मखण्डु, मकष्टु, मघष्टु, सृकण्डु, मृकण्डु, जिह्माशिन्, अजवस्ति, शकन्धि, परिधि, अणीचि, कणीचि, शकुनि, अतिथि, अनुदृष्टि, शलाकाभ्रू, लेखाभ्रू, रोहिणी, रुक्मिणी, किकशा, विवशा, गन्धपिङ्गला, षडोन्मता कुमारिका, कुबेरिका, अम्बिका, अशोका, श्वन्, गङ्गा, पाण्डु, विमातृ, विधवा, काद्रू, गोधा, सुदामन्, सुनामन् इति शुभ्रादयः ।। मवक्रान्तानामिञोऽपवाद एयण् मखण्ड्वादीनां विमात्रन्तानामणः विधवाया एरणः कद्रूगोधयोश्चतुष्पादेयञः । सुदामन्सुनाम्नोरिञा शुभ्रस्य तु ञ्येन समावेशार्थः पाठः, बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ।।73।।

न्या०स०—शुभ्रा-शोभते, ``ऋृज्यजि'' 388 (उणादि) इति, विष्टानि पुराणि येन विष्टं परं येन, ब्रह्मणा क्रियते स्म, शतं द्वाराणि यस्यां, शतमाहरति, शालासु तिष्ठति-पृषोदरादित्वात्, टीकते ``नाम्युपान्त्य'' (5. 1. 54.) इति कः, शल्यणेर्णित् शालूकः । कृतकेन शलति, प्रवाहयति नन्द्यादित्वादनः, भण्यते उपादेयतया, भरतस्यायम्, भाभी रमते, क्वादीयते स्म, कल्पते स्म कल्पते, ``मीमसि'' 746 (उणादि) इति, इण्पूभ्यां कित्, द्वयोर्मध्ये प्रकृष्टोऽन्यपरः, आलिह्यते स्म, सुखेन दीयते स्म, शोभना दक्षा यस्य, तुदति ``नाम्युपान्त्य'' (5. 1. 54.) इति कः, अकं शपति, वादयति नन्द्यादित्वात्, शतं लाति, ``मीममि'' 427 (उणादि) इति खडूरः । कौ शाम्यति ``शम्यमेर्णिद्वा'' 318 (उणादि), विगता नासिका यस्य, वियो जक्, बीजश्चासौ अश्वश्च, ``स्थविरः'' 417 (उणादि) इति `अजिरः' मया लक्ष्म्या वक्रः मया खण्डयति कषति घर्षति ``केवयु'' 746 (उणादि) इति ``ङ्यापोबहुलम्'' (2. 4. 99.) जिह्ममश्नातीत्येवंशीलः, अजस्येव बस्तिरस्य, शकान् अन्धयति, परिधीयते ``मृश्चि'' 627 (उणादि) इति शकेरुनिः, अतेरिथिः, अनुदृश्यात्, शलाकावत् लेखावत् भ्रूर्यस्य, ``विपिन'' 284 (उणादि) इति रोहिणी, रुक्मस्या अस्ति, विवष्टि विगतो वशो यस्या वा, कुबेरस्य तुल्या कुबेरिका ।

अम्बते अम्बायास्तुल्या वा, न विद्यते शोको यस्याः, विगता माता, विगतो धवो

यस्याः, गुध्यते गोधा, शोभनं दाम नाम यस्याः ।

श्याम–लक्षणाद् वासिष्ठे ॥ 6. 1. 74. ॥

श्यामलक्षण इत्येताभ्यां वासिष्ठेऽपत्यविशेषे एयण् प्रत्ययो भवति । श्यामेयो वारिष्ठः । श्यामायनोऽन्यः । अश्वादित्वात् वृद्धे आयनञ्, अवृद्धे तु श्यामिः, लाक्षणेयो वासिष्ठः, लाक्षणिरन्यः ॥74॥

विकर्ण–कुषीतकात् काश्यपे ॥ 6. 1. 75. ॥

विकर्णकुपीतक इत्येताभ्यां काश्यपेऽपत्यविशेषे एयण् प्रत्ययो भवति । वैकर्णेयः काश्यपः, वैकर्णिरन्यः, कौषीतकेयः काश्यपः, कौषीतकिरन्यः ॥75॥

भ्रुवो भ्रुव् च ॥ 6. 1. 76. ॥

भ्रूशब्दादपत्ये एयण् प्रत्ययो भवति भ्रुव् चास्यादेशः । भ्रुवोऽपत्यं भ्रौवेयः ॥76॥

*न्या०स०–भ्रुवो-*भ्रौवेय इति यथा चुलुकस्याऽपत्यसंभवस्तथा भ्रुवोऽपि ।

कल्याण्यादेरिन् चाऽन्तस्य ॥ 6. 1. 77. ॥

कल्याण्यादिभ्योऽपत्ये एयण् प्रत्ययो भवति इन् इत्ययं चान्तस्यादेशः । कल्याण्या अपत्यं काल्याणिनेयः । सौभागिनेयः । कल्याणी, सुभगा, दुर्भगा, बन्धकी, जरती बलीवर्दी, ज्येष्ठा, कनिष्ठा, मध्यमा, परस्त्री, अनुदृष्टि, अनुसृष्टि इति कल्याण्यादिः । परस्त्र्यन्तानां ''ङ्याप्त्यूङः'' (6. 1. 70.) इति अनुदृष्टेः ''शुभ्रादिभ्य'' (6-1-73) इति एयण् सिद्ध एव इनादेशमात्रं विधीयते । अनुसृष्टेरुभयम् ॥77॥

*न्या०स०–कल्या-*शुभ्रादित्वात् आनुदृष्टेयः, कल्याण्यादिपाठात् आनुदृष्टिनेयः ।

कुलटाया वा ॥ 6. 1. 78. ॥

कुलान्यटति कुलटा, कुलटाशब्दादपत्ये एयण् प्रत्ययो भवति तत्संनियोगे इन् च वान्तादेशः । आवन्तत्वादेयण् सिद्ध आदेशार्थं वचनम्, अत एवादेशस्यैव विकल्पो न त्वेयणः । कौलटिनेयः, कौलटेयः । या तु कुलान्यटन्ती शीलं भिनत्ति ततः परत्वात् क्षुद्रालक्षण

एरणेव, कौलटेरः ॥78॥

चटकाण्णैरः स्त्रियां तु लुप् ॥ 6. 1. 79. ॥

चटकशब्दात् ङसन्तादपत्यमात्रे णैरः प्रत्ययो भवति स्त्रियां त्वपत्ये विहितस्य णैरस्य लुप् । चटकस्यापत्यं चाटकैरः, लिङ्गविशिष्टस्य ग्रहणात् चटकाया अपि चाटकैरः स्त्रियां तु लुप्, चटकस्य चटकाया वा अपत्यं स्त्री चटका चटकेति जातिशब्दोऽस्त्येव स्त्रियामपत्ये प्रत्ययाश्रवणार्थं लुब्वचनम् । अस्त्रियामित्येव सिद्धे प्रत्ययान्तरबाधनार्थं णैरविधानम् ।79।

न्या०स०–चटका-चटकेति जातिङीबाधकोऽजादेराप्, क्षिपकादित्वादित्वाभावे प्रत्ययलुपि ``ङ्यादेः'' (2. 4. 95.) इति आप्निवृत्तौ पुनरजादित्वादाप् । चटकेति जातिशब्द इति ।

ननु स्त्रियां लुपा भाव्यं, ततो जातिशब्देनैव सिद्धे किं स्त्रीलिङ्गे चटकशब्दात् प्रत्यय-विधानेनेत्याशङ्का ।

क्षुद्राभ्य एरण् वा ॥ 6. 1. 80. ॥

क्षुद्रा अङ्गहीना अनियतपुंस्का वा स्त्रियः, बहुवचनं क्षुद्रार्थपरिग्रहार्थम् । क्षुद्रावाचिभ्यः शब्देभ्यो ङसन्तेभ्यः स्त्रीलिङ्गेभ्योऽपत्ये एरण् प्रत्ययो वा भवति । अणेयणोरपवादः, काणाया अपत्यं काणेरः, काणेयः, दास्या दासेरः, दासेयः, नाट्या नाटेरः, नाटेयः, कर्दनायाः कार्दनेरः, कार्दनेयः ॥80॥

न्या०स०–क्षुद्रा-अणेयणोरपवाद इति ``अदोर्नदीमानुषी'' (6. 1. 67.) इत्यणः ``द्विस्वरादनद्या'' (6. 1. 71.) ``ङ्याप्त्यूङः'' (6. 1. 70.) इत्येताभ्यामेयणः कर्दना वंशोपरि नर्तकी ।

गोधाया दुष्टे णारश्च ॥ 6. 1. 81. ॥

गोधाशब्दात् ङसन्तात् दुष्टेऽपत्ये णारश्चकारादेरण् च प्रत्ययो भवति । गोधाया अपत्यं दुष्टं गौधारः, गौधेरः, योऽहिना गोधायां जन्यते, गौधेयोऽन्यः । शुभ्रादित्वादेयण् ॥81॥

जण्ट–पण्टात् ॥ 6. 1. 82. ॥

जण्टपण्ट इत्येताभ्यामपत्ये णारः प्रत्ययो भवति । जाण्टारः, पाण्टारः । केचित्तु पक्षस्यापत्यं पाक्षार इत्यपीच्छन्ति ॥82॥

चतुष्पाद्भ्य एयञ् ॥ 6. 1. 83. ॥

चतुष्पाद्वाचिभ्यो ङसन्तेभ्योऽपत्ये एयञ् प्रत्ययो भवति, अणादीनामपवादः। कमण्डल्वा अपत्यं कामण्डलेयः, शितिबाह्वाः, शैतिबाहेयः, मद्रबाह्वा माद्रबाहेयः, जम्ब्वा जाम्बेयः, शबलायाः शाबलेयः, बहुलाया बाहुलेयः, सुरभेः सौरभेयः ॥83॥

*न्या०स०–चतुष्पा–*चत्वारः पादा यासां स्त्रीणामिति कर्त्तव्यं, न तु येषां यतः स्त्रीलिङ्गा-नामेवेष्यते न पुंलिङ्गानामिति। शबलाया इति-गौरादौ गुणवाचकपरिग्रहात् संज्ञाशब्दान्न ङीः।

गृष्ट्यादेः ॥ 6. 1. 84. ॥

गृष्ट्यादिभ्योऽपत्ये एयञ् प्रत्ययो भवति, अणादीनामपवादः। गृष्टेरपत्यं गार्ष्टेयः, हृष्टेः हार्ष्टेयः, गृष्टिशब्दो यश्चतुष्पाद्वचनस्ततः पूर्वेणैव सिद्धे अचतुष्पादर्थमुपादानम्। गृष्टि, हृष्टि, हलि, वालि, विश्रि, कुद्रि, अजवस्ति, मित्रयु इति गृष्ट्यादिः। ञकारस्य ञित्कार्यार्थत्वान्मैत्रेय पिता मैत्रेय पुत्रः ॥84॥

*न्या०स०–गृष्ट्या–*मैत्रेय इति ``सारवैक्ष्वाक'' (7-4-30) इत्यादिनाऽयुलोपः, तत इञ्, तस्य ``ञिदार्षा'' (6. 1. 140.) इति लोपः।

वाडवेयो वृषे ॥ 6. 1. 85. ॥

वाडवेय इति वडवाशब्दात् वृषे एयञ् एयण् वा प्रत्ययो निपात्यते। वृषो यो गर्भे बीजं निषिञ्चति। वडवाया वृषः वाडवेयः, अपत्येऽणेव भवति, वाडवः। निपातनमेयणेयञोरुभयोरपि वृषे व्यवस्थापनार्थम्, अन्यथा अन्यतरोऽपत्ये प्रसज्ज्येत ॥85॥

*न्या०स०–वाड-*अन्यन्तरोऽपत्ये इति ``दितश्चैयण् वा'' (6. 1. 69.) इत्यधिकारे यदि क्रियेत तदैयण् चतुष्पाद्भ्य इत्यधिकारे त्वेयञ् स्यादित्यर्थः।

रेवत्यादेरिकण् ॥ 6. 1. 86. ॥

रेवतीत्येवमादिभ्योऽपत्ये इकण् प्रत्ययो भवति, एयणादीनामपवादः रैवतिकः, आश्वपालिकः। रेवती, अश्वपाली, मणिपाली, द्वारपाली वृकवञ्चिन्, वृकग्राह, कर्णग्राह,

दण्डग्राह, कुक्कुटाक्ष इति रेवत्यादिः । द्वारपाल्यन्तानामेयणोऽपवादः, यदा मानुषीनाम तदाणोऽपि । वृकवञ्चिनोऽणः शेषाणामित्रः ।।86।।

न्या०स०—रेव-रैवतिक इति रेवते चन्द्रमसं 'पुतपित्त'—इति रेवत्या चन्द्रयुक्तात्कालेऽण्, लुप्, 'ङ्यादेः'—ङीनिवृत्तौ पुनर्ङी रेवत्यां जाता, 'भर्तृसंध्यादेरण' 'चित्रारेवती' इति लुपि ङीनिवृत्तिः, पुनर्ङीः, रेवत्या अपत्यमनेनेकणि ''जातिश्च णि'' (3. 2. 51.) इति पुंभावे ''अवर्णेवर्णस्य'' (7. 4. 68.) ।

वृद्धस्त्रियाः क्षेपे णश्च ।। 6. 1. 87. ।।

वृद्धप्रत्ययान्तात् स्त्रीवाचिनः शब्दादपत्ये णः प्रत्ययो भवति चकारादिकण् च क्षेपे गम्यमाने, पितुरसंविज्ञाने मात्रा व्यवदेशोऽपत्यस्य क्षेपः, गार्ग्या अपत्यं युवा गार्गः गार्गिको वा जाल्मः, ग्लुचुकायन्या ग्लौचुकायनो ग्लौचुकायनिको वा जाल्मः । म्लुचुकायन्याः म्लौचुकायनः म्लौचुकायनिको वा जाल्मः । ''वृद्धाद्यूनि'' (6. 1. 30.) इति यूनीमौ प्रत्ययो । वृद्धग्रहणं किम् ? कारिकेयो जाल्मः । स्त्रिया इति किम् ? औपगविर्जाल्मः । क्षेप इति किम् ? गार्गेयो माणवकः, मातुः संविज्ञानार्थम् इदमुच्यते ।।87।।

न्या०स०—वृद्ध-गार्ग इति ''जातिश्च णि तद्धित'' (3. 2. 51.) इति पुंवद्भावेऽलोपे ''तद्धितयस्वरे'' (2. 4. 92.) इति य लुप् । ग्लौचुकायन इति वृद्धेऽपत्येऽदोरायनिः ''नुर्जाते'' (2. 4. 72.) ङीः, ततोऽनेन णे ''जातिश्च णि'' (3. 2. 51.) इति पुंवत्वे ङीनिवृत्तौ ''अवर्णेवर्णस्य'' (7. 4. 68.) इति इलोपः । अत्र ण-इकण्प्रत्ययोर्णित्वं ग्लौचुकायन इत्यादौ वृद्धेश्चरितार्थं, न वाच्यं ग्लौचुकायनीभार्य इत्यत्र ''तद्धितः स्वरवृद्धि'' (2. 4. 92.) इति पुंवन्निषेधादपि, यतोऽत्र वृद्धप्रत्ययान्तादिति भणनात् युनीमौ प्रत्ययौ स्त्रियाश्च युवत्वाभावादिमौ प्रत्ययौ न भवत इति ग्लौचुकायनीभार्य इति प्रयोगोऽपि न भवति । कार्तिकेय इति कारिकाया ''ङन्याप्त्यूङः'' (6. 1. 70.) एयण् ''तद्धिताककोपान्त्य'' (3. 2. 54.) इति पुंवत्त्वाभावः ।

गार्गेयो माणवक इति नन्विह क्षेपोऽस्त्येवान्यथा माणव इत्यत्र णत्वं न स्यात् ? सत्यं, व्याख्यानात् पितुरसंविज्ञाने यत्र मात्रा व्यपदेशः स इह क्षेपो गृह्यते, यस्त्वन्यथा स नहि । इदमुच्यत इति पिता प्रख्यात एव परं पत्नीबाहुल्ये कस्या अयमित्याह ।

भ्रातुर्व्यः ।। 6. 1. 88. ।।

भ्रातृशब्दादपत्ये व्यः प्रत्ययो भवति । भ्रातुरपत्यं भ्रातृव्यः, शत्रुरपि भ्रातृव्य उच्यते स उपचारात् एकद्रव्याभिलाषश्चोपचारनिमित्तम् ।।88।।

ईयः स्वसुश्च ।। 6. 1. 89. ।।

भ्रातृशब्दात् स्वसृशब्दाच्चापत्ये ईयः प्रत्ययो भवति । भ्रात्रीयः, स्वस्त्रीयः ।।89।।

मातृ–पित्रादेर्डेयणीयणौ ।। 6. 1. 90. ।।

मातृपितृशब्दावादी अवयवौ यस्य स्वसुः स्वस्त्रन्तस्य तस्मात् मातृष्वसृशब्दात् पितृष्वसृशब्दाच्चापत्ये डेयण् ईयण् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः, वचनभेदान्न यथासंख्यम् । मातृष्वसेयः, मातृष्वस्त्रीयः, पैतृष्वसेयः, पैतृष्वस्त्रीयः । डित्त्वात् डेयणि अन्त्यस्वरादिलोपः, मातृपित्रादेः स्वस्त्रन्तस्य ग्रहणादिह न भवति । परममातृष्वसुरपत्यम्, परमपितृष्वसुरपत्यम् । मातृपितृशब्दयोर्ॠकारान्तयोर्निर्देशात् इह न भवति । मातुःस्वस्त्रः, पैतुस्वस्त्रः, मातुःष्वस्त्रः, पैतुःष्वस्त्रः । अत्र ``अलुपि वा'' (2. 3. 19) इति विकल्पेन षत्वम् ।।90।।

न्या०स०–मातृ-माता च पिता च मातृपितरौ, तावादी यस्य शब्दप्रधानत्वात् निर्देशस्य ``आ द्वंदे'' (3. 3. 39.) इति न भवति योनिसंबंधाभावात् । मातृष्वसेय इति-``स्वसृपत्योर्वा'' (3. 2. 38.) इति वा लुपि ।

श्वशुराद्-यः ।। 6. 1. 91. ।।

श्वशुरशब्दादपत्ये यः प्रत्ययो भवति, श्वशुरस्यापत्यं श्वशुर्यः । ``संबन्धिनां संबन्धे'' (7. 4. 121.) इतीह न भवति, श्वशुरो नाम कश्चित् तस्यापत्यं श्वाशुरिः ।।91।।

जातौ राज्ञः ।। 6. 1. 92. ।।

राजन्शब्दादपत्ये जातौ गम्यमानायां यः प्रत्ययो भवति । राज्ञोऽपत्यं राजन्यः क्षत्रियजातिश्चेत् । जाताविति किम् । राजनोऽन्यः ।।92।।

न्या०स०–जातौ-यद्यपि जातिशब्दा अव्युत्पन्ना राजन्यादयस्तथाप्यपत्यार्थस्य व्युत्पत्तिनिमित्तत्वाश्रयणेन यप्रत्ययत्य आपत्यत्वात् ``तद्धितयस्वर'' (2. 4. 92.) इति प्राप्तौ राजन्यकमित्यत्र ``न राजन्यमनुष्ययोः'' (2. 4. 94.) इति निषेधो युज्यते ।

राजनोऽन्य इति राज्ञः स्वामिनोऽपत्यं वारणो वा ।

क्षत्रादियः ॥ 6. 1. 93. ॥

क्षत्रशब्दादपत्ये इयः प्रत्ययो भवति जातौ गम्यमानायाम्, क्षत्रस्यापत्यं क्षत्रियः जातिश्चेत् । क्षात्रिरन्यः ॥93॥

न्या०स०—क्षत्रा-क्षात्रिरन्य इति यदि जातिरपत्यस्य न गम्यते किंतु क्षत्रस्यापत्यमित्ये-तावदेव तत इयाभावे ``अत इञ्'' (6. 1. 31.) इति इञ् ।

मनोर्या–ऽणौ षश्चान्तः ॥ 7. 1. 94. ॥

मनुशब्दादपत्ये य अण् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतस्तत्संनियोगे च मनुशब्दस्य षकारोऽन्तो भवति जातौ गम्यमानायाम्, मनोरपत्यानि मनुष्याः मानुषाः, मानुषी । जातावित्येव ? मानवः, मानवाः, मानवीः प्रजाः पश्य । अत्र हि मनोरपत्यमित्येतावानेवार्थो विवक्षितो न जातिस्तेन षोऽन्तो न भवति, वृद्धापत्यविवक्षायां तु लोहितादिपाठाद्यञेव । मानव्यः, मानव्यौ, मनवः, मानव्यायनी । मनुष्यमानुषशब्दाभ्यां सत्यसति चापत्येऽर्थे अनभिधानादपत्ये पुनरन्यः प्रत्ययो न भवति ॥94॥

न्या०स०—मनो०—मनुशब्दस्येति अत्र प्रत्ययसंबन्धे उपयुक्तायाः पञ्चम्याः षष्ठीरूपतया विपरिणामः । जातौ गम्यमानायामिति अपत्याधिकारादपत्ये प्रत्ययो विज्ञायते, जातािविति च प्रकृतिप्रत्ययसमुदायविशेषणं न तु जातिः प्रत्ययार्थ इत्याह—षोन्तो न भवतीति अण् सामान्यः सिद्ध एवाऽनेन षोऽन्त एव विधीयते इत्याह—अनभिधानादिति—यदापत्यार्थो न किंतु मन्यते इति ``शिक्यास्याढ्य'' 364 (उणादि) इति ``अपुषधनुषादयः'' 559 (उणादि) इति च मनुष्यमानुषशब्दौ निपात्येते तदाऽनभिधानादनिष्टेरित्यर्थः, यदा तु मनोरपत्यमिति तदाऽनभिधानादऽप्रतिपादनात्, अप्रतिपादनं च ``आद्यात्'' (6. 1. 29.) इति सूत्रात्, न वाच्यं वृद्धापत्ये येऽणि पुनर्यूनि प्रत्ययो भविष्यतीति, यतोऽत्रैव वृद्धापत्यविवक्षायां तु लोहितादिपाठात् यञवेत्युक्तम् ।

माणवः कुत्सायाम् ॥ 6. 1. 95. ॥

माणव इति मनुशब्दस्यौत्सर्गिकेऽण्प्रत्यये कुत्सायां गम्यमानायां नकारस्य णकारादेशो

निपात्यते । मनोरपत्यं कुत्सितं मूढं माणवः ।।95।।

कुलादीनः ।। 6. 1. 96. ।।

कुलशब्दान्तात्केवलाच्च कुलशब्दादपत्ये ईनः प्रत्ययो भवति, कुलस्यापत्यं कुलीनः । ईषदपरिसमाप्तं कुलं बहुकुलम् तस्यापत्यं बहुकुलीनः, क्षत्त्रियकुलीनः, एषु अत इञः अदोरायनेश्चापवादः । आढयकुलीनः, राजकुलीनः, अत्र ``अवृद्धाद्दोर्नवा'' (6. 1. 110.) इत्यायनिञोऽत इञश्च । उत्तरसूत्रे समासे प्रतिषेधादिह कुलान्तः केवलश्च गृह्यते ।।96।।

यैयकञावसमासे वा ।। 6. 1. 97. ।।

कुलशब्दान्तात्केवलाच्च कुलशब्दादपत्ये य एयकञ् इत्येतौ प्रत्ययौ वा भवतः ताभ्यां मुक्ते ईनश्च न चेत् कुलशब्दः समासे वर्तते । कुल्यः कौलेयकः कुलीनः, बहुकुल्यः बाहुकुलेयकः बहुकुलीनः । असमास इति किम् ? आढ्यकुलीनः ।।97।।

दुष्कुलादेयण् वा ।। 6. 1. 98. ।।

दुष्कुलशब्दादपत्ये एयण् प्रत्ययो वा भवति । दौष्कुलेयः, दुष्कुलीनः ।।98।।

महाकुलाद् वाऽञीनञौ ।। 6. 1. 99. ।।

महाकुलशब्दादपत्ये अञ् ईनञ् इत्येतौ प्रत्ययौ वा भवतः ताभ्यां मुक्ते ईनश्च । माहाकुलः, माहाकुलीनः, महाकुलीनः, महेत्याकारनिर्देशात् महतां कुलं महत्कुलं तस्यापत्यं महत्कुलीन इति ईन एव भवति ।।99।।

कुर्वादेर्ञ्यः ।। 6. 1. 100. ।।

कुरु इत्येवमादिभ्योऽपत्ये ञ्यः प्रत्ययो भवति । कौरव्यः, अक्षत्त्रियवचनस्येह कुरोर्ग्रहणम् । क्षत्त्रियवचनात्तु ``दुनादिकुर्वित्कोशलाजादाञ्ञ्यः'' (6. 1. 118.) इत्यनेन ञ्यः, अयं चानयोर्विशेषः । तस्य द्रिसंज्ञत्वात् बहुषु लुप् । कुरवः । अस्य तु द्रिसंज्ञाया अभावात् कौरव्याः ततो यूनि तिकादिपाठादायनिञ् । कौरव्यायणिः । अस्माच्चात इञ् । तस्य ``ञिदाषादणिञोः'' (6. 1. 140.) इति लुप् । कौरव्यः । कुरुशब्दश्च तिकादिष्वपि पठ्यते । कौरवायणिः, उत्साद्यञ् तु ञ्यायनिञ्भ्यां बाधितः कुरुशब्दादपत्ये न भवति । शङ्कु, शाङ्कव्यः, बहुषु शाङ्कव्याः, स्त्री शाङ्कव्या। लोहितादौ पाठात् पौत्रादौ यञि शाङ्कव्यः, बहुषु लुप् शङ्कवः, स्त्री शाङ्कव्यायनी ।

कुरु शङ्कु शकन्धु, शाकभू, पथिकास्मि, मतिमत्, पितृमत्, पितृमन्तु, वाच्, हन्तृ, हृदिक शलाका, कालाका, एरका, पदका, खदाका, केशिनी, मति, कवि, हन्ति, पिण्डी, ऐन्द्रजाली, धातुजि, वैराजकि, दामोष्णीषि, गाणकरि, कैशोरि, कापिञ्जलादि, गर्गर, हनू, मञ्जूष, अविमारक, अजमारक, चफदक् (चफदृक्) कुट, कुटल, मुर, दभ्र, सूर्पणाय, श्यावनाय, श्यावरथ, श्याप्रथ, श्यावप्रथ, श्यापप्रथ, श्यापुवप्रथ, सत्यंकार, वलभीकार, कर्णकार, पथिकार, बृहतीकार, वान्तवृक्ष, आर्द्रवृक्ष, मूढ, शाक, इन, रथकार, नापित, तक्षन्, शुभ्र, इति कुर्वादिः । अत्र हन्त्रन्तानां सामान्याणो हृदिकस्य तु वृष्ण्यणोऽपवादो ञ्यः । शलाकादीनां केशिन्यन्तानामेयणः । मानुषीनामत्वेऽणोऽपि केशिनीशब्दस्य स्त्रीलिङ्गपाठादेव पुंवद्भावो न भवति । कैशिन्यः पुंलिङ्गनिवृत्त्यर्थस्तु स पाठो न भवति । ``गाथिविदथिकेशिपणि-गणिनः'' (7. 4. 54.) इत्यपत्येऽण्यन्त्यस्वरादेः लुक्प्रतिषेधात्, केशिन्शब्दाद्धि ञ्यविधानेऽण् न संभवत्येव । मतिकविहन्तिपिण्डीनामेयणः । एन्द्रजाल्यादीनां कापिञ्जलाद्यन्तानामायनणः । गर्गरादीनामिञः । तक्षन्शब्दस्य शिवाद्यणा समावेशार्थः पाठः, शुभ्रस्यैयणा ॥100॥

न्या०स०—कुर्वा—कुरव इति—कथं तर्हि कौरव्याः पशव इति ? उच्यते, अपत्यस्यापि इदमर्थविवक्षायामुत्साद्यञि कौरवास्ततस्तत्र साधाविति ये च भविष्यति । न वाच्यमपत्य एव उत्साद्यञ् कथं नेति, यतस्तत्रोक्तं कुरोरपत्यं कौरव्य इति ञ्यविधौ कुरुशब्दोपादानस्यावकाश-त्वाद् भवतीति । ततो यूनि तिकादिपाठात् इति ``दुनादि'' (6. 1. 118.) इति ञ्यान्तात्, तिकादौ हि औरससाहचर्यात् कौरव्यशब्दोऽपि राष्ट्रक्षत्रियस्वरूप एव गृह्यते इति वक्ष्यते । कौरव्यायणिरिति कौरव्यशब्दात् क्षत्रियवचनाद्यूनि उत्पन्नस्य आयनिञ्प्रत्ययस्य ``अब्राह्मणात्'' (6. 1. 141.) इत्यनेन लुप् न भवति विधानसामर्थ्यात् ।

अस्माच्चेति ``कुर्वादेर्ञ्यः'' (6. 1. 100.) इति ञ्यान्तात् । तिकादिष्वति पठ्यते इति क्षत्रियवचनो ब्राह्मणो वा तेन पाठसामर्थ्यात् कौरवायणिरित्यपि भवति । अथ गणः—शकानामन्धुरिव पृषोदरादित्वात् अलोपः शाकेभ्यो भवति, पन्थानं करोति, मतिरस्यास्ति, पितरि मन्तुः विप्रियं यस्य, वक्तीत्येवंशीलः, हन्ति तृच्, कालमकति, ईरयति ``कीचक'' 33 (उणादि) इति, पद्यते 'कीचक' इति एदका, खदनं ``भिदादयः'' (5. 3. 108.) खदां कार्यात, केशा अस्याः सन्ति, मन्यते कवते मन्यादित्वादिः, वध्यात् हन्तिः, पिण्ते अच् गौरादित्वात् ङ्यां पिण्डी, इन्द्रं जलति तस्यापत्यं धनोः राशेर्जातः तस्यापत्यं, विराजते तस्यापत्यं, दामयुक्तमुष्णीषं यस्य तस्यापत्यं, गणान् करोति तस्यापत्यं, किशोरस्यापत्यं, कपिंजलानादत्ते तस्यापत्यं, गर्गं राति, हन्ति ``पुत'' 204 (उणादि) इति, ``खलिफलि'' 560 (उणादि) इति मञ्जूषः,

अवीनामजाना मारकः, दकारो द्विः, ``नाम्युपान्त्य'' (4. 1. 54.) इतिके कुटः, ``तृपिवपि'' 468 (उणादि) इति कुटलः, ``ऋज्यजि'' 388 (उणादि) इति, सूर्पं नयति ``कर्म्मणोऽण्'' (5. 1. 62.) श्यावं पिङ्गलं नयति, श्यावः पिङ्गलो रथो यस्य, श्यायन्ते श्याः गासुकास्तै प्रथते। श्यावैः पिङ्गलैः प्रथते, श्या गत्वरः पत्रं पुत्रो यस्य, सत्थं वलमी कर्णान्पन्थानं बृहतीं करोति, वान्तां आर्द्रा वृक्षा यस्य मुह्यति स्म, शक्यते आराधयितुम्।

नापितायनिरिति परत्वात् ``अवृद्धाद्दोर्नवा'' (6. 1. 110.) इत्यपि। कैशिन्य इति पुंवद्भावे तु कैश्य इति स्यात् स्थिते तु ``अवर्णेवर्णस्य'' (7. 4. 68.) इति स्वरादेशस्य स्थानित्वात् ``नोपदस्य'' (7. 4. 61.) इति न भवति लुक्प्रतिषेधात् इति अयमर्थः केशिन् शब्दस्याणि अन्त्यस्वरादिलुक्प्रति- षेधोऽनर्थकः स्यात् यद्यस्मात् ञ्यः स्यात्।

सम्राजः क्षत्रिये ।। 6. 1. 101. ।।

सम्राज् इत्येतस्मात् क्षत्रियेऽपत्ये ञ्यः प्रत्ययो भवति। सम्राजोऽपत्यं साम्राज्यः क्षत्रियश्चेत्। अन्यत्राणेव साम्रजः, अन्ये साम्राजिरित्याहुः, तत्र सम्राट् बाह्वादिषु द्रष्टव्यः ।।101।।

सेनान्त–कारु–लक्ष्मणादिञ् च ।। 6. 1. 102. ।।

सेनशब्दान्तेभ्यः कारवः कारिणस्तन्तुवायादयस्तद्वाचिभ्यो लक्ष्मणशब्दाच्चाप्रत्ये इञ् प्रत्ययो भवति ञ्यश्च। सेनान्त, हारिषेणिः, हारिषेण्यः, वारिषेणिः, वारिषेण्यः, कारु, तान्तुवायिः, तान्तुवाय्यः, तौन्नवायिः, तौन्नवाय्यः, वार्धकिः, वार्धक्यः, कौम्भकारिः, कौम्भकार्यः। रथकारनापिततक्षभ्यो ञ्य एव नेञ् कुर्वादिपाठात्। कुर्वादौ जातिवाचिन एव पाठात् रथकारादिञपीत्येके। लक्ष्मण, लाक्ष्मणिः, लाक्ष्मण्यः। ऋषितृष्ण्यन्धककुरुभ्योऽण् ङ्याप्त्यूङन्तेभ्य–स्त्वेषण् परत्वादाभ्यां बाध्यते। जातसेनिः, जातसेन्यः, वैष्वक्सेनिः, वैष्वक्सेन्यः। औग्रसेनिः, औग्रसेन्यः, भैमसेनिः, भैमसेन्यः। तन्तुवाय्या अपत्यं तान्तुवायिः तान्तुवाय्य इत्यादि ।।102।।

न्या०स०–सेनान्त हारिषेणिरिति ``एत्यकः'' (2. 2. 26.) इति षत्वम्। जातिवचन एवेति रथकारशब्दोऽजातिवाची चास्ति इत्याह।

सुयाम्नः सौवीरेष्वायनिञ् ।। 6. 1. 103. ।।

सुयामन्शब्दात्सौवीरेषु जनपदे योऽर्थस्तस्मिन् वर्तमानादपत्य आयनिञ् प्रत्ययो भवति। सौयामायनिः। सौवीरेभ्योऽन्यत्र सौयामः ॥103॥

पाण्टाहृति–मिमताण्णश्च ॥ 7. 4. 104. ॥

पाण्टाहृतिशब्दादिञन्तान्मिमतशब्दाच्च सौवीरेषु जनपदे योऽर्थस्तस्मिन्वर्तमानाभ्यामपत्येऽण् आयनिञ् च प्रत्ययौ भवतः। पाण्टाहृतेरपत्यं युवा सौवीरगोत्रः पाण्टाहृतः पाण्टाहृतायनिर्वा। मिमतस्य मैमतः मैमतायनिर्वा। सौवीरेष्वित्येव ? पाण्टाहृतायनः। ``यञिञः'' (6. 1. 54) इत्यायनण्। मैमतायनः। अत्र नेडादित्वात्। अनन्तरो मैमतिः ॥104॥

न्या०स०–पाण्टाहृतिमिमता-पण्टेन आहृतः फाण्टेन अनायाससाध्येनेति तु शाकटायनः, भाष्यकारस्तु यथासंख्यं मन्यते, ततो णित्वस्य प्रयोजनं पान्टाहृतामार्य इत्यत्र पुंवन्निषेधः। मीयते परिच्छिद्यते ऋषित्वेन ``पुतपित्त'' 204 (उणादि) इति, मया लक्ष्म्या मन्यते स्म पृषोदरादित्वाद् वा।

भागवित्ति–तार्णविन्दवा–ऽऽकशापेयान्निन्दा-यामिकण्वा ॥ 6. 1. 105. ॥

भागवित्ति तार्णबिन्दव आकशापेय इत्येतेभ्यः सौवीरेषु वृद्धे वर्तमानेभ्यो यून्यपत्ये इकण् प्रत्ययो वा भवति निन्दायां गम्यमानायाम्। भागवित्तेरपत्यं युवा निन्दितः भागवित्तिकः भागवित्तायनो वा जाल्मः, तार्णबिन्दविकः तार्णबिन्दविर्वा। आकशापेयिकः आकशापेयिर्वा। निन्दायामिति किम् ? अन्यत्र भागवित्तायनः तार्णबिन्दविः आकशापेयिः इत्येव भवति ॥105॥

न्या०स०–भाग-आकशापेयिक इति अकं दुःखं शपति अण् अकशापस्यापत्यं वृद्धं शुभ्रादिभ्य एयण्।

सौयामायनि–यामुन्दायनि–वार्ष्यायणेरीयश्च वा ॥ 6. 1. 106. ॥

एभ्य आयनिञन्तेभ्यः सौवीरेषु वृद्धे वर्तमानेभ्यो यून्यपत्ये ईयश्चकारादिकण् च प्रत्ययो वा भवति ताभ्यां मुक्तेऽण् प्रत्ययः निन्दायां गम्यमानायाम्। सुयाम्नोऽपत्यं सौयामायनिस्तस्यापत्यं युवा निन्दितः सौयामायनीयः, सौयामायनिकः, सौयामायनिर्वा। अणो लुप्। यमुन्दस्यापत्यं यामुन्दायनिः। तिकादित्वादायनिञ्, तस्यापत्यं युवा निन्दितः यामुन्दायनीयः, यामुन्दायनिकः,

यामुन्दायनिर्वा । वृषस्यापत्यं वार्ष्यायणिः । दगुकोसलादिसूत्रेणयकारादिरायनिञ् । तस्य वार्ष्यायणीयः । वार्ष्यायणिकः । वार्ष्यायाणिर्वा । कश्चित्त्वन्येभ्योऽपीच्छति, तैकायनेरपत्यं युवा तैकायनीयः । निन्दायामित्येव ? अन्यत्र सौयामायनिः यामुन्दायनिः वार्ष्यायणिर्युवा । अणेव । ``ञिदार्षादणिञोः'' (6. 1. 140.) इति तस्य लुप् ।।106।।

तिकादेरायनिञ् ।। 6. 1. 107. ।।

तिक इत्येवमादिभ्योऽपत्ये आयनिञ् प्रत्ययो भवति । इञादेरपवादः । तैकायनिः । कैतवायनिः । तिक, कितव, संज्ञा, बाल, शिखा, बालशिख, उरश, शाटय, सैन्धव, यमुन्द, रूप्य, पूर्णिक, ग्राम्य, नील, अमित्र, गोकक्ष्य, कुरु, देवर, दैवर, धेवर, धैवर, देवरथ, तैतिल, शैलाल, औरश, कौरव्य, भौरिकि, भौलिकि, चौपयत, चैतयत, चैटयत, शैकयत, क्षैतयत, ध्वाज, वत, ध्वाजवत, चन्द्रमस्, शुभ, श्रुभ, गङ्ग, गङ्गा, वरेण्यः वन्ध्या, बिम्बा, अरुद्ध, आरद्धा, आरद्ध, वह्यका, खल्य, लोभका, उदन्य, यज्ञ, नीड, आरथ्य, लङ्कव, भीत, उतथ्य, सुयामन्, उखा, खल्वका, शल्यका, जाजल, वसु, उरस्, इति तिकादिः । शाठ्यशब्दो यञन्तो घ्यणन्तो वा । शाट्यायनिः, यञन्तादायनणेवेत्येके शाट्यायनः । औरशशब्देन क्षत्रियप्रत्ययान्तेन साहचर्यात् कौरव्यशब्दः क्षत्त्रियप्रत्ययान्त एव गृह्यते । अन्यस्मादिञेव । तस्य च ``ञिदार्षादणिञोः'' (6. 1. 140.) इति लुप् । कौरव्यः पिता, कौरव्यः पुत्रः । आयनिञस्तु ``अब्राह्मणात्'' (6. 1. 141.) इति प्राप्तापि लुप् न भवति विधानसामर्थ्यात् नहीञ आयनिञो वा लुपि कश्चिद्विशेषः । कौरव्यः पिता, कौरव्यायणिः पुत्रः ।।107।।

न्या०स०—तिका-सैन्धवेति सिन्धुषु भवः ``कोपान्त्याच्चाण्'' (6. 3. 56.) नृनृस्थाभ्यामन्यः, नरि नृस्थे तु विशेषविधानात् कच्छादित्वादकञ् स्यात् । सिन्धुराभिजनो निवासोऽस्य ``सिन्ध्वादेरञ्'' (6. 3. 216.) वा । शाट्यायनिरिति शट रुजा० अच् तस्यापत्यं वृद्धं ``गर्गादेर्यञ्'' (6. 1. 42.) विधानसामर्थ्यादिति लुपि हि अक्षत्रियवचनस्य कौरव्यशब्दस्य परिहारे फलं न स्यात् ।

दगु–कोशल–कर्मार–च्छाग–वृषाद् यादिः ।। 6. 1. 108. ।।

दगु, कोशल, कर्मार, छाग, वृष इत्येतेभ्योऽपत्ये यकारादिरायनिञ् प्रत्ययो भवति । दागव्यायनिः, कौशल्यायनिः । जनपदसमानशब्दात् क्षत्त्रियात् ``दुनादि'' (6. 1. 118.) इत्यादिना ञ्य एव । कौशल्य इति । कार्मार्यायणिः, छाग्यायनिः, वार्ष्यायणिः ।।108।।

द्विस्वरादणः ॥ 6. 1. 109. ॥

द्विस्वरादणन्तादपत्ये आयनिञ् प्रत्ययो भवति । कर्तुरपत्यं कार्त्रः, तस्य कार्त्रायणिः, हर्त्तुः हार्त्रः, तस्य हार्त्रायणिः । पौत्रः, पौत्रायणिः । औत्सर्गिकोऽण् यास्कायनिः, शिवाद्यण् । द्विस्वरादिति किम् ? औपगविः । अण इति किम् ? दाक्षेः दाक्षायणः, प्लाक्षेः प्लाक्षायणः, वृद्धादेवायं विधिः । अवृद्धात्तूत्तरेण विकल्प एव, अङ्गानां राजा आङ्गः । तस्याङ्गिः आङ्गायनिर्वा ॥109॥

न्या०स०—द्विस्वरादणः कार्त्रायणिरिति ब्राह्मणत्वात् ``अब्राह्मणात्'' (6. 1. 141.) इति न लुप्, एवमुत्तरेष्वपि ।

अवृद्धाद् दोर्नवा ॥ 6. 1. 110. ॥

अवृद्धवाचिनो दुसंज्ञकादपत्ये आयनिञ् प्रत्ययो वा भवति । आम्रगुप्तायनिः, आम्रगुप्तिः, शालगुप्तायनिः, शालगुप्तिः, वायुरथायनिः, वायुरथिः, पञ्चालानां राजा पाञ्चालस्तस्यापत्यं पाञ्चालायनिः, पाञ्चालिः, नापितस्यापत्यं नापितायनिः, नापित्यः, पक्षे नापितशब्दस्येञ् नास्ति तद्बाधनार्थं हि कुर्वादिषु तस्य पाठः । अवृद्धादिति किम् ? दाक्षेः दाक्षायणः, प्लाक्षेः प्लाक्षायणः । दोरिति किम् ? अकम्पनस्यापत्यमाकम्पनिः ॥110॥

पुत्रान्तात् ॥ 6. 1. 111. ॥

पुत्रशब्दान्तात् दुसंज्ञकादपत्ये आयनिञ् प्रत्ययो वा भवति । गार्गीपुत्रायाणिः, गार्गीपुत्रिः, वासवदत्तापुत्रायणिः, वासवदत्तापुत्रिः । पूर्वेणायनिञि सिद्धे वचनमिदमुत्तरसूत्रप्राप्तकागमाभावार्थम् । उत्तरेण च कागमोऽपि, एवं च गार्गीपुत्रकायणिरिति तार्तीयीकमपि रूपं भवति ॥111॥

चर्मि–वर्मि–गारेट कार्कट्य–काक–लङ्का–वाकिनाच्च कश्चान्तोऽन्त्य–स्वरात् ॥ 6. 1. 112. ॥

चर्मिन् वर्मिन् गारेट कार्कट्य काक लङ्का वाकिन इत्येतेभ्यः पुत्रान्ताच्च दुसंज्ञकादपत्ये आयनिञ् प्रत्ययो वा भवति तत्संनियोगे चैषामन्त्यस्वरात्परः ककारोऽन्तो भवति । चार्मिकायणिः, चार्मिणः, वार्मिकायणिः, वार्मिणः । ``संयोगादिनः'' (7. 4. 53.) इति प्रतिषेधादणि अन्त्यस्वरादिलोपो न भवति । गारेटकायनिः, गारेटिः, कर्कटस्यापत्यं कार्कट्यः, तस्यापत्यं कार्क-

ट्यकायनिः, कार्कट्यायनः । यदा त्वव्युत्पन्नः कार्कट्यशब्दस्तदा पक्षे इञेव । कार्कट्यिः, काककायनिः, काकिः, लाङ्का, लाङ्ककायनि, लाङ्केयः, लङ्कशब्दं केचिदकारान्तमिच्छन्ति, तन्मते लाङ्ककायनिः । लाङ्किः, वाकिनकायनिः, वाकिनिः, पुत्रान्ताद्वा:, गार्गीपुत्रकायणिः, गार्गीपुत्रिः । ककारस्यान्त्यस्वरात्परतो विधानं चर्मिवर्मिणोः नकारस्य लोपार्थम् । यद्येवं परादिरेव क्रियेत । नैवम्, तथा सति प्रत्ययस्य व्यञ्जनादित्वात्पुंवद्भावो न सिध्येत् । चर्मिण्या अपत्यं चार्मिकायणिः, वर्मिण्या अपत्यं वार्मिकायणिः ।।112।।

न्या०स०—चर्मिवर्मिगारे-अन्तग्रहणाभावे कस्य प्रत्ययत्वं स्यात्, ततश्च लाङ्ककायनिरित्यत्र ``ङ्यादीदूतः'' (2. 4. 104.) इति ह्रस्वत्वं स्यात् । अत एव च ``अनन्तः पञ्चम्याः प्रत्ययः'' (1. 1. 38.) इत्यत्रान्तग्रहणं सफलम् ।

नकारस्य लोपार्थमिति अन्त्यस्वरादेर्लोप इति वक्तव्येऽपि विशेषाभावान्नकारस्य लोपार्थमित्युक्तमिति शकटः ।

परादिरेवेति कश्चादिरित्येव क्रियतां किं कश्चान्तोऽन्त्यस्वरादिति गुरुणा सूत्रेण, ततश्च ``नाम सिदय्व्यञ्जने'' (1. 1. 21.) इति पदसंज्ञायां ``नाम्नोनोनह्नः'' (2. 2. 91.) इत्यनेनैव नलोपो भविष्यति ।

अदोरायनिः प्रायः ।। 6. 1. 113. ।।

अदुसंज्ञकादपत्ये आयनिः प्रत्ययो वा भवति प्रायः । ग्लुचुकायनिः, ग्लौचुकिः, म्लुचुकायनिः, म्लौचुकिः, अहिचुम्बकायनिः । आहिचुम्बकिः, त्रिपृष्टायनिः, त्रैपृष्टिः, श्रीविजयायनिः, श्रैविजयिः । अदोरिति किम् ? औपगविः, रामदत्तिः, रामदत्तायनिः पिता, रामदत्तायनिः पुत्रः । आयनिञन्तादणो लुप् । प्रायोग्रहणात्क्वचिन्न भवति । दाक्षिः, प्लाक्षिः ।।113।।

न्या०स०—अदो—रामदत्तायनिः पुत्र इति वृद्धं रामदत्तस्यापत्यं ``अवृद्धाद्दोर्नवा'' (6. 1. 102.) इत्यायनिञ्, ततो युवार्थे ङसोऽणो लुप् ।

राष्ट्र—क्षत्त्रियात् सरूपाद्-राजाऽपत्ये द्रिरञ् ।। 6. 1. 114. ।।

क्षत्त्रियवाचिसरूपाद्राष्ट्रवाचिनो राष्ट्रवाचिसरूपाच्च क्षत्त्रियवाचिनो यथासंख्यं राजनि क्षत्त्रियेऽपत्ये चाञ् प्रत्ययो भवति स च द्रिसंज्ञः, वेति निवृत्तम् । विदेहानां राष्ट्रस्य राजा वैदेहः वैदेहौ, विदेहाः, बहुत्वे ``बहुष्वस्त्रियाम्'' (6. 1. 124.) इति लुप् । विदेहस्य

राज्ञोऽपत्यं वैदेहः, वैदेहौ, विदेहाः, एवम् ऐक्ष्वाकः, ऐक्ष्वाकौ, इक्ष्वाकवः, पाञ्चालः, पाञ्चालौ, पञ्चालाः। राष्ट्रक्षत्रियादिति किम् ? पञ्चालस्य ब्राह्मणस्य राजा पाञ्चालः, ``तस्येदम्'' (6. 6. 159.) इत्यण्। पञ्चालस्य ब्राह्मणस्यापत्यं पाञ्चालिः। सरूपादिति किम् ? सुराष्ट्राणां राजा सौराष्ट्रकः, आदर्शस्य राष्ट्रस्य राजा आदर्शकः, दशरथस्य क्षत्रियस्यापत्यं दाशरथिः, त्रिपृष्टस्य त्रैपृष्टिः, द्रिप्रदेशाः ``द्रेरञणोऽप्राच्यभर्गादेः'' (6. 1. 123.) इत्यादयः ॥114॥

न्या०स०—राष्ट्र-वेति निवृत्तमिति अपत्येऽनुवर्त्तमाने राजनीत्यधिकार्थस्य भणनात्। ऐक्ष्वाक इति ``सारवैक्ष्वाक'' (7. 4. 30.) इति उलोपः।

पञ्चालस्य ब्राह्मणस्य राजा पाञ्चाल इति—``उत्सादेः'' (6. 1. 19.) इत्यप्पञ् न तत्रापि राष्ट्रस्वरूपग्रहणात्।

गान्धारिसाल्वेयाभ्याम् ॥ 6. 1. 115. ॥

गान्धारिसाल्वेयशब्दौ इञेयणन्तौ सरूपौ राष्ट्रक्षत्रियवचनौ, ताभ्यां राष्ट्राद्राजनि क्षत्रियादपत्ये अञ् प्रत्ययो भवति स च द्रिसंज्ञः। दुलक्षणस्य ञ्यस्यापवादः, वचनभेदो यथासंख्यनिवृत्त्यर्थः, गान्धारीणां राजा गान्धारे राज्ञोऽपत्यं च गान्धारः, गान्धारौ, गान्धारयः, बहुष्वञो लुप्। एवं साल्वेयः, साल्वेयौ, साल्वेयाः। एकत्वद्वित्वयोस्त्वपत्यार्थविवक्षायामब्राह्मणादिति लुप् न भवति विधानसामर्थ्यात्। अन्यथा ञ्यविधावेवानयोः प्रतिषेधः क्रियेत। तथा पूर्वेणैवाञ् सिध्यति ॥5॥

न्या०स०—गान्धारि-इञेयणन्तौ सरूपाविति गन्धमियर्त्ति अण्, तस्यापत्यमिञ्, साल्वाया अपत्यं, ``द्विस्वरादनद्याः'' (6. 1. 71.) अपत्यप्रत्ययान्तावप्युपचाराद् राष्ट्रे वर्तते। विधानसामर्थ्यादिति ननु गान्धार इत्यत्र लुबभावे फलमस्ति यतो लुप्ते गान्धारिरिति स्यात्, स्थिते तु गान्धारः साल्वेय इत्यत्र तु किं फलम् ? उच्यते, अत्रालुपि संघादिविवक्षायामण् लुपि तु ``गोत्राददण्ड'' (6. 3. 169.) इत्यकञ् स्यात्।

ननु दुलक्षणञ्यस्य बाधनेन विधानामिदं चरितार्थमिति कुतो विधानसामर्थ्यादित्युक्तम् ? इत्याह-अन्यथा ञ्यविधाविति।

अगान्धारिसाल्वेयदुनादिकुर्वित्कोशलाजादाञ्य इत्यनया युक्त्या प्रतिषेधे कृते राष्ट्रक्षत्रियादित्यनेनाञ् भविष्यतीत्यर्थः।

पुरु–मगध–कलिङ्ग–सूरमस–द्विस्वरादण् ॥ 6. 1. 116. ॥

पुरुमगधकलिङ्गसूरमस इत्येतेभ्यो द्विस्वरेभ्यश्च शब्देभ्यो राष्ट्रवाचिभ्यः क्षत्रियवाचिभ्यश्च सरूपेभ्यो यथासंख्यं राजन्यपत्ये चार्थे द्रिरण् भवति, अञोऽपवादः । पुरोरपत्यं पौरवः, पौरवौः, पुरवः, मगधानां राजा मगधस्यापत्यं वा मागधः, मागधौ, मगधाः, एवं कालिङ्गः, कालिङ्गौ, कलिङ्गाः, शौरमसः शौरमसौ, शूरमसाः, द्विस्वर, अङ्गानां राजा अङ्गस्यापत्यं वा आङ्गः, अङ्गाः, वाङ्गः, वङ्गाः, सौह्मः, सुह्माः, पौण्ड्रः, पुण्ड्राः, दारदः, दरदः, भार्गः भर्गाः, साल्वः, साल्वाः । सर्वत्र बहुषु लुप्, पुरुग्रहणमराष्ट्रसरूपार्थम् । अस्ति राजा पुरुर्नाम न तु राष्ट्रम्, तस्यौत्सर्गिकेणैवाणा सिद्धे बहुषु लुबर्थमिदमण्विधानम् । अत्रैव सिद्धेऽण्विधानं संघाद्यण्बाधनार्थम् । तेनाकञ् भवति, पौरवकम् मागधकम्, कालिङ्गकम्, शौरमसकम्, आङ्गकम्, वाङ्गकम् । अञन्ताद्धि गोत्रात् ``अञ्यञिञः'' (6. 3. 172.) इत्यण् बाधकः स्यात् ॥116॥

न्या०स०–पुरु-पौरवकमिति पुरोरपत्यानि अण् लुप्, पुरूणां संघादि ``गोत्राददण्ड'' (6. 3. 169.) इत्यकञविषये ``न प्राग्जितीये'' (6. 1. 135.) इति अणो लुप् निवर्तते ।

साल्वांश–प्रत्यग्रथ–कलकूटाऽश्मकादिञ् ॥ 6. 1. 117. ॥

साल्वा नाम जनपदस्तदंशास्तदवयवा उदुम्बरादयस्तेभ्यः प्रत्यग्रथकल–कूटाश्मक इत्येतेभ्यश्च राष्ट्रवाचिभ्यः क्षत्रियवाचिभ्यश्च सरूपेभ्यो यथासंख्यं राजन्यपत्ये च इञ् प्रत्ययो भवति स च द्रिसंज्ञः । उदुम्बराणां राजा उदुम्बरस्यापत्यं वा औदुम्बरिः, उदुम्बराः, एवं तैलखलिः, तिलखलाः, माद्रकारिः, मद्रकारा, यौगन्धरिः, युगन्धराः, भौलिङ्गिः, भुलिङ्गाः, शारदण्डिः, शरदण्डाः, आजमीढिः अजमीढाः, आजकुन्दिः, अजकुन्दाः, बौधिः, बुधाः इति साल्वांशाः । प्रात्यग्रथिः, प्रत्यग्रथाः, कालकूटिः, कलकूटाः, आश्मकिः अश्मकाः, सर्वत्र बहुषु लुप् । उदुम्बरास्तिलखला मद्रकारा युगंधराः ॥ भुलिङ्गाः शरदण्डाश्च साल्वांशा इति कीर्तिताः ॥1॥ अजमीढाजकुन्दबुधास्तूदुम्बरादिविशेषाः, तेऽपि साल्वांशा एव । प्रत्यग्रथादिग्रहणमसाल्वांशार्थम् ॥117॥

न्या०स०–साल्वां–उदुम्बरा इति उन्दन्ति आर्द्रीभवन्ति ऋद्ध्या ``तीवर'' 444 (उणादि) इति, यद्वा उल्लङ्घिताम्बराः प्रासादैः ``पृषोदर'' (3. 2. 155.) इत्यादिना निपातः ।

तिलखला इति तिला एव खला यज प्रचुरत्वात्, तिलाः खल्यन्ते यत्र ``गोचर'' (5. 3. 131.) इति निपातः, तिलैः खलन्ति संचिता भवन्ति वा ।

मद्रकारा इति मद्रं कुर्वन्ति ``क्षेमप्रिय'' (5. 1. 105.) इति अण्, युगं धारयति ``धारेर्धर्च'' (5. 1. 113.) खः ।

भुलिङ्गा इति लभेरिदुतौ चातः । शरदण्डा इति शरैः दण्डयन्ति । अजमीढा इति अजैर्मिह्यन्ते स्म क्तः ``कारकं कृता'' (3. 1. 68.) सः । अजगुदा इति अजा एव गुदा यत्र । बौधिरिति बुध्यन्ते इति ``नाम्युपान्त्य'' (5. 1. 54.) इति कः । प्रात्यग्रथिरिति-प्रत्यग्रः रथो यस्य । कालकूटिरित्ति कूटयन्ति अच्, कल्पप्रधानाः कूटाः, आश्मकिरिति अश्मनः कायन्ति ``आतो ड'' (5. 1. 76.) इति ङः । तेऽपि साल्वांशा एवेति अवयवावयवोप्यवयविनोऽवयव एव ।

दु–नादि–कुर्वित्–कोशला–ऽजादाञ्ञ्यः ॥ 6. 1. 118. ॥

दुसंज्ञकेभ्यो नकारादिभ्यः कुरुशब्दादिकारान्तेभ्यः कोशल अजाद इत्येताभ्यां च राष्ट्रवाचिभ्यः क्षत्रियवाचिभ्यश्च सरूपेभ्यो यथासंख्यं राजन्यपत्ये च ञ्यः प्रत्ययो भवति स च द्रिसंज्ञः । दुष्ठा, आम्बष्ठानां राजा आम्बष्ठस्यापत्यं वा आम्बष्ठ्यः, आम्बष्ठाः, सौवीराणां सौवीरस्य वा सौवीर्यः, सौवीराः, एवं काम्बव्यः, काम्बवाः, दार्व्यः, दार्वाः । द्विस्वरलक्षणोऽण् परत्वादनेन बाध्यते । नादि, निषधानां निषधस्य वा नैषध्यः, निषधाः, नैचक्यः, निचकाः, नैप्यः, नीपाः, कुरूणां कुरोर्वा कौरव्यः, कुरवः, इत्, अवन्तीनामवन्तेर्वा आवन्त्यः, अवन्तयः, कौन्त्यः, कुन्तयः, वासात्यः, वसातयः, चैद्यः, चेदयः, काश्यः, काशयः, कोशलानां कोशलस्य वा कौशल्यः, कोशलाः, अजादानामजादस्य वा आजाद्यः, अजादाः एभ्य इति किम् ? कुमारी नाम जनपदः क्षत्रिया च ततो राजन्यपत्ये वाञेव भवति, कौमारः ॥118॥

न्या०स०–दुनादि कुमारी नाम जनपद इति जनपदवाचकस्य गौरादित्वात् क्षत्रियावाचकात् ``जातेरयान्त'' (2. 4. 54.) इति ङीः। क्षत्रिया चेति नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् इति न्यायात् क्षत्रियासरूपस्यापि ग्रहः ।

पाण्डोर्ड्यण् ॥ 6. 1. 119. ॥

पाण्डुशब्दाद्राष्ट्रक्षत्त्रियवाचिनः सरूपाद्यथासंख्यं राजन्यपत्ये चार्थे ड्यण् प्रत्ययो भवति स च द्रिसंज्ञः । पाण्डूनां राजा पाण्डोरपत्यं वा पाण्डवः, पाण्ड्यौ, पाण्डवः । कथं पाण्डवाः यस्य दासाः ? तस्य क्षत्त्रियस्य राष्ट्रसरूपस्य य ईश्यो जनपदो यश्च तस्य

क्षत्त्रियसरूपस्य राष्ट्रस्येशिता क्षत्त्रियः स एव गृह्यते प्रत्यासत्तेः, अत्र तु कुरवो जनपदस्तस्य राजा पाण्डुरिति शिवाद्यण् भवति, ङकारोऽन्त्यस्वरादिलोपार्थः। णकारो वृद्धिनिमित्तपुंवद्भावप्रतिषेधार्थः । पाण्ड्याभार्यः ॥119॥

न्या०स०–पाण्डोर्ड्यण्-प्रत्यासत्तेरिति अयमर्थः यदि राष्ट्रक्षत्त्रिययोरेकशब्द-वाच्यता भवति तदानीं ड्यण् भवति ।

शकादिभ्यो द्रेर्लुप् ॥ 6. 1. 120. ॥

शक इत्येवमादिभ्यः परस्य द्रेः प्रत्ययस्य लुप् भवति। शकानां राजा शकस्यापत्यं वा शकः, यवनः, जर्तः, कम्बोजः, चोलः, केरलः, आधारयः, विधारयः, उपधारयः, अपधारयः, मुरलः, खसः । शकादयः प्रयोगगम्याः ॥120॥

न्या०स०–शकादिभ्यो–यवनादिषु यथायोग्यं ``राष्ट्रक्षत्त्रियात्'' (6. 1. 114.) इत्यनेन ``पुरुमगध'' (6. 1. 116.) इत्यनेन चाञणौ, आधारय इत्यत्र ``दुनादि'' (6. 1. 118.) ञ्यः ।

कुन्त्यवन्तेः स्त्रियाम् ॥ 6. 1. 121. ॥

कुन्ति अवन्ति इत्येताभ्यां परस्य द्रेर्ञ्यस्य लुप् भवति स्त्रियामभिधेयायाम्। कुन्तेरपत्यं स्त्री कुन्ती, एवमवन्ती। स्त्रियामिति किम् ? कौन्त्यः, आवन्त्यः। प्रकृतस्य द्रेर्लुप्विज्ञानात् स्वार्थिकस्य ञ्यटोऽद्रिसंज्ञकस्य न भवति, कौन्ती ॥121॥

न्या०स०–कुन्त्यवन्तेः अद्रिसंज्ञकस्य न भवतीति प्राकरणिकाप्राकरणिकयोः प्राकरणिकस्यैव ग्रहणमिति न्यायात्। कौन्तीति-कुन्तेरपत्यानि बहवो माणवकाः ``दुनादि'' (6. 1. 118.) इति ञ्यः । ``बहुष्वस्त्रियां'' (6. 1. 124.) लुक् । ते शस्त्रजीविसंघः स्त्रीत्वविशिष्टो विवक्षितः, ``पूगादमुख्यकाञ्ञ्यो द्रिः'' (7. 3. 60.) इत्यधिकारे ``शस्त्रजीविसंघात्'' (7. 3. 62.) इति ञ्यट्, यद्वा कुन्तेरपत्यं बहवो माणवकास्ते शस्त्रजीविसंघः स्त्रीत्वविशिष्टो विवक्षितः, ``दुनादि'' (6. 1. 118.) अनेन लुप् । ``नुर्जातेः'' (2. 4. 72.) ङीः, ततः शस्त्रजीविसंघाञ्ञ्यट्, ``अवर्णेवर्णस्य'' (7. 4. 68.) ``अणञेय'' (2. 4. 20.) इति ङीः, ``अस्य ङ्याम्'' (2. 4. 86.) ``व्यञ्जनात्तद्धितस्य'' (2. 4. 88.) इति य लोपः ।

कुरोर्वा ॥ 6. 1. 122. ॥

कुरुशब्दात्परस्य द्रेर्ञ्यस्य स्त्रियां वा लुप् भवति। कुरोरपत्यं स्त्री कुरुः, कौरव्यायणी। ``कौरव्यमाण्डूकासुरेः'' (2. 4. 70.) इति डायन् ॥122॥

देरञणोऽप्राच्य–भर्गादेः ॥ 6. 1. 123. ॥

प्राच्यान् भर्गादींश्च वर्जयित्वान्यस्मात्परस्याञोऽणश्च द्रेः स्त्रियां लुप् भवति । अञ् शूरसेनस्यापत्यं स्त्री शूरसेनी, एवमपाच्या, अण्–मद्री, दरत्, मत्सी द्रेरिति किम् ? औत्सी, औपगवी। द्रावनुवर्तमाने पुनर्द्रिग्रहणं भिन्नप्रकरणस्यापि द्रेर्लुबर्थम्। पर्शूः, रक्षाः, असुरी। पर्शु, रक्षस्, असुर इति राष्ट्रसरूपक्षत्रियवाचिनः। एषामपत्यं संघः स्त्रीत्वविशिष्टो विवक्षित इति अणञोः ``शकादिभ्यो द्रेलुप्'' (6. 1. 120.) इति लुपि पुनः पर्श्वादिलक्षणः स्वार्थिकोऽण्। तस्यापि स्त्रियामनेन लुप्। अञण इत्ति किम् ? औदुम्बरी। साल्वांशत्वादिञ्। अप्राच्यभर्गादेरिति किम् ? पाञ्चाली, वैदेही, पैप्पली, मागधी, कालिङ्गी, वैदर्भी, आङ्गी, वाङ्गी, सौह्मी, पौण्ड्री, शौरमसी। पाञ्चलादयः प्राच्या राष्ट्रसरूपाः क्षत्रियाः।

भर्गादि, भार्गी, कारूपी, भर्ग, करूप, करूश, केकय, कश्मीर, साल्व, सुस्थाल, उरश, यौधेय, शौक्रेय, शौभ्रेय, घार्तेय, धार्तेय, ज्यावानेय, त्रिगर्त, भरत, उशीनर इति भर्गादिः।

यौधेयादिज्यावानेयान्तानां स्वार्थिकस्याञो द्रेः लुप् प्रतिषिध्यते। यौधेयीनां संघादि यौधेयमिति संघावणर्थम्, लुपि हि सत्यामञन्तत्वाभावात् संघाद्यण् न स्यात्। प्रकृतस्य तु अञः प्रसङ्गाभावात् न प्रतिषेधः, भरतोशीनरशब्दावुत्सादिषु पठ्येते। तयोरिहोपादानात् सत्यप्यणपवादे चेत्यस्मिन् उत्साद्यञं बाधित्वा द्रिसंज्ञक एवाञ् भवतीति ज्ञाप्यते, तेन भरतानां राजानो भरता उशीनराणामुशीनरा इति राज्ञि विहितस्याञ उत्तरसूत्रेण लुप् सिद्धा भवति, उत्साद्यञस्तु द्रिसंज्ञाया अभावान्न स्यात्। नापि ``यञञः''–(6. 1. 126.) इत्यादिना प्राप्तिः राज्ञामगोत्रत्वात् ॥123॥

न्या०स०–द्रेरञणो–पर्शूरिति पर्शोरपत्यं बहवो माणवकाः ``पुरुमगध'' (6. 1. 116.) इत्यण्, शकादित्वाल्लुपि पर्शवः ते शस्त्रजीविसंघ स्त्रीत्वविशिष्टो विवक्षितः, ``पर्श्वादेरण्'' (7. 3. 66.) अनेन लुप् ``उत्तोऽप्राणिनश्च'' (2. 4. 73.) इति ऊङ्, एवमुत्तरयोरपि।

अणञोरिति पर्शूरक्षसोः ``पुरुमगध'' (6. 1. 116.) इत्यणः असुरात्तु राष्ट्रक्षत्रियादञः। शकादिभ्य इति स्त्रीत्वेऽपि प्राच्यत्वात् ``द्रेरञणः'' (6. 1. 123.) इति न भवति।

स्त्रियामनेन लुबिति लुप्ताणञन्तानां पश्वादीनां प्राच्यादावपाठात् ``द्वेरञणः'' (6. 1. 123.) इत्यनेन लुगू भवत्येव लुप् प्रतिषिध्यत इति सा किमर्थमित्याह–यौधेयीनां संघादीति युधाया अपत्यानि ``द्विस्वरादनद्याः'' (6. 1. 71.) यौधेयाः शस्त्रजीविसंघाः स्त्रीत्वविशिष्टा विवक्षिताः, ``यौधेयादेरञ्'' (7. 3. 65.) ``अणञेय'' (2. 4. 20.) इति ङीः, यौधेयीनां संघादि संघाद्यण् न स्यादिति न वाच्यं, लुपि सत्यामपि प्रत्ययलोप इति अञः स्थानित्वात् ``संघघोष'' (6. 3. 172.) इत्यणेव भविष्यति न ``गोत्रादण्ड'' (6. 3. 169.) इत्यकञ्, यतो ``द्विगोरनपत्य'' (6. 1. 24.) इत्यत्रा- द्विरितिकरणात् ``स्वरस्य'' (7. 4. 110.) इति परिभाषाया अनित्यत्वम् ।

प्रकृतस्येति ``राष्ट्रक्षत्रिय'' (6. 1. 114.) इति विहितस्य । अन्यः प्रसङ्गाभावादिति अमीषां राष्ट्रक्षत्रियत्वस्वरूपत्वाभावे प्राप्त्यभावादित्यर्थः यद्वा सन्ति यौधेयादयो राष्ट्रस्वरूपवचनाः परं स्त्रियां लुबुच्यते । यौधेयादयश्चापत्य-प्रत्ययान्ता न पुनरपत्ये प्रत्ययमुत्पादयितुं समर्थाः ``वृद्धाद्यूनि'' (6. 1. 30.) इति वचनात्, स्त्रियाश्च युवसंज्ञानिषेधात्, न वाच्यमपत्ये मा भवतु राष्ट्रसरूपत्वात् राजन्यर्थे भविष्यति यतस्तदापि परत्वादनं बाधित्वा दुसंज्ञत्वात् ``दुनादि'' (6. 1. 118.) इति ञ्य एव स्यात् नाञ्, न च ञ्यस्यानेन लुबस्ति अतोऽप्राकरणिकस्यैवाञो लुप्प्रतिषेधः । भरतोशीनरशब्दाविति–द्रिसंज्ञक एवाञ् भवतीति प्रथमं ``प्राग्जितादण्'' (6. 1. 13.) प्राप्नोति तस्य बाधको ``राष्ट्रक्षत्रिय'' (6. 1. 114.) इत्यञ्, इदं द्वयमपि बाधित्वोत्सादित्वादञ् प्राप्नोति अणपवादे चेति वचनादिति स्थिते गणपाठात् ``राष्ट्रक्षत्रिय'' (6. 1. 114.) इत्यञेव भवति ।

तेनोत्तरसूत्रेणेति तेनेत्यादिना ज्ञापकसिद्धं फलं दर्शयति, उत्तरसूत्रेणेति ``बहुष्वस्त्रियाम्'' (6. 1. 124.) इत्यनेन, न च तस्याप्यनेन निषेधः, अत्र स्त्रियामित्यधिकारात् ।

नापि यञञ इति अयमर्थः, उत्साद्यञोपि ``यञञोऽश्यापर्ण'' (6. 1. 126.) इत्यादिना लुप् भविष्यतीति न वाच्यं, तत्र गोत्राधिकारादपत्यस्यैव लुप् भवति, न राजनि विहितस्येति ।

बहुष्वस्त्रियाम् ।। 6. 1. 124. ।।

द्र्यन्तस्य शब्दस्य बहुषु वर्तमानस्य यो द्रिः प्रत्ययस्तस्यास्त्रियां लुप् भवति । पञ्चालानां राजानः पञ्चालस्यापत्यानि वा पञ्चालाः, एवं पुरवः, अङ्गाः, लोहध्वजः एव, लौहध्वज्यः लौहध्वज्यौ लोहध्वजाः । बहुष्विति द्र्यन्तस्य विशेषणं न निमित्तम्, तत्र हि पञ्चालानां निवासः पञ्चालनिवासः, प्रिया वङ्गा यस्य स प्रियवङ्गः, अङ्गानतिक्रान्तोऽत्यङ्गः, पञ्चालेभ्य आगतं पञ्चालमयम्, पञ्चालरूप्यम्, लोहध्वजमयं, लोहध्वजरूप्यमित्यादौ पञ्चाल अञ् आम् निवास इत्यादिस्थिते 'अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गा लुप् बाधते' इति बहुवचनस्य लुपि द्रेलुप् न स्यात् । द्रेरिति पूर्ववदेव भिन्नप्रकरणस्यापि परिग्रहः । बहुष्विति किम् ? पाञ्चालः, लौहध्वज्यः ।

प्रियो वाङ्गो येषां ते प्रियवाङ्गा इत्यत्र न द्यन्तं बहुषु किं तर्हि समास इति लुप् न भवति, प्रत्ययः प्रकृत्यादेरिति नियमाद्धि न समासो द्यन्तो भवति। पञ्चालस्यापत्यं पाञ्चालस्तस्य तयोर्वापत्यानि पञ्चाला इत्यत्र तु इनि लुप्तेऽञन्तमेव बहुषु वर्तत इति अञोऽपि लुप्। द्रेः प्रत्ययस्य बहुषु वर्तमानस्य इति तु विज्ञायमाने न स्यात्। अस्त्रियामिति किम्? पञ्चालस्यापत्यानि स्त्रियः पाञ्चाल्यः। लौहध्वज्याः स्त्रियः, पञ्चभिः पाञ्चालीभिः क्रीतः पञ्चपञ्चाल इत्यत्र तु इकणो लुपः पित्त्वात् पुंवद्भावेन स्त्रीत्वनिवृत्तेर्लुप् भवत्येव ॥124॥

न्या०स०–बहुष्वस्त्रियाम्० बहिरङ्गा लुप् बाधते इति अत्र प्रकृतेः पूर्वं पूर्वमित्यन्तरङ्गत्वं बहिरङ्गत्वं च।

ननु द्वे अपि लुपौ तत्कथं बाध्यबाधकभावः? उच्यते, विधीनिति सामान्यभणनात् अन्तरङ्गा लुप् बाध्यते। इति तु विज्ञायमाने न स्यादिति यदाप्येवं विवक्ष्यते तदापि न भवति, पञ्चालस्यापत्यानि पञ्चालाः। अण् तेषामपत्यं युवा ``अत इञ'' (6. 1. 31.) अत्र प्रथमस्याञो न लुप् ``प्राग्जितीय'' (6. 1. 135.) इति निषेधात्। ``ञिदार्ष'' (6. 1. 140.) इति इञि लुप्तेऽपि न भवति बहुत्वाभावात्, ततः पाञ्चाल इत्येव भवति।

यस्कादेर्गोत्रे ॥ 6. 1. 125. ॥

यस्कादिभ्यो यः प्रत्ययो विहितस्तदन्तस्य बहुत्वविशिष्टे गोत्रेऽर्थे वर्तमानस्य यस्कादेर्यः स प्रत्ययस्तस्यास्त्रियां विषये लुप् भवति। यस्कस्यापत्यं यास्कः, यास्कौ, यस्काः, लाह्यः, लाह्यौ, लह्याः शिवाद्यण्। यस्कादेरिति किम्? उपगोरपत्यमौपगवः, औपगवौ, औपगवाः, यास्कायनयः, लाह्यायनयः। गोत्र इति किम्? यास्काश्छात्राः, यस्कस्यापत्यानि यस्काः, तत्प्रतिकृतयो यास्का इत्यत्र गोत्रे उत्पन्नस्यापि प्रत्ययस्य नेदानीं तदन्तं प्रतिकृतिषु वर्तमानं गोत्र इति न भवति। अस्त्रियामित्येव? यास्क्यः स्त्रियः। यस्क, लह्य, द्रुह्य, अयस्थूण, तृणकर्ण, भलन्दन। एभ्यः शिवाद्यणो लुप्, खरप। अस्मान्नडाद्यायनणः। भडिल, भण्डिल, भडित, भण्डित, एभ्योऽश्वाद्यायनञः। सदामत्त, कम्बलहार, पर्णाढक, कर्णाढक, पिण्डीजङ्घ, वकसक्थ, रक्षोमुख, जङ्घारथः उत्काश, कदुमन्थ, कटुकमन्थ, विषपुट, निकष, (किषकः), कषकः, उपरिमेखल, कडम, कृश, पटाक, क्रोष्टुपाद, क्रोष्टुमाय, शीर्षमाय, स्थगल, पदक, वर्ष्मक एभ्योऽत इञः। पुष्करसद्, अस्माद्बाह्वादीनः। विश्रि, कुद्रि, अजबस्ति, मित्रयु, एभ्यो, शृष्ट्याधेयञः इति यस्कादिः ॥125॥

न्या०स०–यस्कादेर्गोत्रे-यास्का इति अत्र यदि गोत्रे उत्पन्नस्य प्रत्ययस्य लुबिति व्याख्यायेत तदात्रापि प्राप्नोति गोत्रे प्रत्ययस्योत्पन्नत्वात् न त्वेवं व्याख्यायतेऽपि तु प्रत्ययान्तस्य गोत्रे बहुषु वर्तमानस्येति, ततश्च नेह प्रत्ययान्तं गोत्रबहुत्वे किं तर्हि प्रकृतिबहुत्व इति, अथ यस्कादिगणो विव्रियते ।

यस्यति ``निष्क'' 26 (उणादि) इति यस्कः । लहिः सौत्रः । लह्यति द्रुह्यति ``शिक्य'' 364 (उणादि) इपि लह्यः । द्रुह्यः । अयसः स्थूणा यत्र, तृणवत् कर्णौ यस्य, भलिण् अच् भलमन्दति नन्द्यादित्वादनः, ``भण्डेर्न लुक् च'' 482 (उणादि) इति भडिलः, भण्डिलः । भडुङ् ``पुन'' 204 (उणादि) इति मडितः । भण्ड्यते स्म भण्डितः । सदा माद्यति स्म सदामत्तः । कम्बलं हरति कम्बलहारः । पर्णवत् आढको देयोऽस्य, कर्ण्यते कर्णः कर्णवदाढको भेद्योऽस्य, बकवत्सक्थ्यस्य, रक्षोवन्मुखं यस्य, जङ्घा रथो यस्य, उत्काशते अच्, कं सुखं ददाति ``पॄका'' 729 इति किदुः । तं मथ्नाति, ``मिवमि'' 51 (उणादि) इति कटुकः तं मथ्नाति, विषं पुटति, मूले निकषन्ति अत्रेति, ``गोचरसंचर'' (5. 3. 131.) इति कषं कायति, उपरि मेखला यस्य, कडति ``सृपॄप्रथि'' 347 (उणादि) इति कडमः । कृश्यति ``नाम्युपान्त्य'' 609 (उणादि) इतिके कृशः । पटति `शलिवलि' इति पटाकः, क्रोष्टुना पद्यते ``पदरूज'' (5. 3. 16.) इति क्रोष्टुवत्पादौ यस्य, क्रोष्टुवन्माया यस्य, शीर्ष मिमीते, षगेष्ठगे स्थग संवारकं लाति, पदयते पदकः, वर्ष्म वपुः कायति, पुष्करे सीदति, विशंत् प्रवेशने, ``तङ्कि'' 692 (उणादि) इत्यधिकारे रिः विश्रिः, क्लादीयते कुद्रिः । अजस्येव बस्तिरस्य ।

यञञोऽश्यापर्णान्त–गोपवनादेः ॥ 6. 1. 126. ॥

यञन्तस्याञन्तस्य च बहुत्वविशिष्टे गोत्रेऽर्थे वर्तमानस्य यः स प्रत्ययस्तस्यास्त्रियां लुप् भवति गोपवनादिभ्यः श्यापर्णान्तेभ्यो विहितं वर्जयित्वा । गोपवनादिर्विदाद्यन्तर्गणः । गार्ग्यः, गार्ग्यौ, गर्गाः, वात्स्यः, वात्स्यौ, वत्साः, वैदः, वैदौ, विदाः, और्वः, और्वौ, उर्वाः, गर्गमयम्, गर्गरूप्यम् अश्यापर्णान्तगोपवनादेरिति किम् ? गौपवनाः, शैग्रवाः, वैन्दवाः, ताजमाः, आश्ववतानाः, श्यामाकाः, श्यापर्णाः । केचित्तु मठरराजमाऽवतानाऽश्वश्याम्या कशब्दानपि गोपवनादिषु पठन्ति । माठरा इत्यादि । श्यापर्णान्तग्रहणं किम् ? हारितः, हारितौ, हरिताः । गोपवनादिग्रहणं किम् ? धैनवः, धैनवौ, धेनवः । बहुष्वित्येव ? गार्ग्यः, बैदः बैदस्य बैदयोर्वापत्यानि बिदा इत्यत्र त्विञि लुप्तेऽञन्तं बहुष्विति लुप् । बिढानामपत्यं बैदः बैदौ इत्यत्र त्विञि लुप्तेऽञ्न्तं न बहुष्विति लुप् न भवति । इञ्प्रत्ययविषयेऽप्यञो लुप् न भवति ``न प्राग्जितीये स्वरे'' (6. 1. 135.) इति प्रतिषेधात् । बिदानामपत्यं बहवो माणवका

बिदा इत्यत्र चाञन्तं बहुष्विति भवत्येव । कश्यपप्रतिकृतयः काश्यपा इत्यत्र यद्यपि प्रत्ययो गोत्र उत्पन्नस्तथापि तदन्तं नेदानीं गोत्रबहुत्वे क्व तर्हि प्रतिकृतिष्विति लुप् न भवति, अस्त्रियामित्येव । गार्ग्यः, वैद्यः स्त्रियः । पञ्चभिर्गार्गीभिः क्रीतः पञ्चगर्गः दशगर्गः पट इत्यत्र त्विकणो लुपः पित्त्वात्पुंवद्भावेन स्त्रीत्वनिवृत्ते लुप् । गोत्र इत्येव ? औत्साश्छात्राः, उत्सादेरञ्, पौनर्भवाः । पौत्राः, दौहित्राः, नानान्द्राः । ``पुनर्भूपुत्रदुहितृननान्दुरनन्तरेऽञ्'' (6. 1. 39.) । पारशवाः । `परस्त्रियाः' ``परशुश्चासावर्ण्ये'' (6. 1. 40.) इत्यञ् । कथं प्रियो गार्ग्यो गार्ग्यौ वा येषां ते प्रियगार्ग्या इति, अत्र हि यञन्तस्य बहुविषयत्वात् लुप् प्राप्नोति ? नैवम्, न यञन्तं बहुषु किं तर्हि समासः स च ``प्रत्ययः प्रकृत्यादेः'' (7. 4. 115.) इति नियमात् यञन्तो न भवतीति लुप् न भवति, प्रिया गर्गा यस्य स प्रियगर्ग इत्यत्र तु यञन्तस्य बहुत्वाद्भवत्येव ।।126।।

न्या०स०—यञञोऽश्याप-स्त्रीत्वनिवृत्तेलुबिति यदा पञ्चभिर्गार्गीभिः क्रीता इकण् लुप्, पुंवत् ततो बाह्यस्त्र्यापेक्षयाप् पञ्चगार्ग्या दशगार्ग्या इत्येव भवतीति न्यासः, अत्र सूत्रे गोपवनादौ दुसंज्ञकानां पूर्वाचार्यानुरोधात् पाठः, यावता नास्ति विशेषः, यतोऽञि लुपि सत्यामपि ``न प्राग्जितीय'' (6. 1. 135.) इति निषेधात् ``संघघोष'' (6. 2. 172.) इत्यादिनार्णेव भाव्यम् ।

कौण्डिन्या–ऽऽगस्त्ययोः कुण्डिना–ऽगस्ती च ।। 6. 1. 127. ।।

कौण्डिन्य आगस्त्य इत्येतयोर्बहुत्वविशिष्टे गोत्रेऽर्थे वर्तमानयोर्यञोऽणश्चास्त्रियां लुब् भवति तयोश्च कुण्डिनीअगस्त्यशब्दयोः कुण्डिन अगस्ति इत्येतावादेशौ भवतः, आगस्त्यशब्दस्य ऋष्यणन्तत्वात् यञञौ न संभवतः, कुण्डिन्या अपत्यं गर्गादित्वाद्यञ्, अत एव निर्देशात्पुंवद्भावाभावः । कौण्डिन्यः, कौण्डिन्यौ, कुण्डिनाः, आगस्त्यः, आगस्त्यौ, अगस्तयः । प्रत्ययलुपं कृत्वादेशकरणमगस्तीनामिमे आगस्तीया इत्येवमर्थम् । प्रत्ययान्तादेशे हि कृते अगस्तिशब्दस्यादेराकारस्याभावात् ``वृद्धिर्यस्य स्वरेष्वादिः'' (6. 1. 8.) इति दुसंज्ञा न स्यात्, तदभावे च तन्निमित्तो ``दोरीयः'' (6. 3. 31.) इतीयः प्रत्ययोऽपि न स्यात्, यदा तु प्रत्ययस्य लुब् विधीयते तदा स्वरादावीयप्रत्यये भाविनि ``न प्राग्जितीये स्वरे'' (6. 1. 135.) इति प्रतिषेधात् प्रत्ययस्य लुब् न भवति, तथा च सति दुसंज्ञत्वात् ईयः सिद्धो भवति । कुण्डिन्यामविशेषः, प्रत्ययान्तादेशे हि कुण्डिनशब्दाददुसंज्ञकात् ``तस्येदम्'' (6. 3. 159.) इत्यणा भवितव्यम् । प्रत्ययस्य तु लुपि ``न प्राग्जितीये स्वरे'' (6. 1. 135.) इति लुप्प्रतिषेधे सत्यामपि दुसंज्ञायामीयप्रत्ययापवादः शकलादित्वादञेव स्यात् अतो न विशेषः । अस्त्रियामित्येव ? कौण्डिन्यः, आगस्त्यः स्त्रियः ।।127।।

न्या०स०—कौण्डिन्या-यञञौ न संभवत इति तेनास्याण एव लुबित्यर्थः ।

कुण्डिन्यामविशेष इति ईयप्रत्ययापेक्षमिदमुक्तं अविशेष इति न प्रत्ययान्तरे, यतः प्रत्ययलोपेऽपि हि ``न प्राग्जितीये'' (6. 1. 135.) इति लोपनिषेधे यञन्तात् कुण्डिनानामयं संघादिः इति विवक्षायामण् भवति, तथा च कौण्डिनमिति भवति, सप्रत्ययादेशे हि अयञन्तात् ``गोत्राददण्ड'' (6. 3. 169.) इत्यकञ् स्यात् तदा कौण्डिनकमिति भवत्यतो विशेषः ।

भृग्वङ्गिरस्–कुत्स–वसिष्ठ–गोतमा–ऽत्रेः ॥ 6. 1. 128. ॥

भृगु, अङ्गिरस्, कुत्स, वसिष्ठ, गोतम, अत्रि इत्येतेभ्यो यः प्रत्ययस्तदन्तस्य बहुत्वविशिष्टे गोत्रेऽर्थे वर्तमानस्य यः स प्रत्ययस्तस्यास्त्रियां लुब् भवति । भार्गवः, भार्गवौ, भृगवः, एवमङ्गिरसः, कुत्साः, वसिष्ठाः, गौतमाः, एभ्योऽणो लुप् । अत्रयः । एयणो लुप् । अस्त्रियामित्येव भार्गव्यः आङ्गिरस्यः आत्रेय्यः स्त्रियः । बहुष्वित्येव ? भार्गवः, आत्रेयः । गोत्रे इत्येव ? भार्गवाश्छात्राः । भृग्वादीन् यस्कादिष्वपठित्वेदं वचनं ``व्द्येकेषु षष्ठयास्तत्पुरुषे यञादेर्वा'' (6. 1. 134.) इत्येवमर्थम्, अन्यथा भृगुकुलं भार्गवकुलमिति न सिध्येत् ॥128॥

न्या०स०—भृग्वङ्गिरः—भृगुकुलमिति भृगोरपत्यमपत्ये वा ऋष्यण्, भार्गवस्य भार्गवयोर्वा कुलम् ।

न सिध्येदिति तदाऽयञादित्वात् तत्र हि यञादेर्वेत्युक्तं, ततश्च ``यञञोऽश्यापर्ण'' (6. 1. 126.) इत्यारभ्य येषां बहुत्वे लुप् तेषामेकत्वद्वित्वयोरपि लुप् ।

प्राग्भरते बहुस्वरादिञः ॥ 6. 1. 129. ॥

बहुस्वरान्नाम्नो य इञ् प्रत्ययस्तदन्तस्य बहुत्वविशिष्टेऽर्थे प्राग्गोत्रे भरतगोत्रे च वर्तमानस्य यः स प्रत्ययस्तस्यास्त्रियां लुप् भवति । क्षैरकलम्भिः, क्षैरकलम्भी, क्षीरकलम्भाः, पान्नागारिः, पान्नागारी, पन्नागाराः, मान्थरेषणिः, मान्थरेषणी, मन्थरेषणाः । सर्वेष्वत इञः । भरत, यौधिष्ठिरिः, यौधिष्ठिरी, युधिष्ठिराः, आर्जुनिः, आर्जुनी, अर्जुनाः, औद्दालकिः, औद्दालकी, उद्दालकाः । एभ्यो बाह्वादीञः । प्राग्भरत इति किम् । बालाकयः, हास्तिदासयः । कथं तौल्वलयः, तैल्वलयः, तैल्वकयः इत्यादिषु लुब् न भवति ? उच्यते, यस्कादिषु पुष्करसच्छ-ब्दपाठात्, अस्य हि बहुस्वरत्वादनेनैवेञ्लोपे सिद्धे तदर्थो यस्कादिपाठो ज्ञापयति तौल्वल्यादीनामिञो लुप् न भवतीति, भरताः प्राच्या एव तेषां पृथगुपादानं प्राग्ग्रहणेनाग्रहणार्थम्, तेन यौधिष्ठिरिः पिता यौधिष्ठिरायणः पुत्र इत्यत्र ``प्राच्येञोऽतौल्वल्यादेः'' (6. 1. 143.) इति

लुप् न भवति । अपरे त्वाहुः । प्राग्ग्रहणं भरतविशेषणम् । क्षीरकलम्भादयो वैश्याः प्राग्भरताः, युधिष्ठिरादयो राजान उदग्भरताः, तत्र प्राग्ग्रहणादुदीच्यभरतेषु राजसु लुब् न भवति । यौधिष्ठिरयः, आर्जुनयः, भरतग्रहणात्तु प्राच्येषु राजसु लुप् न भवति । मारसंबन्धयः, भागवित्तयः । बहुस्वरादिति किम् ? चैङ्कयः, पौष्पयः, काशयः, वाशयः । इञ इति किम् ? शान्तनवाः ॥129॥

न्या०स०—प्राग्भरते-प्राग्ग्रहणेनाग्रहणार्थमिति अयमर्थः अन्यत्र सूत्रे प्राग्ग्रहणेन भरताग्रहणमित्याह-राजसु लुब् न भवतीति प्राच्या भरता द्वेधा वैश्या राजानश्च, ततो वैश्येषु वाच्येषु लुब् भवति न राजसु, उदीच्यभारता राजान एवोच्यन्ते तेषु प्राग्ग्रहणान्न लुप् ।

वोपकादेः ॥ 6. 1. 130. ॥

उपक इत्येवमादिभ्यो यः प्रत्ययस्तदन्तस्य बहुत्वविशिष्टे गोत्रे वर्तमानस्य यः स प्रत्ययस्तस्यास्त्रियां लुप् भवति वा । उपकाः, औपकायनाः, लमकाः, लामकायनाः । अस्त्रियामित्येव ? औपकायिन्यः स्त्रियः । उपक, लमक आभ्यां नडाद्यायनणो लुप्, भ्रष्टक, कपिष्ठल, कृष्णाजिन, कृष्णसुन्दर, पिङ्गलक, कृष्णपिङ्गल, कलशीकण्ठ, दामकण्ठ, जतुक, कनक, मदाघ, अपजग्ध, अडारक, वटारक, प्रतिलोम, अनुलोम, प्रतान, अनुपद, अभिहित, अनभिहित, खारीजङ्घ, कशकृत्स्न, शलाथल, कमन्दक, कमन्तक, कवन्तक, पिञ्जूलक, अडडुक, अवव्वक, पतञ्जल, पदञ्जण, वर्णक, पर्णक कठेरित, एभ्योऽत इञः । कुषीतक, अत्र काश्यपेऽर्थे ``विकर्णकुषीतकात्काश्यपे'' (6. 1. 75.) इत्येयणः । अन्यत्रेञः । लेखाभ्रूः, अत्र शुभ्राद्येयणः । पिष्ट, सुपिष्ट, मसुरकर्ण, कर्णक, पर्णक, जटिलक, बधिरक, एभ्यः शिवाद्यणः । कठेलिति पतञ्जलि, खरीखन, एभ्य औतसर्गिकाणः, इत्युपकादिः ॥130॥

न्या०स०—वोपकादेः अथ गणः उपकायति, कपेरिव स्थलमस्य, कृष्णमजति ``विपिन'' 284 (उणादि) इति कृष्णमजिनमस्य वा, अपकृष्टं जग्धं यस्य अपात्ति स्मेति वापजग्धः, अडत्यच्, अडं वृश्चिकलाङ्गूलमियर्ति अडारकः वटारस्य तुल्यो वटारकः प्रतिगतं लोमानुगतं लोम ``प्रत्यन्ववात्सामलोम्नः'' (7. 3. 82.) प्रतिलोम, अनुलोम । ``तन्व्यधि'' (5. 1. 64.) प्रतानः अभिदधाति अनभिधीयते स्म ``शीरी'' 201 (उणादि) खारीवज्जङ्घा यस्य, कमन्दति कमन्दकः । कमन्तति कमन्तकः । कौति कवः कत्रमन्तति कवन्तकः । ``पिञ्जिमञ्जि'' 488 (उणादि) इति पिञ्जूलः, अडति उद्यतते अड् अडमड्डति अडड्डकः, अवमवति ``कीचक''

33 (उणादि) इति अवव्वकः । पतो जलात् पाञ्जलः । णके कर्णकः, जटिलं बधिरं च कायति बधिरस्य तुल्यो वा जटिलकः बधिरकः । कठमेनमित्यात् कठेलितिः । पतोऽञ्जलेः पतञ्जलिः । खरी खनति खरीखनः इत्युपकादिः ।

पर्णकशब्दस्य ऋषिवचनस्य शिवादौ पाठात् क्रियावचनादत इञेव, अतः पर्णाति करोतीति वाक्यं, अत्र गणेऽर्थभेदात् न्यासकारैर्द्विरुपात्तः ।

तिककितवादौ द्वन्द्वे ॥ 6. 1. 131. ॥

तिककितवादिषु द्वन्द्ववृत्तिषु बहुषु गोत्रापत्येषु वर्तमानेषु तैकायनिकैतवायनीत्यादीनां यः स प्रत्ययस्तस्यास्त्रियां लुप् भवति । तैकायनयश्च कैतवायनयश्च तिककितवाः, तिकाद्यायनिञो लुप् । औब्जयश्च काकुभाश्च उब्जककुभाः, उब्जादिञः ककुभाच्छिवाद्यणः । औरशायनयश्च लाङ्कटयश्च उरशलङ्कटाः, उरशात्तिकाद्यानिञः लङ्कटात् इञः । अग्निवेशाश्च दाशेरकयश्च अग्निवेशदशेरकाः, शण्डिलाश्च काशकृत्स्नयश्च शण्डिलकशकृत्स्नाः, अग्निवेशशण्डिलाभ्यां गर्गादियञः दशेरककशकृत्स्नाभ्यां त्वत इञः । ``वान्येन''–(6. 1. 133.) इति यञो लुब्विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थः पाठः । औपकायनाश्च लामकायनाश्च उपकलमकाः, अत्र नडाद्यायनणः । भ्राष्ट्रकयश्च कापिष्ठलयश्च भ्रष्ट्रककपिष्ठलाः, कार्ष्णाजिनयश्च कार्ष्णसुन्दरयश्च कृष्णाजिनकृष्ण-सुन्दराः, वाङ्ख्ररयश्च भाण्डीरथयश्च वङ्खरभण्डीरथाः, पाहकयश्च नारकयश्च पहकनरकाः, बाकनखयश्च स्वागुदपारिणद्धयश्च बकनखस्वगुदपरिणद्धाः, अन्येषां बाकनखयश्च स्वागुदयश्च पारिणद्धयश्चेति त्रिपदो द्वन्द्वः । (ता) लाङ्कयश्च शान्तमुखयश्च (ता) लाङ्कशान्तमुखाः । एषु सर्वेष्वत इञः । उपकलमकाः भ्रष्ट्रककपिष्ठलाः कृष्णाजिनकृष्णसुन्दरा इत्येषामुपकादिष्वद्वन्द्वार्थः पाठः द्वन्द्वे त्वयमेव नित्यो विधिः । तिककितव, उब्जककुभ, उरशलङ्कट, अग्निवेशदशेरक, शण्डिलकशकृत्स्न, उपकलमक, भ्रष्ट्रककपिष्ठल, कृष्णाजिनकृष्णसुन्दर, वङ्खरभण्डीरथ, पहकनरक, बकनख, स्वगुदपरिणद्ध (ता) लङ्कशान्तमुख इति तिककितवादिः ॥131॥

न्या०स०–तिककितवादौ-समासकालेऽपि बहुत्वावृत्तित्वात् ``यञञः'' (6. 1. 126.) इति यिञो लुपि अग्निवेशाश्च शण्डिलाश्चेति समासः ।

लुब्विकल्पे प्राप्ते इति द्वयोरग्निवेशशण्डिल शब्दयोर्यञन्तयोरित्यर्थः, अयञन्तानां तु अङ्यन्तत्वान्न ।

द्र्यादेस्तथा ॥ 6. 1. 132. ॥

द्व्यादिप्रत्ययान्तानां द्वन्द्वेऽबहुष्वर्थेषु वर्तमाने यः स द्व्यादिप्रत्ययस्तस्य लुप् भवति तथा यथापूर्वम् । बार्केण्यश्च लौहध्वज्यश्च कौण्डीवृश्यश्च वृकलोहध्वजकुण्डीवृशाः । अत्र ``वृकाट्टेण्यण्'' (7. 3. 64.) इति टेण्यणः ``पूगादमुख्यकाञ्ञ्यो द्रिः'' (7. 3. 60.) इति ञ्यस्य ``बाहीकेष्वब्राह्मण- राजन्येभ्यः'' (7. 3. 63.) इति ञ्यटश्च लुप् । आङ्गश्च वाङ्गश्च सौह्मश्च अङ्गवङ्गसुह्माः, अत्र द्विस्वरलक्षणस्याणः, एवं गर्गवत्सवाजाः । अत्र यञः, बिदगर्गयस्काः । अत्राञो यञोऽणश्च । तथेति किम् ? यास्कलाह्याश्छात्राः । अत्र ``तस्येदम्'' (6. 3. 159.) इत्यणो लुप् न भवति ``यस्कादेर्गोत्रे'' (6. 1. 125.) इत्यत्र गोत्रे उत्पन्नस्येति प्रत्ययस्य विशेषणात् । गार्गीवत्सवाजाः, अत्र वत्सवाजयोरेव यञो लुप् न गार्गी इत्यत्र तत्रास्त्रियामिति प्रतिषेधात्, शैग्रवगौपवनाः । अत्र `अश्यापर्णान्तगोपवनादेः' इति प्रतिषेधात् अञो लुप् न भवति । बालाकिहास्तिदासयः, अत्र प्राग्भरतेति वचनात् अप्राग्भरते न भवति । द्व्यादिग्रहणमगोत्रेऽपि यथा स्यादित्येवमर्थम् अबह्वर्थं वचनम् ।।132।।

न्या०स०—द्व्यादे-तथा-द्व्यादिप्रत्ययान्तानामिति `बहुष्वस्त्रियामित्यारभ्य' ये केचन लोपनीयाः प्रत्ययास्ते द्व्यादयो ज्ञेयाः, ``द्रेरञणः'' (6. 1. 123.) इत्यनेन तु एकत्वद्वित्वबहुत्वसामान्ये लुबुक्तानेनापि तथैवेति न तत्रास्य कश्चिदुपयोगोऽत्तो ``बहुष्वस्त्रियाम्'' (6. 1. 124.) इत्यारभ्योदाह्रियते ।

यथापूर्वमित्ति-पूर्वप्रत्ययान्तबहुत्वे यस्य लुब् भवति, द्वन्द्वे बहुत्वेऽपि तस्यैव भवति, यस्य न भवति, तस्य न भवत्येव, यस्यादेशेन सह तस्यादेशेन सहैव यस्य विकल्पस्तस्य विकल्प एवेत्यर्थः ।

द्व्यादिग्रहणभगोत्रेपीति ननु तथेति भणनाद्येषां पूर्वं बहुषु लुबुक्ता तेषामेव भविष्यति किं द्व्यादिग्रहणेन ? इत्याह-अयमर्थः, यदि द्व्यादिग्रहणं न क्रियेत तदा ``यस्कादेर्गोत्रे'' (6. 1. 122.) इत्यतो गोत्र इत्यनुवर्तमाने गोत्र एव लुप् स्यात् यथा अङ्गवङ्गसुम्हा इति नागोत्रे यथा वृकलोहध्वजकुण्डीवृशा इति ।

वाऽन्येन ।। 6. 1. 133. ।।

द्व्यादेरन्येन सह द्व्यादीनां द्वन्द्वे बहुष्वर्थेषु वर्तमाने य स द्व्यादिप्रत्ययस्तस्य तथा वा लुप् भवति यथा पूर्वम् । अङ्गवङ्गदाक्षयः, आङ्गवाङ्गदाक्षयः, गर्गवत्सौपगवाः, गार्ग्यवात्स्यौपगवाः, भृगुवत्साग्रायणाः, भार्गववात्स्याग्रायणाः, गर्गकश्यपगालवाः, गार्ग्यकाश्यपगालवाः, पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पार्थं वचनम् ।।133।।

न्या०स०—वान्ये विकल्पार्थमिति पूर्वेण ``द्व्यादेः'' (6. 1. 132.) इति सामान्यभणनादत्रापि सिद्धे यत्रान्येन सह द्वन्द्वः तत्रानेन विकल्प एवेत्यर्थः ।

द्व्येकेषु षष्ठ्यास्तत्पुरुषे यञादेर्वा ।। 1. 1. 134. ।।

षष्ठीतत्पुरुषे यत्पदं तस्याः षष्ठ्या विषये द्वयोरेकस्मिंश्च वर्तते तस्य यः स यञादिः प्रत्ययस्तस्य तथा वा लुक् भवति यथा पूर्वम् । गार्ग्यस्य गार्ग्ययोर्वा कुलं गर्गकुलम्, गार्ग्यकुलम्, एवं बिदकुलम्, बैदकुलम् अगस्तिकुलम्, आगस्त्यकुलम्, भृगुकुलम्, भार्गवकुलम् । द्व्येकेष्विति किम् ? गर्गाणां कुलम् गर्गकुलम् । षष्ठ्या इति किम् ? गार्ग्यहितम्, परमगार्ग्यः । षष्ठ्या इति तत्पुरुषस्य विशेषणेन प्रतिपदोक्तस्यैव षष्ठीतत्पुरुषस्य परिग्रहादिह न भवति, गार्गस्य गार्ग्ययोर्वान्तर्गतः अन्तर्गार्ग्यः । ``प्रात्यव''—(3. 1. 47.) इत्यादिना समासः । द्व्येकेष्वित्यस्य षष्ठ्या इति विशेषणं किम् । देवदत्तस्य गार्ग्यः देवदत्तगार्ग्यः, देवदत्तगार्ग्यौ । तत्पुरुष इति किम् ? गार्ग्यस्य समीपमुपगार्ग्यम् । यञादेरिति किम् ? आङ्गकुलम्, यास्ककुलम् ।।134।।

न्या०स०—द्व्येके प्रात्यवेत्यादिना समास इति बाहुलकात् षष्ठ्यन्तेन समासः, यतस्तत्र पञ्चम्यन्तान्तैरेव समास उक्तः ।

न प्राग्जितीये स्वरे ।। 6. 1. 135. ।।

गोत्र इति वर्तते, गोत्रे उत्पन्नस्य बहुषु या लुबुक्ता सा प्राग्जितीयेऽर्थे यो विधीयते स्वरादिस्तद्धितस्तस्मिन् विषयभूते न भवति । गर्गाणां छात्राः गार्गीयाः, वात्सीयाः, आत्रेयीयाः, आगस्तीयाः, खारपायणीयाः, हारितीयाः । प्राग्जितीये इति किम् ? अत्रिभ्यो हितः अत्रीयः, अगस्तीयः, गर्गीयः, वत्सीयः । स्वर इति किम् ? गर्गेभ्य आगतं गर्गमयम्, गर्गरूप्यम्, बिदानामपत्यं युवा बैदः, बैदावित्यत्र तु इञि विषयभूतेऽनेन प्रतिषेधः । इञस्तु लुपि सत्यामञन्तं न बहुषु वर्तते इति लुपः प्राप्तिरेव नास्ति । यत्र त्वस्ति तत्र भवत्येव, बिदानामपत्यानि बिदाः । अथेह कस्मान्न भवति अत्रीणां भरद्वाजानां च विवाहः अत्रिभरद्वाजिका वसिष्ठकश्यपिका भृग्वङ्गिरसिका कुत्सकुशिकिकेति ? उच्यते, प्रत्यासत्तेर्यस्य प्रत्ययस्य लुप् प्रतिषिध्यते तल्लोपिप्रत्ययान्तादेव विधीयमाने स्वरादौ प्रतिषेधः, अत्र द्वन्द्वाद्विधीयते न तल्लोपिप्रत्ययान्ता-दिति प्रतिषेधो न भवति । ``गर्गभार्गविका'' (6. 1. 136.) इत्युत्तरसूत्रं वा नियमार्थं व्याख्यायते । गर्गभार्गविकाया अन्यत्र द्वन्द्वे वृद्धे यूनि वा प्रतिषेधो न भवति । गोत्र इत्येव ? कुवल्याः फलं कुवलम्, तस्येदं कौवलम् ।।135।।

न्या०स०–न प्राग्-गार्गीया इति ननु गार्गीया इत्यादौ विषयव्याख्यानादुत्पन्ने प्रत्यये पश्चाल्लोपः कथं न भवति ?

उच्यते, विषयव्याख्यानेन त्रैकाल्यमपि गृह्यते, तेन यो वर्तते, यो भूतो यश्च भावी तस्मिन् सर्वस्मिन् न लोपो भवतीत्यर्थः ।

तल्लोपिप्रत्ययान्तादिति-स लोपी प्रत्ययोऽन्ते यस्य तस्मादित्यर्थः ।

गर्गभार्गविकेत्युत्तरसूत्रं वेति-यदा कश्चित् प्रत्यासत्तिममन्यमानो ढौकते तदेदमुत्तरं, यद्वा यदा द्वंद्वपदानां कुक्कुटमर्युयावित्यादिवत् कृत्स्नमादेशं विवक्ष्यते, यद्वा यदा द्वन्द्वात्परं पदं श्रूयमाणं प्रत्येकमभिसंबध्यते तदा एवमुत्तरम् ।

गर्ग–भार्गविका ।। 6. 1. 136. ।।

गर्गभार्गविकेति द्वन्द्वात् प्राग्जितीये विवाहे यो विधीयतेऽकल् प्रत्ययस्तस्मिन् अणो लुप्प्रतिषेधो निपात्यते । गर्गाणां वृद्धानां भृगूणां वृद्धानां यूनां च विवाहो गर्गभार्गविका, अत्रिभरद्वाजिकादिवदप्राप्तः प्रतिषेधो निपात्यते ।।136।।

न्या०स०–गर्ग-गर्गस्य यूनि गार्ग्यायणानामिति प्राप्नोतीति गर्गाणां वृद्धानामित्येवाह भृगोस्तु यून्यपि ``त्रिदार्षात्'' (6. 1. 140.) इति लुबिति यूनां चेत्याह ।

यूनि लुप् ।। 6. 1. 137. ।।

यून्यपत्ये विहितस्य प्रत्ययस्य प्राग्जितीये स्वरादौ प्रत्यये विषयभूतेऽनूत्पन्न एव लुप् भवति, लुपि सत्यां यो यतः प्राप्नोति स तत उत्पद्यते । पाण्टाहृतस्यापत्यं पाण्टाहृतिः, तस्यापत्यं युवा पाण्टाहृतः, ``पाण्टाहृतिमिमताण्णश्च'' (6. 1. 104.) इति णः । तस्य छात्रा इति प्राग्जितीये स्वरादौ चिकीर्षिते णस्य लुप्, तत इञन्तं प्रकृतिरूपं संपन्नम् इति ``वृद्धेञः'' (6. 3. 29.) इत्यञ् भवति । पाण्टाहृताः, भगवित्तस्यापत्यं भागवित्तिः तस्यापत्यं युवा भागवित्तिकः । ``भागवित्तितार्णविन्दव''–(6. 1. 105.) इत्यादिना इकण्, तस्य छात्रा इति पूर्ववदिकणि निवृत्तेऽञ् । भागवित्ताः, वृषस्यापत्यं वार्ष्यायणिः, तस्यापत्यं युवा वार्ष्यायणीयः, ``सौयामायनि''–(6. 1. 106.) इत्यादिनेयः । तस्य छात्रा इति पूर्ववदीयस्य लुपि ``दोरीयः'' (6. 3. 31.) इतीयः । वार्ष्यायणीयाः, कपिञ्जलादस्यापत्यं कापिञ्जलादिस्तस्यापत्यं युवा कापिञ्जलाद्यः, कुर्वादित्वात् ञ्यः, तस्य छात्राः पूर्ववत् ञ्यस्य लुपि ``वृद्धेञः'' (6. 3. 28.) इत्यञ् । कापिञ्जलादाः, ग्लुचुकस्यापत्यं ग्लुचुकायनिः तस्यापत्यं युवा ग्लौचुकायनः, औत्सर्गिकोऽण् । तस्य छात्रा

इति पूर्ववदणो लुपि पुनः शैषिकोऽणेव भवति । ग्लौचुकायनाः स्वर इत्येव ? पाण्टाहृतमयम्, वार्ष्यायणीयरूप्यम् । प्राग्जितीय इत्येव ? भागवित्तिकाय हितं भागवित्तिकीयम् ।।137।।

*न्या०स०—यूनि-*तस्यापत्यं युवेति वार्ष्यायणेः सौवीरदेशस्थस्यापत्यं युवा युवा निन्दितः । वार्ष्यायणीया इति न वाच्यं 'प्रस्थपुर' 6-3-43 इत्यकञः प्राप्तिर्यतस्तेन देशवाचकाद् भवतीति ।

वायनणायनिञोः ।। 6. 1. 138. ।।

आयनण आयनिञश्च यून्यपत्ये विहितस्य प्राग्जितीये स्वरादौ प्रत्यये विषयभूते लुब् वा भवति, गर्गस्यापत्यं गार्ग्यः तस्यापत्यं युवा गार्ग्यायणः, ''यञिञः'' (6. 1. 54.) इत्यायनण्, तस्य छात्रा गार्गीयाः गार्ग्यायणीया वा, ''दोरीयः'' (6. 3. 31.) इतीयः । चिङ्कस्यापत्यं चैङ्किः तस्यापत्यं युवा चैङ्कायनः, तस्य छात्राः चैङ्कीयाः चैङ्कायनीया वा, आयनिञः खल्वपि । होतुरपत्यं हौत्रः तस्यापत्यं युवा हौत्रायणिः, ''द्विस्वरादणः'' (6. 1. 109.) इत्यायनिञ्, तस्य छात्राः हौत्रीयाः हौत्रायणीया वा । ''दोरीयः'' (6. 3. 31.) इतीयः । आयनणो णित उपादानात् ञितः पूर्वेण नित्यमेव लुप्, अत्रेरपत्यमात्रेयः । तस्यापत्यं भारद्वाजो युवा आत्रेयायणः, ''आत्रेयाद्भारद्वाजे'' (6. 1. 52.) इत्यायनञ् तस्य छात्राः आत्रेयीयाः ।।138।।

*न्या०स०—वाय-*चैङ्कीया इति ''वृद्धेञः'' (6. 3. 28.) इत्यञ् न भवति ''न द्विस्वरात्'' (6. 3. 29.) इति प्रतिषेधात् ।

द्रीञो वा ।। 6. 1. 139. ।।

प्राग्जितीये स्वर इति निवृत्तम्, द्रिसंज्ञो य इञ् तदन्तात्परस्य युवप्रत्ययस्य लुब् वा भवति । उदुम्बरस्यापत्यमौदुम्बरिः, ''साल्वांश'' (6. 1. 117.) इत्यादिनेञ् । तस्यापत्यं युवा औदुम्बरिः औदुम्बरायणो वा, ''यञिञः'' (6. 1. 54.) इत्यायनण् । द्रिग्रहणं किम् ? दाक्षेरपत्यं दाक्षायणः । इञ इति किम् ? अङ्गस्यापत्यमाङ्गः । ''पुरुमगध''—(6. 1. 116.) इत्यादिना अण्, तस्यापत्यमिति ''द्विस्वरादणः'' (6. 1. 109.) इत्यायनिञ्, तस्य ''अब्राह्मणात्'' (6. 1. 141.) इति नित्यं लुप् । आङ्गः पिता, आङ्गः पुत्रः । 'अब्राह्मणात्' इति नित्यं लुपि प्राप्तायां विकल्पार्थं वचनम् ।।139।।

न्या०स०—द्रीञो-प्राग्जितीये स्वर इति निवृत्तमिति—अस्य सूत्रस्य करणात्, अन्यथेऽन्तात् आयनणैव भाव्यमिति पूर्वेणैव सिद्धे इदं न कुर्यात् ।

नन्वायनणैव भाव्यमिति न वाच्यं यत उदुम्बरस्यापत्यं स्त्री इञ् । नुर्जातेर्ङी तदा ङ्यन्तात् ``ङ्याप्त्यूङः'' (6. 1. 70) इति एयण् प्राप्नोति इति प्राग्जितीये प्रत्यये एतद्विना लोपो न प्राप्नोतीत्येतदर्थं कस्मान्न भवति ? सत्यं, यद्येतदर्थं स्यात्तदा यूनि लुपि यस्याग्रे इदं कुर्यात् ।

ञिदार्षादणिञोः ॥ 6. 1. 140. ॥

ञिद् आर्षश्च योऽपत्यप्रत्ययस्तदन्तात्परस्य युवप्रत्ययस्य अण इञश्च लुप् भवति, वचनभेदाद्यथासंख्याभावः । ञितः, तिकस्यापत्यं तैकायनिः, तिकादेरायनिञ् । तस्यापत्यमौत्सर्गिकोऽण्, तस्य लुप् । तैकायनिः पिता, तैकायनिः पुत्र, बिदस्यापत्यं बंदः, बिदादित्वादञ्, तस्यापत्यम् ``अत इञ्'' (6. 1. 31.) इतीञ्, तस्य लुप् । बैदः पिता, बैदः पुत्रः, कुरोरपत्यं कौरव्यः, ``कुर्वादेर्ञ्यः'' (6. 1. 100.) । कौरव्यस्यापत्यम् ``अत इञ्'' (6. 1. 31.) तस्य लुप्, कौरव्यः पिता, कौरव्यः पुत्रः, तिकादिषु औरशशब्दसाहचर्यात् कौरव्यशब्दः क्षत्रियगोत्रवृत्तिर्विज्ञायते अयं तु ब्राह्मणगोत्रवृत्तिरिति अत आयनिञ् न भवति । आर्षात् वासिष्ठः पिता, वासिष्ठः पुत्रः, वैश्वामित्रः पिता, वैश्वामित्रः पुत्रः, ऋष्यणन्तादिञ् तस्य लुप् । आत्रेयः पिता, आत्रेयः पुत्रः, ``इतोऽनिञः'' (6. 1. 72.) इत्येयणन्तादिञ्, तस्य लुप् । ञिदार्षादिति किम् ? औपगवः पिता, औपगविः पुत्रः, औत्सर्गिकारन्तादिञ् । कौहडः पिताः, कौहडिः पुत्रः । शिवाद्यणन्तादिञ् । अणिञोरिति किम् ? दाक्षेरपत्यं दाक्षायणः ॥140॥

अब्राह्मणात् ॥ 6. 1. 141. ॥

अब्राह्मणवाचिनो वृद्धप्रत्ययान्ताद्यूनि विहितस्य प्रत्ययस्य लुप् भवति, अङ्गस्यापत्यमाङ्गः । 'पुरुमगध'—इत्यादिनाण् । तस्यापत्यं ``द्विस्वरादणः'' (6. 1. 109.) इत्यायनिञ्, तस्य लुप् । आङ्गः पिता, आङ्गः पुत्रः, एवं सौह्मः पिता, सौह्मः पुत्रः, मगधस्यापत्यं मागधः, ``पुरुमगध''—(6. 1. 116.) इत्यादिनाण्, तस्यापत्यम् ``अत इञ्'' (6. 1. 31.) । तस्य लुप् । मागधः पिता, मागधः पुत्रः, एवं कालिङ्गः पिता, कालिङ्गः पुत्रः, शौरमसः पिता, शौरमसः पुत्रः, तथा नाकुलः पिता, नाकुलः पुत्रः, साहदेवः पिता, साहदेवः पुत्रः, वासुदेवः पिता, वासुदेवः पुत्रः, आनिरुद्धः पिता, आनिरुद्धः पुत्रः, रान्ध्रसः पिता, रान्ध्रसः पुत्रः, श्वाफल्कः पिता, श्वाफल्कः पुत्रः, एभ्यः ``ऋषिवृष्ण्यन्धककुरुभ्यः'' (6. 1. 61.) इत्यण्, तत इञो लुप् ।

भाण्डीजाङ्घिः (जङ्घिः) पिता, भाण्डीजाङ्घिः पुत्रः, कार्णखारिः पिता, कार्णखारिः पुत्रः, मायूरिः पिता, मायूरिः पुत्रः, कापिञ्जलिः पिता, कापिञ्जलिः पुत्रः, अत्रात इञितीज् तत आयनणो लुप् । श्वशुर्यः पिता, श्वशुर्यः पुत्रः, कुलीनः पिता, कुलीनः पुत्रः, अत्रेञो लुप् । अब्राह्मणादिति किम् ? गार्ग्यः पिता, गार्ग्यायणः पुत्रः ।।141।।

पैलाऽऽदेः ।। 6. 1. 142. ।।

पैलादिभ्यो यूनि विहितस्य प्रत्ययस्य लुब् भवति, ब्राह्मणार्थमप्राच्यार्थं वचनम् । पीलाया अपत्यं पैलः, ``पीलासाल्वामण्डूकाद्वा'' (6. 1. 68.) इत्यण्, तस्यापत्यं ``द्विस्वरादणः'' (6. 1. 109.) इत्यायनिञ् तस्य लुप् । पैलः पिता, पैलः पुत्रः, शलङ्कोरपत्यं शालङ्किः । ``शालङ्क्यौदि''–(6. 1. 37.) इत्यादिना निपातनात्, तस्यापत्यं ``यञिञः'' (6. 1. 54.) इत्यानयण् तस्य लुप् । शालङ्किः पिता, शालङ्कि पुत्रः, पैल, शालङ्कि, सात्यकि, सात्यंकामि, औदन्यि, औदञ्चि, औदमज्जि, औदव्रजि, औदभृज्जि, औदमेघि, औदशुद्धि, औदकशुद्धि, दैवस्थानि, पैङ्गलौदनि, राणि, राहक्षिति, भौलिङ्ग, औद्नाहमानि, औज्जिहानि, औज्जहानि, इति पैलादिः ।।142।।

न्या०स०–पैलादेः–पैलादिगणो विव्रियते । सत्यं कायति तस्यापत्यं सात्यकिः । सत्यंशब्दो मकारान्तोऽव्ययोऽरति, सत्यं कामयते ``शीलिकामि'' (5. 1. 73.) तस्यापत्यं सात्यंकामिः । उदकमिच्छति क्यनि अचि उदन्याया अपत्यं बाह्वादीञ्, यदा तु उदन्यशब्दः पुंलिङ्गस्तदा सत्यपि तिकादित्वे अपवादविषये क्वचिदुत्सर्गोऽपि इतीञेव । उदञ्चतीति क्विप्, बाह्वादित्वादनर्चायामपि न लोपो, न उदञ्चोऽपत्यं बाह्वादीञि औदञ्चिः ।

उदकेन मज्जति ``नाम्नुत्तरपद'' (3. 2. 107.) इति उदभावः, उदके व्रजति उदकं वा व्रजति, उदकं भृज्जति, मूलविभुजादयः, उदकस्य मेघः, उदकेन शुद्ध उदशुद्धः, संज्ञाया अभावे उदादेशाभावे सति उदकशुदः, तिष्ठत्यत्र स्थानं देवानां स्थानं, उदयते उदेति वा नन्द्यादित्वादने पिङ्गलश्चासावुदयनश्च पिङ्गलोदयनः, रणत्यच् रणः, रहक्षित इति चिन्त्यं, ``भलेरिदुतौ'' 103 (उणादि) इति भुलिङ्गः, उद्नाहते आनशि उद्नाहमानः, उज्जिहीते आनशि उज्जिहानः, उज्जहे ``तत्र क्वसुकानौ'' (5. 3. 2.) इति उज्जहानः, सर्वत्र अपत्यार्थे ``अत इञ्'' (6. 1. 31.) इति इञेव ।

प्राच्येञोऽतौल्वल्यादेः ।। 6. 1. 143. ।।

प्राच्यगोत्रे य इञ् तदन्तात्तौल्वल्यादिवर्जितात् यून्यपत्ये विहितस्य प्रत्ययस्य लुब् भवति, ब्राह्मणार्थं वचनम् । पान्नागारिः पिता, पान्नागारिः पुत्रः, मान्थरेषणिः पिता, मान्थरेषणिः पुत्रः । क्षैरकलम्भिः पिता, क्षैरकलम्भिः पुत्रः, ``अत इञ्'' (6. 1. 31.) ततो ``यञिञः'' (6. 1. 54.) इत्यायनण्, तस्य लुप् प्राच्यग्रहणं किम् ? दाक्षिः पिता, दाक्षायणः पुत्रः । इञ इति किम् ? राघवः पिता, राघविः पुत्रः । तौल्वल्यादिवर्जनं किम् ? तौल्वलिः पिता, तौल्वलायनिः पुत्रः, तैल्वलिः पिता, तैल्वलायनः पुत्रः, दालीपिः पिता, दालीपायनः पुत्रः, अत्र दिलीपशब्दस्यात एव निपातनादिञि वृद्धिराकारः । अपरे दलीप इति प्रकृत्यन्तरमाहुः, तौल्वलि, तैल्वलि, तैल्वकि, धारणि, रामणि, दालीपि, दैवोति, दैवमति, दैवयज्ञि, प्राटाहति, प्रादाहति, चाफट्टकि, आसुरि, पौष्करसादि, आनुराहति, आनुति, नैमिश्रि, नैमिश्लि, नैमिशि, आशि, बान्धकि, यासि, बाद्धकि, आसिनासि, आसिबद्धकि, चैङ्कि, पौष्पि, आहिंसि, वैरकि, वैलकि, वैशीति, वैहति, वैकर्णि, वार्कलि, कारेणुपालि, इति तौल्वल्यादिः ।।143।।

इत्याचार्यश्री हेमचन्द्रविरचितायां सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानुशासनबृहद्वृत्तौ षष्ठस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ।।6।1।।

श्रीविक्रमादित्यनरेश्वरस्य, त्वया न किं विप्रकृतं नरेन्द्र !
यशांस्यहार्षीः प्रथमं समंतात्, क्षणादभाङ्क्षीरथ राजधानीम् ।।1।।

न्या०स०–प्राच्ये-तौल्वल्यादिर्गणो विचार्यते, तुलण् ``तुल्वलेल्वल'' 500 (उणादि) इति तुल्वलः, तिलत् स्नेहने, तिलति ``तुल्वल'' 500 (उणादि) इति निपातनात् तिल्वलः, तिलति ``कीचक'' 33 (उणादि) इति तिल्वकः, धरति नन्द्यादित्वादने, धरणः, रमते रम्यादित्वादनटि रमणः, ``दलेरीयो दिल् च'' 301 (उणादि) इति दिलीप, एके तु इदादेशं न मन्यते, तन्मते इञि निपातनाभावेऽपि दलीपप्रकृतिः सिद्धा, देवेन उतः, देवेन मन्यते स्म देवमतः, देवेनेज्यते देवयज्ञः, प्रकर्षेण टीकते ``क्वचित्'' (5. 1. 171.) इति डे प्रटः, तेनाहन्यते स्म प्रटाहतः, प्रकर्षेण ददाति, ``उपसर्ग'' (5. 1. 56.) इति डे प्रदः, तेनाहन्यते स्म प्रदाहतः, चपति ``कीचक'' 33 (उणादि) इति चफट्टकः ।

असुरस्यापत्यं बाह्वादि, पुष्करे सीदति बाह्वादि, अनुरहति शतरि बाह्वादित्वात्, आनूयते स्म आनुतः, नियमेन मिश्रयति अचि निमिश्रः, रस्य लत्वे निमिश्लः, नियमेन मेशतीति निमिशः, अस्यति असतीति वा असंः, ``दृकॄनॄसृ'' 27 (उणादि) इति बन्धकः, यस्यति यसः, बद्धं कायति बद्धकः असिं नासते असिनासः असिना बद्धः असिबद्धं कायति असिबद्धकः,

चकते अचि पृषोदरादित्वात् चिङ्कः, पुष्यति पुष्पः, न विद्यते हिंसा यस्य न हिनस्तीति वा अहिंसः, वीरयते वीरकः, रस्य लत्वे वीलकः, विगतं शीतं यस्य विशीतः, विशेषेण हन्यते स्म विहतः, विविधौ विशिष्टौ वा कर्णौ यस्य विकर्ण्णः, वृकं लाति वृकला, बाह्वादित्वादिञ्, करेणुं पालयति करेणुपालः, सर्वत्र ``अत इञ्'' (6. 1. 31.) इति इञ्, इति तौल्वल्यादिगणः संपूर्णः ।

इत्याचार्य० षष्ठस्याध्यायस्य
प्रथम : पाद : सम्पूर्ण : ।

अथ द्वितीयः पादः

रागाट्टो रक्ते ॥ 6. 2. 1. ॥

शुक्लस्य वर्णान्तरापादनमिह रञ्जेरर्थः, रज्यतेऽनेनेति रागः कुसुम्भादिः । रागविशेषवाचिनो नाम्नष्ट इति तृतीयान्ताद्रक्तमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति । कुसुम्भेन रक्तं वस्त्रं कौसुम्भम्, एवं काषायम्, कौङ्कुमम्, माञ्जिष्ठम्, हारिद्रम्, माहारजनम्, वाधिकारात्पक्षे वाक्यं समासश्च भवति । कुसुम्भेन रक्तम् कुसुम्भरक्तम् इत्यादि । रागादिति किम् ? चैत्रेण रक्तम् । पाणिना रक्तम् । रागशब्देन प्रसिद्धा एव कुसुम्भादयो रागा गृह्यन्ते, तेनेह न भवति । कृष्णेन रक्तम्, लोहितेन रक्तम्, पीतेन रक्तमिति, एते हि वर्णा द्रव्यवृत्तयो न तु रागाख्याः । कथं काषायौ गर्दभस्य कर्णौ हारिद्रो कुक्कुटस्य पादाविति ? काषायाविव काषायौ हारिद्राविव हारिद्रौ इत्युपमानोपमेयभावेन तद्गुणाध्यारोपाद्भविष्यति ॥1॥

न्या०स०–रागा०-शुक्लस्य वर्णान्तरापादनमिति-उपलक्षणमिदमन्येषामपि वर्णानां वर्णान्तरापादनमिह रञ्जेरर्थः ।

तृतीयान्तादिति टइत्यकेदेशेन समुदायोपलक्षणत्वात्तृतीया लभ्यते ।

द्रव्यवृत्तय इति द्रव्येषु कुसुम्भादिषु वृत्तिर्येषां द्रव्याश्रयी गुण इति कृत्वा । न तु रागाख्या इति-रज्यते अनेनेति रागशब्दव्युत्पत्तेरघटनात् ।

लाक्षा–रोचनादिकण् ॥ 6. 2. 2. ॥

लाक्षारोचना इत्येताभ्यां तृतीयान्ताभ्यां रक्तमित्येतस्मिन्नर्थे इकण् प्रत्ययो भवति अणोऽपवादः । लाक्षया रक्तं लाक्षिकम्, रोचनया रक्तम् रौचनिकम् ॥2॥

शकल–कर्दमाद् वा ॥ 6. 2. 3. ॥

शकल कर्दम इत्येताभ्यां तृतीयान्ताभ्यां रागविशेषवाचिभ्यां रक्तमित्येतस्मिन्नर्थे इकण् प्रत्ययो वा भवति । शकलेन रक्तम् शाकलिकम्, शाकलम्, कार्दमिकम् कार्दमम् ॥3॥

न्या०स०–शकल-शकलं रक्तचन्दनं कर्बुरवर्णो वा, कद्‌र्दमस्तु मृद्‌विकारविशेषः स च पाण्ड्यमण्डले प्रसिद्ध इति विश्रान्तः ।

नील–पीतादकम् ॥ 6. 2. 4. ॥

नीलपीतशब्दाभ्यां रागविशेषवाचिभ्यां तृतीयान्ताभ्यां रक्तमित्येतस्मिन्नर्थे यथासंख्यम् अ क इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः । नीलेन लिङ्गविशिष्टग्रहणान्नील्या वा रक्त नीलम्, पीतेन रक्तं पीतकम्, केचित्तु पीतकशब्दादप्यप्रत्ययमिच्छन्ति, पीतकेन कुसुम्भप्रथमनिर्यासेन रक्तं पीतकम्, गुणवचनत्वात्केनैव सिद्धे अणपवादार्थं वचनम् ॥4॥

न्या०स०–नील-केचित्त्विति ते हि नीलपीतकादः पीतात्क इति द्वे सुत्रे विरचयन्ति । अणपवादार्थमिति अयमर्थः, इदं सूत्रं विनाऽपि नीलपीतगुणयोगान्नीलं पीतं च पीतात् तु स्वार्थिकेन कुत्सितार्थेन वा कपा पीतकमिति च सेत्स्यतीत्याशङ्का ।

उदितगुरोर्भाद् युक्तेऽब्दे ॥ 6. 2. 5. ॥

उदितो गुरुर्बृहस्पतिर्यस्मिन् भे नक्षने तद्वाचिनस्तृतीयान्तात् युक्तेऽर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति स चेद्युक्तोऽर्थोऽब्दः संवत्सरः स्यात् । पुष्येणोदितगुरुणा युक्तं वर्षं पौषं वर्षम्, फल्गुनीभिरुदितगुरुभिर्युक्तः फाल्गुनः संवत्सरः । उदितगुरोरिति किम् ? उदितशनैश्चरेण पुष्येण युक्तं वर्षमित्यत्र न भवति । भादिति किम् ? उदितगुरुणा पूर्वरात्रेण युक्तं वर्षम् । अब्द इति किम् ? मासे दिवसे वा न भवति ॥5॥

चन्द्रयुक्तात् काले, लुप् त्वप्रयुक्ते ॥ 6. 2. 6. ॥

चन्द्रेण युक्तं यन्नक्षत्र तद्वाचिनस्तृतीयान्ताद्युक्तेऽर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति स चेद्युक्तोऽर्थः कालो भवति अप्रयुक्ते तु कालवाचके शब्दे लुब् भवति, पुष्येण चन्द्रयुक्तेन युक्तमहः पौषमहः, एवं पौषी रात्रिः, पौषोऽहोरात्रः, पौषः कालः, माघमहः, माघी रात्रिः, माघोऽहोरात्रः, माघः कालः । चन्द्रयुक्तादिति किम् ? शुक्रयुक्तेन पुष्येण युक्तः कालः भादित्येव ? चन्द्रयुक्तेन शुक्रेण युक्तः कालः । काल इति किम् ? चन्द्रयुक्तेन पुष्येण युक्तो ग्रहः, लुप् त्वप्रयुक्ते, अद्य पुष्यः । अद्य मघाः । दिवा कृत्तिकाः, रात्रौ फल्गुन्यः । पुष्ये वायसमश्नीयात् मघासु पललौदनम् । अप्रयुक्त इति किम् । पौषमहः, पौषी रात्रिः, पौषोऽहोरात्रः, पौषः कालः ॥6॥

न्या०स०—चन्द्रयुक्तात् काले—अहोरात्र इति एकाद् रात्रः समाहारः इति पुंक्लीबत्वं, कथं दीर्घण्यहोरात्राणीति समाहाराभावे निकाय्यरात्रवृत्रा इति पुंस्त्वमेव प्राप्तम् ? सत्यं, अहोरात्रं च 3 इत्येकशेषे ।

अद्य पुष्य इति अत्र अद्येत्यस्याधारत्वमेव न सामानाधिकरण्यम् ।

फल्गुन्य इति ``फल्गुनीप्रोष्ठ'' (2. 2. 123.) इति बहुवद्भावः । पुष्ये पायसमिति पयसि संस्कृतं ``संस्कृते भक्ष्ये'' (6. 2. 140.) अण्, पयसा संस्कृतमिति तु कृते ``संस्कृते'' (6. 4. 3.) इत्यनेनेकण् स्यात् ।

द्वन्द्वादीयः ॥ 6. 2. 7. ॥

चन्द्रयुक्तं यन्नक्षत्रं तद्द्वन्द्वात्तृतीयान्ताद्युक्ते कालेऽर्थे ईयः प्रत्ययो भवति । राधानुराधाभिश्चन्द्रयुक्ताभिर्युक्तमहः राधानुराधीयमहः, अद्यराधानुराधीयम् । एवं तिष्यपुनर्वसवीया रात्रिः, अद्य तिष्यपुनर्वसवीयम् ॥7॥

न्या०स०—द्वंद्वा-राधानुराधीयमिति राधाभिः चन्द्रयुक्ताभिर्युक्तः कालः ``चन्द्रयुक्त'' (6. 2. 6.) इत्यण्, अप्रयुक्ते लुप्, ततो राधाश्च अनुराधाश्च राधानुराधाः ताभिः, एवं सर्वत्र ।

श्रवणा–ऽश्वत्थान्नाम्न्यः ॥ 6. 2. 8. ॥

चन्द्रयुक्तनक्षत्रवाचिनः श्रवणशब्दादश्वत्थशब्दाच्च तृतीयान्ताद्युक्ते काले अकारः प्रत्ययो भवति नाम्नि प्रत्ययान्तं चेत् कस्यचित्कालविशेषस्य नाम भवति, श्रवणेन चन्द्रयुक्तेन युक्ता श्रवणा रात्रिः । श्रवणा पौर्णमासी, श्रवणो मुहूर्तः, अश्वत्थेन चन्द्रयुक्तेन युक्ता अश्वत्था रात्रिः, अश्वत्था पौर्णमासी, अश्वत्थो मुहूर्तः, सत्यपि अन्वर्थयोगे न कालमात्रमेव उच्यते अपि तु कालविशेष एवेति नामत्वम् । नाम्नीति किम् ? श्रावणमहः, श्रावणी रात्रिः, आश्वत्थमहः, आश्वत्थी रात्रिः ॥8॥

न्या०स०—श्रव-पौर्णमासीति माति मिमीते वा असित्यस्, पूर्णोमासश्चन्द्रोऽस्यामस्ति पूर्णमासोऽण्, पूर्णमास इयमिति वा, ``तस्येदम्'' (6. 3. 160.) इत्यण्, पूर्णो मासोऽस्यां पूर्णमासा वा युक्ता ``सास्य पौर्णमासी'' (6. 2. 98.) इत्यणि निपातो वा ।

षष्ठ्याः समूहे ॥ 6. 2. 9. ॥

षष्ठ्यान्तान्नाम्नः समूहेऽर्थे यथाविहितं प्रत्यया भवन्ति । गौत्रादकञ् वक्ष्यते अचित्तादिकण् प्रतिपदं केदाराण्ण्यश्चेत्येवमादयः, ततोऽन्यदिहोदारणं द्रष्टव्यम् । चाषाणां समूहश्चाषम्, एवं काकं, वाकम्, शौकं, भैक्षुकम्, वाडवम्, वनस्पतीनां समूहो वानस्पत्यम्, स्त्रैणम्, पौंस्नम्, पञ्चानां कुमाराणां समूहः पञ्चकुमारीत्यत्र तु समूहः समाहार एव, स च समासार्थः समासेनैव च गत इति तद्धितो नोत्पद्यते । यद्युत्पद्येत को दोषः स्यात् उत्पन्नस्यापि ह्यस्य ``द्विगोरनपत्ये यस्वरादेर्लुबद्विः'' (6. 1. 24.) इति लुपा भवितव्यम् तथा चाविशेषः ? नैवम्, ``ङ्यादेर्गौणस्य''–(2. 4. 94.) इत्यादिना ङीनिवृत्तिः स्यात्, ``तस्येदम्'' (6. 3. 159.) इत्येवाणादिसिद्धौ समूहविवक्षायां तदपवादबाधनार्थो योगः ।।9।।

न्या०स०—षष्ठ्याः—प्रतिपदं केदाराण्ण्यश्च इति उक्षकवचिप्रभृतयः प्रतिपदोक्तत्वात् केदाराण्ण्यश्चेत्यादिषु द्रष्टव्या इति 'गोत्रादकञ्' इत्यत्र न उक्ताः । समूहः समाहार एवेति द्वयोरप्येकार्थत्वात् समूह एव समाहार इत्यर्थः । ङीनिवृत्ति स्यादिति तद्धितलुकि सत्यामिति शेषः । तदपवादबाधनार्थ इति ईयादीनामित्यर्थः ।

भिक्षादेः ।। 6. 2. 10. ।।

भिक्षादिभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्यः समूहेऽर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति । भिक्षाणां समूहो भैक्षम्, गार्भिणम्, यौवतम्, अचित्तेकणो बाधनार्थं वचनम् । औलूक्यशब्दस्य गोत्राकञो बाधनार्थः पाठः, युवतेरण् सिद्ध एव, पुंवद्भावबाधनार्थस्तु पाठः, अन्ये तु युवतिशब्दं न पठन्ति, तन्मते पुंवद्भावे सति युवतीनां समूहो यौवनमित्येव भवति ।

सुरूपमतिनेपथ्यं कलाकुशलयौवनम् ।। यस्य पुण्यकृतः प्रेष्यं सफलं तस्य यौवनम् ।।1।। भिक्षा भिक्षशब्दोऽकारान्तोऽपीत्येके, गर्भिणी, युवति, क्षेत्र, करीष, अङ्गार, चर्मन्, वर्मन् चर्मिन्, वर्मिन्, पद्धति, सहस्र, अथर्वन्, दक्षिणा, खण्डिक, युग, वरत्रा, युगवरत्रा, हल, बन्ध, हलबन्ध, औलूक्य इति भिक्षादिः ।।10।।

न्या०स०—भिक्षा गार्भिणमिति-अत्र गर्भिणीशब्दो मेघमालाशालिपङ्क्यादिवाचकत्वादचित्त-विशेषवचन इतीकण्प्राप्तौ तद्बाधकोऽनेनाण्, ततो ``जातिश्च णि'' (3. 2. 51.) इति पुंवद्भावे ``संयोगादिनः'' (7. 4. 53.) इत्यन्तलोपप्रतिषेधः, गर्भवतीस्त्रवचनात्तु इकणोऽप्राप्तेरौत्सर्गिक एवाण् ।

क्षुद्रकमालवात् सेनानाम्नि ।। 6. 2. 11. ।।

क्षुद्रकमालवशब्दात् षष्ठ्यन्तात्समूहेऽर्थे यथाविहितमण् प्रत्ययो भवति सेनाया नाम्नि संज्ञायाम्, क्षुद्रकाश्च मालवाश्च क्षुद्रकमालवास्तेषां समूहः क्षौद्रकमालवी एवंनामा काचित्सेना। सेनानाम्नीति किम् ? क्षौद्रकमालवकमन्यत्, गोत्राकञ्बाधनार्थं वचनम्, समूहाधिकारे हि तदन्तस्यापि ग्रहणम्। ``धेनोरनञः'' (6. 1. 15.) इति प्रतिषेधात् ॥11॥

न्या०स०–क्षुद्र०-तदन्तस्यापीति अन्यथा ``प्रत्ययः प्रकृत्यादेः'' (7. 4. 115.) इति न्यायात् समुदायस्यागोत्रत्वात् क्षौद्रकमालवकमिति न सिध्येत्।

गोत्रोक्ष–वत्सोष्ट्र–वृद्धा–ऽजोरभ्र–मनुष्य–राज–राजन्य–राज–पुत्रादकञ् ॥ 6. 2. 12. ॥

स्वापत्यमंतानस्य स्वव्यपदेशकारिणः प्रथमपुरुषस्यापत्यं गोत्रम्। गोत्रप्रत्ययान्तेभ्य उक्षादिभ्यश्च समूहेऽकञ् प्रत्ययो भवति। अणोऽपवादः, गोत्र, औपगवानां समूह औपगवकम्, कापटवकम्, गार्गकम्, वात्सकम्, गार्ग्यायणकम्, वात्स्यायनकम्, उक्षन् औक्षकम्, वत्स वात्सकम्, उष्ट्र औष्ट्रकम्, वृद्ध वार्धकम्, अज आजकम्, उरभ्र औरभ्रकम्, मनुष्य मानुष्यकम्, राजन् राजकम्, राजन्य राजन्यकम्, राजपुत्र राजपुत्रकम् ॥12॥

न्या०स०–गोत्र०–मनुष्यराजन्यशब्दौ औणादिकौ इति पृथगुपादानम्, अण्प्रत्ययान्तयोस्तु गोत्रद्वारेण सिद्धम्।

केदाराण्ण्यश्च ॥ 6. 2. 13. ॥

केदारशब्दात्समूहेऽर्थे ण्योऽकञ् च प्रस्ययौ भवतः, अचित्तेकणोऽपवादः। कैदार्यम्, कैदारकम् ॥13॥

कवचि–हस्त्यचित्ताच्चेकण् ॥ 6. 2. 14. ॥

कवचिन् हस्तिन् इत्येताभ्यामचित्तवाचिभ्यः केदाराच्च समूहे इकण् प्रत्ययो भवति। कवचान्येषां सन्तीति कवचिनः, तेषां समूहः कायचिकम्, हस्तिनां लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणात् हस्तिनीनां वा समूहः हास्तिकम्, अचिचात्, आपूपिकम्, शाष्कुलिकम्, केदारात् कैदारिकम्, एवं केदारस्य त्रैरूप्यं भवति। ण्याकञ्भ्यां बाधा माभूदिति केदारात् इकण्विधानम् ॥14॥

न्या०स०—कव०-इकण्विधानमिति अन्यथा अचित्तद्वारा सिध्यतीत्याशङ्क्याह ।

धेनोरनञः ॥ 6. 2. 15. ॥

धेनुशब्दात्समूहे इकण् प्रत्ययो भवति न चेत् स धेनुशब्दो नञः परो भवति । धेनुनां समूहो धैनुकम् अनञ इति किम् ? अधेनूनां समूह आधैनवम्, उत्सादित्वादञ । ``धेनोरनञः'' (6. 1. 15.) इति प्रतिषेधो लिङ्गम् समूहे तदन्तस्यापि भवतीति, तेन क्षौद्रकमालवकम् ब्राह्मणराजन्यकम् वानरहस्तिकम् गौधेनुकम् ॥15॥

न्या०स०—धेनो०—आधैनवमिति ``बष्कयादसमासे'' (6. 1. 20.) इत्यत्रासमासवचनादुत्साद्यञ् तदन्तादपि, अनुशतिकादीनामुभयपदवृद्धिः ।

ब्राह्मणराजन्यकमिति ``न राजन्यमनुष्ययोः'' (6. 2. 33.) इति यलोपाभावः ।

ब्राह्मण—माणव—वाडवाद् यः ॥ 6. 2. 16. ॥

ब्राह्मणमाणववाडव इत्येतेभ्यः समूहे यः प्रत्ययो भवति । ब्राह्मण्यम्, माणव्यम्, वाडव्यम् ॥16॥

गणिकाया ण्यः ॥ 6. 2. 17. ॥

गणिकाशब्दात्समूहे ण्यः प्रत्ययो भवति । गाणिक्यम्, ब्राह्मणादीनां यविधानं पुंवद्भावार्थम् । ब्राह्मणाः प्रकृता अस्यां यात्रायां ``तयोः समूहवच्च बहुषु'' (7. 3. 3.) इति यः प्रत्ययः। ब्राह्मण्या यात्रा यस्य स ब्राह्मण्ययात्रः, माणव्ययात्रः, वाडव्ययात्रः । ण्ये हि पुंवद्भवो न स्यात् यथा गाणिक्यायात्रः ॥17॥

न्या०स०—गणि०-पुंवद्भावो न स्यादिति ``तद्धितः स्वरवृद्धि'' (3. 2. 55.) इति निषेधात् ।

केशाद् वा ॥ 6. 2. 18. ॥

केशशब्दात् समूहे ण्यः प्रत्ययो वा भवति । केशानां समूहः कैश्यं कैशिकम्, अचित्तलक्षण इकण् ॥18॥

वाऽश्वादीयः ॥ 6. 2. 19. ॥

अश्वशब्दात्समूहे ईयः प्रत्ययो वा भवति । अश्वीयम्, आश्वम् ।।19।।

पर्श्वा ड्वण् ।। 6. 2. 20. ।।

पर्शूशब्दात्समूहे ड्वण् प्रत्ययो भवति, इकणोऽपवादः । पर्शूनां समूहः पार्श्वम् । डित्करणमन्त्यस्वरादिलोपार्थम् ।।20।।

न्या०स०—पश्र्वा ड्वण्-पार्श्वास्थिवाचिनः पर्शूशब्दादूङ् ।

ईनोऽह्नः क्रतौ ।। 6. 2. 21. ।।

अहन्शब्दात्समूहे क्रतौ वाच्ये ईनः प्रत्ययो भवति । अह्नां समूहोऽहीनः क्रतुः । क्रताविति किम् ? आह्नमन्यत्, श्वादिपाठादञ् ।।21।।

पृष्ठाद् यः ।। 6. 2. 22. ।।

पृष्ठशब्दात्समूहे क्रतौ वाच्ये यः प्रत्ययो भवति । पृष्ठानां समूहः पृष्ठ्यः क्रतुः, पृष्ठशब्दोऽहः पर्यायः । रथन्तरादिसामपर्याय इत्यन्ये । क्रतावित्येव ? पार्ष्ठिकम् ।।22।।

चरणाद् धर्मवत् ।। 6. 2. 23. ।।

चरणं कठकालापादि तस्माद्यथा धर्मे प्रत्यया भवन्ति तथा समूहेऽपि । वत्सर्वसादश्यार्थः, तेन यकाभ्यः प्रकृतिभ्यो यः प्रत्ययो यथा धर्मे भवति ताभ्य एव प्रकृतिभ्यः सः एव प्रत्ययस्तथैवेह भवति । यथा कठानां धर्मः काठकम् कालापकम् छान्दोग्यम् औक्थिक्यम् बाह्वृच्यम् आथर्वणम् तथा समूहेऽपि काठकमित्यादि ।।23।।

न्या०स०—चर०—परार्थे प्रयुज्यमानाः शब्दा वतिमन्तरेणापि वत्यर्थे गमयन्तीत्याह—वत्सर्वसादृश्यार्थ इति । औक्थिक्यमिति उक्थमधीते केचिदूक्थिक्यस्यापीति अक्थिक्यं वाधीते ``याज्ञिकौक्थिक'' (6. 2. 122.) इति इकणन्तो निपातः ।

बाह्वृच्यमिति बह्व्य ऋचो यस्य, ``नञ्बहोर्ऋचो माणवचरणे'' (7. 3. 135.) (इति) अप् समासान्तः, ``नाप्प्रियादौ'' (3. 2. 53.) इति पुंवद्भावनिषेधः कथं न भवति ? सत्यं, प्रियादिसाहच-र्यादप्रत्ययान्तमपि स्वरान्तं गृह्यते, अत्र तु व्यञ्जनान्तादप् प्रियादयो हि स्वरान्ताः तेषां धर्म्मः ।

आथर्वणमिति अथर्वाणं वेत्त्यधीते वा न्यायादेरिकण् ``इकण्यथर्वणः'' (7. 4. 49.) इत्यन्त्यस्वरादिलुगभावः ।

गो–रथ–वातात् त्रल्–कट्यलूलम् ॥ 6. 2. 24. ॥

गोरथवात इत्येतेभ्यः समूहे यथासंख्यं त्रल् कट्यल् ऊल इत्येते प्रत्यया भवन्ति । गवां समूहो गोत्रा, रथानां रथकटया, लकारौ स्त्रीत्वार्थौ । वातानां वातूलः ॥24॥

पाशादेश्च ल्यः ॥ 6. 2. 25. ॥

पाशादिभ्यो गोरथवातशब्देभ्यश्च समूहे ल्यः प्रत्ययो भवति, इकणादेरपवादः । पाशानां समूहः पाश्या, तृण्या, खल्या, गव्या रथ्या, वात्या । पाश, तृण, खल, धूम, अङ्गार, पोटगल, पिटक, पिटाक, शकट, हल, नल, वन इति पाशादिः । भिक्षादिपाठादङ्गारहलाभ्यामणपि । आङ्गारम्, हालम् । लकारः स्त्रीत्वार्थः ॥25॥

श्वादिभ्योऽञ् ॥ 6. 2. 26. ॥

श्वन्प्रकारेभ्यः समूहेऽञ् प्रत्ययो भवति । शुनां समूहः शौवम्, अह्नामाह्नम्, दण्डिनां दाण्डम्, चक्रिणां चाक्रम् । अणैव सिद्धे ``नोऽपदस्य तद्धिते'' (7. 4. 61.) इति अन्त्यस्वरादिलोपार्थमञ्वचनम् अणपवादबाधनार्थं च, श्वादयः प्रयोगगम्याः ॥26॥

न्या०स०–श्वादि०-अन्त्यस्वरादिलोपार्थमिति अन्यथाऽणीत्यादिभिः सूत्रैरन्त्यस्वरादिलोपनिषेधः स्यात् । अणपवादबाधनार्थं चेति सूत्राभावे अहन् शब्दात् ऋतोरन्यत्र समुहेऽचित्तत्वादणोपवाद इकण् स्यात् ।

खलादिभ्यो लिन् ॥ 6. 2. 27. ॥

खलप्रकारेभ्यः समूहे लिन् प्रत्ययो भवति, लकारः स्त्रीत्वार्थः । खलानां समूहः खलिनी । पाशादित्वाल्ल्योऽपि । खल्या, ऊकानाम् ऊकिनी, कुटुम्बानां कुटुम्बिनी । खलादयः प्रयोगगम्याः ॥27॥

ग्राम–जन–बन्धु–गज–सहायात् तल् ॥ 6. 2. 28. ॥

एभ्यः समूहे तल् भवति । ग्रामाणां समूहः ग्रामता, जनता, बन्धुता, गजता, सहायता । लकारः स्त्रीत्वार्थः ।।28।।

पुरुषात् कृत–हित–वध–विकारे चैयञ् ।। 6. 2. 29. ।।

पुरुषशब्दात्कृते हिते वधे विकारे चकारात्समूहे च एयञ् प्रत्ययो भवति । कृतादौ यथाभिधानं बिभक्तियोगः । पुरुषेण कृतः षौरुषेयो ग्रन्थः, पुरुषाय हितं षौरुषेयमार्हतं शासनम्, पुरुषस्य वधः षौरुषेयो वधः पुरुषस्य विकारः पौरुषेयो विकारः पुरुषाणां समूहः पौरुषेयम् ।।29।।

विकारे ।। 6. .2 30. ।।

षष्ठ्यन्ताद्विकारे यथाविहितं प्रत्यया भवति । द्रव्यस्यावस्थान्तरं विकारः । अश्मनो विकारः आश्मनः, आश्मः, ``वाश्मनो विकारे'' (7. 4. 63.) इत्यन्त्यस्वरादिलोपः, भस्मनो भास्मनः, मृत्तिकायाः मार्त्तिकः, अर्धस्य आर्धः, हलस्य हालः, सीरस्य सैरः, चेदीनां चैदः, वृजीनां वार्जः । त्रिगर्तानां त्रैगर्तः । रङ्कूणां राङ्कवः । ``तस्येदम्'' (6. 3. 159.) इत्येवाणादिसिद्धावर्धादिषु विकारे अणपवादवाधनार्थं वचनम् ।।30।।

न्या०स०–विकारे–प्रत्यया भवन्तीति बहुवचनात् कलेर्विकारः ``कल्यग्नेरेयण्'' (6. 1. 17.) उत्सस्य विकारः ``उत्सादेरञ्'' (6. 1. 19.) स्त्रीणां पुंसां वा विकारः ``प्राग्वत्ः स्त्री पुंसा'' (6. 1. 25.) कालेयः । औत्सः स्त्रैणः पौंस्नः इत्याद्यपि ज्ञेयम् । अणपवादबाधनार्थमिति–अयमर्थो मार्त्तिक इत्यादीनि सिध्यन्ति, आर्द्ध इत्यादिषु तु अर्धशब्दात् ``अर्घादयः'' (6. 3. 39.) हलसीराभ्यां ``हलसीरादीकण्'' (7. 1. 6.) चेदिवृजिभ्यां राष्ट्रवाचित्वात् ``बहुविषयेभ्यः'' (6. 3. 45.) इत्यकञि प्राप्ते तदपवादौ चेदिशब्दस्य काशादिपाठाण्णिके कर्णो वृजेस्तु ``वृजिमद्रात्'' (6. 3. 38.) इति कः त्रिगर्त्तात् ``बहुविषयेभ्यः'' (6. 3. 45.) इत्यकञ् रङ्कोस्तु उवर्णादिकणोपवादो ``रङ्कोः प्राणिनि वा'' (6. 3. 15.) इति टायनणित्येते प्रत्ययाः प्राप्नुवन्ति, ते माभूवन्नित्येवमर्थम् ।

प्राण्यौषधि–वृक्षेभ्योऽवयवे च ।। 6. 2. 31. ।।

प्राणिन्-औषधिवृक्षवाचिभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्योऽवयवे विकारे च यथाविहितं प्रत्यया भवन्ति । प्राणिभ्यः कापोतं सक्थि, कापोतं मांसम्, मायूरं सक्थि, मायूरं मांसम्, आविकं सक्थि, आविकं मांसम्, अविशब्दादनभिधानान्न भवति । औषधिभ्यः, दौर्वं काण्डं दौर्वं भस्म, मौर्वं

काण्डं मौर्वं भस्म, वृक्षेभ्यः,—कारीरं काण्डं कारीरं भस्म, वैल्वं काण्डं वैल्वं भस्म, प्राण्यौषधि-वृक्षेभ्य इति किम् ? पाटलिपुत्रस्यावयवः पाटलिपुत्रकः प्राकारः । ``तस्येदम्'' (6. 3. 159.) इति विवक्षायामकञ्, एवं पाटलिपुत्रकः प्रासादः इतः परं विकारे प्राण्यौषधिवृक्षेभ्योऽवयवे चेति द्वयमप्यधिक्रियते, तेनोत्तरे प्रत्ययाः प्राण्यौषधिवृक्षेभ्योऽवयवविकारयोरन्येभ्यस्तु विकारमात्रे भवन्तीति वेदितव्यम् । प्राणिनश्चेतनावन्तः, औषधयः फलपाकान्ताः, वृक्षाः, पुष्पवन्तः फलवन्तश्च, वृक्षविशेषत्वात् वनस्पतिवीरुधामपि वृक्षग्रहणेन ग्रहणम् । प्राणिग्रहणेनैव चेतनावत्त्वेन वृक्षौषधिग्रहणे सिद्धे तदुपादानमिह शास्त्रे प्राणिग्रहणेन त्रसा एव गृह्यन्ते न स्थावरा इति ज्ञापनार्थम् ।।31।।

न्या०स०–प्राण्यौ०–वृक्षविशेषत्वादिति एकदेशेन फलवत्तया ऐक्यं न तु पुष्पवत्तया ।

तालाद् धनुषि ।। 6. 2. 32. ।।

तालशब्दाद्धनुषि विकारे यथाविहितमण् प्रत्ययो भवति, दुलक्षणस्य मयटोऽपवादः । तालस्य विकारस्तालं धनुः । धनुषीति किम् ? तालमयं काण्डम् ।।32।।

न्या०स०–ताला०-तालस्य विकार इति तालस्य तालवृक्षकाष्ठस्य विकारः यतो धनुर्दारोः संभवति न वृक्षात्, यदा तु तालशब्दो वृक्ष इति व्याख्यायते, तदावयवार्थोऽपि घटते, पारंपर्येण धनुरवयवो भवति वृक्षस्यापि ।

त्रपु–जतोः षोन्तश्च ।। 6. 2. 33. ।।

त्रपुजतु इत्येताभ्यां विकारे यथाविहितमण् प्रत्ययो भवति तयोश्च षोऽन्तो भवति । त्रपुणो विकारः त्रापुषम्, जतुनो विकारः जातुषम्, अण्सिद्ध एव षागमार्थं वचनम् । चकारः संनियोगार्थः ।।33।।

शम्यालः ।। 6. 2. 34. ।।

शमीशब्दाद्विकारेऽवयवे च यथाविहितमण् प्रत्ययो भवति तत्संनियोगे चास्य लोऽन्तः । शम्या विकारोऽवयवो वा शामीलं भस्म, शामीली शाखा ।।24।।

पयो–द्रोर्यः ।। 6. 2. 35. ।।

पयस् द्रु इत्येताभ्यां विकारे यः प्रत्ययो भवति, पयसोऽणोऽपवादः । द्रोरेकस्वरमयटः, पयसो विकारः पयस्यम्, द्रोर्दारुणो विकारो द्रव्यम् ।।35।।

उष्ट्रादकञ् ।। 6. 2. 36. ।।

उष्ट्रशब्दाद्विकारेऽवयवे चाकञ् प्रत्ययो भवति । उष्ट्रस्य उष्ट्र्या वा विकारोऽवयवो वा औष्ट्रकं मासम्, औष्ट्रिका जङ्घा ।।36।।

उमोर्णाद् वा ।। 6. 2. 37. ।।

उमा ऊर्णा इत्येताभ्यां यथासंभवं विकारेऽवयेव च वा अकञ् प्रत्ययो भवति । उमा अतसी तस्या विकारोऽवयवो वा औमकम्, औमम्, ऊर्णाया विकारः और्णकम्, और्णः कम्बलः ।।37।।

*न्या०स०–उमो०–*ऊर्णाया विकार इति 'उर्वतीति णे' ''राल्लुक्'' (4. 1. 110.) इति वलोपे, ''भ्वादेः'' (2. 1. 63.) इति बाहुलकाद्दीर्घः अन्यथा मोर्मेत्वित् गुणः स्यात् ।

एण्या एयञ् ।। 6. 2. 38. ।।

एणीशब्दाद्विकारेऽवयवे च एयञ् प्रत्ययो भवत्ति, अणोऽपवादः । एण्या विकारोऽवयवो वा ऐणेयं मासम्, ऐणेयी जङ्घा, स्त्रीलिङ्गनिर्देशात्पुंलिङ्गादणेव । ऐणं मांसम्, ऐणी जङ्घा ।।38।।

कौशेयम् ।। 6. 2. 39. ।।

कोशशब्दाद्विकारे एयञ् प्रत्ययो निपात्यते । कोशस्य विकारः कौशेयम् वस्त्रं सूत्रं वा । निपातनं रूढ्यर्थम्, तेन वस्त्रसूत्राभ्यामन्यत्र भस्मादौ न भवति ।।39।।

परशव्याद् यलुक् च ।। 6. 2. 40. ।।

परशवे इदं परशव्यम्, तस्माद्विकारे यथाविहितमण् प्रत्ययो भवति यकारस्य च लुक् । परशव्यस्यायसो विकारः पारशवम्, अण् सिद्ध एव यलुगर्थं वचनम् । अथेह यग्रहणं किमर्थम् ''तदभावेऽप्यवर्णेवर्णस्य'' (7. 4. 68.) इत्यन्तलुक्सिद्धौ लुग्ग्रहणात् अन्त्याभावेऽन्त्य सदेशस्यापि यकारस्य लुग् भविष्यति ? सत्यम्, यग्रहणं यशब्दस्य समुदायस्यैव लोपार्थम्, तेनोत्तरसूत्रे

``स्वरस्य परे प्राग्विधौ'' (7. 4. 110.) इत्यस्यानुपस्थानाद्यकारलोपे ``अवर्णेवर्णस्य'' (7. 4. 68.) इतीकारलोपो भवति ॥40॥

*न्या०स०–परशव्यात्–*सदेशस्यापीति समीपस्यापीत्यर्थः । अन्त्याभावे इति न वाच्यं ``स्वरस्य'' (7. 4. 110.) इत्यकारस्य स्थानित्वं यविधित्वान्न संधीत्यस्यावस्थानात्, यद्वाऽस्य लुक्ग्रहणस्य नैरर्थक्यात् ।

तेनोत्तरेति अयमर्थोऽत्र परशव्याल्लुक् चेत्येवमपि कृते सिध्यति, उत्तरत्र तु कंसीय शब्दात् ञ्ये सत्यस्य लोपे कृते ``स्वरस्य परे'' (7. 4. 110.) इत्यादिवशात् ईलोपो न स्यात् ।

हैमो निष्क इति हेम्नो विकारः, ``हेमादिभ्योऽञ्'' (6. 2. 45.), ``नोपदस्य'' (7. 4. 61.) इत्यन्लुप् । यद्यनेनाण् स्यात्तदाणीत्यन्त्यस्वरादिलुगभावः स्यात्, अकारान्तात्तु अनेनैवाण् हैमः ।

कंसीयाञ्ञ्यः ॥ 6. 2. 41. ॥

कंसाय इदं कंसीयं ``परिणामिनि तदर्थे'' (7. 1. 44.) इतीयः, कंसीयशब्दाद्विकारे ञ्यः प्रत्ययो भवति तत्संनियोगे यशब्दस्य लुक् च । कांसीयस्य विकारः कांस्यम् ॥41॥

हेमार्थान्माने ॥ 6. 2. 42. ॥

हेमवाचिनः शब्दान्माने विकारे वाच्ये यथाविहितमण् प्रत्ययो भवति, दुमयटोऽपवादः । हाटकस्य विकारः हाटको निष्कः, हाटकं कार्षापणम्, जातरूपो निष्कः, जातरूप कार्षापणम् । हैमो निष्कः हैमं कार्षापणमित्यत्र परत्वाद्धेमादिलक्षणोऽञेव । अर्थग्रहणं स्वरूपविधिव्युदासार्थम् । मान इति किम् ? हाटकमयी यष्टिः ॥42॥

द्रोर्वयः ॥ 6. 2. 43. ॥

द्रुशब्दान्माने विकारे वयः प्रत्ययो भवति, यस्यापवादः । द्रोर्विकारो द्रुवयं मानम् ॥43॥

न्या०स०–द्रोर्वयः यस्यापवाद इति ``पयोद्रोर्यः'' (6. 2. 35.) इति प्राप्तस्य, मानादन्यत्र सोऽपि चरितार्थ इति ।

मानात्क्रीतवत् ॥ 6. 2. 44. ॥

मीयते परिच्छिद्यते येन तन्मानम् इयत्तापरिच्छित्तिहेतुः संख्यादिरुच्यते । मानवाचिनः

शब्दाद्विकारे क्रीतवत्प्रत्ययविधिर्भवति । शतेन क्रीतं शत्यं शतिकम्, शतस्य विकारः शत्यः शतिकः, एवं साहस्रः नैष्किकः । वत्सर्वविधिसादृश्यार्थः, तेन लुबादिकस्याप्यतिदेशो भवति । द्विशतः, त्रिशतः, द्विसहस्रः, द्विसाहस्रः, द्विनिष्कः, द्विनैष्किकः ।।44।।

न्या०स०–माना-द्विशत इति द्वाभ्यां शताभ्यां क्रीतः ``शताद्यः'' (6. 4. 145.) इति विकल्पेन यः प्राप्तः परं तस्य विधानसामर्थ्याल्लुप् न स्यादिति, ``संख्याडतेः'' (6. 4. 130.) (इति) कः, ``अनाम्न्यद्विः प्लुप्'' (6. 4. 141.) एवं त्रिशतः द्विसहस्र इति । क्रीते ``सहस्रशत'' (6. 4. 136.) इत्यण् ``नवाणः'' (6. 4. 142.) इति विकल्पेन लुप्, लुबभावे ``मानसंवत्सर'' (7. 4. 19.) इत्युक्तरपदवृद्धिः । द्विनिष्क इति ``द्वित्रिबहोः'' (6. 4. 144.) इति वा इकणो लुप् ।

हेमादिभ्योऽञ् ।। 6. 2. 45. ।।

हेमन् इत्येवमादिभ्यो यथायोगं विकारेऽवयवे चार्थे नित्यमञ् प्रत्ययो भवति । हेम्नो विकारो हैमं शरासनम्, हैमो यष्टिः, रजतस्य राजतः, हेमन्, रजत, उदुम्बर, नीवुदार, रोहीतक, बिभीतक, कण्डकार, गवीधुका, पाटली, श्यामाक, बार्हिण इति हेमादयः । बहुवचनम् आकृतिगणार्थम् । हेम्नोऽण्बाधनार्थमञ्वचनम् । अणि हि सति ``अणि'' (7. 4. 52.) इत्यन्त्यस्वरादेर्लुग् न स्यात्, पाटलीश्यामाकबार्हिणानां दुलक्षणस्य शेषाणां तु वैकल्पिकस्य मयटो बाधनार्थम् ।।45।।

न्या०स०–हेमा०–ननु रजतादीनामञि अणि वा नास्ति विशेषः ततस्तेषामौत्सर्गिको ऽणेव भविष्यति किमत्र पाठेन ? सत्यं, अभक्ष्याच्छादनविवक्षायां ``अभक्ष्याच्छादने'' (6. 2. 46.) इति वा मयट् स्यात्तद्विकल्पेऽण् स्यात्, गणपाठे तु गणपाठसामर्थ्यादञेव भवति न मयट्, अत एवाह–

नित्यमञ्प्रत्ययो भवतीति–आकृतिगणार्थमिति वाचिकवार्तिकेन हेमादौ काञ्चनमिति निरटङ्किः तेन काञ्चनी वासयष्टिरिति सिद्धं, अन्यथाऽणपवादो ``दोरप्राणिनः'' (6. 2. 49.) इति मयट् स्यात् ।

अभक्ष्या–ऽऽच्छादने वा मयट् ।। 6. 2. 46. ।।

षष्ठ्यन्ताद्भक्ष्याच्छादनवर्जिते यथायोगं विकारेऽवयवे च मयट् प्रत्ययो वा भवति । भस्मनो विकारः भस्ममयं भास्मनम्, अश्मनो विकारः अश्ममयम् आश्मम्, कपोतस्य विकारोऽवयवो

वा कपोतमयम् कापोतम्, दूर्वाया विकारोऽवयवो वा दूर्वामयम् दौर्वम्, मूर्वामयम् मौर्वम् करीरमयं कारीरम्, शिरीषमयम् शैरीषम् अभक्ष्याच्छादन इति किम् ? मौद्गः सूपः, कार्पासः पटः । भक्ष्याच्छादनयोर्मयडभावपक्षे च ``तालाद्धनुषि'' (6. 2. 32.) इत्यादिको विधिः सावकाशः, अयं च भस्ममयमित्यादौ । तत्रोभयप्राप्तौ परत्वादनेन मयट् भवति । तालमयं धनुः, त्रपुमयम्, जतुमयम्, शमीमयम्, पयोमयम्, द्रुमयम्, उष्ट्रमयम्, उमामयम् ऊर्णामयम्, एणीमयम्, कोशमयम्, परशव्यमयम्, कंसीयमयम्, शतमयम् । एके तु तालाद्धनुषि द्रोः प्राणिवाचिभ्यश्च मयटं नेच्छन्ति ॥46॥

शर—दर्भ—कूदी—तृण—सोम—वल्वजात् ॥ 6. 2. 47. ॥

शरादिभ्यो यथायोगं भक्ष्याच्छादनवर्जिते विकारेऽवयवे च नित्यं मयट् प्रत्ययो भवति, अणोऽपवादः । शरमयम्, दर्भमयम्, कूदीमयम्, तृणमयम्, सोममयम्, वल्वजमयम् ॥47॥

*न्या०स०—शर०—*ननूत्तरेण सह एकयोगः कथं न क्रियते ? उच्यते, एकयोगे शरदर्भादीनामदुसंज्ञकानां सहचर्यादेकस्वराणामपि अदुसंज्ञकानां स्यात्ततो वाङ्मयमित्यादि न स्यात् ।

एकस्वरात् ॥ 6. 2. 48. ॥

एकस्वरान्नाम्नो यथासंभवं भक्ष्याच्छादनवर्जिते विकारेऽवयवे च नित्यं मयट् प्रत्ययो भवति । वाङ्मयम्, त्वङ्मयम्, मृन्मयम्, स्रुङ्मयम्, गीर्मयम्, धूर्मयम् ॥48॥

दोरप्राणिनः ॥ 6. 2. 49. ॥

दुसंज्ञकादप्राणिवाचिनो यथायोगं भक्ष्याच्छादनवर्जिते विकारेऽवयवे च मयट् प्रत्ययो भवति, अणोऽपवादः । आम्रमयम्, शालमयम्, शाकमयम्, काशमयम्, तन्मयम्, यन्मयम् । अप्राणिन इति किम् । श्वाविधो विकारोऽवयवो वा शौवाविधम् श्वाविन्मयम् । चाषं चाषमयम् । वा (भा) सं वा (भा) समयम् ॥49॥

गोः पुरीषे ॥ 6. 2. 50. ॥

गोशब्दात्पुरीषेऽर्थे मयट् प्रत्ययो भवति । गोः पुरीषं गोमयम् । पुरीष इति किम् ? गव्यं पयः, गव्यं सक्थि । ``गोः स्वरे यः'' (6. 1. 27.) इति यः । यद्यपि पुरीषं विकारत्वेन न प्रसिद्धं तथापि दोषधातुमलमूलं शरीरमिति विवक्षायां तात्स्थ्यात्तद्वदुपचार इति गोः पुरीषं

पयश्च विकारो भवति । ``एकस्वरात्'' (6. 2. 48.) इत्येव सिद्धे पुरीषे नियमार्थं वचनम् ।।50।।

न्या०स०—गो:पु०—विकारत्वेनेति गोर्विकारत्वेन न प्रसिद्धं किंतु आहारादिविकार इति ।

व्रीहेः पुरोडाशे ।। 6. 2. 51. ।।

व्रीहिशब्दात्पुरोडाशे विकारे नित्यं मयट् प्रत्ययो भवति, अणोऽपवादः । व्रीहिमयः पुरोडाशः । पुरोडाश इति किम् । व्रैह ओदनः वैहं भस्म ।।51।।

तिल–यवादनाम्नि ।। 6. 2. 52. ।।

तिलयव इत्येताभ्यां विकारेऽवयवे च मयट् प्रत्ययो भवति अनाम्नि, अणोऽपवादः । तिलमयम्, यवमयम् । अनाम्नीति किम् । तैलम्, यवानां विकारो यावः स एव यावकः ।।52।।

पिष्टात् ।। 6. 2. 53. ।।

पिष्टशब्दाद्विकारे मयट् प्रत्ययो भवति अनाम्नि, अणोऽपवादः । पिष्टमयम् ।।53।।

नाम्नि कः ।। 6. 2. 54. ।।

पिष्टशब्दान्नाम्नि विकारे कः प्रत्ययो भवति । पिष्टस्य विकारः पिष्टिका ।।54।।

ह्योगोदोहादीनञ् हियङ्गुश्चास्य ।। 6. 2. 55. ।।

ह्योगोदोहशब्दाद्विकारे नाम्नि ईनञ् प्रत्ययो भवति तत्संनियोगे च प्रकृतेर्हियङ्गु इत्यादेशः । ह्योगोदोहस्य विकारः हैयङ्गवीनं नवनीतं घृतं वा । नाम्नीत्येव ? ह्योगोदोहस्य विकार इदमुदश्वित् ह्यौगोदोहमित्यणेव भवति ।।55।।

न्या०स०—ह्योगो०—हैयङ्गवीनमिति न ह्योगोदोहविकार मात्रं किंतु किंचिदेवेत्याह—नवनीतेति तेनाभ्यामन्यत्र न भवतीति प्रत्युदाहरति ।

अपो यञ् वा ।। 6. 2. 56. ।।

अप्शब्दाद्विकारे यञ् प्रत्ययो वा भवति, एकस्वरमयटोऽपवादः । अपां विकारः आप्यम्, अम्मयम् ।।56।।

लुब् बहुलं पुष्प–मूले ।। 6. 2. 57. ।।

विकारावयवयोर्विहितस्य प्रत्ययस्य पुष्पे मूले वा विकारतयावयवतया वा विवक्षिते बहुलं लूप् भवति । मल्लिकाया विकारोऽवयवो वा पुष्पं मल्लिका, यूथिका, नवमालिका, मालती । एषु अणो मयटो वा लुपि ``ङ्यादेर्गौणस्याक्विपस्तद्धितलुक्यगोणीसूच्योः'' (2. 4. 94.) इति स्त्रीप्रत्ययनिवृतौ लुबन्तस्य स्त्रीत्वापुनः स्त्रीप्रत्ययः । जातेर्जातिः । पाटल्याः पाटलाया वा पाटलं पाटला वा । यदाहुः–पुष्पे क्लीबेऽपि पाटला, पाटलीत्यपि । कुन्दम्, सिन्दुवारम्, कदम्बम्, करवीरम्, अशोकम्, चम्पकम्, कर्णिकारम्, कोविदारम् । विदार्या मूलं विदारी, अंशुमती, बृहती, हरिद्रा, माधवी, मुस्ता क्वचिन्न भवति । वरणस्य पुष्पाणि वारणानि, एरण्डस्य मूलानि ऐरण्डानि, बिल्वस्य बैल्वानि । क्वचिद्विकल्पः, शिरीषस्य पुष्पाणि शिरीषाणि, शैरीषाणि । ह्रीबेरस्य मूलानि ह्रीबेराणि, ह्रैबेराणि । क्वचित्पुष्पमूलाभ्यामन्यत्रापि भवति । आमलकस्य विकारो वृक्षः आमलकी, बदरो, व्रीहेर्विकारः स्तम्बः व्रीहिः ।।57।।

न्या०स०–लुब्बहुलं-मल्ल्यते मूर्च्छि ``पदिपठि'' 607 (उणादि) इति के च ``दृकॄनॄ'' 27 (उणादि) इत्यऽके वा ।

मल्लिका, यूयते ``पथयुथ'' 231 (उणादि) इति थे यूथीके यूथिका । यूथो जालकमस्त्यस्यां वा । नवा मालाऽभ्यां नवमालिका । मां लाति ``पृषिरञ्जि'' 208 (उणादि) इति किदते गौरादित्वाद् ङ्यां मालयत्यामोदैर्वा ``पुतपित्त'' 204 (उणादि) इति मालती ।

अणो मयटो वेति मालत्या दुमयटोऽन्येभ्यस्तु ``प्राण्यौषधि'' (6. 2. 31.) इत्यणोऽभक्ष्या-च्छादनविवक्षायां तु मयटो लुप्, पुनर्गौरादित्वाद् ङीः ।

पाटल्या इति मतान्तरेण ``नवा शोणादेः'' (2. 4. 31.) इति ङीविकल्पात्, एके तु गौरादौ अन्ये तु अजादौ, पाटल्या ``हेमादिभ्योऽञ्'' (6. 2. 45.) पाटलायास्तु मयट् ।

क्लीबेऽपीति न केवलं पुष्पे वर्त्तमानः स्त्रीलिङ्गः ।

फले ।। 6. 2. 58. ।।

विकारेऽवयवे वा फले विवक्षिते प्रत्ययस्य लुप् भवति । आमलक्या विकारोऽवयवो वा फलमामलकम्, बदर्या बदरम्, कुवल्याः कुवलम्, भल्लातक्याः भल्लातकम्, व्रीहिः, यवः, मुद्गः, माषः, गोधूमः, निष्पावः, तिलः, कुलत्थः, हरीतकी, पिप्पली, कोशातकी, श्वेतपाकी, अर्जुनपाकी, कर्कटी, नखरजनी, शष्कण्डी, दण्डी, दोडी, दाडी, पथ्या, अम्लिका,

चिञ्चा, द्राक्षा, ध्रुक्षा, ध्वाङ्क्षा, मृद्वीका, कणा, वला, एला, शाला, काला, गर्गरिका, कण्टकारिका, शेफालिका, ओषधिः, कर्कारुः । हरीतक्यादिभ्यो लुपि प्रकृतिलिङ्गमेव । तत्र पूर्वस्य स्त्रीप्रत्ययस्य लुपि पुनः स एव स्त्रीप्रत्ययः । यद्यप्यामलकादीनि प्रकृत्यन्तराणि सन्ति तथाप्यामलक्यादिभ्यः प्रत्ययश्रुतिनिवृत्त्यर्थं लुब्वचनम् ।।58।।

*न्या०स०–फले-*बदरकुवलशब्दौ हेमादौ द्रष्टव्यौ अभक्ष्याच्छादनमयट्बाधनार्थम् ।

प्लक्षादेरण् ।। 6. 2. 59. ।।

प्लक्ष इत्येवमादिभ्यो विकारेऽवयवे वा फले विवक्षितेऽण् प्रत्ययो भवति, मयटोऽपवादः । विधानसामर्थ्याच्चास्य लुब् न भवति । प्लक्षस्य विकारोऽवयवो वा फलं प्लाक्षम् । एवं नैयग्रोधम् । प्लक्ष, न्यग्रोध, अश्वत्थ, इङ्गुदी, वेणु, वृहती, सगु, रु (स) कु, कक्रतु इति प्लक्षादिः ।।59।।

जम्ब्वा वा ।। 6. 2. 60. ।।

जम्बूशब्दाद्विकारेऽवयवे वा फले विवक्षिते वाण् प्रत्ययो भवति पक्षे यथाप्राप्तं प्रत्ययस्तस्य च लुप् । जम्ब्वा विकारोऽवयवो वा फलं जाम्बवम्, पक्षे जम्बु जम्बूः । लुपि स्त्रीनपुंसकते ।।60।।

न द्विरद्रुवय–गोमय–फलात् ।। 6. 2. 61. ।।

द्रुवयं गोमयं फलवाचि च वर्जयित्वाऽन्यस्मान्नाम्नो विकारावयवयोर्द्विः प्रत्ययो न भवति । कपोतस्य विकारोऽवयवो वा कापोतः कापोतस्य विकारोऽवयवो वेति ``दोरप्राणिनः'' (6. 2. 49.) इति मयट् न भवति, एवं वैल्वः, ऐणेयः, शामीलः, औष्ट्रकः, कांस्यः, पारशवः । अद्रुवयगोमयफलादिति किम् ? द्रौवयं खण्डम्, गौमयं भस्म, कापित्थो रसः । कथं कपोतस्य मांसं कापोतम् तस्य विकारः कापोतो रसः पलाशस्यावयवः पालाशी शाखा तस्या अवयवः पालाशी समित् इति ? विकारेऽपि प्रकृतिशब्दो वर्तते, यथा मुद्गैः शालीन् भुङ्क्ते । मुद्गविकारैः शालिविकारानिति गम्यते, गोभिः सन्नद्धो वहति । गोविकारैश्चर्मभिरिति गम्यते । अवयवेऽप्यवविशब्दो वर्तते । पूर्वे पञ्चालाः उत्तरे पञ्चालाः ग्रामो दग्धः पटो दग्ध इति । तत्र विकारवृत्तेः प्रकृतिशब्दादवयववृत्तेरवयविशब्दाच्च प्रत्ययो भविष्यति । विकारविकारोऽपि वा विकार एव अवयवावयवोऽप्यवयव इति ।।61।।

न्या०स०–न द्वि०–अवयवेऽपीति कापोतं प्रति उत्तरं दत्त्वा पालाशी प्रत्याह विकार एवेति प्रकृतेरपीत्यर्थः ।

पितृ–मातुर्व्य–डुलं भ्रातरि ।। 6. 2. 62. ।।

पितृमातृशब्दाभ्यां षष्ठ्यन्ताभ्यां भ्रातरि वाच्ये यथासंख्यं व्यडुल इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः । पितुर्भ्राता पितृव्यः मातुर्भ्राता मातुलः, डकारोऽन्त्यस्वरादिलोपार्थः ।।62।।

न्या०स०–पितृ०–विकल्पादेकशेषः सूत्रत्वाद्वा ``आ द्वंद्वे'' (3. 2. 39.) इति च न ।

पित्रोर्डामहट् ।। 6. 2. 63. ।।

पितृमातृशब्दाभ्यां षष्ठ्यन्ताभ्यां मातापित्रोर्वाच्ययोडमिहट् प्रत्ययो भवति । पितुः पिता पितामहः, पितुर्माता पितामही, मातुः पिता मातामहः, मातुर्माता मातामही । द्विवचनटित्त्वाभ्यां मातापित्रोरिति विज्ञायते । डकारोऽन्त्यस्वरादिलोपार्थः, टकारो ङ्यर्थः ।।63।।

अवेर्दुग्धे सोढ–दूस–मरीसम् ।। 6. 2. 64. ।।

अविशब्दात् षष्ठ्यन्तात् दुग्धेऽर्थे सोढ दूस मरीस इत्येते प्रत्यया भवन्ति । अवेर्दुग्धम् अविसोढम्, अविदूसम्, अविमरीसम् ।।64।।

राष्ट्रेऽनङ्गादिभ्यः ।। 6. 2. 65. ।।

राष्ट्रं जनपदः, षष्ठ्यन्तादङ्गादिवर्जितान्नाम्नो राष्ट्रेऽभिधेये यथाविहितमण् प्रत्ययो भवति । शिबीनां राष्ट्रं शैबम् । उषुष्टानामौषुष्टम् । गान्धारीणां गान्धारम् । अनङ्गादिभ्य इति किम् । अङ्गानां राष्ट्रं वङ्गानां राष्ट्रमिति वाक्यमेव भवति । अङ्ग वङ्ग सुह्म पुण्ड इति । अङ्गादयः प्रयोगगम्याः । केचित्तु अङ्गादिप्रतिषेधं नेच्छन्ति । अङ्गानां राष्ट्रमाङ्गम् । वाङ्गमित्यादि । उत्तरत्र निवास इत्यभिधानात् ईशितव्ये राष्ट्रेऽयं विधिः, उभयथा हि राष्ट्रसंबन्धो भवति ।।65।।

न्या०स०–राष्ट्रे-शैबमिति शिबे राज्ञोऽपत्यानि ``दुनादि'' (6. 1. 118.) इतिञ्यः, ``बहुष्वस्त्रियां'' (6. 1. 124.) इति लुप्, ततो राष्ट्रे वाचयेऽनेनाण्, एतद्विषये ``न प्राग्जितीये'' (6. 1. 135.) इति ञ्यस्य स्थानित्वं न कुतः एक न प्राग्जितीय इत्यत्र वृत्तौ गोत्र इति पदं द्विधा व्याख्याय गोत्रे उत्पन्नस्य ``यस्कादेर्गोत्र'' (6. 1. 125.) इत्यारभ्य यः प्रत्ययलोपः प्राप्नोति

तस्य ``न प्राग्जितीये'' (6. 1. 135.) इत्यनेन लुपं प्रतिषेधन्ति, ञ्यो हि ``यस्कादे र्गोत्रे'' (6. 1. 125.) इत्यत्र प्राग्विहित एवेति स्थान्त्विं न, यदा तु शिबीनां राजान इति क्रियते तदागोत्रत्वात्, ``न प्राग्जितीये'' (6. 1. 135.) इत्यस्य प्राप्तिरेव नास्ति, एवमुत्तरेष्वपि।

उत्तरत्रेति ``निवासादूरभवे'' (6. 2. 69.) इत्यत्र। ईशितव्ये इति-यथेच्छं विनियोज्ये। उभयथा हीति परिपालनेन निवासेन च।

राजन्यादिभ्योऽकञ् ।। 6. 2. 66. ।।

राजन्य इत्येवमादिभ्यो राष्ट्रे वाच्येऽकञ् प्रत्ययो भवति, अणोऽपवादः। राजन्यानां राष्ट्रं राजन्यकम्, दैवयातवकम्, राजन्य, दैवयातव, देवयात आवृत, आब्रीतक, वात्रव, शालङ्कायन, बाभ्रव्य, जालन्धरायण, जानंधरायण, कौन्ताल, आत्मकामेय, अम्बरीपुत्र, आम्बरीपुत्र, अम्बरीषपुत्र, बैल्ववन, शैलूषज, उदुम्बर, औदुम्बर, तैतल, संप्रिय, दाक्षि, ऊर्णनाभ, ऊर्णनाभि, आर्जुनायन, विराट, मालव, त्रिगर्त इति राजन्यादिः। बहुवचनमाकृति-गणार्थम् ।।66।।

वसातेर्वा ।। 6. 2. 67. ।।

वसातिशब्दाद्राष्ट्रे वाच्येऽकञ् प्रत्ययो वा भवति। वसातीनां राष्ट्रं वासातकं, वासातम् ।।67।।

भौरिक्यैषुकार्यादेर्विध–भक्तम् ।। 6. 2. 68. ।।

भौरिकि इत्येवमादिभ्य ऐषुकारि इत्येवमादिभ्यश्च राष्ट्रे वाच्ये यथासंख्यं विध भक्त इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः, अणोऽपवादः। भौरिकीणां राष्ट्रं भौरिकिविधम्, भौलिकिविधम्, स्वभावान्नपुंसकता। ऐषुकारीणां राष्टमैषुकारिभक्तम्, सारसायनभक्तम्। भौरिकि, भौलिक, चौपयत, चौदयत, चटयत, चैकयत, सैकयत, क्षैतयत, काणेय, वालिकाद्य, वाणिजक इति भौरिक्यादिः। ऐषुकारि, सारसायन, चान्द्रायण, ताक्ष्यार्यण, व्याक्षायण, त्र्याक्षायण, व्यक्षायण, त्र्यक्षायण, औलायन, सौवीर, दासमित्रि, दासमित्रायण, शौद्रकायण, शयण्ड, शाण्ड, शायाण्ड, शायण्डायन, खादायन, गौ (मा) लुकायन, विश्व, वैश्व, धेनव, वैश्वमाणव, वैश्वदेव, तुण्ड, देव, तुण्डदेव, शायाण्डी, शायण्डी, बायौविद इत्यैषुकार्यादिः ।।68।।

निवासा–ऽदूरभव इति देशे नाम्नि ।। 6. 2. 69. ।।

षष्ठ्यन्तान्नाम्नो निवास अदूरभव इत्येतयोरर्थयोर्यथाविहितं प्रत्ययो भवति देशे नाम्नि

प्रत्ययान्तं चेद्देशस्य नामधेयं भवति, इतिकरणो विवक्षार्थः। तेनानुवृत्ते व्यवहारमनुपतिते नाम्नि विज्ञेयम् न संगीते। निवसन्त्यस्मिन् इति निवासः। तत्र, ऋजुनाव, ऋजुनावानां वा निवास आर्जुनावः, शिबीनां शैबः, उषुष्टस्य औषुष्टः, शकलायाः शाकलः, अदूरभवे, विदिशाया अदूरभवं वैदिशं नगरम्, वैदिशो जनपदः, वरणास्योः वारणसी, व्रीहिमत्या व्रैहिमतम्, यवमत्या यावमतम्, 'इह केचिदङ्गानां निवासः अङ्गाः, वङ्गाः, कलिङ्गाः, सुह्माः, मगधाः, पुण्ड्राः, कुरवः । पञ्चालाः । मत्स्याः । वरणानामदूरभवं वरणा नगरम् । शृङ्गशाल्मलीनां शृङ्गशाल्मलयो ग्रामः। गोदयोर्ह्रदयोर्गोदौ ग्रामः। आलन्यायनपर्णानामालन्यायनपर्णा ग्रामः। शफण्ड्याः शफण्डी । जालपदाया जालपदा, मथुरायाः मथुरा, उज्जयन्याः उज्जयनी, गयानां गया, उरशायाः उरशा, तक्षशिलायाः तक्षशिला, कटुकबदर्याः कटुकबदरी, खलतिकस्य खलतिकं वनानीत्यादिषु प्रत्ययमुत्पाद्य लुपमारभन्ते। सत्यां च लुपि प्रकृतिवाल्लिङ्गवचने च मन्यन्ते' । तदयुक्तम् । अत्र हि प्रकृतिमात्रमेव देशनाम न प्रत्ययान्तम् प्रत्ययान्तस्य च देशनामत्वे प्रत्ययो विधीयते इति न भवति, तस्य निवास इत्यादिविवक्षायां तु वाक्यमेव । प्रत्ययाभावाच्च लुबपि न वक्तव्या। अङ्गवरणादीनां च क्षत्रियवृक्षादिवज्जनपदनगरादौ स्वत एव वृत्तिर्न प्रत्यययोगात् लिङ्गसख्योपादानं च स्वगतमेवेति ॥69॥

न्या०स०—निवासा०—इतिकरण इति क्रियतेऽनेनार्थप्रतीतिरिति करणः शब्दः। ऋजुनाव इति ऋज्व्यो नावो यस्य, एकत्वे तु ''पुमनडुन्नौ'' (7. 3. 173.) इति कच् स्यात्। ऋजुनावानामिति ऋजुं आर्जवयुक्तं नुवन्ति ''कर्मणोऽण्'' (5. 1. 72.) ।

वरणास्योरिति वरणा चासिश्च वरणासी, तयोरदूरभवा पृषोदरादित्वाद् वस्य दीर्घो णस्य तु ह्रस्वः । प्रकृतिमात्रमेवेति केवलैव प्रकृतिः प्रत्ययमन्तरेण देशनाम इत्यर्थः । अङ्गवरणादीनां चेति स्वमतमेव द्रढयन्नाह ।

तदत्राऽस्ति ॥ 6. 2. 70. ॥

तदिति प्रथमान्तादत्रेति सप्तम्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति यतत्प्रथमान्तं तच्चेदस्तीति भवति देशे नाम्नि प्रत्ययान्तं चेत् देशस्य नाम भवति । अत्रापीतिकरणो विवक्षार्थोऽनुवर्तत एव। तेन प्रसिद्धे नाम्नि भूमादौ चार्थे भवति, अत एव चोभयप्राप्तौ परोऽपि मत्वर्थीयोऽनेन बाध्यते । उदुम्बरा अस्मिन् देशे सन्ति औदुम्बरं नगरम्, औदुम्बरो जनपदः, औदुम्बरः पर्वतः ॥70॥

तेन निर्वृत्ते च ॥ 6. 2. 71. ॥

तेनेति तृतीयान्तान्निर्वृत्तमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति देशे नाम्नि प्रत्ययान्तं चेद्देशस्य नाम भवति यदा अकर्मका अपि धातवः सोपसर्गाः सकर्मका भवन्तीति कर्मणि निर्वृत्तशब्दो व्युत्पाद्यते तदा तेनेति कर्तरि करणे वा तृतीया । यदा त्वकर्मकविवक्षया कर्तरि निर्वृत्तशब्दस्तदा हेतौ तृतीया । कुशाम्बेन निर्वृत्ता कौशाम्बी, ककन्देन काकन्दी, मकन्देन माकन्दी, सगरैः सागरः, सहस्रेण निर्वृत्ता साहस्री परिखा, चकारश्चतुर्णां योगानामुत्तरत्रानुवृत्त्यर्थः । तेनोत्तरे प्रत्यया यथायोगं चतुर्ष्वर्थेषु भवन्ति ॥71॥

नद्यां मतुः ॥ 6. 2. 72. ॥

तस्य निवासः तस्यादूरभवः तदत्रास्ति तेन निवृत्तं चेत्येष्वर्थेषु यथायोगं मतुः प्रत्ययो भवति नद्यां देशे नाम्नि प्रत्ययान्तं चेन्नदीविषयं देशस्य नाम भवति । नदीनामेत्यर्थः, अणोऽपवादः । उदुम्बरा अस्यां सन्ति उदुम्बरावती नदी, मशकावती, वीरणावती, पुष्करावती, इक्षुमती, द्रुमती, शरावती, इरावती । भगीरथेन निर्वृत्ता भागीरथी । भैमरथी, जाह्नवी, सौवास्तवी । अमत्वन्तान्येव भागीरथ्यादीनि नदीनामानीति मतुर्न भवति ॥72॥

मध्वादेः ॥ 6. 2. 73. ॥

मध्वादिभ्यो मतुः प्रत्ययो भवति चातुरर्थिकः देशे नाम्नि प्रत्ययान्तं चेद्देशस्य नाम भवति, अणोऽपवादः । अनद्यर्थश्चारम्भः । मधुमान् बिसवान् स्थाणुमान् । मधु, बिस, स्थाणु, ऋषि, इक्षु, वेणु, कर्कन्धु कर्कन्धू, शमी, करीर, हिम, किसर, सार्पण, रुवत्, पार्दा, कीशरु, इष्टका, पार्दाकी, शरु, शुक्ति, आसुति, सुत्या, आसन्दी, शकली, वेट, पीडा, अक्षशिल, अक्षशिला, तक्षशिला, आमिषी इति मध्वादिः ॥73॥

न्या०स०–मध्वादेः चातुरर्थिक इति चतुर्ष्वर्थेषु भवः अध्यात्मादित्वादिकण्, विधानतो ``द्विगोः'' (7. 1. 144.) इति न लुप्, अथ गणो विव्रियते ``मनिजनिभ्यां'' 721 (उणादि) इति मधुः, पटिवीभ्यामिति बिसं बिस्च् खण्डने वा, ``अजिस्था'' 768 (उणादि) इति स्थाणुः, ``नाम्युपान्त्य'' 5-1-54 इति ऋषिः, ``मस्जि'' 826 (उणादि) इति इक्षुः, ``अजिस्था'' 768 (उणादि) इति वेणुः, कर्कस्य अन्धुरिव कर्कन्धुः, ``कृगः कादिः'' 849 (उणादि) कर्कन्धूः, शमयति शमी, ``कृशृ'' 619 करीरः, ``क्षुहिभ्यां'' 341 (उणादि) हिमः, कस्य भार्या कीं सरति ``ङ्यापो बहुलम्'' (2. 4. 99.) इति किसरा, सहार्पणेन वर्तते सार्प्पणः, रौति शतरि रुवत्, पर्दते बाहुलकाद्दीर्घे पार्दा, कुत्सितः शरूः कीशरुः, पृषोदरादिः । `इष्यशि' इति

इष्टका, पार्दामकति पार्दाकी, 'भृमृ' इति शरुः, ''दृमुषि'' 651 (उणादि) इति शुक्तिः, ''समिणा'' (5. 3. 93.) इति आसूयते आसुतिः, ''समज'' (5. 3. 99.) इति सुत्या, आसिक् ''कुमुद'' (6. 2. 96.) इति आसन्दी, आसं दयते वा योगविभागान्मोऽन्तः, विट शब्दे, लिहाद्यचि वेटः, 'भीष' इति पीडा।

नड–कुमुद–वेतस–महिषाड्डित् ॥ 6. 2. 74. ॥

नडादिभ्यो डिन् मतुः प्रत्ययो भवति चातुरर्थिकः देशे नाम्नि। अणाद्यपवादः। नड्वान् कुमुद्वान् वेतस्वान् महिष्मान् देशः, तत्र भवा माहिष्मती नगरी, डित्त्वमन्त्यस्वरादिलोपार्थम् ॥74॥

न्या०स०–नडकुमुद०–अणाद्यपवाद इति आदिपदात् नडशब्दात् ''नडशादाद्वलः'' (6. 2. 75.) कुमुदात् ''कुमुदादेरिकः'' (6. 2. 96.) इत्यादिग्रहः, महिष्मानित्यत्र ''धुटस्तृतीय'' (2. 1. 76.) इति डत्वं न भवति, असिद्धं बहिरङ्ग-मन्तरङ्गम् इति अकारस्य स्थानित्वेन पदान्तत्वाभावात्, न वाच्यं ''स्वरस्य'' (7. 4. 110.) इति स्थानित्वं ''न सन्धि'' (1. 3. 52.) इत्यस्यावस्थानात्।

नड–शादाद् वलः ॥ 6. 2. 75. ॥

नड शाद इत्येताभ्यां डित् वलः प्रत्ययो भवति चातुरर्थिको देशे नाम्नि, मत्वणाद्यपवादः। नड्वलम्, शाद्वलम् ॥75॥

न्या०स०–नडशादा०–मत्वणाद्येति आदिपदात् ''नडादेः कीयः'' (6. 2. 92.) इति।

शिखायाः ॥ 6. 2. 76. ॥

शिखाशब्दाद्वलः प्रत्ययो भवति चातुरर्थिकः देशे नाम्नि, अणोऽपवादः। पृथग्योगाड्डिदिति निर्वृत्तम्, शिखावलं नाम नगरम्, मतुप्रकरणे शिखाया वलचं वक्ष्यति तत् अदेशार्थं वचनम् ॥76॥

न्या०स०–शिखायाः–वक्ष्यतीति ''कृष्यादिभ्यो वलच्'' (7. 2. 27.) अदेशार्थमिति न वाच्यं सामान्येनोत्तरेण देशेप्यदेशेऽपि भविष्यतीति यतोऽत्राणोपवाद इत्युक्तं, ततश्चादेशे तस्य चरितार्थत्वात् देशे ''निवासादूरभवे'' (6. 2. 69.) इत्यादयः स्युः।

शिरीषादिक–कणौ ।। 6. 2. 77. ।।

शिरीषशब्दादिककण् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः चातुरर्थिकौ देशे नाम्नि । शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः शिरीषिकः, शैरीषकः ।।77।।

शर्कराया इकणीया–ऽण् च ।। 6. 2. 78. ।।

शर्कराशब्दादिकण् ईय, अण् चकारात् इक, कण् इत्येते प्रत्यया भवन्ति चातुरर्थिका देशे नाम्नि । शर्करा अस्मिन्देशे सन्ति शार्करिकः, शर्करीयः, शार्करः, शर्करिकः, शार्करकः, । शिरीषाः शर्करा इति प्रत्यययोगमन्तरेणापि देशे वृत्तिरिति पूर्ववत्प्रत्ययो न भवति ।।78।।

*न्या०स०–शर्कराया०–*शिरीषाः शर्करा इति नन्वेवंविधान्यपि देशनाभानि दृश्यन्ते तदर्थं प्रत्ययलुप् वक्तव्येत्याशङ्का ।

रोऽश्मादेः ।। 6. 2. 79. ।।

अश्मादिभ्यो रः प्रत्ययो भवति चातुरर्थिको देशे नाम्नि । अश्मरः, यूषरः, अश्मन्, यूष, ऊष, यूथ, मीन, गुद, दर्भ, कूट, गुहा, वृन्द, नग, कण्ड, गह्व, कन्द, पामन् इत्यश्मादिः ।।79।।

प्रेक्षादेरिन् ।। 6. 2. 80. ।।

प्रेक्षादिभ्य इन् प्रत्ययो भवति चातुरर्थिको देशे नाम्नि । प्रेक्षी, फलकी । प्रेक्षा, फलका, बन्धुका, ध्रुवका, धुवका, क्षिपका, कूप, पुक, धुक, इक्वट, कङ्कट, संकट, मह, गर्त, न्यग्रोध, परिवाप, यवाष, हिरण्य इति प्रेक्षादिः ।।81।।

तृणादेः सल् ।। 6. 2. 81. ।।

तृणादिभ्यश्चातुरर्थिकः सल् प्रत्ययो भवति देशे नाम्नि । तृणसा, नदसा । तृण, नद, जन, पर्ण, वर्ण, अर्णस्, वरण, विल, तुस, वन, पुल इति तृणादिः ।।81।।

काशादेरिलः ।। 6. 2. 82. ।।

काशादिभ्यश्चातुरर्थिक इलः प्रत्ययो भवति देशे नाम्नि । काशिलम्, वाशिलम् । काश,

वाश, अश्वत्थ, पलाश, पीयूक्षा, पाश, विश, तृण, नल, वन, नलवन, कर्दम, कर्पूर वर्वर, वर्तूल, शीपाल, कण्टक, गुहा, कपित्थ इति काशादिः ।।82।।

अरीहणादेरकण् ।। 6. 2. 83. ।।

अरीहणादिभ्यश्चातुरर्थिकोऽकण् प्रत्ययो भवति देशे नाम्नि । आरीहणकं, खाण्डवकम् । अरीहण, खण्डु, खण्डू, द्रुघण, किरण, खदिर, भगल, भलन्दन, उलुन्द, खावुरायण, खापुरायण, खानुरायण, कौष्टायन, कौद्रायण, भास्त्रायण, त्रैगर्तायन, रैवत, रायस्पोष, विपथ, विपाश, उद्दण्ड, उदश्चन, ऐडायन, जाम्बवत, जाम्बवत्, शिंशपा, वीरण, धौमतायन, यज्ञदत्त, सुयज्ञ, बधिर, बिल्व, जम्बू, साम्बुरायण, सौशायन, सौमायन, शाण्डिल्यायन, श्वित्रायणि, साम्वरायण, कश, कृत्स्न, सुशर्मन् इत्यरीहणादिः ।।83।।

सुपन्थ्यादेर्ज्यः ।। 6. 2. 84. ।।

सुपन्थिन् इत्यादिभ्यश्चातुरर्थिकोञ्यः प्रत्ययो भवति देशे नाम्नि । सौपन्थ्यम्, सौवन्थ्यम् सुपथिन्शब्दस्यात एव निपातनात् पकारात्परो नागमः पस्य च वा वकारः । सांकाश्यम्, काम्पील्यम् सुपन्थिन्, सुवन्थिन्, संकाश, कम्पील, सुपरि, यूप, अश्मन्, अश्व, अङ्ग, नाथ, कुण्ट, कुट, कूट, मादित, मृष्टि आगस्त्य, शूर, विरन्त, विकर, नासिका, प्रगदिन्, मगदिन्, कटिद, कटिप, कटिव, चूदार, मदार, मजार, कोविदार, कश्मीर, शूरसेन कुम्भ, सीर, सरक, समल, अंस, नासा, रोमन्, लोमन्, तीर्थ, पुलिन, मलिन, अगस्ति, सुपथिन्, दश, नल, सकर्ण, कलिव, खडिव, गडिव इति सुपन्थ्यादिः ।।84।।

न्या०स०—सुपन्थ्यादेर्ज्यः सुपन्थ्यादिर्विचार्यते, शोभनः पन्थाः सुपन्थाः सुपन्थिन् गणपाठात् वत्वे सुवन्थिन्, संकाशते अच् संकाशः, कं सुखं पीलति कंपीलः, सुष्ठु पिपर्त्ति ``स्वरेभ्य इः'' 606 (उणादि) सुपरिः, ``युसुकु'' 297 (उणादि) इति यूपः, ``गम्यमि'' 92 (उणादि) इति `उखनख' इति वा अङ्गः, नाथति अच् नाथः, कुटति ``नाम्युपान्त्य'' (5. 1. 54.) इतिके कुटः, कूटयति अचि कूटः, माद्यन्तं प्रयुङ्क्ते माद्यते स्म मादितः, मार्जनं मर्शनं मर्षणं वा मृष्टिः, ``अगपुलाभ्याम्'' 663 ( उणादि) इति अगस्त्यः तस्यापत्यमृष्यण् आगस्त्यः, शूरयतेऽच् शूरः, विरमति ``पुतपित्त'' 204 (उणादि) इति यद्वा विरमतीति औणादिके तृप्रत्यये विरन्तरमाचष्टे णिजि विरन्तयति, अचि विरन्तः ।

विकरोति अचि विशिष्टौ करौ यस्य वा विकरः, ``नसते नसिवसि''—40 (उणादि)

इति नासिका, प्रगदतीत्येवंशील: प्रगदी, मां गदतीत्येवंशील: ``ङ्यापो बहुलं नाम्नि'' (2. 4. 99.) इति ह्रस्वे मगदी, कटिं ददाति, पाति वाति वा कटिद:, कटिप:, कटिव: । चुदण् ``द्वार'' 411 इति चूदार:, ``अग्यङ्गि'' 405 (उणादि) इति मदार:, मृजुमजशब्दे, मजति ``अग्यङ्गि'' 405 (उणादि) इति बहुवचनात् ``द्वार'' 411 (उणादि) इति वा मजार:, कने: `कोविद' इति कोविदार: ।

सुतङ्गमादेरिञ् ।। 6. 2. 85. ।।

सुतंगमादिभ्यश्चातुरर्थिक इञ् प्रत्ययो भवति देशे नाम्नि । सौतंगमि: मौनिवित्ति:, सुतंगम, मुनिवित्त, विप्रचित्त, महावित्त, महापुत्र, शुक्र, श्वेत, विग्र, श्वन्, विग्रश्वन्, अर्जुन, अजिर, गदिक, बीज, वाप, बीजवाप, बाजवाप, कर्णा इति सुतंगमादि: ।।85।।

बलादेर्य: ।। 6. 2. 86. ।।

बलादिभ्यश्चातुरर्थिको य: प्रत्ययो भवति देशे नाम्नि । बल्यं, पुल्यम् बल, पुल, मुल, उल, कुल, दुल, नल, दल, उरल, लकुल, वन इति बलादि: ।।86।।

अहरादिभ्योऽञ् ।। 6. 2. 87. ।।

अहन् इत्येवमादिभ्यश्चातुरर्थिकोऽञ् प्रत्ययो भवति देशे नाम्नि । आह्नम्, लौमम्, तेन निर्वृत्तमित्यर्थेऽह:शब्दाद्देशे नाम्नि विहितोऽयमञ् विशेषविहितत्वात् निर्वृत्त इति सामान्यविहितस्य काले कणोऽपवाद: । अहन् लोमन् वेमन् गङ्गा इत्यहरादिराकृतिगण: ।।87।।

न्या०स०–अहरादिभ्यो–इकणोपवाद इति तेन हस्ताद्य इत्यत: तृतीयान्तमनुवर्तते, कालात् परिजय्येत्यत: कालादिति च ततो निर्वृत्ते इत्यनेन कालसामान्यविहित इकण् प्राप्तस्तस्य बाधकोऽयम् ।

सख्यादेरेयण् ।। 6. 2. 88. ।।

सखि इत्येवमादिभ्यश्चातुरर्थिक एयण् प्रत्ययो भवति देशे नाम्नि । साखेय:, साखिदत्तेय: । सखि, सखिदत्त, दत्त, अग्नि, अग्निदत्त, वायुदत्त, वायुदत्ता, गोफिल, भल्ल, भल्लिपाल, चक्र, चक्रवाक, छगल, अशोक, सीरक, सरक, वीर, चीर, सरस, समल, रोह, तमाल, कदल, करवीर, कुशीरक, सुरसा, सरम, सपूल इति सख्यादि: ।।88।।

पन्थ्यादेरायनण् ॥ 6. 2. 89. ॥

पन्थ्यादिभ्यश्चातुरार्णिक आयनण् प्रत्ययो भवति देशे नाम्नि । पान्थायनः पथिन्शब्दस्य प्रत्यययोगे पकारात्परो नागमोऽत एव निपातनात् । पाक्षायणः, तौषायणः । पथिन् पक्ष, तुष, अण्डक, वलिक, पाक, चित्र, चित्रा, अतिश्व, कुम्भ, सीरक, लोमन्, रोमन्, लोपक, हंसक, सकर्ण, सकर्णक, सरक, सहक, सरस, समल, अंशुक, कुण्ड, यमल, विल, हस्त, हस्तिन्, सिंहक इति पन्थ्यादिः ।।89।।

कर्णादेरायनिञ् ॥ 6. 2. 90. ॥

कर्णादिभ्यश्चात्तुरर्थिक आयनिञ् प्रत्ययो भवति देशे नाम्नि । कार्णायनिः, वासिष्ठायनिः । कर्ण, वसिष्ठ, अर्क, लुस, अर्कलुस, द्रुपद, आनडुह्य, पाञ्चजन्य, स्फिग्, स्फिज, कुलिश, आकनीकुम्भ, जित्वन्, जित्य, जैत्र, आण्डीवत्, जीवन्त इति कर्णादिः ।।90।।

उत्करादेरीयः ॥ 6. 2. 91. ॥

उत्करादिभ्यश्चातुरर्थिक ईयः प्रत्ययो भवति देशे नाम्नि । उत्करीयः, संकरीयः । उत्कर, सकर, संपर, संपल, सफर, संफल, संफुल, पिप्पल, मूल, पिप्पलमूल, अर्क, अश्मन्, सुवर्ण, सुपर्ण, पर्ण, सुपर्णपर्ण, हिरण्यपर्ण, इडा, अजिर, इडाजिर, अग्नि, तिक, कितव, आतप, अनेक, पलाश, तिककितव, वातपान, एक, पलाश, अनेकपलाश, अंशक, त्रैवण, पिचुक, अश्वत्थ, काश, क्षुद्रा, काशक्षुद्रा, भस्त्रा, विशाल, शाला, अरण्य, अजिन, अरण्याजिन, जन्यजनक, आर्जन, खण्डाजिन, चल्यण, उत्कोश, क्षान्ध, रु (ख) ण्ड, खदिर सूपर्णाय, श्यावनाय, नैवाकव, नितान्त, वृक्ष, नितान्तवृक्ष, आर्द्रवृक्ष, इन्द्रवृक्ष, अग्निवृक्ष, मन्त्रणार्ह, अरीहण, वातागर, विजिगीषा, संस्रव, रोहिद्गर्त, नीवापक, अणक, निशान्त, खल, जिन, वैराणक, अवरोहित, जन्य, इन्द्रवर्म, गर्त इत्युत्करादिः ।।91।।

नडादेः कीयः ॥ 6. 2. 92. ॥

नड इत्येवमादिभ्यश्चातुरर्थिकः कीयः प्रत्ययो भवति देशे नाम्नि । नडकीयः, प्लक्षकीयः । नड, प्लक्ष, बिल्व, वेणु, वेत्र, वेतस त्रि, तक्षन्, इक्षुकाष्ट, कपोत, क्रुञ्च, क्रुञ्चाशब्दस्यात एव गणपाठात् ह्रस्वत्वम् इति नडादिः ।।92।।

कृशाश्वादेरीयण् ॥ 6. 2. 93. ॥

कृशाश्वादिभ्यश्चातुरर्थिक ईयण् प्रत्ययो भवति देशे नाम्नि । कार्शाश्वीयः, आरिष्टीयः । कृशाश्व, अरिष्ट, अरिष्य, वेष्य, विशाल, रोमक, लौमक, रोमश, शवल, शिवल, कूट, चर्चुल, पूगर, शूकर, धूकर, पूकर, संदृश, सदृश, पुरगा, पूरवा, धूम, धूम्र, विनीत, आविनत, विकूच्या, अयस्, सायस्, इरस्, उरस्, अरुष्य, ऐरास, इर, आस, मुद्गल, मौद्गल्य, सुवर्चल, प्रतर, अजिन, अभिजन, अवनत, विकुट्याङ्कुश पराशर इति कृशाश्वादिः ॥93॥

ऋश्यादेः कः ॥ 6. 2. 94. ॥

ऋश्य इत्यादिभ्यश्चातुरर्थिकः कप्रत्ययो भवति देशे नास्ति । ऋश्यकः, न्यग्रोधकः, ऋश्य, न्यग्रोध, शर, निलीन, निवात, विनद्ध, सित, शित, नद्ध, निनद्ध, परिगूढ, उपगूढ, उत्तर, अश्मन्, उत्तराश्मन्, स्थूल, बाहु, स्थूलबाहु, खदिर, अरदु, अनडुह, परिवंश, खण्डु, वीरण, कर्दम, शर्करा, निबन्ध, अशनि, खण्ड, दण्ड, वेणु, परिवृत, वेश्मन्, अंशु इति ऋश्यादिः ॥94॥

वराहादेः कण् ॥ 6. 2. 95. ॥

वराहादिभ्यश्चातुरर्थिकः कण् प्रत्ययो भवति देशे नाम्नि । वाराहकः, पालाशकः, वराह, पलाश, विनद्ध, निबद्ध, स्थूल, बाहु, स्थूलबाहु, खदिर, विदग्ध, विजग्ध, विभग्न, विभक्त, पिनद्ध, निमग्न इति वराहादिः ॥95॥

कुमुदादेरिकः ॥ 6. 2. 96. ॥

कुमुद इत्येवमादिभ्यश्चातुरर्थिक इकः प्रत्ययो भवति देशे नाम्नि । कुमुदिकम्, इक्कटिकम्, बल्वजिकम् । केचिदमुं न पठन्ति । बाल्वजः कुमुद, इक्कट, निर्यास, कङ्कट, संकट, गर्त, परिवाप, यवाप, कूप, विकङ्कत, बल्वज, अश्वत्थ, न्यग्रोध, बीज, दशा, शाल्मलि मुनि, स्थल, ग्राम इति कुमुदादिः ॥96॥

अश्वत्थादेरिकण् ॥ 6. 2. 97. ॥

अश्वत्थ इत्यादिभ्यश्चातुरर्थिक इकण् प्रत्ययो भवति देशे नाम्नि । आश्वत्थिकम्, कौमुदिकम् ।

अश्वत्थ, कुमुद, गोमठ, रथकार, दाश, ग्राम, घास, कुन्द, शाल्मलि, मुनि, स्थल, मुनिस्थल, कुट, मुचुकर्ण, मुचुकूर्णि, कुण्डल, शुचिकर्ण इत्यश्वत्थादिः । इति करणाद्यथादर्शनं प्रत्ययव्यवस्थायामर्थप्रकृत्युपादानं प्रपञ्चार्थम् ।।97।।

न्या०स०—अश्वत्थादेरिकण् इतिकरणादिति पूर्वैः प्रत्यया एव विहिता, न प्रकृतीनामुपादानं कृतमितीतिकरणस्य विवक्षार्थत्वाल्लौकिक–प्रत्ययानुसारेणार्थप्रकृतयोऽनुमीयन्त इति, अत एव च प्रत्युपादानेऽपि कैश्चिद्धीनाः कैश्चिदधिकाः पठिता इति न मतिव्यामोहो विधेयः यथादर्शनं तु प्रयोगव्यवस्था, अतः एव बाल्वजिकं बाल्वजमित्याद्युपदर्शितम् ।

साऽस्य पौर्णमासी ।। 6. 2. 98. ।।

इति शब्दो नाम्नीति चानुवर्तते । देश इति निवृत्तम् । सेति प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमान्तं तच्चेत्पौर्णमासी भवति नाम्नि, प्रत्ययान्तं चेन्नाम स्यात्, इतिकरणो विवक्षार्थः । तेन मासार्धमासयोरेव संवत्सरपर्वणोः प्रत्ययः, संवत्सरेऽप्यन्ये । अस्येत्यवयवावयविसंबन्धे षष्ठी, पौषी पौर्णमासी अस्य पौषो मासः, पौषोऽर्धमासः, एवं माघः वैशाखः आषाढ इति । नाम्नीत्येव ? पौषी पौर्णमासी अस्य पञ्चरात्रस्य दशरात्रस्य भृतकमासस्य वेति वाक्यमेव, पौर्णमासीति पूर्णो माश्चन्द्रोऽस्यामस्तीति ''पूर्णमासोऽण्'' (7. 2. 55.) इत्यण् । पूर्णमास इयमिति वा ''तस्येदम्'' (6. 3. 159.) इत्यण् । पूर्णो मा मासो वास्यां पूर्णमासा वा युक्तेति अत एव निपातनादण् ।।18।।

न्या०स०—सास्य पौर्णमासी-तेनेत्यादि मासः त्रिंशद्रात्ररूपः, मासस्यार्धमर्धमासः पञ्चदशरात्ररूपः, अत्रैव प्रत्ययो भवति, नान्यत्र पञ्चरात्रादौ मासार्धमासावप्यनेकरूपत्वादित्याह–संवत्सरपर्वणोरिति संवत्सरस्य वर्षस्य पर्वभूतो मासः सुर्याचन्द्रमसोः संश्लिष्य पुनः संश्लिष्टयोर्विश्लिष्य पुनर्विश्लिष्टयोर्वा यौ तौ संश्लेषौ विश्लेषौ वा तयोरन्तरालकालः, अर्धमासश्च संश्लेषविश्लेषयोरन्तरमतो भृतकमासादेर्न भवति, संवत्सरपर्वाभावात् ।

आग्रहायण्यश्वत्थादिकण् ।। 6. 2. 99. ।।

आग्रहायणी अश्वत्था इत्येताभ्यां सेति प्रथमान्ताभ्यामस्येति षष्ठ्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमान्तं तच्चेत्पौर्णमासी भवति नाम्नि प्रत्ययान्तं चेत् नाम स्यात् । आग्रहायणी पौर्णमासी अस्य आग्रहायणिको मासोर्धमासो वा, अश्वत्था पौर्णमासी अस्य आश्वत्थिको मासोऽर्धमासो

वा, आग्रहायणी मार्गशीर्षी, अश्वत्था आश्वयुजी, अन्ये तु अश्वत्थशब्दमप्रत्ययान्तं पौर्णमास्यामपि पुंलिङ्गमिच्छन्ति, अश्वत्थः पौर्णमासी ।।99।।

न्या०स०—आग्रहायण्य०—आग्रहायणीति अग्रं हायनस्य ``द्वित्रिचतुष्पूरण'' (3. 1. 56.) इति सः, ``प्रथमोक्तम्'' (3. 1. 148.) इति अग्रस्य पूर्वनिपातः, ``पूर्व पदस्था'' (2. 3. 64.) इति णत्वं, अग्रहायण एव प्रज्ञादिभ्योऽण् ङीः ।

चैत्री–कार्तिकी–फाल्गुनी–श्रवणाद् वा ।। 6. 2. 100. ।।

एभ्य इकण् प्रत्ययो भवति वा सास्य पौर्णमासीति अस्मिन् विषये नाम्नि । चैत्री पौर्णमासी अस्य चैत्रिकः चैत्रो वा मासोऽर्धमासो वा, एवं कार्तिक्याः कार्तिकिकः, कार्तिकः, फाल्गुन्याः फाल्गुनिकः, फाल्गुनः, श्रवणायाः श्रावणिकः श्रावणः ।।100।।

देवता ।। 6. 2. 101. ।।

सास्येत्यनुवर्तते । सेति प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमान्तं देवता चेत्सा भवति । अर्हन् देवता अस्य आर्हतः, जैनः, आग्नेयो ब्राह्मणः, ऐन्दं हविः, ऐन्द्रः पुरोडाशः, वारुणश्चरुः, आदित्यः, बार्हस्पत्यः, मव्यम्, द्वीन्द्रम् ।।101।।

पैङ्गाक्षीपुत्रादेरीयः ।। 6. 2. 102. ।।

पैङ्गाक्षीपुत्र इत्येवमादिभ्य ईयः प्रत्ययो भवति सास्य देवतेत्यस्मिन् विषये, अणोऽपवादः । पैङ्गाक्षीपुत्रो देवतास्य पैङ्गाक्षीपुत्रीयं हविः, तार्णाबिन्दवो देवतास्य तार्णबिन्दवीयं हविः एवं पैङ्गीपुत्रीयम्, पैङ्गाक्षीपुत्रादयः प्रयोगगम्याः ।।102।।

न्या०स०—पैङ्गाक्षीपुत्रादेः पिङ्गे अक्षिणी यस्य ``सक्थ्यक्ष्णः स्वाङ्गे'' (7. 3. 126.) (इति) टः, पिङ्गाक्षस्यापत्यं वृद्धं स्त्री, ``अत इञ्'' (6. 1. 31.) ``अनार्षे वृद्धे'' (2. 4. 78.) इति ष्यः, आप् पिङ्गाक्षायाः पुत्रः ``ष्या पुत्रपत्योरीच्'' (2. 4. 83.), अनन्तरापत्ये वा इञ्, तदा ``नुर्जातेङीः'' (2. 4. 72.) पिङ्गाक्ष्याः पुत्रः ।

शुक्रादियः ।। 6. 2. 103. ।।

शुक्रशब्दादियः प्रत्ययो भवति सास्य देवतेत्यस्मिन् विषये । शुक्रियं हविः, शुक्रियोऽध्यायः ।।103।।

शतरुद्रात् तौ ॥ 6. 2. 104. ॥

शतरुद्रशब्दात्तौ ईय इय इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः सास्य देवतेत्यस्मिन् विषये । शतसंख्या रुद्राः शतरुद्राः, ते देवता अस्य शतरुद्रीयं शतरुद्रियम् । शतं रुद्रा देवतास्येति द्विगावपि विधानसामर्थ्यात् लुब् न भवति ॥104॥

अपोनपादपान्नपातस्तृ चाऽऽतः ॥ 6. 2. 105. ॥

अपोनपादपान्नपात् इत्येताभ्यां तौ प्रत्ययौ भवतः सास्य देवतेत्यस्मिन् विषये तत्सनियोगे चानयोराच्छब्दस्य तृ इत्ययमादेशो भवति । अपोनपात् देवतास्य अपोनप्त्रीयम् अपोनप्त्रियम् अपांनप्त्रीयम् अपान्नप्त्रियम् ॥105॥

न्या०स०–अपोनपाद-अपोनप्त्रीयमिति न पातीति शतृः नखादित्वाददभावः, ततोऽपः कर्मतापन्ना नपात्, अत एव निर्देशादलुप्, यद्वाऽपकृष्टमूनमपोनं तत्पातयति क्विप् अपकृष्टमन्नपान्नं तत्पातयति क्विप् ।

महेन्द्राद् वा ॥ 6. 2. 106. ॥

महेन्द्रशब्दात्सास्य देवतेत्यस्मिन् विषये तौ प्रत्ययौ वा भवतः । महेन्द्रीयम्, महेन्द्रियम्, पक्षे अण्-माहेन्द्रं हविः ॥106॥

क–सोमाट्ट्यण् ॥ 6. 2. 107. ॥

कशब्दात्सोमशब्दाच्च सास्य देवतेत्यस्मिन् विषये ट्यण् प्रत्ययो भवति, अणोऽपवादः । टकारो ङ्यर्थः । कः प्रजापतिर्देवतास्य कायं हविः, कायी इष्टिः, कशब्दं प्रति णित्त्वस्य वैयर्थ्यादालोपो न भवति । सोमो देवतास्य सौम्यं हविः, सौम्यं सूक्तम्, सौमी ऋक् ॥107॥

न्या०स०–कसोमाट्ट्यण्-अथ कायमित्यत्र लोपात्स्वरादेशः इति न्यायेन लोपात्पूर्वं वृद्धौ कृतायां पश्चादाकारलोपः कस्मान्न भवति ? इत्याह-कशब्दं प्रतीति अकारस्याकारस्य वा लोपे विशेषाभावात्, यद्वा सकृद्गते स्पर्द्धे यद्बाधितं तद्बाधितमेवेत्युपतिष्ठते ।

द्यावापृथिवी–शुनासीरा–ऽग्नीषोम–मरुत्वद्वा-स्तोष्पति–गृहमेधादीय–यौ ॥ 6. 2. 108. ॥

एभ्यः सास्य देवतेत्यस्मिन् विषये ईय य इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः, अणो ञ्यस्य चापवादः । द्यौश्च पृथिवी च द्यावापृथिव्यौ ते देवते अस्य द्यावापृथिवीयम् हविः द्यावापृथिव्यम्, शुनश्च वायुः सीरश्चादित्यः शुनासीरौ तौ देवता अस्य शुनासीरीयम् शुनासीर्यम् । अग्निश्च सोमश्च अग्नीषामौ तौ देवता अस्य अग्नीषोमीयम्, अग्नीषोम्यम्, मरुत्वान् देवतास्य मरुत्वतीयम्, मरुत्वत्यम्, वास्तोष्पतिर्देवतास्येति वास्तोष्पतीयम् वास्तोष्पत्यम्, गृहमेधो देवतास्य गृहमेधीयम् गृहमेध्यम्॥108॥

वाय्वृतु–पित्रुषसो यः ॥ 6. 2. 109. ॥

वायु ऋतु पितृ उषस् इत्येतेभ्यः सास्य देवतेत्यस्मिन् विषये यः प्रत्ययो भवति, अणोऽपवादः । वायुर्देवतास्य वायव्यम् । एवम् ऋतव्यम्, पित्र्यम्, उषस्यम् ॥109॥

*न्या०स०–वाय्वृतुपित्रु०–*उषस्यमिति संध्यावाचकः स्त्रीक्लीबः प्रभातवाचकस्तु नपुंसकलिङ्गः, उषा देवताऽस्येति विग्रहः ।

महाराज–प्रोष्टपदादिकण् ॥ 6. 2. 110. ॥

महाराज प्रोष्ठपद इत्येताभ्यां सास्य देवतेत्यस्मिन् विषये इकण् प्रत्ययो भवति । अणोऽपवादः । महाराजो देवतास्य माहाराजिकः । माहाराजिकी, प्रौष्ठपदिकः, प्रौष्ठपदिकी । ॥110॥

*न्या०स०–महाराज०–*पौष्टपदिक इति पौष्ठो गौस्तस्येव पादावस्य ``सुप्रातसुश्व'' (7. 3. 129.) इति डे निपातः प्रौष्ठपदः पुरुषः नामग्रहणेऽपि स्त्रीलिङ्गोऽपि नक्षत्रवाची प्रोष्ठपदाशब्दो ग्राह्यः, यदा प्रोष्टपदासु जातः ``जाते'' (6. 3. 98.) इत्यण् तदा ``प्रोष्ठभद्राज्जाते'' (7. 4. 13.) इत्युत्तरपदवृद्धौ प्रोष्टपाद इति स्यात्, बहुलग्रहणाद्बहुलमन्येभ्य इति जातार्थीयस्याणो न लुप्, बहुलग्रहणस्य लक्ष्यानुसारार्थत्वे व्याख्याततत्वात् ।

कालाद् भववत् ॥ 6. 2. 111. ॥

कालविशेषवाचिभ्यो नामभ्यो यथा भवेऽर्थे प्रत्यया वक्ष्यन्ते तथा सास्य देवतेत्यस्मिन् विषये भवन्ति । वत्सर्वसादृश्यार्थः, तेन यकाभ्यः प्रकृतिभ्यो येन विशेषणेन ये प्रत्यया भवेऽर्थे

भवन्ति ताभ्य एव प्रकृतिभ्यस्तेनैव विशेषणेन त एव प्रत्यया इह भवन्ति । यथा मासे भवं मासिकम्, सांवत्सरिकम्, हैमनम्, वासन्तम्, प्रावृषेण्यम् तथा मासो देवतास्य मासिकम्, सांवत्सरिकम्, हैमनम्, वासन्तम्, प्रावृषेण्यम् ।।111।।

आदेःछन्दसः प्रगाथे ।। 6. 2. 112. ।।

सेति प्रकृतिरस्येति प्रत्ययार्थश्चानुवर्तते । तयोर्यथाक्रमं विशेषणे आदेश्छन्दस इति प्रगाथे इति च, सेति प्रथमान्तादादिभूतात् छन्दसोऽस्येति षष्ठ्यर्थे प्रगाथेऽभिधेये यथाविहित प्रत्ययो भवति । यत्र द्वे ऋचौ प्रग्रन्थनेन प्रकर्षगानेन वा तिस्रः क्रियन्ते स मन्त्रविशेषः प्रगाथः । पङ्क्तिरादिर्यस्य प्रगाथस्य स पाङ्क्तः प्रगाथः, एवमानुष्टुभः, जागतः आदेरिति किम् ? अनुष्टुब्, मध्यमस्य प्रगाथस्य । छन्दस इति किम् । उदित्ययं शब्द आदिरस्य प्रगाथस्य । प्रगाथ इति किम् ? पङ्क्तिरादिरस्य अनुवाकस्य ।।112।।

न्या०स०–आदेःछन्दसः प्रगाथे इति प्रगथ्यते घञ्, अत एव निर्देशात् रनकारयोर्लोपः प्रगीयते वा कमिप्रुगार्तिभ्यस्थः, प्रग्रन्यनेन प्रकृष्टरचनाविशेषेण ।

प्रकर्षगानेन उच्चारविशेषेणेत्यर्थः । अनुवाकस्येति अनुवाकः पाठविशेषः तस्य ।

योद्धृ प्रयोजनाद् युद्धे ।। 6. 2. 113. ।।

सेति प्रथमान्तात् योद्धृवाचिनः प्रयोजनवाचिनश्चास्येति षष्ठ्यर्थे युद्धेऽभिधेये यथाविहितं प्रत्ययो भवति । विद्याधरा योद्धारः अस्य युद्धस्य वैद्याधरं युद्धम्, भारतं युद्धम्, प्रयोजनं प्रवृत्तिसाध्यं फलम् । सुभद्रा प्रयोजनमस्य युद्धस्य सौभद्रं युद्धम्, सौतारं युद्धम्, अत्र सुभद्रादिशब्दस्तत्प्राप्तौ वर्तत इति प्रयोजनम् । योद्धृप्रयोजनादिति किम् ? मासोऽस्य युद्धस्य । युद्ध इति किम् ? सुभद्रा प्रयोजनमस्य वैरस्य ।।113।।

भावघञोऽस्यां णः ।। 6. 2. 114. ।।

सेति प्रकृतिविशेषणमनुवर्तते । भावे यो घञ् तदन्तात् प्रथमान्तादस्यामिति स्त्रीलिङ्गे सप्तम्यर्थे णः प्रत्ययो भवति । प्रपातोऽस्यां वर्तते तिथौ प्रापाता, एवं दाण्डाघाता, मौसलपाता भूमिः, भावग्रहणं किम् ? प्रकारोऽस्याम्, प्रासादोऽस्याम् । घञ इति किम् ? श्येनपतनमस्याम् । स्त्रीलिङ्गग्रहणादिह न भवति । दण्डपातोऽस्मिन् दिवसे । इतिकरणानुवृत्तेः कचिन्न भवति । द्रोणपाकोऽस्यां स्थाल्याम्, केवलाच्च भाव घञन्तान्न भवति ।।114।

*न्या०स०—भावघञोऽस्यां०—*प्रापातेति यद्यपि प्रत्ययः प्रकृत्यादेः इति न्यायेन पात इत्येतदेव घञन्तं न समुदायस्तथापि, कृत् सगतिकारकस्यापीति प्रतातादिः समुदायो घञन्त एव ।

श्यैनम्पाता तैलम्पाता ॥ 6. 2. 115. ॥

श्येनशब्दस्य तिलशब्दस्य च भावघञन्ते पातशब्दे परे मान्तो निपात्यते, प्रत्ययस्तु पूर्वेणैव सिद्धः । श्येनपातोऽस्यां वर्तते श्यैनंपाता । तिलपातोऽस्यां वर्तते तैलंपाता तिथिः क्रियाभूमिः क्रीडा वा ॥115॥

प्रहरणात् क्रीडायां णः ॥ 6. 2. 116. ॥

प्रहरणवाचिनः प्रथमान्तादस्यामिति सप्तम्यर्थे क्रीडायां णः प्रत्ययो भवति । दण्डः प्रहरणमस्यां क्रीडायां दाण्डा, एवं मौष्टा, पादा, क्रीडा । प्रहरणादिति किम् ? माला भूषणमस्यां क्रीडायाम् । क्रीडायामिति किम् ? खड्गः प्रहरणमस्यां सेनायाम्, यत्राद्रोहेण घातप्रतिघातौ स्यातां सा क्रीडा । ``भावघञोऽस्यां णः'' (6. 2. 114.) इत्यनन्तरो णो नानुवर्तते क्रीडाया अर्थान्तरत्वात् यथा पूर्वसूत्रोपात्तः समूहाद्यर्थेषु ततो यथाविहितमेव प्रत्यया भवेदितीह पुनर्णग्रहणम् ॥116॥

*न्या०स०—प्रहरणात्-*समूहाद्यर्थेष्विति ``श्रवणाश्वत्थान्नाम्न्यः'' (6. 2. 8.) इत्यत्रोपात्तोऽप्रत्ययः ``षष्ठ्याः समूहे'' (6. 2. 9.) इत्यत्र यथा नानुवर्त्तते, अन्यथा भावघञोस्यां ण इत्यतोऽधिकारायातेनैव सिध्यति ।

तद् वेत्त्यधीते ॥ 6. 2. 117. ॥

तदिति द्वितीयान्तात् वेत्ति अधीते वेत्येतयोरर्थयोर्यथाविहितं प्रत्ययो भवति । मुहूर्तं वेत्ति मौहूर्तः, एवमौत्पात, नैमित्तः । केचित्तु मुहूर्तनिमित्तशब्दौ न्यायादौ पठन्ति तन्मते मौहूर्तिकः नैमित्तिकः छन्दोऽधीते छान्दसः, व्याकरणं वेत्त्यधीते वा वैयाकरणः, नैरुक्तः, घटं वेत्ति पटं वेत्तीत्यादावनभिधानान्न भवति । केचित्तु वेदनाध्ययनयोरेकविषयतायामेवेच्छन्ति । तन्मते अग्निष्टोमं यज्ञं वेत्तीत्यादावपि प्रत्ययो न भवति ॥117॥

*न्या०स०—तद्वेत्त्यधीते—*अग्निष्टोमं यज्ञमिति यज्ञो हि क्रियारूपस्तस्य च ज्ञानमेव घटते । नाध्ययनम्, ते च यत्र ज्ञानाध्ययने द्वे अपि घटेते तत्रैव प्रत्ययमिच्छन्ति नान्यत्र ।

न्यायादेरिकण् ॥ 6. 2. 118. ॥

न्यायादिभ्यो वेत्त्यधीते वेत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । न्यायं वेत्त्यधीते वा नैयायिकः, नैयासिकः, न्याय, न्यास, लोकायत, पुनरुक्त, परिषद्, चर्चा, क्रमेतर, श्लक्ष्ण, संहिता, पदे, पद, क्रम, संघट, संघटा, वृत्ति, संग्रह, आयुर्वेद, गण, गुण, स्वागम, इतिहास, पुराण, भारत, ब्रह्माण्ड, आख्यान, द्विपदा, ज्योतिष, गणित, अनस्त, लक्ष्य, लक्षण, अनुलक्ष्य, सुलक्ष्य, वसन्त, वर्षा, शरद्, वर्षाशरद्, हेमन्त, शिशिर, प्रथम, चरम, प्रथमगुण, चरमगुण, अनुगुण, अथर्वन्, आथर्वण इति न्यायादिः ॥118॥

*न्या०स०–न्यायादेरिकण्–*ननु न्यायः प्रतिपत्त्युपायः प्रज्ञाविशेषः कश्चिदुच्यते, तस्य च वेदनमेव संभवति नाध्ययनं तत्कथमुच्यते न्यायं वेत्यधीते वेति ? नैष दोषः, न्यायाभिधायि-शास्त्रस्यापि तादर्थ्यान्न्याय शब्देनाभिधानात्तस्य च वेदनाध्ययनयोः संभवादिति, एवं पूर्वसूत्रेऽ-प्यग्निष्टोमप्रतिपादकग्रन्थस्य वेदनाध्ययने संभवतः, न्यायशास्त्रं वा ।

पद–कल्प–लक्षणान्त–क्रत्वाख्याना–ऽऽख्यायिकात् ॥ 6. 2. 119. ॥

पदकल्पलक्षणशब्दान्तेभ्यः क्रत्वाख्यानाख्यायिकावाचिभ्यश्च वेत्यधीते वेत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । पदान्त, पौर्वपदिकः, औत्तरपदिकः, आनुपदिकः । बहुप्रत्ययपूर्वात्पदशब्दान्न भवति अनभिधानात् । कल्पान्त,–मातृकल्पिकः, पैतृकल्पिकः, पाराशरकल्पिकः, श्राद्धकल्पिकः, । लक्षणान्त,–गौलक्षणिकः, आश्वलक्षणिकः, हास्तिलक्षणिकः, आनुलक्षणिकः, सौलक्षणिकः । लाक्षणिक इति न्यायादित्वात् सिद्धम् । क्रतु-आग्निष्टोमिकः, वाजपेयिकः, ज्यौतिष्टोमिकः, राजसूयिकः, आख्यान, यावक्रीतिकः, यावक्रिकः, प्रैयंगविकः, प्रैयंगुकः, आविमारकिकः, आख्यायिका–वासवदत्तिकः, सौमनोहरिकः ॥119॥

*न्या०स०–पदकल्प०–*अनभिधानादिति-यथा ईषदपरिसमाप्तं पदं बहुपदं तद्वेत्यधीते वा, आख्यानेति अभिनयति गायन् पठन् यदेको ग्रन्थकस्तदाख्यानम्, व्याख्यानशब्दस्य न्यायादिपाठादेव इकण् सिद्ध इत्यर्थप्रधानोऽयं, एतत्साहचर्याच्च क्रत्वादीनामप्यर्थप्रधानानां ग्रहः, यावक्रीतिक इति यवैः क्रीतं, यवाः क्रीता अस्मिन्निति वा यवक्रीतनामाख्यानं, यवान् क्रीणातीति यवक्रीस्तमधिकृत्य कृतमाख्यानं, ``अमोधिकृत्य'' (6. 3. 198.) इत्यणि यावक्रं ततस्तद्वेत्यधीते वेतीकणि यावक्रिकः ।

अकल्पात् सूत्रात् ॥ 6. 2. 120. ॥

कल्पशब्दवर्जितात्परो यः सूत्रशब्दस्तदन्ताद्वेत्यधीते वेत्यर्थे इकण् प्रत्ययोभवति । वार्तिसूत्रिकः, सांग्रहसूत्रिकः । अकल्पादिति किम् ? सौत्रः, काल्पसौत्रः ॥120॥

*न्या०स०—अकल्पात् सूत्रात्—*सौत्र इति अकल्पादिति पर्युदासेन पूर्वपदाभावे न भवति ।

अधर्म—क्षत्र—त्रि—संसर्गा—ङ्गाद् विद्यायाः ॥ 6. 2. 121. ॥

धर्म क्षत्र त्रि संसर्ग अङ्ग इत्येतच्छब्दवर्जितात्परो यो विद्याशब्दस्तदन्ताद्वेत्यधीते वेत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । वायसविद्यिकः सार्पविद्यिकः । अधर्मादेरिति किम् । वैद्यः, धार्मविद्यः, क्षात्रविद्यः, त्र्यवयवा विद्या त्रिविद्या तां वेत्यधीते वा त्रैविद्यः, अत्र त्रिविद्याशब्दस्य कर्मधारयस्यैव ग्रहणम् न द्विगोः । तत्र लुपि सत्यामणिकणोर्विशेषाभावात् । त्रिविद्यः, सांसर्गविद्यः, आङ्गविद्यः ॥121॥

याज्ञिकौक्थिक—लौकायितिकम् ॥ 6. 2. 122. ॥

याज्ञिकादयः शब्दा वेत्यधीते वेत्यर्थे इकण्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते, याज्ञिकेति यज्ञशब्दाद्याज्ञिक्यशब्दाच्चेकण् इक्यलोपश्च निपात्यते । यज्ञं याज्ञिक्यं वा वेत्यधीते वा याज्ञिकः । औक्थिकेति उक्थशब्दः केषुचिदेव सामसु रूढः । यज्ञायज्ञीयात् परेण यानि गीयन्ते न च तेषु वर्तमानात्प्रत्यय इष्यते किं तर्हि तद्व्याख्याने औक्थिक्ये उपचारेण वर्तमानात् । उक्थमधीते औक्थिकः, औक्थिक्यमधीते इत्यर्थः । औक्थिक्यशब्दात्तु प्रत्ययो न भवत्यनभिधानात्, तस्मादपीच्छन्त्येके । औक्थिक्यमधीते औक्थिकः, लौकायितिकेति लोकायतशब्दादिकण् यकाराकारस्य चेकारो निपात्यते, लोकायतं वेत्यधीते वा लौकायितिकः । लौकायतिका इति तु न्यायादिपाठात्सिद्धम् ॥122॥

*न्या०स०—याज्ञिकौक्थिक०—*परेणेति अव्ययः पराणीत्यर्थः ।

अनुब्राह्मणादिन् ॥ 6. 2. 123. ॥

अनुब्राह्मणशब्दाद्वेत्यधीते वेत्यर्थे इन् प्रत्ययो भवति । ब्रह्मणा प्रोक्तो ग्रन्थो ब्राह्मणम् । ब्राह्मणसदृशो ग्रन्थोऽनुब्राह्मणम् । सदृशार्थेऽव्ययीभावः, तद्वेत्त्यधीते वानुब्राह्मणी । अनुब्राह्मणिनौ,

अनुब्राह्मणिनः, मत्वर्थीयेनैवेना सिद्धे अनभिधानाच्च इकस्याप्रवृत्तावण्बाधनार्थमिनो विधानम् ॥123॥

शत–षष्टेः पथ इकट् ॥ 6. 2. 124. ॥

शतषष्टि इत्येताभ्यां परो यः पथिन् शब्दस्तदन्ताद्वेत्यधीते वेत्यर्थे इकट् प्रत्ययो भवति। शतपथिकः, शतपथिकी, षष्टिपथिकः, षष्टिपथिकी ॥124॥

पदोत्तरपदेभ्य इकः ॥ 6. 2. 125. ॥

पदशब्द उत्तरपदं यस्य तस्मात्पदशब्दात्पदोत्तरपदशब्दाच्च वेत्यधीते वेत्यर्थे इकः प्रत्ययो भवति। पूर्वपदिकः, उत्तरपदिकः, पूर्वपदिका, उत्तरपदिका, पद पदिकः, पदिका, पदोत्तरपदिकः, पदोत्तरपदिका। बहुवचनं सर्वभङ्गपरिग्रहार्थम् ॥125॥

न्या०स०–पदोत्तरपदेभ्यः पदशब्द उत्तरपदं यस्य पदोत्तरपदश्च पदश्च पदोत्तरपदश्च सूत्रत्वादेकशेषः।

पद–क्रम–शिक्षा–मीमांसा–साम्नोऽकः ॥ 6. 2. 126. ॥

पद क्रम शिक्षा मीमांसा सामन् इत्येतेभ्यो तद्वेत्यधीते वेत्यर्थेऽकः प्रत्ययो भवति। पदकः, क्रमकः, शिक्षकः, मीमांसकः, सामकः। उपनिषच्छब्दादपीच्छति कश्चित्। उपनिषदकः, के सति शिक्षाका शिक्षिका शिक्षका। मीमांसाका मीमांसिका मीमांसकेति रूपत्रयं स्यात्। शिक्षिका मीमांसिकेति चेष्यते, तदर्थमकवचनम् ॥126॥

*न्या०स०–पदक्रम०–*रूपत्रयमिति ``इच्चापुंसोनित्क्याप्परे'' (2. 4. 107.) इत्यनेन।

स सर्वपूर्वात् लुप् ॥ 6. 2. 127. ॥

सपूर्वात्सर्वपूर्वाच्च वेत्यधीते वेत्यर्थे विहितस्य प्रत्ययस्य लुप् भवति। सवार्तिकमधीते सवार्तिकः, ससंग्रहः, अणो लुप्। सकल्पः, अत्रेकणः, सर्ववेदः, सर्वतन्त्रः, अत्राणः, सर्वविद्यः, अत्रेकणः। कथं द्विवेदः पञ्चव्याकरण इति? ``द्विगोरनपत्ये यस्वरादेर्लुबद्विः'' (6. 1. 24.) इति लुपि भविष्यति ॥127॥

संख्याकात् सूत्रे ॥ 6. 2. 128. ॥

संख्यायाः परो यः कः प्रत्ययो विहितस्तदन्तात्सूत्रे वर्तमानात् नाम्नो वेत्यधीते वेत्यर्थे उत्पन्नस्य प्रत्ययस्य लुब् भवति, अप्रोक्तार्थ आरम्भः। अष्टावध्यायाः परिमाणमस्य अष्टकं सूत्रम्। तद्विदन्ति अधीयते वा अष्टकाः पाणिनीयाः, आपिशलीयाः, त्रिकाः काशकृत्स्नाः, दशका उमास्वातीयाः, द्वादशका आर्हताः, संख्याग्रहणं किम् ? माहावार्तिकाः, कालापकाः। कादिति किम् ? चतुष्टयं सूत्रमधीयते चातुष्टयाः ॥128॥

न्या०स०—संख्याकात्०—अप्रोक्तार्थ आरम्भ इति अन्यथोत्तरेणैव सिध्यति, त्रयोदश चाध्याया मानमस्य अवयवात्तयट्बाधकः ``संख्याऽतेः कः'' (6. 4. 130.) त्रिकं दशकं च विदन्त्यधीयते वा यदा तु ``क्वचित्'' (5. 1. 171.) इति डे कलापोऽस्यास्ति, कलापिना प्रोक्तं ``तेन प्रोक्तं'' (6. 3. 181.) इत्यण् ``कलापि'' (7. 4. 72.) इत्यन्त्यस्वरादिलुप्, कुत्सितं कालापं कालापकं तद्विदन्ति अधीयते वा तदा लुप्यलुपि वा न विशेषो वृद्धेस्तथैव सद्भावात्।

प्रोक्तात् ॥ 6. 2. 129. ॥

प्रोक्तार्थविहितः प्रत्यय उपचारात् प्रोक्त इत्युच्यते, तदन्तान्नाम्नो वेत्यधीते वेत्यर्थे उत्पन्नस्य प्रत्ययस्य लुब् भवति। गोतमेन प्रोक्तं गौतमम्, तद्वेत्यधीते वा गौतमः। सुधर्मेण सुधर्मणा वा प्रोक्तं सौधर्मम् सौधर्मणं वा तद्वेत्यधीते वा सौधर्मः सौधर्मणः, एवं भाद्रवाहवः। पाणिनीयः, आपिशलः, स्त्रियां विशेषः। गौतमा सौधर्मा सौधर्मणा स्त्री इत्यादि। अणो लुप्यणन्तत्वाभावात् ङीर्न भवति ॥129॥

न्या०स०—प्रोक्तात्-सुधर्मेणेति शोभनो धर्मो यस्य ``द्विपदाद्धर्मादन्'' (7. 3. 141.) इत्यस्यैकेषां मते विकल्पः।

स्त्रियां विशेष इति नन्वत्र प्रत्ययलुप्यलुपि वाऽविशेषस्तत्किमर्थमिदं सूत्रं ? इत्याशङ्का ङीर्न भवति अत्र हि यस्यां स्त्रियां योऽण् विहितः, स लुप्तः यश्च विद्यते तस्य न स्त्री।

वेदेन्ब्राह्मणमत्रैव ॥ 6. 2. 130. ॥

प्रोक्तग्रहणमिहानुवर्तते। तच्च प्रथमान्तं विपरिणम्यते। प्रोक्तप्रस्ययान्तं वेदवाचि इनन्तं च ब्राह्मणवाचि अत्रैव वेत्यधीते वेत्येतद्विषये एव प्रयुज्यते, तेन स्वातन्त्र्यम् उपाध्यन्तरयोगो

वाक्यं च निवर्तते । वेद, कठेन प्रोक्तं वेदं विदन्त्यधीयते वा कठाः, एवं कलापिना कालापाः, मौदेन मौदाः । पैष्पलादेन पैष्पलादाः, ऋचाभेन आर्चाभिनः वाजसनेयेन वाजसनेयिनः, इन् ब्राह्मणं खल्वपि । ताण्ड्येन प्रोक्तं ब्राह्मणं विदन्त्यधीयते वा ताण्डिनः । भाल्लविना भाल्लविनः । शाट्यायनिना शाट्यायनेन वा शाट्यानिनः, ऐतरेयेण ऐतरेयिणः । इन्ग्रहणं किम् ? याज्ञवल्क्येन प्रोक्तानि ब्राह्मणानि याज्ञवल्क्यानि । ``शकलादेर्यञः'' (6. 3. 27.) इत्यञ्, सौलाभेन सौलाभानि । ``मौदादिभ्यः'' (6. 3. 180.) इत्यण् । ब्राह्मणमिति किम् । पिङ्गेनं प्रोक्तः पैङ्गी कल्पः । ब्राह्मण वेद एव तत्र वेद इत्येव सिद्धे अनिनन्तस्य नियमनिवृत्त्यर्थमिन्–ब्राह्मणग्रहणम् । प्रोक्तानुवर्तनं किमर्थम् । ऋचः यजूंषि सामानि मन्त्राः वेदः । आरम्भसामर्थ्यादवधारणे सिद्धे उभयावधारणार्थमेवकारः । प्रोक्तप्रत्ययान्तस्यात्रैव वृत्तिर्नान्यत्र तथात्र वृत्तिरेव न केवलस्य प्रोक्तप्रत्ययान्तस्यावस्थानम् । अन्यत्र त्वनियमात्कचित्स्वातन्त्र्यं भवति, अर्हता प्रोक्तमार्हतं शास्त्रम् । क्वचिदुपाध्यन्तरयोगः । आर्हतं महत्सुविहितमिति, क्वचिद्वाक्यम् । आर्हतमधीते, क्वचिद्वृत्तिः आर्हत इति । इह पुनर्नियमाद्युगपदेव विग्रहः । कठेन प्रोक्तमधीयते कठा इति ॥130॥

न्या०स०–वेदेन ब्राह्मण० प्रथमान्तमिति अर्थवशाद् विभक्तिपरिणामः, स्वातन्त्र्यमिति वेत्यधीते वेत्यर्थरहितं न प्रयुज्यत इत्यर्थः । उपाध्यन्तरयोग इति कठेन प्रोक्तं शोभनं वेदं विदन्त्यधीयते वा इति विशेषणयोगो न भवतीत्यर्थः । मुदपिप्पलादाभ्यामृष्यणि मौदः, पैप्पलादः ततो ``मौदादिभ्यः'' (6. 3. 182.) इतीयापवादोऽण्, ऋग्भिराभातीति ऋगाभः, पृषोदरादित्वात् गस्य चत्वे ऋचाभः, ततः प्रोक्ते शौनकादित्वाण्णिन्, तदन्तादञो लुप्, वाजसनाया अपत्यं ``ङ्याप्त्यूङः'' (6. 1. 70.) (इति) एयण्, शौणकादित्वाण्णिन् ततोऽण् लुप्, तण्डिन्शब्दाद्-गर्गादियञन्तात् शौनकादित्वाण्णिन् ततोऽण् लुप्, भल्लवशब्दादिञन्तात् प्रोक्तार्थे पूर्ववण्णिनादयः । शाट्यायनिन इति शटशब्दात् गर्गादियञन्तात् तिकाद्यायनिञ्, एके त्वयञन्तं तिकादौ पठन्ति तन्मते ``यञिञ'' (6. 1. 54.) इत्यायनणि पूर्ववत् शौनकादित्वात् णिन्नादौ शाट्यायनिनः, इतरस्यापत्यं शुभ्रादित्वादेयणि एतरेयः, ततः पूर्ववण्णिनादौ ऐतरेयिणः ।

इन्ग्रहणमिति तेन याज्ञवल्कानि ब्राह्मणानीत्यनिनन्तस्य वेद इति नियमो निवर्त्तते ।

प्रोक्तानुवर्त्तनमिति अयमर्थः, ऋगादयः शब्दा वेदवाचिनो भवन्ति न तु प्रोक्तप्रत्ययान्ता इति, यदि प्रोक्तग्रहणं नानुवर्त्तेत तदात्रापि वेत्यधीते वेत्येतद्विषय एवेति प्रयोगनियमः प्रसज्येत ततश्च ऋचस्तिष्ठन्ति इत्यादि वक्तुं न लभ्येत ।

आर्हत इतीति अर्हता प्रोक्तं ``तेन प्रोक्त'' (6. 3. 181.) इत्यण् आर्हतं वेत्यधीते वा अण् तस्य लुप् ।

तेन च्छन्ने रथे ।। 6. 2. 131. ।।

छन्न इति प्रत्ययार्थो रथ इति तस्य विशेषणम्, तेनेति तृतीयान्तात् छन्ने रथेऽभिधेये यथाभिहितं प्रत्ययो भवति । वस्त्रेण छन्नो रथः वास्त्रः, काम्बलः, चार्मणः, द्वैपेन चर्मणा द्वैपः, वैयाघ्रेण वैयाघ्रः । रथ इति किम् ? वस्त्रेण छन्नः कायः, छन्नशब्देन समन्ताद्वेष्टितं व्याप्तमुच्यते, तेनेह न भवति । पुत्रैः परिवृतो रथः, इह कथमण् भवति । न विद्यते पूर्वः पतिर्यस्याः सा अपूर्वा कुमारी तादृशीं कुमारीमुपपन्नः कौमारः पतिरिति, तत्र ``भवे'' (6. 3. 122.) इत्यण् भविष्यति । कुमार्यां भवः कौमारः पतिः धवयोगे तु कौमारी भार्येत्यपि सिद्धम् ।।131।।

*न्या०स०–तेन०–*वैयाघ्रेणेति व्याघ्रस्य विकारः ``प्राण्यौषधि'' (6. 2. 31.) इत्यण्, इदमर्थे त्वीयः स्यात् ।

कथमण् भवतीति परैस्तावदत्र कौमारापूर्ववचन इति कौमारशब्दोऽणन्तो वृत्तिप्रदर्शितेऽर्थे निपात्यते, स्वमते त्वस्मिन्नर्थेऽण्विधायकसुत्राभावात् कथम् ? इत्याशङ्का ।

पाण्डुकम्बलादिन् ।। 6. 2. 132. ।।

पाण्डुकम्बलशब्दात्तृतीयान्ताच्छन्ने रथे वाच्ये इन् प्रत्ययो भवति, अणोऽपवादः । पाण्डुकम्बलेन छन्नः पाण्डुकम्बली रथः ।।132।।

दृष्टे साम्नि नाम्नि ।। 6. 2. 133. ।।

दृष्ट इति प्रत्ययार्थस्तस्य साम्नीति विशेषणम् । तेनेति तृतीयान्तात् दृष्टं सामेत्यस्मिन् अर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति नाम्नि प्रत्ययान्तं चेत्साम्नो नाम भवति । क्रुञ्चेन दृष्टं साम क्रौञ्चम्, मृगीयुणा मार्गीयवम्, एवं मायूरम् । तैत्तिरम्, वासिष्ठम्, वैश्वामित्रम्, कालेयम्, आग्नेयम्, एवं नामानि सामानि ।।133।।

*न्या०स०–दृष्टे०–*क्रुञ्चेनेति नडादिगणपाठात् क्रुञ्चाशब्दस्य ह्रस्वः ।

गोत्रादङ्कवत् ।। 6. 2. 134. ।।

गोत्रवाचिनस्तृतीयान्तात् दृष्टं सामेत्यस्मिन्नर्थे अङ्कवत् प्रत्ययो भवति । यथा तस्यायमङ्क

इत्यत्रेदमर्थे प्रत्ययो भवति तथा दृष्टं सामेत्येतस्मिन्नर्थेऽपि। औपगवेन दृष्टं साम औपगवकम्, कापटवकम्, वाहतवकम्। अङ्क इति विशेषोपादानेऽपि तस्येदमित्यर्थमात्रं परिगृह्यते ॥134॥

वामदेवाद् यः ॥ 6. 2. 135. ॥

वामदेवशब्दात्तृतीयान्तात् दृष्टे सामनि यः प्रत्ययो भवति। वामदेवेन दृष्टं साम वामदेव्यम् ॥135॥

डिद् वाऽण् ॥ 6. 2. 136. ॥

दृष्टं सामेत्यस्मिन्नर्थे योऽण् प्रत्ययो विहितः स डिद् वा भवति। उशनसा दृष्टं साम औशनम्, औशनसम् ॥136॥

वा जाते द्विः ॥ 6. 2. 137. ॥

जात इत्यस्मिन्नर्थे योऽण् प्रत्ययो द्विर्विहित उत्सर्गेण प्राप्तोऽपवादेन बाधितः सन् पुनर्विहितः स डिद् वा भवति। शतभिषजि जातः शातभिषः शातभिषजः। द्विरिति किम्? हिमवति जातो हैमवतः, केचित्तु द्विर्डित्त्वमिच्छन्ति, तन्मते द्विर्डित्त्वात् द्विरन्त्यस्वरादिलोपे शातभ इत्यपि भवति, एवं पूर्वसूत्रेऽपि। औशं साम, एवं च योगद्वयेऽपि त्रैरूप्यं सिद्धम् ॥137॥

न्या०स०—वा जा०—शातभिष इति शतं भिषजोऽस्याः शतभिषजा चन्द्रयुक्तया युक्तः कालोऽण्, लुप् ``जाते'' (6. 3. 98.) इत्यणो बाधको ``वर्षाकालेभ्यः'' (6. 3. 80.) इकण् पुनस्तद्बाधको ``भर्तुसंध्यादेरण्'' (6. 3. 89.)।

इत्याचार्य श्री हेमचन्द्र० षष्ठस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः।

तत्रोद्धृते पात्रेभ्यः ॥ 6. 2. 138. ॥

तत्रेति सप्तम्यन्तात्पात्रवाचिनः उद्धृत इत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। शरावेषु उद्धृत ओदनः शारावः, माल्लकः, कार्परः। पात्रेभ्य इति। किम्? पाणावुद्धृत ओदनः, बहुवचनं पात्रविशेषपरिग्रहार्थम् ॥138॥

स्थण्डिलाच्छेते व्रती ॥ 6. 2. 139. ॥

स्थण्डिलशब्दात्सप्तम्यन्ताच्छेते इत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति योऽसौ शेते स

चेद्व्रती भवति । तत्र शयनव्रतोऽन्यत्र शयनान्निवृत्त इत्यर्थः, स्थण्डिल एव शेते स्थाण्डिलो भिक्षुः । व्रती इति किम् ? स्थण्डिले शेते बालः ॥139॥

संस्कृते भक्ष्ये ॥ 6. 2. 140. ॥

संस्कृत इति प्रत्ययार्थः । तस्य विशेषणं भक्ष्य इति । तत्रेति सप्तम्यन्तात्संस्कृते भक्ष्ये यथाविहितं प्रत्ययो भवति । सत उत्कर्षाधानं संस्कारः, भ्राष्ट्रे संस्कृता भ्राष्ट्रा अपूपाः, एवं कैलासाः । पात्राः । भक्ष्ये इति किम् ? फलकं संस्कृता माला ॥140॥

शूलोखाद् यः ॥ 6. 2. 141. ॥

शूलोखाशब्दाभ्यां सप्तम्यन्ताभ्यां संस्कृते भक्ष्ये यः प्रत्ययो भवति । शूले संस्कृतं शूल्यं मांसम्, उखायाम् उख्यम् ॥141॥

क्षीरादेयण् ॥ 6. 2. 142. ॥

क्षीरशब्दात्सप्तम्यन्तात्संस्कृते भक्ष्ये एयण् प्रत्ययो भवति । क्षीरे संस्कृतं भक्ष्यं क्षैरेयम् । क्षैरेयी यवागूः ॥142॥

दन्ध इकण् ॥ 6. 2. 143. ॥

दधिशब्दात्सप्तम्यन्तात् संस्कृते भक्ष्ये इकण् प्रत्ययो भवति, दध्नि संस्कृतं भक्ष्यं दाधिकम् । ननु च संस्कृतार्थे इकण् वक्ष्यते तेनैव सिद्धम् ? न सिध्यति । दध्ना हि तत्संस्कृतं यस्य दधिकृतमेवोत्कर्षाधानम्, इह तु दधि केवलमाधारभूतं द्रव्यान्तरेण तु लवणादिना संस्कारः क्रियते ॥143॥

वोदश्वितः ॥ 6. 2. 144. ॥

उदश्विच्छब्दत्सप्तम्यन्तात् संस्कृते भक्ष्ये इकण् प्रत्ययो वा भवति । उदकेन श्वयति उदश्वित्, अत एव निर्देशाद्ख्वृदभावः तत्र संस्कृतं भक्ष्यमौदश्वितम् औदश्वित्कम् ॥144॥

क्वचित् ॥ 6. 2. 145. ॥

अपत्यादिभ्योऽन्यत्राप्यर्थे क्वचिद्यथाविहितं प्रत्ययो भवति । चक्षुषा गृह्यत इति चाक्षुषं

रूपम्, श्रावणः शब्दः, रासनो रसः, दृषदि पिष्टा दार्षदाः सक्तवः, उदूखले क्षुण्ण औदूखलो यावकः, चतुर्दश्यां दृश्यते चातुर्दशं रक्षः, चतुर्भिरुह्यते चातुरं शकटम्, अश्वैरुह्यते आश्वो रथः, संप्रति युज्यते सांप्रतम् सांप्रतः ॥145॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानुशासनबृहद्वत्तौ षष्ठस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ 6. 2. 6. ॥

मृदित्वा दोःकण्डूं समरभुवि वैरिक्षितिभुजाम्–
भुजादण्डे दध्रुः कति न नवखण्डां वसुमतीम् ॥
यदेवं साम्राज्ये विजयिनि वितृष्णेन मनसा यशो
योगीशानां पिबसि नृप ! तत्कस्य सदृशम् ॥1॥

अथ तृतीयः पादः

शेषे ।। 6. 3. 1.।।

अधिकारोऽयम् यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः शेषेऽर्थे तद्वेदितव्यम्, उपयुक्तादन्यः शेषः, अपत्यादिभ्यः संस्कृतभक्ष्यपर्यन्तेभ्यो योऽन्योऽर्थः स शेषः, तस्येदंविशेषा ह्यपत्यसमूहादयः तेषु वक्ष्यमाणा एयणादयो मा भून्निवृत्ति शेषाधिकारः क्रियते । किंच सर्वेषु प्राक् जितात् कृतादिषु वक्ष्यमाणाः प्रत्यया यथा स्यः अनन्तरेणैवार्थनिर्देशेन कृतार्थता माविज्ञायि इति साकल्यार्थं शेषवचनम् ।।1।।

*न्या०स०–शेषे–*तस्येदमिति एयणादयश्च तस्येमित्यर्थे विहितास्ततश्चापत्यसमूहादिष्वपि प्राप्नुवन्ति तद्विशेषत्वात्तेषाम् । तेष्विति अपत्यसमूहादिषु अन्यत्रोपयुक्तत्वात्तेषां, न केवलमपत्यादिषु एयणादीनां निवृत्तये शेषाधिकारः क्रियते, यावत्सर्वेषु कृतजातादिषु अस्येति षष्ठ्यर्थपर्यन्तेष्वेयणादीनां प्रवृत्त्यर्थश्चेत्याह–किंचेत्यादि अयमर्थः, संनिहितत्वात् कृतलब्धक्रीतादिष्वर्थेषु एयणादीनां प्रवृत्तेर्व्यवहितेष्वर्थेषु प्रवृत्तिर्न भविष्यतीत्येवं शङ्का माभूदित्यर्थः ।

नद्यादेरेयण् ।। 6. 3. 2. ।।

नद्यादिभ्यो यथासंभवं प्राग्जितीये शेषेऽर्थे एयण् प्रत्ययो भवति । नद्यां जातो भवो वा नादेयः, माहेयः, वानेयः, वन्य इति तु साधौ यः । शेषः इति किम् ? नदीनां समूहो नादिकम्, नदी, मही, वाराणसी, श्रावस्ती, कौशाम्बी, वनकौशाम्बी, वनवासी, काशफरी, खादिरी, पूर्वनगर, पूर्वनगरी, पुर, वन, गिरि, पुर, वनगिरि, पूर्वनगिरि, पावा, मावा, माल्वा, दार्वा, सेतकी, सैनवी इति नद्यादिः । इतः प्रभृति प्रकृतिविशेषोपादानमात्रेण प्रत्यया विधास्यन्ते तेषां कृतादयोऽर्था विभक्तयश्च परस्ताद्वक्ष्यन्ते ।।2।।

*न्या०स०–नद्यादे०–*अथ गणः, नदति शब्दायते अवगाह्यमाना सती अचि नदी, मह्यते पूज्यते राजभिः मह इत्यकारान्ताद् वा ङी मही, वरः आणः शब्दो येषां वराणा वृक्षाः, तेऽत्र सन्ति वराणसा भद्दारिका तस्था अदूरभवा नगरी वाराणसी, शृण्वन्तं प्रयुङ्क्ते श्रावयति श्रावः, असि श्रावसं, तायते ``क्वचित्'' (5. 1. 171.) (इति) डे, गौरादित्वात् ङ्यां श्रावस्ती,

कुशेनाम्बो यस्य कुश्यति वा ``तुम्बस्तुम्ब'' 320 (उणादि) इति कुशाम्बस्तेन निर्वृत्ता कौशाम्बी नगरी, वनप्रधाना कौशाम्बी नगरी, वनप्रधाना कौशाम्बी, कौ पृथिव्यां शाम्यति ``शम्यमे'' 318 (उणादि) कुशम्बस्तेन निर्वृत्ता कौशाम्बी नगरी वनप्रधानाकौशाम्बी ।

वनं वासयति ``कर्मणोऽण्'' (5. 1. 72.) वनवासी अटवी, ``शपेः फच'' 401 (उणादि) इति शफरः, कु ईषत् शफरो मत्स्यो यस्याः ``अल्पे'' (3. 2. 136.) कादेशे काशफरी, खदिरा अत्र सन्ति, ``तदत्रास्ति'' (6. 2. 70.) खादिरी ।

पूर्वं च तत् नगरं च पूर्वनगरं, पूर्वति ``निधृषि'' 511 (उणादि) इति वा पूर्वः नश्यन्ति अत्र चौरा इति नगरी, पूर्वा चासौ नगरी च पूर्वनगरी पूर्व नगिरीति ``नाम्युपान्त्य'' 609 (उणादि) इति प्रसाधि ।

पूर्यते ``गॄपॄदुर्वि'' 943 (उणादि) इति पुर ।

वन्यते ``वर्षादयः'' (5. 3. 29.) इति वनं, गिरन्ति श्वापदा अत्र ``नाम्युपान्त्य'' 609 (उणादि) इति गिरिः, वनप्रधानो गिरिः वनगिरिः, न विद्यते गिरिर्यस्य नगिरिः, न गृणाति वा नगिरिः, पूर्वश्चासौ नगिरिश्च ।

पवमानं मवमानं भवन्तं वा प्रयुङ्क्ते पात्रयति मावयति पाया, मावा । मलमानं प्रयुङ्क्ते मालयति ``प्रह्व'' 514 (उणादि) इति माल्वा, दृणाति ``प्रह्व'' 514 (उणादि) इति दार्वा, सां लक्ष्मीमितः प्राप्तः सेतः को ब्रह्मा यस्यां सेतकी, गौरादित्वात् ङ्यां, सेतुः सेतु-बन्धोऽत्रास्ति ``तदत्रास्ति'' (6. 2. 70.) सेतवी, इति नद्यादिः ।

राष्ट्रादियः ॥ 6. 3. 3. ॥

राष्ट्रशब्दात्प्राग्जितीये शेषेऽर्थे इयः प्रत्ययो भवति । राष्ट्रे क्रीतः कुशलो जातो भवो वा राष्ट्रियः । शेषे इत्येव ? राष्ट्रस्यापत्यं राष्ट्रिः ॥3॥

दूरादेत्यः ॥ 6. 3. 4. ॥

दूरशब्दात् शेषेऽर्थे एत्यः प्रत्ययो भवति । दूरे भवो दूरेत्यः ॥4॥

उत्तरादाहञ् ॥ 6. 3. 5. ॥

उत्तरशब्दाच्छेषेऽर्थे आहञ् प्रत्ययो भवति । औत्तराहः, औत्तराहा स्त्री, औत्तराहीति उत्तराहिशब्दाद्भवार्थेऽणि ॥5॥

न्या०स०—उत्तरा०—उत्तराहिशब्दादिति उत्तरा दिग्देशो वा रमणीयः ``वोत्तरात्'' (7. 2. 121.) इत्याहिः प्रत्ययः, कालार्थत्वे त्वाहिप्रत्ययान्तात् ``सायंचिरं'' (6. 3. 88.) इति तनडेव न त्वण् ।

पारावारादीनः ।। 6. 3. 6. ।।

पारावारशब्दाच्छेषेऽर्थे ईनः प्रत्ययो भवति । अवारस्समुद्रस्तस्य पारम् राजदन्तादित्वात्पारावारस्तत्र भवो जातो वा पारावारीणः ।।6।।

व्यस्त–व्यत्यस्तात् ।। 6. 3. 7. ।।

पारावारशब्दाद् व्यस्ताद्विपर्यस्ताच्च ईनः प्रत्ययो भवति । पारीणः, अवारीणः, अवारपारीणः ।।76।।

न्या०स०—व्यस्त०—अवारपारीण इति राजदन्तादित्वाद्विकल्पेन पूर्वनिपातो न ।

द्युप्रागपागुदक्–प्रतीचो यः ।। 6. 3. 8. ।।

दिव्शब्दात् प्राच् अपाच् उदच् प्रत्यच् इत्येतेभ्यश्चाव्ययानव्ययेभ्यः शेषेऽर्थे यः प्रत्ययो भवति । दिवि भवं दिव्यम्, प्राचि प्राग्वा भवं प्राच्यम्, एवमपाच्यम्, उदीच्यम्, प्रतीच्यम् । दिग्देशवृत्तेः प्रागादेरयं यः कालवृत्तेस्त्वव्ययात्परत्वात् ``सायम्''–(6. 3. 87.) इत्यादिना तनट् । अनव्ययात्तु ``वर्षाकालेभ्यः'' (6. 3. 79.) इतीकण् । प्राक्तनम् प्राचिकमित्यादि ।।8।।

न्या०स०—द्युप्रा०—प्रागादयः क्विबन्तास्ते श्वाप्रत्ययान्ता अव्ययसंज्ञास्तदनुत्पत्ताव-नव्ययसंज्ञा, विशेषानुपादानाच्चोभयेषामपि ग्रहणम् ।

ग्रामादीनञ् च ।। 6. 3. 9. ।।

ग्रामशब्दाच्छेषेऽर्थे ईनञ् चकाराद्यश्च प्रत्ययो भवति । ग्रामीणः ग्राम्यः, अकारः पुंवद्भावप्रतिषेधार्थः, ग्रामीणा भार्याऽस्य ग्रामीणाभार्यः ।।9।।

कत्र्यादेश्चैयकञ् ।। 6. 3. 10. ।।

कश्चि इत्येवमादिभ्यो ग्रामशब्दाच्च शेषेऽर्थे एयकञ् प्रत्ययो भवति । कात्रेयकः पौष्करेयकः, ग्राम, ग्रामेयकः, एवं च ग्रामशब्दस्य त्रैरूप्यं भवति । कत्रि, पुष्कर, पुष्कल, पौदन, उम्पि,

उम्भि, ओम्भि, कुम्भी, कुण्डिना, नगर, महिष्मती, वर्मवती, चर्मण्वती इति कत्र्यादिः। नगरशब्दो महिष्मत्यादिसाहचर्यात् संज्ञायामेयकञमुत्पादयति अन्यत्राणमेव। ॥10॥

न्या०स०—कत्र्या०—कत्र्यादि गणो विव्रियते—कुत्सितास्त्रयो धर्मार्थकामा यस्य कत्रिः, पांक् क्विप्, पा ओदनो यस्य पौदनः, उभत् ``पदिपठि'' 607 (उणादि) इति भण्यादित्वादौ भस्य वा पत्वे उम्पि, उम्भि, उम्भस्यापत्यं इञि औम्भि, कुम्भाज्जातौ ङ्यां कुम्भी, कुदुङ् ``विपिन'' 284 (उणादि) इति कुण्डिना, महिषा अत्र सन्ति महिष्मती, चर्माणि तनोति ``क्वचित्'' (5. 1. 171.) इति डे गौरादिङ्याम्।

संज्ञायामिति अयमर्थो महिष्मत्यादयो नगर्यादिवाचकाः संज्ञाशब्दास्तत् साहचर्यान्नगर-शब्दोऽपि स्थानविशेषवाची प्रत्ययं जनयति न सामान्यपत्तनवाची तर्हि कथं नागरो ब्राह्मणः ? सत्यं देवतार्थे भविष्यति।

कुण्ड्यादिभ्यो यलुक् च ॥ 6. 3. 11. ॥

कुण्ड्यादिभ्यः शेषेऽर्थे एयकञ् प्रत्ययो भवति तत्संनियोगे यलुक् चैषां भवति। कौण्डेयकः, कौणेयकः। कुण्ड्या, कुण्या, उक्ष्या, भाण्ड्या, ग्रामकुड्या, तृण्या, वन्या, पल्या, पुल्या, मुल्या इति कुण्ड्यादिः। बहुवचनं प्रयोगानुसरणार्थम् ॥11॥

कुल—कुक्षि—ग्रीवाच्छ्वाऽस्यलङ्कारे ॥ 6. 3. 12. ॥

कुलकुक्षिग्रीवा इत्येतेभ्यो यथासंख्यं श्वास्यलङ्कारविशिष्टे प्राग्जितीये शेषेऽर्थे एयकञ् प्रत्ययो भवति, अणोऽपवादः। कुले शुद्धान्वये भवो जातो वा कौलेयकः श्वा, कौलोऽन्यः। कौक्षेयकोऽसिः, यः कङ्ककुक्षिर्निजीर्णेनायसा कृतः। कौक्षोऽन्यः, ग्रैवेयकोऽलंकारः, ग्रैवोऽन्यः ॥12॥

न्या०स०—कुल०—कुक्षौ ग्रीवायां जातः भवे तु ``दृतिकुक्षि'' (6. 3. 130.) इति ``ग्रीवातोऽण् च'' (6. 3. 132.) (इति) स्यात्।

दक्षिणा—पश्चात्—पुरसस्त्यण् ॥ 6. 3. 13. ॥

एभ्यः शेषेऽर्थे त्यण् प्रत्ययो भवति, अणोपवादः। दक्षिणा दिक् तस्यां भवो दाक्षिणात्यः अथवा दक्षिणस्यां दिशि वसति ``वा दक्षिणात्प्रथमासप्तम्या आ'' (7. 2. 119.) इत्याप्रत्यये

दक्षिणा तत्र भवो दाक्षिणात्यः पाश्चात्यः, पौरस्त्यः, पश्चात्पुरःशब्दसाहचर्याद्दक्षिणा इति दिक्शब्दोऽव्ययं वा गृह्यते, तेनेह न भवति, दक्षिणायां भवानि दाक्षिणानि जुहोति । अत्र दक्षिणाशब्दो गवादिवचनः, अव्ययादेवेच्छन्त्येके ।।13।।

न्या०स०–दक्षि०–दाक्षिणात्य इति ``कौण्डिन्यागस्तयोः'' (6. 1. 127.) इति कौण्डिन्य-निर्देशात् पुंभावोऽनित्यः, तेन ``सर्वादयोऽस्यादौ'' (3. 2. 61.) (इति) न, यदा त्वाप्रत्ययस्तदा अव्ययत्वात् ङेर्लुपि दक्षिणाभवः पुंभावोऽपि न असर्वादित्वात् ।

पाश्चात्य इति अपरा दिक् देशो वा रमणीयः, ``अधरापराच्चात्'' (7. 2. 115.) पूर्वा पूर्वो वा दिक् देशो वा रमणीयः, ``पूर्वावराधरेभ्य'' (7. 2. 115.) इत्यस्, पश्चाद्भवः पुरोभवः ।

वहल्यूर्दि–पर्दि–कापिश्याष्टायनण् ।। 6. 3. 14. ।।

वह्लि ऊर्दि पर्दि कापिशी इत्येतेभ्यः शेषेऽर्थे टायनण प्रत्ययो भवति । वाह्लायनः, बाह्लायनी, और्दायनः, और्दाथनी, पार्दायनः, पार्दायनी । कापिशायनं मधु, कापिशायनी द्राक्षा, वल्हीति ऊष्मोपान्त्यः । केचिदत्र वकारं दीर्घान्तं पठन्ति ।।14।।

न्या०स०–वहल्य-वल्हिः देशविशेषः, ऊर्दिः क्रीडा, पर्दिः पर्दनक्रीडा, कपिशा मर्कटा अत्र सन्ति, तदत्रास्ति कापिशी अटवी ।

रङ्कोः प्राणिनि वा ।। 6. 3. 15. ।।

रङकुशब्दात्प्राणिविशिष्टे शेषेऽर्थे टायनण् प्रत्ययो वा भवति । राङ्कवायणः, पक्षेऽण् । राङ्कवो गौः । प्राणिनीतिः किम् ? राङ्कवः कम्बलः । मनुष्ये तुप्राणिन्यपि कच्छादिपाठात् ``कच्छादेर्नृनृस्थे'' (6. 3. 54.) इति परत्वादकञेव भवति । राङ्कवको मनुष्यः ।।15।।

क्वेहाऽमा–त्र–तसस्त्यच् ।। 6. 3. 16. ।।

क्व इह अमा इत्येतेभ्य–स्त्र–तस्प्रत्यान्तेभ्यश्च शेषेऽर्थे त्यच् प्रत्ययो भवति । क्वत्यः, इहत्यः, अमात्यः, तत्रत्यः, यत्रत्यः, ततस्त्यः, यतस्त्यः, कुतस्त्यः । आविश्शब्दादपि कश्चित् । आविष्ट्यः, चकारस्त्यण्त्यचोः सामान्यग्रहणाविघातार्थः ।।16।।

न्या०स०–ववेहा०–अत्र तसितस् सानुबन्धित्वान्न गृह्येते, कौश्चित्प्रातस्त्यप् इति सूत्रं व्यवधायि, तेन प्रातस्त्य इत्यपि सिद्धं, स्वमते तु ``क्वेह'' (6. 3. 16.) इत्याद्यव्ययोपलक्षणं, तेन यथार्थदर्शनमन्येषामपि अव्ययानां भवति ।

सामान्यग्रहणेति अन्यथा ``स्वज्ञाजभस्त्र'' (2. 4. 108.) इत्यादौ त्यग्रहणे निरनुबन्धत्वादस्यैव ग्रहः स्यात् ।

नेर्ध्रुवे ।। 6. 3. 17. ।।

निशब्दात् ध्रुवेऽर्थे त्यच् प्रत्ययो भवति । नित्यं ध्रुवम् ।।17।।

निसो गते ।। 6. 3. 18. ।।

निस्शब्दाद्गतेऽर्थे त्वच् प्रत्ययो भवति । निर्गतो वर्णाश्रामेभ्यो निष्ट्यश्चण्डालः ।।18।।

ऐषमो–ह्यस्–श्वसो वा ।। 6. 3. 19. ।।

ऐषमस्, ह्यस्, श्वस् इत्येतेभ्यः शेषेर्थे त्वच् प्रत्ययो वा भवति । ऐषमस्त्यम्, ऐषमस्तनम्, ह्यस्त्यम्, ह्यस्तनम्, श्वस्त्यम्, श्वस्तनम् । ``श्वसस्तादिः'' (6. 3. 83.) इति इकणपि भवति । शौवस्तिकम् ।।19।।

कन्थाया इकण् ।। 6. 3. 20. ।।

कन्था ग्रामविशेषः, कन्थाशब्दात् शेषेऽर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । कान्थिकः ।।20।।

वर्णावकञ् ।। 6. 3. 21. ।।

वर्णुर्नाम ह्रदः । तस्य समीपो देशोऽपि वर्णुः तत्र या कन्था ततः शेषेऽर्थेऽकञ् प्रत्ययो भवति । इकणोऽपवादः । कान्थकः ।।21।।

रूप्योत्तरपदाऽरण्याण्णः ।। 6. 3. 22. ।।

रूप्योत्तरपदादरण्यशब्दाच्च शेषेऽर्थे णः प्रत्ययो भवति । वार्करूप्यः वार्करूप्या । शैविरूप्यम्, शैवरूप्यम्, आरण्याः सुमनसः, आरण्याः पशवः । माणिरूप्ये जातो माणिरूप्यक इत्यत्र तु दुसंज्ञकत्वेन परत्वात् ``प्रस्थपुर''–(6. 3. 42.) इत्यादिना ञ्योपान्त्यलक्षणोऽकञेव

भवति । अन्तग्रहणेनैव सिद्धे उत्तरपदग्रहणं बहुप्रत्ययपूर्वनिवृत्त्यर्थम् । बाहुरूप्यी ।।22।।

दिक्पूर्वादनाम्नः ।। 6. 3. 23. ।।

दिक्पूर्वपदादनाम्नोऽसंज्ञाविषयाच्छेषेऽर्थे णः प्रत्ययो भवति, अणोऽपवादः । पौर्वशालः, पौर्वशाला, आपरशालः, आपरशाला । अनाम्न इति किम् ? पूर्वेषुकामशमी नामः ग्राम, तस्यां भवः पूर्वेषुकामशमः, एवमपरैषुकामशमः, पूर्वकार्ष्णमृत्तिका, अपरकार्ष्णमृत्तिका । ``प्राग्ग्रामाणाम्'' (7. 4. 17.) इत्युत्तरपदवृद्धिः ।।23।।

न्या०स०—दिक्पू०—पौर्वशाला इति यदा पूर्वशब्दो देशकालवाची तदा पूर्वशालायां भवाणि पौर्वशालीति भवति, यदा तु पूर्वशब्दो दिक्शब्दस्तदा पूर्वस्यां शालायां भवस्तद्धितविषये ``दिगधिकम्'' (2. 1. 98.) इति तत्पुरुषकर्मधारयौ द्विगुस्तु संख्यापूर्वपदत्वाभावात् तदाऽनेन णः ।

मद्राद्ञ् ।। 6. 3. 24. ।।

मद्रान्ताद्दिक्पूर्वपदाच्छेषेर्थेऽञ् प्रत्ययो भवति । पूर्वेषु मद्रेषु भवः पौर्वमद्रः, पौर्वमद्री, ``बहुविषयेभ्यः'' (6. 3. 44.) इत्यकञ् प्राप्तस्तदपवादे ``वृजिमद्राद्देशात्कः'' (6. 3. 37.) इति के प्राप्तेऽञ्वचनम् । केवलादेव मद्रादकञ्क-विधिरिति चेत् तर्हीदमेव ज्ञापकं सुसर्वार्धदिक्शब्देभ्यो जनपदस्योति तदन्तविधेः । तेन सुपाञ्चालकः, सर्वपाञ्चालकः, अर्धपाञ्चालकः, पूर्वपाञ्चालकः, अपरपाञ्चालकः, सुमागधकः, सर्वमागधकः, सुवृजिकः, सुमद्रकः इत्यादि सिद्धम् ।।24।।

न्या०स०—मद्रा०—ननु अधिकारायातो ण एव भविष्यति किमञ्करणेन ? सत्यं, णाधिकारे अञ्वचनं ङ्यर्थं, तथापि न कर्तव्यं मद्रादित्येव कृते यथाविहितः प्राग्जितादणेव भविष्यति, न तु णः, कुतः दिक्पूर्वान्मद्राच्चानाम्न इत्येकयोगाकरणात् ? सत्यं, मद्रादित्येव सिद्धौ यो हि येन बाधितो न प्राप्नोति तदर्थमिदं स्यादिति कबाधिताकञर्थ स्यात्, स माभूदित्येवमर्थ, उत्तरार्थं चेति शकटः ।

उदग्ग्रामाद् यकृल्लोम्नः ।। 6. 3. 25. ।।

उदग्ग्रामवाचिनो यकृल्लोमन्शब्दाच्छेषेऽर्थेऽञ् प्रत्ययो भवति । याकृल्लोमः । उदग्ग्रामादिति किम् । अन्यस्मादणेव । याकृल्लोमनः । यकृल्लोम्न इति किम् ? प्रेक्षिणि भवः प्रैक्षिणः, कोष्टिन्यां भवः कौष्टिनः ।।25।।

गौष्ठी–तैकी–नैकेती–गोमती–शूरसेन–वाहीक-रोमक–पटच्चरात् ॥6. 3. 26. ॥

गौष्ठ्यादिभ्यः शेषेऽर्थेऽञ् प्रत्ययो भवति गौष्टः, तैकः, नैकेतः, एभ्यो वाहीकग्रामलक्षणयोर्णिकेकणोस्तैक्याः कोपान्त्यलक्षणस्येयस्य चापवादः । गौमतः, अस्मिन्नील्लक्षणस्याकञः। शौरसेनः, अत्र राष्ट्राकञः । वाहीकः, रौमकः । अत्र दुलक्षणस्येयस्य । पाटच्चरः, अत्र रोपान्त्यलक्षणस्याकञः । एके तु गौष्ठीस्थाने गोष्ठीं तैकीस्थाने तैकीं नैवीं च पठन्ति ॥26॥

न्या०स०–गौष्ठी०–अत्र दुलक्षणेति वाहीकशब्दस्य पुरुषवाचिनो ``दोरीयः'' (6. 3. 32) इत्यस्य देशवाचिनस्तु ``कखोपान्त्ये'' (6. 3. 59.) इत्यस्याप्यपवादः तदुभयमपि दुलक्षणस्येत्यनेन श्लिष्टनिर्देशेन संगृहीतं, यत उभाभ्यामपि दुसंज्ञायां विधानात्, रोमकस्य तु ``कखोपान्त्ये'' (6. 3. 59.) इत्यस्यैव, यतस्तस्य पुरुषवाचिनो दुसंज्ञा न प्राप्नोति, देशवाचिनस्तु ``प्राग्देशे'' (6. 1. 10.) इति दुसंज्ञा ।

शकलादेर्यञः ॥ 6. 3. 27. ॥

शकलादिभ्यो यञन्तेभ्यः शेषेऽर्थेऽञ् प्रत्ययो भवति । ईयस्यापवादः । गर्गाद्यन्तर्गणः शकलादिः । शकलस्यापत्यं वृद्धं शाकल्यः । तस्य छात्राः शाकलाः । एवं काण्ठाः । गौकक्षाः । वामरथाः । यञ इति किम् । शकलो देवतास्य शाकलः, तस्येदं शाकलीयम् । कण्ठादागतः काण्ठः तस्य छात्राः काण्ठीयाः ॥27॥

वृद्धेञः ॥ 6. 3. 28. ॥

वृद्धे य इञ् विहितस्तदन्ताच्छेषेऽर्थेञ् प्रत्ययो भवति, ईयस्यापवादः । दक्षस्यापत्यं वृद्धं दाक्षिस्तस्य छात्राः दाक्षाः, प्लाक्षाः । वृद्धेति किम् ? सुतंगमेन निर्वृत्ता सौतंगमी नगरी तस्यां भवः सौतंगमीयः । शालङ्केरपत्यं युवा शालङ्किः, ``यञिञः'' (6. 1. 54.) इत्यायनणः पैलादिपाठाल्लुप् । तस्य छात्राः शालङ्का इत्यत्र तु आयनणि लुप्ते यद्यपीञन्तं यूनि वर्तते तथापीञ् वृद्ध इत्यञेव भवति ॥28॥

न्या०स०–वृद्धेञः–यूनि वर्त्तत इति ``वृद्धाद्यूनि'' (6. 1. 30.) इत्यत्र यूनोऽपि वृद्धसंज्ञाकार्यदर्शनादत्र इञन्तस्य वृद्धेऽपि वर्त्तनमित्याश्रयणे औपगवस्यापत्यं युवा, औपगविस्तस्य

छात्रा औपगवीयाः एवं पाणनीया इत्यादावपि स्यात्, अतो मुख्यत्वाद्वृद्धे एवेति व्याख्येयम् ।

न द्विस्वरात् प्राग्–भरतात् ।। 6. 3. 29. ।।

प्राच्यगोत्रवाचिनो भरतगोत्रवाचिनश्च नाम्नो वृद्धेऽन्ताद्द्विस्वरादञ् प्रत्ययो न भवति । पूर्वेण प्राप्तस्य प्रतिषेधः । प्राचः चैङ्कीयाः, पौष्पीयाः । चिङ्कपुष्पशब्दावाबन्तावपि तत्र वाह्वादित्वादिञ् । भरतात्, काश काशीयाः, वाश वाशीयाः । द्विस्वरादिति किम् ? पान्नागारेच्छात्राः पानागाराः, मान्थरेषणाः । प्राग्भरतादिति किम् ? दाक्षाः, प्लाक्षाः, प्राग्ग्रहणे भरतानां ग्रहणं न भवतीति स्वशब्देन ग्रहणम् ।।29।।

भवतोरिकणीयसौ ।। 6. 3. 30. ।।

भवतुशब्दाच्छेषेऽर्थे इकण् ईयस् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः, ईयापवादौ । भवतः भवत्या वा इदं भावत्कम्, भावत्की, भवदीयः, भवदीया, सकारो ``नाम सिदय्व्यञ्जने'' (1. 1. 21.) इति पदत्वार्थः । उकारान्तग्रहणात् शत्रन्तान्न भवति, भवत इदं भावतम् ।।30।।

*न्या०स०–भव०–*शत्रन्तान्न भवतीति ननु तर्हि यदा मत्वन्तता क्रियते, भमस्यास्तीति भवत्, तदा कथं न भवति यत उकारानुबन्धोऽस्ति ? न, तदा मतुरेवोकारानुबन्धो न तु तदन्तः । अथ मतुरुकारानुबन्धस्तद्योगाद् भवच्छब्दोऽपि तथोच्यते ? नैवं, लाक्षणिकत्वाल्लक्षणप्रतिपदोक्तयोः इति न्यायात् । यद्येवं तर्हि औणादिकस्यापि न प्राप्नोति, यतो डवतुरयमुकारानुबन्धः ? सत्यं, अव्युत्पत्तिपक्षाश्रयणाददोषः ।

पर–जन–राज्ञोऽकीयः ।। 6. 3. 31. ।।

एभ्यः शेषेऽर्थेऽकीयः प्रत्ययो भवति । परकीयः, जनकीयः, राजकीयः, अकारः पुंवद्भावार्थः । राज्ञ्या इदं राजकीयम्, स्वकीयं देवकीयमिति तु स्वकदेवकयोर्गहादित्वात् सिद्धम् । ये तु स्वदेवशब्दाभ्यामकीयमिच्छन्ति तेषां स्वस्येदं सौवम् दैवमायुः दैवी वाक् इत्यादि न सिध्यति ।।31।।

दोरीयः ।। 6. 3. 32. ।।

दुसंज्ञकाच्छेषेऽर्थे ईयः प्रत्ययो भवति, देवदत्तीयः, जिनदत्तीयः तदीयः, यदीयः, गार्गीयः, वात्सोयः, शालीयः, गोनर्दीयः, भोजकटीयः । दोरिति किम् ? सभासन्नयने

भव, साभासन्नयन: । अणपवादो योग: ।।32।।

उष्णादिभ्य: कालात् ।। 6. 3. 33. ।।

उष्णादिपूर्वपदात्कालान्ताच्छेपेऽर्थे ईय: प्रत्ययो भवति । उष्णकालीय:, बहुवचनं प्रयोगानुसरणार्थम् ।।33।।

व्यादिभ्यो णिकेकणौ ।। 6. 3. 34. ।।

वि इत्येवमादिभ्य: परो य: कालशब्दस्तदन्ताच्छेषेऽर्थे णिक इकण् इत्येतौ प्रत्ययौ भवत: । उभयो: स्त्रियां विशेष: । वैकालिक:, वैकालिका, वैकालिकी, आनुकालिक:, आनुकालिका, आनुकालिकी, ऐदंकालिका, ऐदकालिकी, धौमकालिका, धौमकालिकी, आपत्कालिका, आपत्कालिकी, सांपत्कालिका, सांपत्कालिकी, कौपकालिका, कौपकालिकी, क्रौधकालिका, क्रौधकालिकी, और्ध्वकालिका, और्ध्वकालिकी, पौर्वकालिका, पौर्वकालिकी, तात्कालिका, तात्कालिकी, क्रौरकालिका, क्रौरकालिकी। व्यादय: प्रयोगगम्या: ।।34।।

काश्यादे: ।। 6. 3. 35. ।।

दोरिति वर्तते, पूर्वयोगयोस्तु न संबध्यते, व्यापारासंभवात् । काशीत्येवमादिभ्यो दुसंज्ञकेभ्य: शेषेऽर्थे णिक इकण् इत्येतौ प्रत्ययौ भवत: । काशिक:, काशिका, काशिकी, चैदिक:, चैदिका, चैदिकी । दोरित्येव ? देवदत्तं नाम वाहीकग्राम:, तत्र जातौ देवदत्त:, देवदत्तशब्दस्य प्राग्देशे एव दुसंज्ञा न वाहीकेष्विति न भवति, नाप्युत्तरेण । तत्रापि दोरित्यनुवर्तनात्, प्राग्ग्रामेषु तु दुसंज्ञकत्वेन काश्यादित्वाद्भवत्येव । दैवदत्तिका, दैवदत्तिकी । येषां तु काश्यादीनां दुसंज्ञा न संभवति तेषां पाठसामर्थ्याद्भवति । चेदिशब्दसाहचर्याच्च काशिशब्दो जनपद एव वर्तमान इमौ प्रत्ययावुत्पादयति नान्यत्र । काशोयाश्छात्रा: । काशि, चेदि, देवदत्त, सांयाति, सांवाह, अच्युत, मोदमान, श्वकुलाल, शकुलाद, हस्तिकर्षू, कौनाम, हिरण्य, करण, हैहिरण्य:, करणे, अरिंदम, सधमित्र, दाशमित्र, सिन्धुमित्र, दासमित्र, छागमित्र, दासग्राम, शौवावतान, गौवाशन, गौवासन, तारङ्गि, भारङ्गि युवराज, उपराज, देवराज इति काश्यादि: ।।35।।

न्या०स०–काश्या०–व्यापारासंभवादिति फलाभावादित्यर्थ:, पूर्वयोगयोर्हि दुसंज्ञस्यादुसंज्ञस्य च भवति, गणपाठसामर्थ्यात् अनेन तु येषां दुसंज्ञत्वमदुसंज्ञत्वं च तेषां

देवदत्त इत्यादीनां दुःसंज्ञानामेव। अथ गणः, काशते ``पदिपठी'' 607 (उणादि) इति काशिः, चदेग् मण्यादित्वादिः एत्वं च, देवा एनं देयासुर्देवदत्तः संयाति स्म संयातस्तस्यापत्यं इञि सांयातिः ।

न च्यवते स्म अच्युतो विष्णुः मोदते मोदमानः, शुना कुल श्वकुलमलति श्वकुलाल, ``ह्रषिवृषि'' 485 (उणादि) इति शकुल, शकुलान् मत्स्यान् आदत्ते अत्ति वा शकुलादः, हस्तिनः कर्षूरिव नदी इव स देशो हस्तिकर्षूः, कु पृथ्वीं नामयति कुनामोऽत्रास्ति कौनामः, हिरण्यस्य करणं हिरण्यकरण, हिनोति हेः तस्य हिरण्यं तदत्रास्ति हैहिरण्यः करण इति कोऽर्थः ?

करणार्थे हिरण्यः प्रशस्यते, अन्ये त्वाहुः हिरण्यकरण एवंविधो ध्वनिः समस्त एवात्र पठ्यते, तदेवं संश्लिष्टनिर्देशेन संगृहीतं, सिन्धुर्मित्रमस्य सिन्धुमित्रः ।

अरीन् दमयति ``भृवृजि'' (5. 1. 112.) इति अरिंदमः, धानं धाः ``क्रुत्संपत्'' (5. 3. 114.) इति क्विप्, सह धा वर्तते सधः, सधो मित्रमस्य सधमित्रः, दाशो दासो मित्रमस्य दाशमित्रः दासमित्रः, छागो मित्रमस्य छागमित्रः, दासस्य ग्रामः दासग्रामः, शुनः संकोचस्तमवतनोति शौवावतानः, गा वाश्यत इति नन्द्यादित्वादने गोवाशनोऽत्रास्ति गौवाशनः, वासण्, गाः वासयति सोऽत्रास्ति गौवासनः ।

तरङ्गस्यापत्यं तारङ्गिः भृश् ल्वादित्त्वादङ्गे भरङ्गस्यापत्यं भारङ्गिः, युवा चासौ राजा च युवराजः ।

राज्ञः समीपं उपराजम्, देवस्य राजा देवराजः ।

वाहीकेषु ग्रामात् ।। 6. 3. 36. ।।

वाहीकदेशे ग्रामवाचिभ्यो दुसंज्ञकेभ्यः शेषेऽर्थे णिक इकण् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः । कारन्तपिकः, कारंतपिका, कारंतपिकी, शाकलिकः, शाकलिका, शाकलिकी, मान्थविकः, मान्थविका, मान्थविकी, आरात्कः, आरात्का, आरात्की, सैपुरिकः, सैपुरिका संपुरिकी स्कौनगरिकः, स्कौनगरिका, स्कौनगरिकी, नापितवास्तुकः इत्यत्र तु परत्वात् ``उवर्णाटिकण्'' (6. 3. 38.) इतीकण् । वातानुप्रस्थकः नान्दीपुरकः कौक्कुटीवहकः दासरूप्यकः इत्येतेषु ``प्रस्थपुरवहान्तयोपान्त्यधन्वार्थात्'' (6. 3. 42.) इति परत्वादकञ् । सौसुकीय इत्यत्र कोपान्त्यलक्षण ईयोऽपवादत्वाच्च भवति । कथं मौञ्जीयम् ? मौञ्जं नाम वाहीकावधिरत्यदीयो ग्रामो न वाहीकग्राम इत्येके, अन्ये तु दश द्वादश वा ग्रामा विशिष्टसंनिवेशावस्थाना मौञ्जं नामेति ग्रामसमूह एवायं न ग्रामः, नापि राष्ट्रम् येन राष्ट्रलक्षणोऽकञ् स्यात् इति मन्यते ।

दोरित्येव ? देवदत्तं नाम वाहीकग्रामः तत्र जातो दैवदत्तः ।।36।।

न्या०स०–वाही०–अपवादत्वाच्चेति न केवलं परत्वान्नापि राष्ट्रमिति विशिष्टस्यैव ग्रामसमुदायस्य राष्ट्रत्वात् ।

वोशीनरेषु ।। 6. 3. 37. ।।

उशीनरेषु जनपदे यो ग्रामस्तद्वाचिनो दुसंज्ञकाच्छेषेऽर्थे णिकेकणौ प्रत्ययौ वा भवतः । आह्वजालिकः, आह्वजालिका, आह्वजालिकी, सौदर्शनिकः, सौदर्शनिका, सौदर्शनिकी, पक्षे आह्वजालीयः सौदर्शनीयः ।।37।।

वृजि–मद्राद् देशात् कः ।। 6. 3. 38. ।।

वृजिमद्रशब्दाभ्यां देशवाचिभ्यां शेषेऽर्थे कः प्रत्ययो भवति, राष्ट्राकञोऽपवादः । दोरिति निवृत्तम् । वृजिकः, मद्रकः । सुसर्वार्धदिक्शब्देभ्यो जनपदवाचिनः प्रत्ययो भवति । तत्र मद्रात् दिक्पूर्वपदात् ``मद्रादञ्'' (6. 3. 24.) इत्यञ् विहितः शेषपूर्वपदात्त्वयं भवति । सुमद्रकः, सर्वमद्रकः, अर्धमद्रकः, सुवृजिकः, सर्ववृजिकः, अर्धवृजिकः, पूर्ववृजिकः, अपरवृजिकः देशादिति किम् ? मनुष्यवृत्तेर्वार्जमाद्रः ।।38।।

उवर्णादिकण् ।। 6. 3. 39. ।।

उवर्णान्ताद्देशवाचिनः शेषेऽर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । अणोऽपवादः परत्वादीयणिकेकणोऽपि बाधते । शबरजम्ब्वां भवः शाबरजम्बुकः । निषादकर्ष्वां भवः नैषादकर्षुकः । दाक्षिकर्ष्वां दाक्षिकर्षुकः । प्लाक्षिकर्ष्वां प्लाक्षिकर्षुकः । नापितवास्तुर्वाहीकग्रामः तत्र भवो नापितवास्तुकः । यस्तु प्राग्ग्रामस्तस्मादुत्तरेण भवति । आब्रीतमायौ भवः आब्रीतमायवकः । जिह्नृषु जैह्नवक इति परत्वाद्योपान्त्यलक्षणो राष्ट्रलक्षणश्चा कञ्, ऐक्ष्वाक इत्यत्र तु कोपान्त्यलक्षणोऽण् । उवर्णादिति किम् ? दैवदत्तः । देशादित्येव । पटोश्छात्राः पाटवाः ।।39।।

न्या०स०–उवर्णा०–ननु ``ऋवर्णोवर्ण'' (7. 4. 71.) इति इकारलोपेन भाव्यं, ततः कणित्येव क्रियताम् ? न, स्त्रियां ङीर्न स्यात् । शाबरजम्बुक इत्यत्र औत्सर्गिकाऽणो दाक्षिकर्षुक इत्यत्रेत्यस्य नापितवास्तुक इत्यत्र ``वाहीकेषु'' (6. 3. 36.) इति णिकेकणोः प्राप्तिः ।

दोरेव प्राचः ॥ 6. 3. 40. ॥

शरावत्या नद्याः प्राच्यां दिशि देशः प्राग्देशः तद्वाचिन उवर्णान्ताद्–दुंसञ्ज्ञकादेव इकण् प्रत्ययो भवति । आषाढजम्ब्वां भवः आषाढजम्बुकः, नापितवास्तौ जातः नापितवास्तुकः, पूर्वेण सिद्धे नियमार्थं वचनम् । इह न भवति मल्लवास्तुः प्राग्ग्रामः माल्लवास्तवः । एवकार इष्टावधारणार्थः । दोः प्राच एवेति नियमो मा भूत् ॥40॥

*न्या०स०–दोरे०–*आषाढजम्बूक इति ``चन्द्रयुक्त'' (6. 2. 6.) इत्यणि आसाढा प्रयोजनमस्य ``विशाखाषाढा'' (6. 4. 120.) इत्यण्, तस्य जम्बूस्तत्र भवः ।

ईतोऽकञ् ॥ 6. 2. 41. ॥

दोर्देशात्प्राच इति च वर्तते । ईकारान्तात्प्राग्देशवाचिनो दुसंज्ञकाच्छेषेऽर्थेऽकञ् प्रत्ययो भवति, ईयस्यापवादः । काकन्द्यां भवः काकन्दकः, माकन्द्यां भवः माकन्दकः, प्राच इत्येव ? दात्तामित्र्यां भवः दात्तामित्रीयः ॥41॥

रोपान्त्यात् ॥ 6. 3. 42. ॥

रेफोपान्त्यात्प्राग्देशवाचिनो दुसंज्ञकाच्छेषेऽर्थेऽकञ् प्रत्ययो भवति, ईयस्यापवादः । पाटलिपुत्रकः, ऐकचक्रकः ॥42॥

प्रस्थ–पुर–वहान्त–योपान्त्य–धन्वार्थात् ॥ 6. 3. 43. ॥

दोर्देशादिति च वर्तते । प्रस्थपुरवह इत्येतदन्तात् यकारोपान्त्याद्धन्व–वाचिनश्च देशवाचिनो दुसंज्ञकाच्छेषेऽर्थेऽकञ् प्रत्ययो भवति । धन्वशब्दो मरुदेशवाची । प्रस्थान्त, मालाप्रस्थकः शौणप्रस्थकः, काञ्चीप्रस्थकः, वातानुप्रस्थकः, बाणप्रस्थकः । पुरान्त, नान्दीपुरकः, वार्तीपुरकः । वहान्त, पैलुवहकः, फाल्गुनीवहकः, कौक्कुटीवहकः, कौकुचीवहकः, योपान्त्य, सांकाश्यकः, काम्पील्यकः, माणिरूप्यकः । दासरूप्यकः आव्रीतमायवकः । धन्ववाचि, पारेधन्व अपारेधन्व पारेधन्वनि भवः पारेधन्वकः । आपारेधन्वकः, ऐरावतकः, सुप्रचष्टे डे सुप्रख्येन निर्वृत्त इत्यणि सौप्रख्ये भवः सौप्रख्यीय इति तु गहादित्वात्, एवं कामप्रस्थीयः । पुरग्रहणमप्राच्यार्थम्, प्राच्याद्धि रोपान्त्यत्वेनैव सिद्धम् । अत एव हि प्राच इति नानुवर्तते । ईयबाधनार्थं वचनम् ॥43॥

न्या०स०–प्रस्थ०–फाल्गुनीवहक इति फल्गुनीभ्यां ``चन्द्र'' (6. 2. 6.) इत्यण् लुप् ङीनिवृत्ति:, पुनर्ङी, फल्गुन्योर्जाता ``फल्गुन्याष्ट:'' (6. 3. 106.) इति प्राप्तौ मतान्तरेण ``भर्तुसंध्यादेरण्'' (6. 3. 89.) भवति, ततो `वृद्धिर्यस्य' 6-1-8 इति दु:संज्ञा ।

राष्ट्रेभ्य: ।। 6. 3. 44. ।।

दोर्देशादिति च वर्तते । राष्ट्रेभ्यो देशेभ्यो दुसंज्ञकेभ्य: शेषेऽर्थेऽकञ् प्रत्ययो भवति । ईयस्यापवाद: । आभिसारे भव: आभिसारक:, आदर्शे आदर्शक:, औपुष्टश्यामायने राष्ट्रावधी अपि राष्ट्रे । औपुष्ट्रे औपुष्टक:, श्यामायने श्यामायनक:, बहुवचनमकञ: प्रकृतिबहुत्वं द्योतयदपवादविषयेऽपि प्रापणार्थम्, तेनेहापि भवति । आभिसारगर्तक:, अत्र गर्तोत्तरपदलक्षण ईयो न भवति । राष्ट्रसमुदायो न राष्ट्रग्रहणेन गृह्यते इतीह न भवति । काशिकोशलीय: ।।44।।

बहुविषयेभ्य: ।। 6. 3. 45. ।।

दोरिति निवृत्तम्, योगविभागात् । अत: परं दोरदोश्च विधानम् । देशादिति तु वर्तते । राष्ट्रेभ्यो देशेभ्यो बहुत्वविषयेभ्य: शेषेऽर्थेऽकञ् प्रत्ययो भवति, अणाद्यपवाद: । अङ्गेषु जात: आङ्गक:, वङ्गेषु जात: वाङ्गक:, दार्वेषु दार्वक: काम्बवेषु काम्बवक:, जिन्हुषु जैन्हवक:, अजमीढेषु आजमीढक:, अजकुन्देषु आजकुन्दक:, कालञरेषु कालञरक:, वैकुलिशेषु वैकुलिशक:, विषयग्रहणम् अनन्यत्र भावार्थम्, तेन य एकत्वद्वित्वयोरपि वर्तते ततो माभूत् । वर्तनी च वर्तनी च वर्तनी च वर्तन्य: तासु भवो वार्तन: । बहुवचनमपवादविष येऽपि प्रापणार्थम्, त्रिगर्तेषु त्रैगर्तक: । अत्र गर्तोत्तरपद्लक्षण ईयो बाध्यते ।।45।।

न्या०स०–बहु०–अणाद्यपवाद इति आदिशब्दाज्जिह्वो: उवर्णादिकण: । अनन्यत्रेति न विद्यते बहुत्वविषयादन्यत्र भावो यस्य स तथा सोऽर्थ: प्रयोजनं यस्य ।

धूमादे: ।। 6. 3. 46. ।।

देशादिति वर्तते । धूमादिभ्यो देशवाचिभ्य: शेषेऽर्थेऽकञ् प्रत्ययो भवति अणाद्यपवाद: । धौमक:, षाडण्डक: धूम, षडण्ड, षडाण्ड, अवतण्ड, तण्डक, वतण्डव, शशादन, अर्जुन, आर्जुनाव, दाण्डायन, स्थली, दाण्डायनस्थली, मानकस्थली, आनकस्थली, माहकस्थली, मद्रकस्थली, माषस्थली, घोषस्थली, राजस्थली, अट्टस्थली, मानस्थली, माणवकस्थली, राजगृह सत्रासाह, सात्रासाह, भक्ष्यादी, भक्ष्यली, भक्ष्याली, भद्राली,

मद्रकुल, अञ्जीकुल, व्याहाव, त्र्याहाव, द्वियाहाव, त्रियाहाव, संस्फीय, बर्बड गर्त, वर्ज्य, शकुन्ति, विनाद, इमकान्त, विदेह, आनर्त, वादूरः, खाडूर, माठर, पाठेय, पाथेयः घोष, घोषमित्र, शिष्य, वणिय, पल्ली, अराज्ञी, आराज्ञी, धार्तराज्ञी, धार्तराष्ट्री, धार्तराष्ट्र, अवया, तीर्थकुक्षि, समुद्रकुक्षि, द्वीप, अन्तरीप, अरुण, उज्जयनी, दक्षिणापथ, साकेत इति धूमादिः । दाण्डायनस्थलीत्यादीनां दुसंज्ञकानामीकारान्तानां वादूरखाडूरमाठराणां च पाठोऽप्राच्यार्थः । प्राच्यानां त्वीद्रोपान्त्यलक्षणोऽकञ् सिद्ध एव, विदेहानर्तयो राष्ट्रेऽकञ् सिद्ध एव । सामर्थ्याददेशार्थः पाठः, विदेहानामानर्तानां च क्षत्रियाणामिदं वैदेहकम् । आनर्तकम्, पाठेयपाथेययोर्योपान्त्यत्वादकञ् सिद्धोऽदेशार्थः पाठः । पठेः पठाया वापत्यं पाठेयः, तस्येदं पाठेयकम् ॥46॥

*न्या०स०—धुमा०—*धार्त्तराष्ट्रीति ननु नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणं भविष्यति किं द्वयोरुपादानेन ? नैवं, नामग्रहणेति न्यायस्तदा आश्रीयते यदा द्वयोरप्येकोऽर्थो भवति, अत्र तु धार्तराष्ट्रीशब्देन काचिन्नगरी उच्यते, धार्त्तराष्ट्रशब्देन तु कश्चित् ग्राम इति भिन्नशब्दोपादानं, अथ धूमादिगणो विव्रियते ``विलिभिलि'' 340 (उणादि) इति धूमः, षड् अण्डा आण्डाश्च यत्र षडण्डः, षडाण्डः ।

अवतण्डयति अति अवतण्डः, तण्डते तण्डकः, अवतण्डते ``कैरव'' 519 (उणादि) इति वतण्डवः ।

शशान् अति शशादनः, ``यम्यजि'' 288 (उणादि) इति अर्जुनः, ऋजुनावानां निवासः आर्जुनावः, दण्डानां समूहो दाण्डं, ``श्वादिभ्योऽञ्'' (6. 2. 26.) दाण्डमय्यते अनेनेति दाण्डायनः ।

स्थलतिस्थली, दाण्डायनस्य स्थली, मानं कायति मा अविद्यमाना आनका येषां वा मानकास्तेषां स्थली, आनकानां स्थली, महन्ति माहकास्तेषां स्थली, मद्रेषु भवाः मद्रकास्तेषां स्थली, स्थल्युत्तरपदानां सर्वत्र षष्ठीसमासः, व्युत्पत्तिस्तु सान्वया, राज्ञो गृहं, सत्राशब्द आकारान्तोऽव्ययः, सत्रा साकं सह्यते सत्रासाहः, सत्रासाहोऽत्रास्ति सात्रासाहः, भक्ष्याणि आदत्ते लाति, अलाति भद्रमलति ``कर्म्मणोऽण्'' (5. 1. 72.) मद्रभूत कुलं यत्र, अनक्ति अच् ङी, अञ्ज्याः कुलं, द्वौ त्रयोऽहो वा यत्र, केचित्तु इवर्णादिभ्यः यवरलानिच्छन्ति तन्मते द्वियाहाव इत्यादि ।

संस्फायते क्विप् तस्मै हितः संस्फीयः, बर्बतीति ``विहड'' 172 (उणादि) इति बर्बडः, वर्ज्यते वर्ज्यः, शके रुन्ति शकुन्तिः, विनादयति विनादः, इश्च मा च ताभ्यां कान्तः पृषोदरादित्वात् इमकान्तः ।

विदिह्यन्ते विदेहाः, एत्य नृत्यन्त्यन्त्र आनर्त्तः, वट वेष्टने खादृ ``सिन्दूर'' 430

(उणादि) इति वादूरः, खाडूरः । मठरोऽत्रास्ति माठरः । घुष्यत इति घोषः, स मित्रमस्य ``इकिस्तिव्'' (5. 3. 138.) इति वणिं याति वणियः, न विद्यते राजा यस्यां ``नाम्नि'' (2. 4. 12.) इति ङ्यां अराज्ञी । आगता राजानो यस्यां सा आराज्ञी ।

धृतो राजा येन धृतराजा, सोऽत्रास्तीति धार्त्तराज्ञी, धृतराष्ट्रोऽत्रास्ति धार्त्तराष्ट्री, धार्तराष्ट्रः।

अवयाति अवयाः, समुद्रवत्कुक्षिरस्य समुद्रकुक्षिः, उज्जीयतेऽनया उज्जयनी, रम्यादि-त्वादुज्जयति वा, दक्षिणस्याः, पन्था दक्षिणापथः, सायाः लक्ष्म्याः केतो निवासः साकेतः ।

सौवीरेषु कूलात् ।। 6. 3. 47. ।।

सौवीरदेशवाचिनः कूलशब्दाच्छेषेऽर्थेऽकञ् प्रत्ययो भवति । कौलकः सौवीरेषु, कौलोऽन्यत्र ।।47।।

समुद्रान्नृ–नावोः ।। 6. 3. 48. ।।

समुद्रशब्दाद्देशवाचिनः शेषेऽर्थेऽकञ्प्रत्ययो भवति स चेत् प्रत्ययान्तवाच्यो ना मनुष्यो नौर्वा भवति । सामुद्रको मनुष्यः । सामुद्रिका नौः । नृनावोरिति किम् ? सामुद्रं लवणम् ।।48।।

नगरात् कुत्सा–दाक्ष्ये ।। 6. 3. 49. ।।

नगरशब्दाद्देशवाचिनः शेषेऽर्थेऽकञ् प्रत्ययो भवति प्रत्ययार्थस्य कुत्सायां दाक्ष्ये च गम्यमाने । कुत्सा निन्दा, दाक्ष्यं नैपुण्यम् । केनायं मुषित इह नगरे मनुष्येण संभाव्यते एतन्नागरके, चौरा हि नागरका भवन्ति । केनेदं चित्रं लिखितमिह नगरे मनुष्येण संभाव्यते एतन्नागरके, दशा हि नागरका भवन्ति । कुत्सादाक्ष्य इति किम् ? नागरः पुरुषः, संज्ञाशब्दात्तु कत्र्यादि पाठादेयकञ् । नागरेयकः ।।49।।

कच्छा–ग्नि–वक्त्र–वर्त्तोत्तरपदात् ।। 6. 3. 50. ।।

कच्छ अग्नि वक्त्र वर्त इत्येतदुत्तरपदाद्देशवाचिनः शेषेऽर्थेऽकञ् प्रत्ययो भवति, ईयाणोरपवादः । भारुकच्छे भवो भारुकच्छकः, पिप्पलीयकच्छे पैप्पलीयकच्छकः, अग्नि, काण्डाग्नौ काण्डाग्नकः, विभुजाग्नौ वैभुजाग्नकः, वक्त्र, ऐन्दुवक्त्रे भवः ऐन्दुवक्त्रकः, तिन्दुवक्त्रे तैन्दुवक्त्रकः, वर्त, बाहुवर्ते बाहुवर्तकः, चक्रवर्ते चाक्रवर्तकः । उत्तरपदग्रहणमबहुप्रत्य-यपूर्वार्थम्, ईषदसमाप्तः कच्छो बहुकच्छो देशः ततोऽकञ् न भवति ।।50।।

न्या०स०–कच्छा०–ईयाणोरपवाद इति यत्र पूर्वपदस्य दुसंज्ञा तत्रेयस्यान्यत्र त्वणः, अत्र प्रथमप्रयोगे ईयस्य द्वितीये त्वणः प्राप्तिः ।

अरण्यात्–पथि–न्याया–ऽध्यायेभ–नर–विहारे ।। 6. 3. 51. ।।

अरण्यशब्दाद्देशवाचिनः पथ्यादिषु वाच्येषु शेषेऽर्थेऽकञ् प्रत्ययो भवति । आरण्यकः पन्थाः न्यायोऽध्यायः इभो नरो विहारो वा । पथ्यादाविति किम् ? आरण्याः सुमनसः, आरण्याः पशवः ।।51।।

गोमये वा ।। 6. 3. 52. ।।

अरण्यशब्दाद्देशवाचिनः शेषेऽर्थे गोमये वाच्येऽकञ् प्रत्ययो भवति । आरण्यका गोमयाः, आरण्यानि गोमयानि । केचित्तु हस्तिन्यामपि विकल्प–मिच्छन्ति, आरण्या आरण्यका हस्तिनी । एके तु नरवर्जं पूर्वसूत्रेऽपि विकल्पमाहुः, आरण्यः आरण्यकः पन्था इत्यादि ।।52।।

कुरु–युगन्धराद् वा ।। 6. 3. 53. ।।

कुरुयुगन्धरशब्दाभ्यां देशवाचिभ्यां शेषेऽर्थेऽकञ् प्रत्ययो वा भवति । कुरुषु भवः कौरवकः कौरवः, युगन्धरेषु भवः यौगन्धरकः, यौगन्धरः, राष्ट्रशब्दावेतौ बहुविषयौ च तत्र युगन्धरात् ``बहुविषयेभ्यः'' (6. 3. 44.) इति नित्यमकञि प्राप्ते विकल्पः । कुरोस्त्वकञः कच्छाद्यणा बाधितस्य प्रतिप्रसवार्थं वचनम् । तथा च विकल्पः सिद्ध एव । युगन्धरार्थात्तु विभाषा । नृनृस्थयोस्तु करोः परत्वादकञेव । कौरवको मनुष्यः कौरवकमस्य हसितम् ।।53।।

साल्वाद् गो–यवाग्वपत्तौ ।। 6. 3. 54. ।।

साल्वशब्दाद्देशवाचिनो गवि यवाग्वां पत्तिवर्जिते च मनुष्ये शेषेऽर्थेऽकञ् प्रत्ययो भवति । साल्वको गौः, साल्विका यवागूः, साल्वको मनुष्यः । गोयवाग्वपत्ताविति किम् ? साल्वा व्रीहयः, साल्वः पत्तिः । राष्ट्रेभ्योऽकञि कच्छाद्यणा बाधिते गोयवागूग्रहणं प्रतिप्रसवार्थम् अपत्तीति पत्तिप्रतिषेधात् तत्सदृशे मनुष्ये विधिः, तत्र चोत्तरेण सिद्ध एवाकञि नरि नियमार्थमपत्ति-ग्रहणम् । एवं च गोयवाग्वोः पत्तिवर्जिते च मनुष्ये मनुष्यस्थे च हसितादौ साल्वकः अन्यत्र साल्व इति स्थितम्, अयं च विभागः सल्वशब्दस्यादोरपि विज्ञेयः ।।54।।

न्या०स०–साल्वा०–नियमार्थमिति नरि साल्वशब्दात् यद्यकञ् भवति, तदा अपत्तावेव

न पत्तौ, मनुष्यस्थे चेति ननु गोयवाग्वपत्तावित्युच्यमाने मनुष्यस्थः कथं न लभ्यते, नहि मनुष्यस्थः प्रहासादिर्गौयवागूरपत्तिर्वा भवति, न च पत्तेरन्यमात्रमपत्ति, अपि तु मनुष्योऽन्यथा व्रीहय इत्यत्राप्यकञ् प्राप्नोति, तथा च गोयवागूग्रहणमनर्थकं स्यात्तत्राप्यपत्तावित्येव सिद्धेः ? उच्यते, अपत्ति ग्रहणं ``कच्छादेर्नृनृस्थे'' (6. 3. 55.) इत्यकञि सिद्धे पत्तेर्व्यावृत्त्यर्थं क्रियते न तु विध्यर्थं, तेन यथा अपत्तौ मनुष्ये भवति तथा मनुष्यस्थेऽपि, ततः प्रत्ययस्याव्यावर्त्तितत्वात् । सल्यशब्दस्येति उपलक्षणत्वादेकदेशविकृतस्यानन्यत्वाद् वा ।

कच्छादेर्नृ—नृस्थे ।। 6. 3. 55. ।।

कच्छादिभ्यो देशवाचिभ्यो नरि मनुष्ये नृस्थे मनुष्यस्थे च शेषेऽर्थेऽकञ् प्रत्ययो भवति, अणोऽपवादः । काच्छको मनुष्यः, काच्छकमस्य हसितम्, स्मितं जल्पितम् ईक्षितम्, काच्छिका चूला, सैन्धवको मनुष्यः, सैन्धवकमस्य हसितम्, सैन्धविका चूला । नृनृस्थ इति किम् ? काच्छो गौः, सैन्धवं लवणम्, कच्छ, सिन्धु, वर्णु, मधुमत्, कम्बोज, साल्व, कुरु, अनुषण्ड, अनूषण्ड, कश्मीर, विजापक, द्वीप, अनूप, अजवाह, कुलूत, रङ्गु, (ङ्कु) गन्धार, साल्वेय, यौधेय, सस्थाल, सिन्ध्वन्त इति कच्छादिः । कच्छादयो ये बहुविषया राष्ट्रशब्दास्तेभ्यो ``बहुविषयेभ्यः'' (6. 3. 44.) इत्यकञ् सिद्ध एव । उत्तरेण त्वणा बाधा माभूदिति पुनर्विधीयते । वर्णुसिन्धुभ्याम् ``उवर्णादिकण्'' (6. 3. 38.) इतीकणि तदपवादे कच्छाद्यणि, कुरोः ``कुरुयुगन्धराद्वा'' (6. 3. 53.) इति विकल्पे, विजापकस्य कोपान्त्य-लक्षणेऽणि, कच्छस्यौत्सर्गिकाणि प्राप्तेऽकञ्विधिः:, अपरे कच्छमपि बहुविषयं राष्ट्रशब्दमाहुस्तदा पूर्वोक्तमेव पाठफलम् ।।55।।

न्या०स०—कच्छा०—अणोपवाद इति ``कोपान्त्याच्चाण्'' (6. 3. 56.) इति सामान्येन प्राप्तस्य, अथ कच्छादिगणो विव्रियते—``तुदिमदि'' 124 (उणादि) इति कच्छः, ``स्यन्दि सृजिभ्याम्'' 717 (उणादि) इति सिन्धुः ।

``अजिस्था'' 738 (उणादि) इति वर्णुः, मधु अस्यास्ति मधुमत्,

``सलेर्णिद्वा'' 510 (उणादि) साल्वः ``कृगॄ'' 441 (उणादि) इति कुरुः, अनुरूपा षण्डा यत्र अनुषण्डः, बाहुलकाद्दीर्घत्वे अनूषण्डः, ``कशेर्मोऽन्तश्च'' 420 (उणादि) कश्मीराः, विजापयन्ति विजापकाः, द्विधा गता अनुगता आपो यत्र द्वीपः, अनूपः, अजान्वहति अजवाहः, कुत्सिता लूता यत्र कुलूतः, ``कैशीशमि'' 749 (उणादि) इति रङ्कुः, गन्धानियर्ति गन्धारः, साल्वाया अपत्यं साल्वेयः, युधाया अपत्यं यौधेयः, सह स्थालेन वर्तते सस्थालः ।

सिन्धुशब्दोऽन्ते यस्य सिध्वन्तः, सिन्धु शब्दान्तो गृह्यते, न तु सिन्धोरन्त इति कृत्वा सिध्वन्त इत्यखण्डः, तदा हि 'हृद्भगसिन्धो': इत्यत्र साक्तुसैन्धवः पानसैन्धव इत्यादिषु कच्छादौ तदन्तविधेरपीष्टत्वात् इति यदुक्तं तदुपपन्नंस्यात् । पूर्वोक्तमेवेति उत्तरेण त्वणा बाधा माभूदित्येवरूपम् ।

कोपान्त्याच्चाऽण् ।। 6. 3. 56. ।।

देशादित्येव वर्तते न नृनृस्थे इति । कोपान्त्यात्कच्छादेश्च देशवाचिनः शेषेऽर्थेऽण् प्रत्ययो भवति, इकणकञोरपवादः । कोपान्त्यः, ऋषिका जनपदः तेषु जातः आर्षिकः । महिकेषु माहिषकः, अश्मकेषु आश्मकः, इक्ष्वाकुषु ऐक्ष्वाकः, कच्छादि, काच्छः, सैन्धवः, वार्णवः । अथाण्ग्रहणं किमर्थम् यो हि अन्येन बाधितो न प्राप्नोति तदर्थमिदं स्यात् स चाणेव, न चानन्तरोऽकञेव स्यादित्याशङ्कनीयम् । एवं हि पूर्वकमकञ्विधानम् अनर्थकं स्यात् ? नैवम्, असत्यण्ग्रहणे इक्ष्वाकोरुवर्णलक्षण इकण् स्यात् स हि ततो राष्ट्राकञा बाधितः । ।

न्या०स०–कोपा०–इकणकञोरिति ''उवर्णादिकण्'' (6. 3. 39.) ''बहुविषयेभ्यः'' (6. 3. 45.) इत्यनयोः । अन्येन बाधित इति ''प्राग्जितात्'' (6. 1. 13.) इति प्राप्तोऽन्येनाकञादिना बाधित इत्यर्थः ।

अनर्थकं स्यादिति यदि हि नृनृस्थे अन्यत्र वाकञेव स्यात् तदा किं पूर्वसूत्रेण, अनेनैव कच्छादिकोपान्त्याच्च इत्येवंरूपेण सिद्धत्वात् । इकण् स्यादिति यत इक्ष्वाकोरिकणप्यनेनाकञा बाध्यमानो विद्यते एव ततश्च सोप्यनेन स्यादिति ।

गर्त्तोत्तरपदादीयः ।। 6. 3. 57. ।।

गर्त्तोत्तरपदाद्देशवाचिनः शेषेऽर्थे ईयः प्रत्ययो भवति, अणोऽपवादः । श्वादिद्गर्तात्तु वाहीकग्रामलक्षणौ णिकेकणौ परत्वाद्बाधते । श्वाविद्गर्ते भवः श्वाविद्गर्त्तीयः, वृकगर्तीयः शृगालगर्तीयः, रौहिद्गर्तीयः । आभिसारगर्तकः त्रैगर्तकः इत्यत्राकञ् ''राष्ट्रेभ्यः'' (6. 3. 43.) इति बहुविषयेभ्य इति बहुवचनसामर्थ्यात् भवतीत्युक्तम् । उत्तरपदग्रहणं बहुप्रत्ययपूर्वनिरासार्थम्, बाहुगर्तः ।।५७।।

कटपूर्वात्प्राचः ।। 6. 3. 58. ।।

कटपूर्वपदात् प्राग्देशवाचिनो नाम्नः शेषेऽर्थे ईयः प्रत्ययो भवति, अणोऽपवादः । कटनगरीयः, कटग्रामीयः, कटघोषीयः, कटवर्तकीयः, कटपल्वलीयः । प्राच इति किम् ? काटनगरः ।।58।।

क–खोपान्त्य–कन्था–पलद–नगर–ग्राम–ह्रदोत्तरपदाद् दोः ।। 6. 3. 59. ।।

ककारखकारोपान्त्यात्कन्थापलदनगरग्रामह्रद इत्येतदुत्तरपदाच्च देशवाचिनो दुसंज्ञकात् शेषेऽर्थे ईयः प्रत्ययो भवति । बाधकबाधनार्थ आरम्भः, कोपान्त्यात् कोपान्त्यलक्षणेऽणि प्राप्ते । आरोहणकीयः, द्रौघणकीयः, आश्वत्थिकीयः, शाल्मलिकीयः, सौषुकीयः, आष्टकीयः, ब्राह्मणकीयः, बालकीयः । खोपान्त्यात् वाहीकग्रामलक्षणयोर्णिकेकणोः, कौटशिखीयः, माटिशिखीयः, अयोमुखीयः । कन्थापलदोत्तरपदात्तयोरेव । दाक्षिकन्थीयः, माहकिकन्थीयः, दाक्षिपलदीयः, माहकिपलदीयः । नगरोत्तरपदाद्रोपान्त्यलक्षणेऽकञि, दाक्षिनगरीयः, माहकि-नगरीयः । ग्रामह्रदोत्तरपदात् णिकेकणोरेव । दाक्षिग्रामीयः, माहकिग्रामीयः, दाक्षिह्रदीयः, माहकिह्रदीयः । दोरिति किम् ? आर्षिकः, माडनगरः ।।59।।

*न्या०स०–कखो०–*बाधकबाधनार्थ इति ``दोरीयः'' (6. 3. 32.) इति ईयस्य ये बाधकाः कोपान्त्याच्चेत्येवमादयस्तेषां बाधनं बाधस्तदर्थोऽयमारभ्या इत्यर्थः, एतदेव कोपान्त्यादित्यादिना स्पष्टयन्नुदाहरति ।

आष्टकीय इति ``इर्ष्याश'' 77 (उणादि) इति तककि साध्यः अष्टौ कायति वा, अष्टावध्याया मानमस्येति वा पश्चात् ``तदत्रास्ति'' (6. 2. 70.) इत्यण्, इहान्तग्रहणादेव केवलस्य निवृत्तौ दुत्वाच्च गर्त्तोत्तरपदवद् बहुपूर्वनिवृत्त्यर्थमित्याशङ्कायाअभावे उत्तरपदग्रहणं कन्थाद्यन्तो-त्तरपदाग्रहणार्थ, ``प्रस्थपुरवहान्त'' (6. 3. 43.) इत्यत्र त्वन्तग्रहणात् प्रस्थाद्यन्तोत्तर-पदग्रहस्या- पीष्टत्वात् ।

पर्वतात् ।। 6. 3. 60. ।।

पर्वतशब्दाद् देशवाचिनः शेषेऽर्थे ईयः प्रत्ययो भवति, अणोऽपवादः । पर्वतीयो राजा । पर्वतीयः पुमान् ।।60।।

अनरे वा ।। 6. 3. 61. ।।

पर्वताद्देशवाचिनो नरवर्जिते शेषेऽर्थे ईयः प्रत्ययो भवति वा । पर्वतीयानि पार्वतानि फलानि, पर्वतीयं पार्वतमुदकम् । अनर इति किम् ? पर्वतीयो मनुष्यः ।।61।।

पर्ण—कृकणाद् भारद्वाजात् ।। 6. 3. 62. ।।

पर्णकृकण इत्येताभ्यां भारद्वाजदेशवाचिभ्यां शेषेऽर्थे ईयः प्रत्ययो भवति, अणोऽपवादः । पर्णीयः । कृकणीयः । भारद्वाजादिति किम् ? पार्णः, कार्कणः ।।62।।

गहादिभ्यः ।। 6. 3. 63. ।।

देशादिति वर्तते । तद्गहादीनां यथासंभवं विशेषणम् । गहादिभ्यो यथासंभवं देशवाचिभ्यः शेषेऽर्थे ईयः प्रत्ययो भवति, अणाद्यपवादः । गहीयः, अन्तस्थीयः । गह, अन्तस्थ, अन्तस्था, सम, विषम, उत्तम, अङ्गमगध, शुक्लपक्ष, पूर्वपक्ष, अपरपक्ष, कृष्णशकुन, अधमशाख, उत्तमशाख, समानशाख, एकशाख, समानग्राम, एकग्राम, एकवृक्ष, एकपलाश, इष्वग्र, दन्ताग्र, इष्वनीक, अवस्यन्द, कामप्रस्थ, सौप्रख्य, खाडायनि, काठेरणि, काठेरिणि, लावेराणि, लावेरिणि, लावीरणि, शौशिरि, शौङ्गि, शौङ्गिशैशरि, आसुरि, आहिंसी, आमित्रि, व्याडि, भौङ्गि, भौर्जि, भौजि, आध्यश्वि, आश्वत्थि, औद्वाहमानि, औपविन्दवि, आग्निशर्मि, दैवशर्मि, श्रौति, बाटारकि, वाल्मीकि, क्षैमधृत्वि, उत्तर, अन्तर, मुखतस्, पार्श्वतस्, एकतस्, अनन्तर, आनृशंसि, साटि, सौमित्रि, परपक्ष, स्वक, देवक, इति गहादयः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ।।63।।

न्या०स०—गहादि०—अथ गणः, गाह्यते घञ्, पृषोदरादित्वात् ह्रस्वत्वे गहः, अन्ते तिष्ठति अन्तस्थः, अन्तस्थाः, समति अच् समः, विगतः समात् विषमः, उत्ताम्यति बहूनां प्रकृष्ट उत्कृष्टो वा उत्तमो देशः अङ्गाश्च मगधाश्च अङ्गमगधाः, शुक्लश्चासौ पक्षश्च शुक्लपक्षः, एवं पूर्वपक्षः, अपरपक्षः, कृष्ण शकुनः ।

अधम उत्तमा समाना एका शाखा यस्य, समानश्चासौ ग्रामश्च समानग्रामः, अस्य देशवाचिन एवास्मिन् गणे पाठः, अन्यत्र ``समानपूर्व'' (6. 3. 89.) इति इकण्, एकश्चासौ ग्रामश्च वृक्षश्च पलाशश्च एकग्रामः, एकवृक्षः, एकपलाशः, इषुभिरग्रः प्रधानं इष्वग्रः, दन्तैरग्रः दन्ताग्रः, इषु प्रधानान्यनीकानि यत्र इष्वनीकः, अवस्यन्दतेऽत्र अवस्यन्दः, कामेषु प्रतिष्ठते कामप्रस्थः, सुप्रचष्टे सुप्रख्यः सोत्रास्ति तस्य निवासो वा सौप्रख्यः, कठमीरयति, नन्द्यादित्वात् कठेरण- स्तस्यापत्यं काठेरणिः, ``ॠदृद्रुहेकित्'' 195 (उणादि) इरिणं कठस्य इरिणमिव उषरमिव

कठेरिणस्तस्यापत्यं काठेरिणिः, लूयते लवः, लवमीरयति लवेरणस्तस्यापत्यं लावेरणिः, लवस्येरिणमिव लवेरिणस्तस्यापत्यं लावेरिणिः, लवोऽस्यास्तीति लवी, लविनमीरयति लवीरणस्तस्यापत्यं लावीरणिः, शिशिरस्यापत्यं शैशिरिः, शुङ्गत्यापत्यं शौङ्गिः, शुङ्गस्य शुङ्गाया वापत्यं ``शुङ्गाभ्यां भारद्वाजे'' (6. 1. 63.) अण् शौङ्गश्चासौ शैशिरिश्च, असुरस्यापत्यं आसुरिः, बाह्वादित्वादिञ्, न हिनस्ति, न विद्यते हिंसा यस्य वा अहिंसस्तस्यापत्यं आहिंसिः, न मित्रममित्रः, प्रसो वा तस्यापत्यं आमित्रिः, व्यडस्यापत्यं भोजस्य भूर्जस्य अध्यश्वस्य अश्वत्थस्य उद्गाहमानस्यापत्यं ``अत इञ्'' (6. 1. 31.) उपविन्दोः अग्निशर्म्मणो देवशर्म्मणोऽपत्यं बाह्वादित्वा-दिञ्, श्रुतस्यापत्यं श्रौतिः, वटारं कायति तस्यापत्यं वल्मीकस्यापत्यं ``अत इञ्'' (6. 1. 31.), क्षेमं धृतवान् क्षेमधृत्वा तस्यापत्यं बाह्वादित्वादिञ् क्षेमधृत्विः, उतरति उत्तरः, ``अनिकाभ्यां तरः'' 437 (उणादि) इति अन्तं राति वा अन्तरः, एकं तस्यति क्विप् एकताः, न अन्तरः अनन्तरः, नॄन् शंसति नृशंसः, न नृशंसः अनृशंसस्तस्यापत्यं आनृशंसिः, षट् अवयवे, सटति सटस्तस्यापत्यं साटिः, सुमित्राया अपत्यं सौमित्रिः, बाह्वादित्वादिञ्, परस्य पक्ष परपक्षः इति गहादिगणः ।

पृथिवीमध्यान्मध्यमश्चास्य ।। 6. 3. 64. ।।

पृथिवीमध्यशब्दाद्देशवाचिनः शेषेऽर्थे इयः प्रत्ययो भवति मध्यमादेशश्चास्य पृथिवीमध्यशब्दस्य भवति । पृथिवीमध्ये जातो भवो वा मध्यमीयः ।।64।।

निवासाच्चरणेऽण् ।। 6. 3. 65. ।।

पृथिवीमध्यान्निवासभूताद्देशवाचिनश्चरणे निवस्तरि शेषेऽर्थेऽण् प्रत्ययो भवति मध्यमादेशश्चास्य पृथिवीमध्यशब्दस्य । पृथिवीमध्यं निवास एषां चरणानां माध्यमाश्चरणाः, त्रयः प्राच्याः त्रयः उदीच्याः त्रयो माध्यमाः । निवासादिति किम् ? पृथिवीमध्यादागतो मध्यमीयः कठः । चरण इति किम् ? पृथिवीमध्यं निवासोऽस्य मध्यमीयः शूद्रः ।।65।।

न्या०स०—निवा०—नन्वण्ग्रहणं किमर्थं यतो यो हि अन्येन बाधितो न प्राप्नोति तदर्थ-मिदं स चाणेव ?

सत्यं, निवासाच्चरण इति कृते पूर्वसूत्रेणैव सिद्धे नियमार्थं स्यात्, पृथिवीमध्यान्निवास-भूतदेशवाचिनश्चरणे एव निवस्तरि नान्यत्र ततश्च मध्यमीयाश्चरणा माध्यमः शूद्र इति वैपरीत्यं स्यादतस्तन्मा भूदित्यण् ग्रहणम् ।

वेणुकादिभ्य ईयण् ॥ 6. 3. 66. ॥

वेणुक इत्येवमादिभ्यो यथायोगं देशवाचिभ्यः शेषेऽर्थे ईयण् प्रत्ययो भवति । वैणुकीयः, वैत्रकीयः, औत्तरपदीयः, औत्तरीयः, औत्तरकीयः, प्रास्थीयः, प्रास्थकीयः, माध्यमकीयः, माध्यमिकीयः, नैपुणकीयः, बहुवचनं प्रयोगानुसरणार्थम् ॥66॥

न्या०स०–वेणु०–वेणवः सन्त्यत्र उत्तराण्यत्र सन्ति, ``ऋश्यादेः कः'' (6. 2. 94.) प्रस्मस्य तुल्यः, मध्यम एव, मध्यममस्यास्ति

``अतोऽनेक'' (7. 2. 6.) इतीकः, अल्पा निपुणः, ``कुत्सिताल्पे'' (7. 3. 33.) इति कप्, तत्र भवः ।

वा युष्मदस्मदोऽञीनञौ युष्माका–ऽस्माकं चास्यैकत्वे तु तवक–ममकम् ॥ 6. 3. 67. ॥

देशादिति निवृत्तम्, युष्मद् अस्मद् इत्येताभ्यां शेषेऽर्थे अञ् ईनञ् इत्येतौ प्रत्ययौ वा भवतः तत्संनियोगे च यथासंख्यं युष्मदस्मदोर्युष्माकास्माकौ, एकत्वविशिष्टे त्वर्थे वर्तमानयोस्तवकममकावादेशौ भवतः, प्रत्ययौ प्रति यथासंख्यं नास्ति वचनभेदात् । युष्माकमयं युवयोर्वा यौष्माकः । यौष्माकीणः, अस्माकमयमावयोर्वा आस्माकः आस्माकीनः, पक्षे त्यदादित्वेन दुसंज्ञकत्वादीयः । युष्मदीयः, अस्मदीयः, एकत्वे तु तवकममकम् । तवायं तावकः, ममायं मामकः, तावकीनः, मामकीनः, पक्षे त्वदीयः, मदीयः ॥67॥

द्वीपादनुसमुद्रं ण्यः ॥ 6. 3. 68. ॥

समुद्रसमीपे यो द्वीपस्तद्वाचिनः शेषेऽर्थे ण्यः प्रत्ययो भवति । कच्छाद्यकञणोरपवादः, द्वैप्यो मनुष्यः, द्वैप्यमस्य हसितम्, द्वैप्यम् । अनुसमुद्रमिति किम् ? अनुनदि यो द्वीपस्तस्मात् द्वैपको व्यासः, द्वैपकमस्य हसितम्, द्वैपम् ॥68॥

अर्धाद् यः ॥ 6. 3. 69. ॥

अर्धशब्दाच्छेषेऽर्थे यः प्रत्ययो भवति । अर्ध्यम् ॥69॥

सपूर्वादिकण् ॥ 6. 3. 70. ॥

सपूर्वपदादर्धशब्दात् शेषेऽर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । पौष्करार्धिकः, वैजयार्धिकः, बालेयार्धिकः, गौतमार्धिकः, क्षैत्रार्धिकः यौवनार्धिकः ।।70।।

दिक्पूर्वात्तौ ।। 6. 3. 71. ।।

दिक्पूर्वपदादर्धशब्दाच्छेषेऽर्थे तौ य इकण् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः । पूर्वार्ध्यम्, पौर्वार्धिकम् दक्षिणार्ध्यम्, दाक्षिणार्धिकम्, पश्चार्ध्यम्, पाश्चार्धिकम् ।।71।।

ग्राम–राष्ट्रांशादणिकणौ ।। 6. 3. 72. ।।

ग्रामराष्ट्रैकदेशवाचिनोऽर्धशब्दाद्दिक्पूर्वात् शेषेऽर्थेऽण् इकण् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः, यापवादौ । ग्रामस्य राष्ट्रस्य वा पूर्वार्धे भवः पौर्वार्धः, पौर्वाधिकः, दाक्षिणार्धः, दाक्षिणार्धिकः ।।72।।

परा–ऽवरा–ऽधमोत्तमादेर्यः ।। 6. 3. 73. ।।

पर अवर अधम उत्तम इत्येतत्पूर्वादर्धशब्दाच्छेषेऽर्थे यः प्रत्ययो भवति, इकणोऽपवादः । परार्ध्यम्, अवरार्ध्यम्, अधमार्ध्यम्, उत्तमार्ध्यम्, परावरयोः दिक्शब्दत्वेऽपि परत्वादयमेव यः ।।73।।

*न्या०स०–परावरा०–*दिक्शब्दत्वेऽपीति न केवलं परावरयोर्यथाक्रमं शत्रवधर्मार्थयोरनेन प्रत्यय इत्यपेरर्थः ।

अमोऽन्ता–ऽवो–ऽधसः ।। 6. .3. 74. ।।

अन्त, अवस्, अधस् इत्येतेभ्यः शेषेऽर्थेऽमः प्रत्ययो भवति । अन्तमः, अवमः, अधमः, अकारादित्वमवोऽधसोऽन्त्यस्वरादिलोपार्थम् ।।74।।

*न्या०स०–अमो०–*यत्र प्रकृतिविशेषो नोपादीयते तत्र ``वाद्यात्'' (6. 1. 11.) इति प्रवर्त्तते इत्यत्र प्रकृतिविशेषोपादनादम इत्यस्य प्रथमान्तनिर्देऽपि न प्रकृतिभावः ।

अन्तम इति अन्तशब्दात् भवादन्यत्रायं विधिः, भवे तु दिगादिय एव, तथा अवोधः शब्दयोर्दिग्देशवृत्त्योरिह ग्रहणं, कालवृत्त्योस्तु परत्वात् ``सायंचिरम्'' (6. 3. 88.) इति तनडेव ।

अकारादीति अन्यथा आम इति कृते ``नाम सिदय्व्यञ्जने'' (1. 1. 21.) इत्यनेन पदत्वात्

``प्रायोऽव्ययस्य'' (7. 4. 65.) इत्यन्त्यस्वरादिलोपो न स्यात्, ``नोऽपदस्य'' (7. 4. 61.) इत्यतोऽपद इत्यनुवर्तनात् ।

पश्चादाद्यन्ता–ऽग्रादिमः ।। 6. 3. 75. ।।

पश्चात् आदि अन्त अग्र इत्येतेभ्यः शेषेऽर्थे इमः प्रत्ययो भवति । पश्चिमः । अत्राव्ययत्वादन्त्यस्वरादिलोपः । आदिमः, अन्तिमः अग्रिमः । आद्यन्ताभ्यां भवादन्यत्रायं विधिः, भवे तु परत्वाद्दिगादिय एव ।।75।।

मध्यान्मः ।। 6. 3. 76. ।।

मध्यशब्दाच्छेषेऽर्थे मः प्रत्ययो भवति । मध्यमः, भवे दिनणादिर्वक्ष्यते । ततोऽन्यत्रायं विधिः ।।76।।

मध्य उत्कर्षा–ऽपकर्षयोरः ।। 6. 3. 77. ।।

उत्कर्षापकर्षयोर्मध्ये वर्तमानान्मध्यशब्दाच्छेषेऽर्थे अ इत्ययं प्रत्ययो भवति, मापवादः । नात्युत्कृष्टो नात्यपकृष्टो मध्यपरिमाणो मध्यो वैयाकरणः, मध्या गुणाः, मध्या स्त्री, नातिदीर्घं नातिह्रस्वं मध्यप्रमाणं मध्यं काष्ठम्, नाति-स्थूलो नातिकृशो मध्यः कायः । यद्यपि मध्यशब्दो मध्यपरिणामवाचिन्यपि वर्तते तथाप्यवस्थावस्थावतोः स्याद्वादाद्भेदविवक्षायामवस्थावाचिप्रकृते-रवस्थावति प्रत्ययार्थे पूर्वेण मो माभूदिति वचनम् ।।77।।

न्या०स०–मध्य०–यद्यपीति नन्वाधाराधेययोरभेदविवक्षाया मध्यवर्तिकाष्टाद्यपि मध्यशब्दे-नोच्यते, तत् किमनेनेत्याशङ्का ।

अध्यात्मादिभ्य इकण् ।। 6. 3. 78. ।।

अध्यात्म इत्यादिभ्यः शेषेऽर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । अध्यात्मं भवमाध्यात्मिकम्, एवमाधिदैविकम्, आधिभौतिकम्, अनुशतिकादित्वादनयोरुभयपदवृद्धिः । और्ध्वदमिकः, और्ध्वदेहिकः, और्ध्वदमिकः, और्ध्वदेहिकः, अत एव पाठादूर्ध्वशब्दस्य दमदेहयोर्वा मोऽन्तः । केचिदूर्ध्वदमोर्ध्वदेहावनुशतिकादिषु पठन्त उभयपदवृद्धिमिच्छति । और्ध्वदामिकः, और्ध्वदैहिकः, ऊर्ध्वमौहूर्तिकः, अत्र ``सप्तमी चोर्ध्वमौहूर्तिके'' (5. 3. 12.) इति ज्ञापकादुत्तरपदस्यैव वृद्धिः ।

अकस्मात् हेतुशून्यः कालः तत्र भवमाकस्मिकम् । अमुष्मिन्परलोके भवम् आमुष्मिकम्, एवमामुत्रिकम्, पारत्रिकम्, इह भवमौहिकम्, शैषिकम् पाठसामर्थ्यात्सप्तम्या अलुप् । अध्यात्मादयः प्रयोगगम्याः ॥78॥

न्या०स०–अध्यात्मा०–आत्मनि इति विगृह्य ``अनः'' (7. 3. 88.) इत्यत् समासान्तः ततः सप्तम्यर्थस्योक्तत्वात् सिप्रत्ययः, यद्वा स्याद्वादात् प्रकृतिभेदेन कारकभेदे सप्तम्यन्तादिकण् ।

आमुष्मिकमिति ननु ``नोपदस्य'' (7. 4. 61.) इति कथमन्त्यस्वरादिलोपः, ``तदन्तं पदम्'' (1. 1. 20.) इति पदत्वात्वान्न प्राप्नोति ? न, ``नाम सिदय्'' (1. 1. 21.) इति नियमात्पदत्वाभावः । एवमामुत्रिकमिति एवंशब्दः परलोकलक्षणं सादृश्यमवगमयति द्वयोः ।

समानपूर्व–लोकोत्तरपदात् ॥ 6. 2. 79. ॥

समानपूर्वपदेभ्यो लोकशब्दोत्तरपदेभ्यश्च शेषेऽर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । समानग्रामे कृतो भवो वा सामानग्रामिकः, सामानदेशिकः, इह लोके कृतो भवो वा ऐहलौकिकः, पारलौकिकः, सार्वलौकिकः, योगद्वयेऽपि भवार्थ एव प्रत्यय इत्यन्ये ॥79॥

वर्षा–कालेभ्यः ॥ 6. 3. 80. ॥

वर्षाशब्दात्कालविशेषवाचिभ्यश्च शेषेऽर्थे इकण् प्रत्ययो भवति, अणपवादः दोरीयमपि परत्वाद्बाधते । वर्षासु भवो वार्षिकः, ऋतोर्ण्णित् प्रत्ययस्तदवयवादेर्ऋत्वन्तादपि भवत्यभिधानात् । पूर्ववार्षिकः, अपरवार्षिकः । एवमुत्तरत्रापि । कालवाचि, मासिकः, आर्धमासिकः, सांवत्सरिकः, आह्निकः, दैवसिकः, वर्षाग्रहणमृत्वण्बाधनार्थम् । कालशब्दः काल विशेषवाची । ``भर्तुसंध्यादेरण्'' (6. 3. 88.) इत्यत्र संध्यादिग्रहणात् । स्वरूपग्रहणे हि काललक्षणेकण्बाधकं संध्यादिग्रहणमनर्थकं स्यात् । बहुवचनं तु यथाकथंचित् कालवृत्तिभ्यः प्रत्ययप्रापणार्थं, निशासहचरितमध्ययनं निशा प्रदोषसहचरितं प्रदोषः तत्र जयी नैशिकः प्रादोषिकः । कदम्बपुष्पसहचरितः कालः कदम्बपुष्पं व्रीहिपलालसहचरितः कालो व्रीहिपलालम् । तत्र देयमृणं कादम्बपुष्पिकं व्रैहिपलालिकम् । कालशब्दात्तु कालार्थादकालार्थाच्च कालतः, अकालादपि कालार्थात् `कालेभ्यः' इति यो विधिः ॥80॥

न्या०स०–वर्षा०–पूर्ववार्षिक इति पूर्वाश्च ता वर्षाश्च ``पूर्वापरप्रथम'' (3. 1. 103.) इति समासः, पूर्वासु वर्षासु भव इति तद्धितविषये ``दिगाधिकम्'' (3. 1. 98.) इत्यनेन वा, वर्षाणां

पूर्वत्वमिति ``पूर्वापराध'' (3. 1. 52.) इत्यादिना तत्पुरुषो वा ``अंशाद्दृतोः'' (7. 4. 11.) इत्युत्तरपदवृद्धिः, विशेषविहितत्वात् परत्वाच्चानेन ``दिक्पूर्वात्'' (6. 3. 71.) इति बाध्यते।

विशेषवाचीति गृह्यत इति शेषः, मासाद्यपेक्षया कालशब्दोऽपि कालविशेषवाची तेन कालिक इत्यपि।

यथाकथंचिदिति यथाकथंचित् गुणवृत्त्या मुख्यवृत्त्या वा ये काले वर्त्तन्ते इत्यर्थः। अकालादपीति-अकालशब्दश्च यदा कालमुपलक्षणीकृत्य काले वर्त्तते गुणवृत्त्यैव तदाकालशब्दात् कालार्थात् प्रत्ययो भवति यथादर्शितात् कदम्बपुष्पादेः।

यो विधिरिति कालेभ्य इत्यंशेन यो विधिः स तस्माद् भवतीति।

शरदः श्राद्धे कर्मणि ॥ 6. 3. 81. ॥

शरच्छब्दात्कालवाचिनः श्राद्धे कर्मणि पितृकार्ये शेषेऽर्थे इकण् प्रत्ययो भवति, ऋत्वणोऽपवादः। शारदिकं श्राद्धकर्म। कर्मणीति किम् ? शारदः श्राद्धः, श्रद्धावानित्यर्थः। श्राद्ध इति किम् ? शारदं विरेचनम् ॥81॥

नवा रोगा–ऽऽतपे ॥ 6. 3. 82. ॥

शरच्छब्दात्कालवाचिनो रोगे आतपे च शेषेऽर्थे इकण् प्रत्ययो भवति वा, ऋत्वणोऽपवादः। शारदिकः शारदो वा रोगः, शारदिकः शारद आतपः। रोगातप इति किम् ? शारदं दधि ॥82॥

निशा–प्रदोषात् ॥ 6. 3. 83. ॥

निशाप्रदोषशब्दाभ्यां कालवाचिभ्यां शेषेऽर्थे ``वर्षाकालेभ्यः'' (6. 3. 79.) इति नित्यं प्राप्त इकण् वा भवति। नैशिकः नैशः प्रादोषिकः प्रादोषः ॥83॥

श्वसस्तादिः ॥ 6. 3. 84. ॥

श्वस् इत्येतस्मात्कालवाचिनः शेषेऽर्थे इकण् प्रत्ययो वा भवति स च तादिः। शौवस्तिकः, पक्षे ``ऐषमोह्यःश्वसो वा'' (6. 3. 18.) इति त्यच्। श्वस्त्यम्। तत्रापि वाग्रहणात् पक्षे ``सायम्''– (6. 3. 87.) इत्यादिना तनट्। श्वस्तनम् ॥84॥

चिर–परुत्–परारेस्त्नः ॥ 6. 3. 85. ॥

चिरपरुत्परारि इत्येतेभ्यः कालवाचिभ्यः शेषेऽर्थे त्नः प्रत्ययो भवति वा, चिरत्नं परुत्नं परारित्नम्, पक्षे ``सायम्'' (6. 3. 87.) इत्यादिना तनट् । चिरंतनम्, परुत्तनम्, परारितनम्, परुत्परारिभ्यां विकल्पं नेच्छन्त्यन्ये । परारेस्तु रिलोप इत्येके, परात्नः । केचित्तु परुत्परार्योस्तनट्यन्त्यस्वरात्परं स्वागममिच्छन्ति । परुन्तनम्, परारिंतनम् ।।85।।

न्या०स०–चिर०–म्वागममिति मोरुदित्करणं ``तौ मुमौ'' (1. 3. 14.) इत्यनुस्वरार्थं, अन्यथाऽपदान्तत्वान्न स्यात्, ``नाम सिदय्'' (1. 1. 21.) इत्यनेनापि मस्य पदान्तत्वं परारिंतनमित्यत्रैव स्यात्, परुन्तनमित्यत्र तु अन्त्यस्वरात् परस्य तकाराच्च प्राक् स्थितस्य न स्यात् ।

पुरो–नः ।। 6. 3. 86. ।।

पुराशब्दात्कालवाचिनोऽव्ययाच्छेषेऽर्थे नः प्रत्ययो भवति वा । पुरा भवं पुराणम्, पुरातनम् ।।86।।

पूर्वाह्णा–ऽपराह्णात् तनट् ।। 6. 3. 87. ।।

पूर्वाह्ण अपराह्ण इत्येताभ्यां कालवाचिभ्यां शेषेऽर्थे तनट् प्रत्ययो वा भवति । ``वर्षाकालेभ्यः'' (6. 3. 79.) इति नित्यमिकणि प्राप्ते विकल्पः, तेन पक्षे सोऽपि भवति, पूर्वाह्णे जातो भवो वा पूर्वाह्णेतनः । पूर्वाह्णतनः, अपराह्णेतनः, अपराह्णतनः, ``कालात्तन'' (3. 2. 24.) इत्यादिना वा सप्तम्या अलुप् । पूर्वाह्णे जयी पूर्वाह्णतनः, अपराह्णतनः । अत्र जयिनि वाच्ये तत्र व्यवस्थितविभाषाविज्ञानात् नित्यं सप्तम्या लुप्, पक्षे पौर्वाह्णिकः, आपराह्णिकः । टकारो ङ्यर्थः । पूर्वाह्णेतनी, अपराह्णेतनी ।।87।।

सायं–चिरं–प्राह्णे–प्रगे–ऽव्ययात् ।। 6. 3. 88. ।।

योगविभागाद्वेति निवृत्तम्, सायंचिरंप्राह्णेप्रगे इत्येतेभ्योऽव्ययेभ्यश्च कालवाचिभ्यः शेषेऽर्थे तनट् प्रत्ययो नित्यं भवति । साये भवं सायन्तनम्, चिरे चिरन्तनम्, अत एव निर्देशान्मान्तत्वं निपात्यते । प्राह्णेतनम्, प्रगेतनम्, अनयोरेकारान्तत्वम् । अव्यय, दिवातनम्, दोषातनम्, नक्तंतनम्, पुनस्तनम्, प्रातस्तनम्, प्राक्तनत् । कालेभ्य इत्येव ? स्वर्भवं सौवम्, सायंचिरंप्राह्णेप्रगे इत्यव्ययेभ्योऽव्ययादित्येव सिद्धे सायचिरप्राह्णप्रगशब्देभ्य स्तनट्विधानं कालेकण्बाधनार्थम् ।।88।।

भर्तु–संध्यादेरण् ।। 6. 3. 89. ।।

भं नक्षत्रं तद्वाचिभ्य ऋतुवाचिभ्यः संध्यादिभ्यश्च कालवाचिभ्यः शेषेऽर्थेऽण् प्रत्ययो भवति, इकणोऽपवादः । पुष्येण चन्द्रयुक्तेन युक्तः कालः पुष्यः । ``चन्द्रयुक्त''–(6. 2. 7.) इत्यादिनाण् । तस्य लुप्, पुष्ये भवः पौषः, एवं तैषः आश्विनः रौहिणः, सौवातः । ऋतु ग्रैष्मः, शैशिरः, वासन्तः ऋतोर्ण्णित् प्रत्ययस्तदवयवादेरपि भवति । पूर्वग्रैष्मः, अपरशैशिरः । ``अंशादृतोः'' (7. 4. 14.) इत्युत्तरपदवृद्धिः । सन्ध्यादि, सान्ध्यः, सान्धिवेलः, आमावास्यः । एकदेशविकृतस्यानन्यत्वादमावस्याशब्दादपि भवति । आमावस्यः, अण्ग्रहणं स्वातिराधार्द्रापौर्ण-मासीभ्य ईयबाधनार्थम् । यथाविहितमित्युच्यमाने दोरीय इतीयः प्राप्नोति । कालेभ्य इत्येव ? स्वातेरिदमुदयस्थानम् स्वातीयम्, एवं राधीयम्, आर्द्रीयम् । सन्ध्या सन्धिवेला अमावास्या त्रयोदशी, चतुर्दशी, पञ्चदशी, पौर्णमासी, प्रतिपत्, शश्वत् इति संध्यादिः । ``ऋवर्णोवर्णात्''–(7. 4. 71.) इति सूत्रेऽशश्वदिति प्रतिषेधाच्छश्वच्छब्दात् इकणपि । शाश्वतम् शाश्वतिकम् ।।89।।

न्या०स०–भर्तु० एकदेशविकृतस्येति ``वाधारेमावस्या'' (5. 1. 21.) इति ह्रस्वत्वे एकदेश-विकृतत्वम् । अण्ग्रहणमिति अन्यथा योऽन्येन बाधितो न प्राप्नोति स भवति, स चाणेवेति न्यायात् सिद्धं, किं तद्ग्रहणेन ? ईयबाधनार्थमिति ननु कालेकण् प्राप्नोति तत् किमुक्तं ईयबाधनार्थमिति ? सत्यं, सूत्रकरणात् कालेकण् न भवति ।

इकणपीति ``वर्षाकालेभ्यः'' (6. 3. 80.) इत्यनेन, न वाच्यं प्रयोजनेकणि चरितार्थः, यतः प्रयोजनार्थे इकण् अस्मान्नेष्यत एव ।

संवत्सरात् फल–पर्वणोः ।। 6. 3. 90. ।।

संवत्सरशब्दात्फले पर्वणि च शेषेऽर्थेऽण् प्रत्ययो भवति । सांवत्सरं फलम्, सांवत्सरं पर्व । फलपर्वणोरिति किम् ? सांवत्सरिकं श्राद्धम् ।।90।।

हेमन्ताद् वा, तलुक् च ।। 6. 3. 91. ।।

हेमन्तशब्दादृतुविशेषवाचिनः शेषेऽर्थेऽण् वा भवति तत्संनियोगे च तकारस्य लुग्वा भवति । नित्यमणि प्राप्ते विभाषा । तथा त्रैरूप्यम्, हैमनम्, हैमन्तम्, हैमन्तिकम्, तदन्तविधिना पूर्वहैमनम् । ``अंशादृतोः'' (7. 4. 14.) इत्युत्तरपदवृद्धिः ।।91।।

प्रावृष एण्यः ॥ 6. 3. 92. ॥

प्रावृष् इत्येतस्मात् ऋतुवाचिनः शेषेऽर्थे एण्यः प्रत्ययो भवति, अणोऽपवादः । प्रावृषि भवः प्रावृषेण्यः । जाते तु परत्वादिक एव । प्रावृषि जातः प्रावृषिकः, एण्य इति प्रत्यये मूर्धन्यो णकारो निर्निमित्तकः प्रावृषेण्ययतीति ण्यन्तात् क्विपि प्रावृषेण् इति मूर्धन्यार्थः ॥92॥

न्या०स०–प्रावृ०–निर्निमित्तक इति न तु ``रषृवर्ण'' (2. 3. 63.) इत्यनेन मूर्धन्यार्थ इति, अन्यथा न लोपरूपे परे कार्ये ``णषम'' (2. 1. 60.) इति णत्वस्यासत्त्वादन्यत्वाच्च `रषृवर्णः' (2. 3. 63.) इत्यप्रवृत्तौ ``नाम्नो नोनह्नः'' (2. 1. 91.) इति नलोपेऽनिष्टं रूपं स्यात् ।

स्थामा–ऽजिनान्ताल्लुप् ॥ 6. 3. 93. ॥

स्थामन्शब्दान्तादजिनान्ताच्च परस्य शैषिकस्य प्रत्ययस्य लुप् भवति । अश्वत्थामनि भवो जाता वा अश्वत्थामा। ``अः स्थ म्नः'' (6. 1. 22.) इत्यः । तस्य लुप् । सिंहाजिने भवो जातो वा सिंहाजिनः उलाजिनः, नृकाजिनः । भवार्थस्यैव लुपमिच्छन्त्यन्ये तन्मते अश्वत्थाम्नोऽयं तत आगतो वा अश्वत्थामः, एवं सैंहाजिनः वार्काजिनः इत्यादौ न भवति ॥93॥

तत्र कृत–लब्ध–क्रीत–संभूते ॥ 6. 3. 94. ॥

अणादय एयणादयश्च सविशेषणा अनुवर्तन्ते, तत्रेति सप्तम्यन्तात् कृते लब्धे क्रीते संभूते चार्थे यथायोगमणादय एयणादयश्च प्रत्यया भवन्ति । यदन्येनोत्पादितं तत्कृतम् । यत्प्रतिग्रहादिना प्राप्तं तल्लब्धम्, यन्मूल्येन स्वीकृतम् तत् क्रीतम् । यत्संभाव्यते संमाति वा तत्संभूतम् । स्रुघ्ने कृतो लब्धः क्रीतः संभूतो वा स्रौघ्नः, एवं माथुरः, अत्राण् औत्सः उत्साद्यञ् । बाह्यः, बाहीकः । ``बहिषष्टीकण्च'' (6. 1. 16.) । नादेयः नद्यादित्वादेयण् । राष्ट्रियः । ``राष्ट्रादियः'' (6. 3. 3.) । पारावरीणः । ``पारावारादीनः'' (6. 3. 6.) । तत्रेति किम् । देवदत्तेन क्रीतः । कृतलब्धक्रीतसंभूत इति किम् ? शयने शेते, आसन आस्ते ॥94॥

न्या०स०–तत्र०–यत्संभाव्यते इति उत्पत्तिज्ञानं संभावना, तत्र उत्पद्यते तत्र घटते इत्यर्थः । संमाति वेति प्रमाणानतिरेकेणावतिष्ठते । तत्संभूतमिति संमात्यर्थे अकर्मकत्वाच्छील्यादित्वात् सति कर्त्तरि क्तः, इतरे तु अन्तर्भूतण्यर्थत्वात् कर्मणि क्तः ।

कुशले ॥ 6. 3. 95. ॥

तत्रेति सप्तम्यन्तात्कुशलेऽर्थे यथाविहितमणादय एयणादयश्च प्रत्यया भवन्ति । स्रुघ्ने कुशलः स्रौघ्नः माथुरः, नादेयः, राष्ट्रियः, योगविभाग उत्तरार्थः ॥96॥

पथोऽकः ॥ 6. 3. 96. ॥

तत्रेति सप्तम्यन्तात्पथिन्शब्दात्कुशलेऽर्थेऽकः प्रत्ययो भवति, अणोऽपवादः । पथि कुशलः पथकः ॥96॥

कोऽश्मादेः ॥ 6. 3. 97. ॥

तत्रेति सप्तम्यन्तेभ्योऽश्मन् इत्यादिभ्यः कुशलेऽर्थे कः प्रत्ययो भवति । अणादेरपवादः । अश्मनि कुशलः अश्मकः, अशनिकः, आकर्षकः । अश्मादय उपचारात्तद्विषयायां क्रियायां वर्तमानाः प्रत्ययमुत्पादयन्ति, तत्रैव कुशलार्थयोगात् । प्रत्ययान्तरकरणमिकारोकारान्तशब्दार्थम् ॥ अन्यथा तेषु अनिष्टं रूपमापद्येत । अश्मन् अशनि आकर्षत्सरु, पिशाच, पिचण्ड, पाद, शकुनि, निचय, जय, नय, ह्राद, ह्लाद इत्यश्मादिः ॥97॥

न्या०स०—कोऽश्म०—प्रत्ययान्तरकरणमिति ननु ``पथोकः'' (6. 3. 96.) इत्यतोऽकेनैव साध्यसिद्धिर्भविष्यति किं करणेनेति ? अनिष्टमिति ``अवर्णेवर्णस्य'' (7. 4. 98.) इति प्रसङ्गात् ।

जाते ॥ 6. 3. 98. ॥

तत्रेति सप्तम्यन्ताज्जातेऽर्थे यथाविहितमणादय एयणादयश्च प्रत्यया भवन्ति । स्रुघ्ने जातः स्रौघ्नः, एवं माथुरः, अण्-औत्सः, औदपानः, अञ्बाह्यः, बाहीकः, ञ्यटीकणौ-कालेयः, आग्नेयः, ``कल्यग्नेरेयण्'' (6. 1. 17.) । स्त्रैणः, पौंस्न, ``प्राग्वतः स्त्रीपुंसान्नञ्स्नञ्'' (6. 1. 25.) । नादेयः, एयण्, राष्ट्रियः, इयः पारावारीणः, ईनः ग्राम्यः, ग्रामीणः, येनञौ—कात्रेयकः । ``कत्र्यादेश्चैयकञ्'' (6. 3. 10.) । तत्रेत्येव । चैत्राज्जातः । जात इति किम् ? शयने शेते । आसने आस्ते, स्वयमुत्पत्तिर्जातस्यार्थ इति कृतादिभ्यो भेदः ॥68॥

प्रावृष इकः ॥ 6. 3. 99. ॥

तत्रेति सप्तम्यन्तात्प्रावृष्शब्दाज्जातेऽर्थे इकः प्रत्ययो भवति, एण्यस्यापवादः । प्रावृषि जातः प्रावृषिकः ॥99॥

नाम्नि शरदोऽकञ् ।। 6. 3. 100. ।।

शरदित्येतस्मात्सप्तम्यन्ताज्जातेऽर्थेऽकञ् प्रत्ययो भवति नाम्नि प्रकृतिप्रत्ययसमुदायश्चेत्कस्यचिन्नाम भवति, ऋत्वणोऽपवादः । शारदका दर्भाः, शारदका मुद्गाः । दर्भविशेषाणां मुद्गविशेषाणां चेयं संज्ञा । नाम्नीति किम् ? शारदं सस्यम् ।।100।।

सिन्ध्वपकरात् काऽणौ ।। 6. 3. 101. ।।

सिन्धुअपकर इत्येताभ्यां सप्तम्यन्ताभ्यां जातेऽर्थे क अण् इत्यतौ प्रत्ययौ भवतः नाम्नि । सिन्धोः कच्छाद्यकञणोः अपकराच्चौत्सर्गिकाणोऽपवादः, वचनभेदाद्यथासंख्याभावः । सिन्धौ जातः सिन्धुकः सैन्धवः अपकरे कचवरे जातः अपकरकः, आपकरः । नाम्नीत्येव ? सैन्धवको मनुष्यः । नाम्नीत्यधिकारः ``कालाद्देय ऋणे'' (6. 3. 112.) इति सूत्रं यावत् अन्ये तु नाम्नीत्यधिकारं नेच्छन्ति ।।101।।

पूर्वाह्ण–ऽपराह्णा–ऽऽर्द्रा–मूल–प्रदोषा–ऽवस्करादकः ।। 6. 3. 102. ।।

तत्रेति सप्तम्यन्तेभ्यः पूर्वाह्णादिभ्यो जातेऽर्थेऽकः प्रत्ययो भवति नाम्नि, इकणादेरपवादः । पूर्वाह्णे जातः पूर्वाह्णकः, अपराह्णकः, अत्रेकण्तनटोरपवादः । आर्द्रकः, मूलकः, अत्र भाणः, प्रदोषकः, अत्रेकणणोः, अवस्करकः, अत्रौत्सर्गिकाणः । नाम्नीत्येव ? पौर्वाह्णिकम्, पूर्वाह्णेतनम्, आपराह्णिकम् अपराह्णेतनम् आर्दं, मौलं, प्रादोषिकं, प्रादोषम्, आवस्करम् । केनैव सिद्धेऽकविधानमार्द्रिकेत्येवमर्थम् । अन्यथा खट्वाका खट्वका खट्विवकेतिवत् के रूपत्रयं स्यात् ।।102।।

पथः पन्थ च ।। 6. 3. 103. ।।

पथिन्शब्दात्सप्तम्यन्ताज्जातेऽर्थेऽकः प्रत्ययो भवति पथिन् शब्दस्य च पन्थादेशो नाम्नि, अणोऽपवादः । पथि जातः पन्थकः ।।103।।

अश्च वाऽमावास्यायाः ।। 6. 3. 104. ।।

अमावास्याशब्दात्सप्तम्यन्ताज्जातेऽर्थेऽकारोऽकश्च प्रत्ययौ वा भवतः नाम्नि, सन्ध्याद्यणोऽपवादः । अमावास्यायां जातः अमावास्यः, अमावास्यकः, पक्षे संध्याद्यण् ।

आमावास्यः, एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् अमावस्याशब्दादपि भवति । अमावस्यः, अमावस्यकः, आमावस्यः । नाम्नीत्येव ? आमावास्यः ॥104॥

*न्या०स०—अश्च०—*अमावस्याशब्दादिति ``वाऽधारेऽमावस्या'' (5. 1. 21.) इति ध्यणि वाह्रस्वत्वनिषातनात् ।

श्रविष्टा–ऽषाढादीयण्–च ॥ 6. 3. 105. ॥

श्रविष्टा अषाढा इत्येताभ्यां जातेऽर्थे ईयण् चकारादश्च प्रत्ययौ भवतः नाम्नि, भाणोऽपवादः । श्रविष्टाः धनिष्टाः, ताभिश्चन्द्रयुक्ताभिर्युक्तः कालः श्रविष्टाः तासु जातः श्राविष्टीयः, श्रविष्टः । एवम् अषाढायामषाढयोरषाढासु वा जातः आषाढीयः अषाढः, अणमपीच्छन्त्येके । श्राविष्टः आषाढः ॥105॥

*न्या०स०—श्रविष्टाषाढा०—*श्रविष्टा इति शृणोत्यनेनास्मिन्निति वा ``पुन्नाम्नि'' (5. 3. 130.) इति घः, श्रवो विद्यते अस्यां मतुर्ङी, ``मावर्ण'' (2. 1. 94.) इति वादेशे श्रववती, तत आतिशायिके इष्टे ``जाति'' (3. 2. 51.) इति पुंवद्भावे ``विन्मतोर्णीष्टेयसौ'' (7. 4. 32.) इति मतोर्लुपि श्रविष्टाः ताभिः ।

अषाढायामिति अषाढा नक्षत्रमेकद्वित्रितारकं च मन्यन्ते।

फल्गुन्याष्टः ॥ 6. 3. 106. ॥

फल्गुनीशब्दात्सप्तम्यन्ताज्जातेऽर्थे टः प्रत्ययो भवति नाम्नि, भाणोऽपवादः । फल्गुन्योर्जातः फल्गुनः, फल्गुनी स्त्री । अणमपीच्छन्त्येके । फाल्गुनः, टकारो ङ्यर्थः ॥106॥

बहुला–ऽनुराधा–पुष्यार्थ–पुनर्वसु–हस्त-विशाखा–स्वातेर्लुप् ॥ 6. 3. 107. ॥

बहुलादिभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यः परस्य भाणो जातेऽर्थे लुप् भवति नाम्नि । बहुलाः कृत्तिकाः ताभिश्चन्द्रयुक्ताभिर्युक्तः कालो बहुलाः तासु जातो बहुलः । अत्राणो लुपि ``ङ्यादेर्गौणस्य''—(2. 4. 94.) इत्यादिनापोऽपि लुप्, एवमनुराधासु अनुराधः । ``घञ्युपसर्गस्य बहुलम्'' (3. 2. 86.) इति दीर्घत्वे अनूराधाः, तासु अनूराधः, पुष्यार्थ-पुष्ये पुष्यः, तिष्यः,

सिध्यः । पुनर्वसौ पुनर्वसुः, हस्ते हस्तः, विशाखायां विशाखः, स्वातौ स्वातिः ॥107॥

न्या०स०—बहुल०—पुनर्वसाविति अत्र प्रागेव एकैव तारा विवक्षितेति ``पुष्यार्थात्'' (3. 1. 129.) इति सूत्रं विनाऽपि सिद्धं पुंलिङ्गश्चायम् ।

चित्रा—रेवती—रोहिण्याः स्त्रियाम् ॥ 6. 3. 108. ॥

चित्रादिभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यः परस्य भाणो जातेऽर्थे स्त्रियां लुप् भवति नाम्नि । चित्रायां जाता चित्रा माणविका, रेवत्यां रेवती, रोहिण्यां रोहिणी, स्त्रियामिति किम् ? चैत्रः रैवतः रौहिणः, पुंस्येषां विकल्प इत्येके । तन्मते चित्रः रेवतः रोहिण इत्यपि भवति ॥108॥

बहुलमन्येभ्यः ॥ 6. 3. 109. ॥

श्रविष्ठादिभ्यो येऽन्ये नक्षत्रशब्दास्तेभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यः परस्य भाणो जातेऽर्थे बहुलं लुप् भवति नाम्नि । अभिजिति जातोऽभिजित्, आभिजितः, अश्वयुजि जातः अश्वयुक्, आश्वयुजः, शतभिषजि शतभिषक् शातभिषजः, शातभिषः, ``वा जाते द्विः'' (6. 2. 137.) इति विकल्पनाणो डित्त्वादन्त्य—स्वरादिलोपः । कृत्तिकासु कृत्तिकः, कार्तिकः, मृगशिरसि मृगशिराः मार्गशीर्षः, एषु वा लोपः । क्वचिन्नित्यम् । अश्विनीषु जातः अश्विनः, अश्विनी, राधः, राधा, श्रवणः, श्रवणा, उत्तरः, उत्तरा । क्वचिन्न भवति, मघासु माघः, अश्वत्थे आश्वत्थः, प्रोष्टपदासु प्रोष्टपादः, भद्रपादः, ``प्रोष्टभद्राज्जाते'' (7. 4. 13.) इत्युत्तरपद-वृद्धिः ॥109॥

स्थानान्त—गोशाल—खरशालात् ॥ 6. 3. 110. ॥

स्थानशब्दान्तान्नाम्नो गोशालखरशाल इत्येताभ्यां च सप्तम्यन्ताभ्यां परस्य जातेर्थे प्रत्ययस्य लुब्भवति नाम्नि । गोस्थाने जातो गोस्थानः, अश्वस्थानः, गोशाले गोशालः, खरशाले खरशालः, लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणाद्गोस्थान्यां गोस्थानः । गोशालायां गोशालः, खरशालायां खरशालः । ``ङ्यादेर्गौणस्य'' (2. 4. 94.) इत्यादिना स्त्रीप्रत्ययस्यापि लुक् ॥110॥

न्या०स०—स्थाना०—गोशाले इति अत्र तत्पुरुषे कृते परवल्लिङ्गतायां प्राप्तायां 'सेनाशाला' इति पक्षे नपुंसकत्वात् ह्रस्वत्वे गोशाले जात इत्यादिविग्रहः ।

वत्सशालाद्वा ॥ 6. 3. 111. ॥

वत्सशालशब्दात्सप्तम्यन्तात्परस्य जातेऽर्थे प्रत्ययस्य वा लुप् भवति नाम्नि । वत्सशालः, वात्सशालः ॥111॥

सोदर्य–समानोदर्यौ ॥ 6. 3. 112. ॥

सोदर्यसमानोदर्यशब्दौ जातेऽर्थे यप्रत्ययान्तौ निपात्येते । समानोदरे जातः सोदर्यः, समानोदर्यः । निपातनात्पक्षे समानस्य सभावः, तत एव च जातार्थमात्रत्वेऽपि भ्रातृष्वेवाभिधानम् न कृमिमलादिषु । नाम्नीत्यधिकाराद्वा ॥112॥

कालाद् देये ऋणे ॥ 6. 3. 113. ॥

तत्रेति वर्तते, तत्रेति सप्तम्यन्तात्कालविशेषवाचिनो देयेऽर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति यत्तद्देयमृणं चैत्तद्भवति, नाम्नीति निवृत्तम् । मासे देयमृणं मासिकम्, आर्धमासिकम्, सांवत्सरिकमृणम् । मासादिके गते देयमित्यर्थः । ऋण इति किम् ? मासे देया भिक्षा । स्वातौ देयं स्वस्तिवाचनम् ॥113॥

कलाप्यश्वत्थ–यवबुसोमाव्यासैषमसोऽकः ॥ 6. 3. 114. ॥

कलापिन् अश्वत्थ यवबुस उमाव्यास ऐषमस् इत्येतेभ्यः कालवाचिभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यो देय ऋणेऽकः प्रत्ययो भवति । इकणादेरपवादः । यस्मिन्काले मयूराः केदाराः इक्षवः कलापिनो भवन्ति स कालस्तत्साहचर्यात्कलापी तत्र देयमृणं कलापकम् । यस्मिन्कालेऽश्वत्थाः फलन्ति स कालोऽश्वत्थफलसहचरितोऽश्वत्यः तत्र देयमृणमश्वत्थकम् । यस्मिन्काले यवानां बुसं भवति स कालो यवबुसम् तत्र देयमृणं यवबुसकम् । उमा व्यस्यन्ते विक्षिप्यन्ते यस्मिन्स काल उमाव्यासस्तत्र देयमृणमुमाव्यासकम् ऐषमोऽस्मिन्संवत्सरे देयमृणमैषमकम् ॥114॥

*न्या०स०–कला०–*इकणादेरिति आदिशब्दात् ``ऐषमोह्यःश्वसो वा'' (6. 3. 19.) इति त्यच्तनटौ ऐषम इति सामान्यविशेषभावेन भूयः सप्तमी, एके तु विशेषाभावं मन्वानाः सप्तम्यर्थादपि प्रत्यय इति च व्याचख्युः ।

ग्रीष्मा–ऽवरसमादकञ् ॥ 6. 3. 115. ॥

ग्रीष्म अवरसमा इत्येताभ्यां कालवाचिभ्यां सप्तम्यन्ताभ्यां देये ऋणेऽकञ् प्रत्ययो भवति, अणिकणोरपवादः ञकारो वृद्ध्यर्थः । ग्रीष्मे देयमृणं ग्रैष्मकम्, अवरा, समा, अवरसमा, समाया, अवरत्वमित्यवरसमं वा । तत्रावरसमकम् । अपरसमादपीच्छन्त्येके । आपरसमकम् ।।115।।

संवत्सरा–ऽऽग्रहायण्या इकण् च ।। 6. 3. 116. ।।

संवत्वर आग्रहयणी इत्येताभ्यां सप्तम्यन्ताभ्यां देये ऋणे इकण् चकारादकश्च प्रत्ययौ भवतः, अणिकणोरपवादः । संवत्सराद्धि फले पर्वाणि च ऋणेण् प्राप्नोति । संवत्सरे देयमृणं फलं पर्व वा सांवत्सरिकम्, सांवत्सरकम्, आग्रहायणिकम्, आग्रहायणकम्, वेत्यकृत्वा इकण् चेति विधानं ``संवत्सरात्फलपर्वणोः'' (6. 3. 89.) इत्यण्बाधनार्थम् ।।116।।

*न्या०स०–संव०–*वेत्यकृत्वेति नन्वाग्रहायण्या वेत्यपि कृते साध्यसिद्धिर्भविष्यतीत्याशङ्का ।

साधु–पुष्यत्–पच्यमाने ।। 6. 3. 117. ।।

कालादिति वर्तते । तत्रेति सप्तम्यन्तात्कालविशेषवाचिनः साधौ पुष्यति पच्यमाने चार्थे यथाविहितं प्रत्यया भवन्ति । हेमन्ते साधु हैमनमनुलेपनम् । हैमन्तं हैमन्तिकम् । वसन्ते पुष्यन्ति वासन्त्यः कुन्दलताः, ग्रैष्म्यः पाटलाः, शरदि पच्यन्ते शारदाः शालयः, शैशिरा मुद्गाः ।।117।।

उप्ते ।। 6. 3. 118. ।।

तत्रेति सप्तम्यन्तात्कालवाचिन उप्तेऽर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति । शरद्युप्ताः शारदा यवाः । हेमन्ते हैमनाः, ग्रैष्माः, नैदाधाः योगविभाग उत्तरार्थः ।।118।।

आश्वयुज्या अकञ् ।। 6. 3. 119. ।।

आश्वयुजीशब्दात्सप्तम्यन्तादुप्तेऽर्थेऽकञ् प्रत्ययो भवति, इकणोऽपवादः । अश्विनीभिश्चन्द्र-युक्ताभिर्युक्ता या पौर्णमासी सा आश्वयुजी, अश्विनीपर्यायोऽश्वयुकशब्दः । आश्वयुज्यां कौमुद्यामुप्ता आश्वयुजका माषाः ।।119।।

*न्या०स०–आश्व०–*आश्वयुज्यामिति अत एव निर्देशात् ``चन्द्रयुक्तात्'' (6. 2. 6.) इति न लुप् ।

ग्रीष्म–वसन्ताद् वा ॥ 6. 3. 120. ॥

आभ्यां सप्तम्यन्ताभ्यामुप्तेऽर्थेऽकञ् प्रत्ययो भवति वा, ऋत्वणोऽपवादः । ग्रैष्मकं, ग्रैष्मम् सस्यम् वासन्तकं, वासन्तं सत्यम् ॥120॥

व्याहरति मृगे ॥ 6. 3. 121. ॥

तत्रेति वर्तते कालादिति च, तत्रेति सप्तम्यन्तात्कालवाचिनो व्याहरत्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति व्याहरंश्चेन्मृगो भवति । निशायां व्याहरति नैशिको नैशो वा शृगालः । प्रादोषिकः प्रादोषो वा शृगालः । इति किम् ? वसन्ते व्याहरति कोकिलः ॥121॥

जयिनि च ॥ 6. 3. 122. ॥

जयः प्रसहनमभ्यासः । सोऽस्यास्तीति जयी, तत्रेति सप्तम्यन्तात्काल–वाचिनो जयिनि वाच्ये यथाविहितं प्रत्ययो भवति । निशासहचरितमध्ययनं निशा तत्र जयी साभ्यासः नैशिकः नैशः, प्रादोषिकः, प्रादोषः, वासन्तः, वार्षिकः । केवलकालविषयस्य जयस्यायोगान्निशादिसह-चरिताध्ययनादिवृत्तयो निशादयः शब्दाः प्रत्ययमुत्पादयन्ति । चकारः कालादित्यनुकर्षणार्थः तेन चानुकृष्टत्वान्नोत्तरत्रानुवर्तते ॥122॥

*न्या०स०–जयिनि०–*जयस्यायोगादिति जयो हि क्रिया, सा च केवलस्य न संभवतीत्यर्थः ।

भवे ॥ 6. 3. 123. ॥

तत्रेत्यनुवर्तते, तत्रेति सप्तम्यन्ताद्भवेऽर्थे यथाविहितमणादय एयणादयश्च प्रत्यया भवन्ति । सत्ता भवत्यर्थो गृह्यते न जन्म जात इत्यनेन गतार्थत्वात्, स्रुघ्ने भवः स्रौघ्नः, माथुरः, औत्सः, नादेयः, राष्ट्रियः, पारावारीणः, ग्राम्यः, ग्रामीणः ॥123॥

दिगादिदेहांशाद् यः ॥ 6. 3. 124. ॥

दिगादिभ्यो देहावयववाचिनश्च सप्तम्यन्ताद्भवेऽर्थे यः प्रत्ययो भवति, अणीयादेरपवादः । दिशि भवो दिश्यः, वर्ग्यः, अप्सुभवोऽप्सव्यः, ``अपोययोनिमतिचरे'' (3. 2. 28.) इति सप्तम्यलुप् । देहांश, मूर्धन्यः, ``अनोट्येये'' (7. 4. 51.) इत्यनो लोपाभावः । दन्त्यः । कण्ठ्यः । ओष्ठ्यः ।

पाण्यः । पद्यः । तालव्यः । मुख्यः । जघन्यः । देहांशात्तदन्तादपीच्छन्त्येके । कण्ठतालव्यः, दन्तोष्ठ्यः । दिश्, वर्ग, पूग, गण, यूथ, पक्ष, घाय्या, मित्र, धाय्यमित्र, मेधा, न्याय, अन्तर्, पथिन्, रहस्, अलीक, उख, उखा, साक्षिन्, आदि, अन्त, मुख, जघन, मेघ, वंश, अनुवंश, देश, काल, वेश, आकाश, अप् इति दिगादिः ॥ मुखजघनवंशानुवंशानाम् अदेहांशार्थः पाठः, सेनाया यन्मुखं तत्र भवो मुख्यः, सेनाया यज्जघनं तत्र भवो जघन्यः, वंशोऽन्वयस्तत्र भवो वंश्यः । एवमनुवंश्यः ॥124॥

न्या०स०—दिगा०—अदेहांशार्थ इति देहांशार्थत्वे इति तु अनुवंशस्य मताभिप्रायेण यस्य सिद्धिः, स्वमते तदन्तविधिनिरासात् ।

नाम्न्युदकात् ॥ 6. 3. 125 ॥

उदकशब्दात्सप्तम्यन्ताद्भवेऽर्थे यः प्रत्ययो भवति नाम्नि । उदक्या रजस्वला । नाम्नीति किम् ? औदको मत्स्यः ॥125॥

न्या०स०—नाम्न्यु० उदक्येति उदके भवा नैमित्तिक आधारः ।

मध्याद् दिनण् णेया मोऽन्तश्च ॥ 6. 3. 126 ॥

मध्यशब्दात्सप्तम्यन्ताद्भवेऽर्थे दिनण् ण ईय इत्येते प्रत्यया भवन्ति तत्संनियोगे च मागमो भवति । मध्ये भवा माध्यंदिना उद्गायन्ति, माध्यमः, मध्यमीयः, अन्ये तु दिनं णितं नेच्छन्ति, मध्यंदिनः ॥126॥

जिह्वामूला–ऽङ्गुलेश्चेयः ॥ 6. 3. 127 ॥

जिह्वामूल अङ्गुलि इत्येताभ्यां मध्यशब्दाच्च भवेऽर्थे ईयः प्रत्ययो भवति, यापवादः । जिह्वामूले भवो जिह्वामूलीयः, अङ्गुलीयः, मध्यीयः, चकारेण मध्यशब्दानुकर्षणं मागमाभावार्थम् ॥127॥

न्या०स०—जिह्वा०—यापवाद इति ``दिगादि'' (6. 3. 124.) इति प्राप्तस्य ।

वर्गान्तात् ॥ 6. 3. 128 ॥

वर्गशब्दान्तात्सप्तम्यन्ताद्भवेऽर्थे ईयः प्रत्ययो भवति, अणोऽपवादः। कवर्गीयः, पवर्गीयो वर्णः ॥128॥

ईन–यौ चाशब्दे ॥ 6. 3. 129 ॥

वर्गशब्दान्तात्सप्तम्यन्ताद्भवेऽर्थे ईनय इत्येतौ चकारादीयश्च प्रत्यया भवन्ति अशब्दे न चेत्स भवार्थः शब्दो भवति । भरतवर्गीणः, भरतवर्ग्यः, भरतवर्गीयः, बाहुबलिवर्गीणः, बाहुबलिवर्ग्यः, बाहुबलिवर्गीयः, युष्मद्वर्गीणः, युष्मद्वर्ग्यः, युष्मद्वर्गीयः, अस्मद्वर्गीणः, अस्मद्वर्ग्यः अस्मद्वर्गीयः, अशब्द इति किम् ? कवर्गीयः ॥129॥

दृति–कुक्षि–कलशि–वस्त्यहेरेयण् ॥ 6. 3. 130 ॥

एभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यो भवेऽर्थे एयण् प्रत्ययो भवति। अणादीनामपवादः। दृतौ चर्मखल्वायां भवं दार्तेयं जलम्, कुक्षौ देहांशे भवः कौक्षेयो व्याधिः, देशार्थादपि भवे परत्वात् अयमेव न धूमाद्यकञ्। असावप्ययमेव न कुल–कुक्ष्याद्येयकञ्। असिं कौक्षेयमुद्यम्य, कलश्यां मन्थन्यां भवं कालशेयं तक्रम्। वस्तौ पुरीषनिर्गमरन्ध्रे भवं वास्तेयं पुरीषम्। अहौ भवमाहेयं विषम् ॥130॥

*न्या०स०–दृति०–*अयमेवेति भवादन्यत्र जातादावर्थे तस्य चरितार्थत्वात्। असावपीति खड्गेऽपीत्यर्थः । कलश्यामिति कल्यते स्म क्ते कलितः, कलितं क्षिप्तं परिच्छिन्नमश्नुते व्याप्नोतीति कर्मणोऽणि कलिताशी, पृषोदरादित्वात् कलशिरित्यादेशः ।

आस्तेयम् ॥ 6. 3. 131 ॥

अस्तिशब्दात्तिवन्तप्रतिरूपकाद्व्ययाद्धनविद्यमानपर्यायत्तत्र भवे एयण् प्रत्ययो निपात्यते असृज्शब्दस्य वास्त्यादेशश्च । धने वा विद्यमाने वा असृजि वा भवमास्तेयम् ॥131॥

ग्रीवातोऽण् च ॥ 6. 3. 132. ॥

ग्रीवाशब्दाद्भवेऽर्थेऽण् चकारादेयण् च प्रत्ययौ भवतः, देहांशयापवादः । ग्रीवायां ग्रीवासु वा भवं ग्रैवंग्रैवेयम्, ग्रीवाशब्दो यदा शिरोधमनीवचनस्तदा तासां बहुत्वाद्बहुवचनम् ॥132॥

*न्या०स०–ग्रीवातो०–*ग्रैवमिति 'ग्रीवेभ्योऽण् च' इति पाणीनीयसूत्रे बहुवचेन ज्ञापितत्वात् ग्रीवासु भवमिति बहुत्वे एव प्रत्ययो न ग्रीवायां भव इत्येकत्वे ।

चतुर्मासान्नाम्नि ॥ 6. 3. 133 ॥

चतुर्मासशब्दात्तत्र भवेऽण् प्रत्ययो भवति नाम्नि समुदायश्चेन्नाम भवति । चर्तुषु मासेषु भवा चातुर्मासी, आषाढी, कार्तिकी, फाल्गुनी च पौर्णमासी भण्यते । अत्र विधानसामर्थ्यात् ``द्विगोरनपत्ये''–(6. 1. 24.) इत्यादिना प्रत्ययस्य लुब् न भवति । नाम्नीति किम् ? चतुर्षु मासेषु भवश्चतुर्मासः । अत्र ``वर्षाकालेभ्यः'' (6. 3. 79.) इतीकण् । तस्य लुप् ॥133॥

यज्ञे ञ्यः ॥ 6. 3. 134. ॥

चतुर्मासशब्दात्तत्र भवे यज्ञे ञ्यः प्रत्ययो भवति । चतुर्षु मासेषु भवानि चातुर्मास्यानि यज्ञकर्माणि ॥134॥

गम्भीर–पञ्चजन–बहिर्देवात् ॥ 6. 3. 135. ॥

गम्भीरपञ्चजनबहिर्देव इत्येतेभ्यस्तत्र भवे ञ्यः प्रत्ययो भवति, अणाद्यपवादः । गम्भीरे भवो गाम्भीर्यः, पाञ्चजन्यः, बाह्यः, दैव्यः । भवादन्यत्र गाम्भीरः, पाञ्चजनः, द्विगौ त्वणो लुपि पञ्चजनः । बाहीकः, दैवः । भवेऽपि बाहीक इत्येके ॥135॥

*न्या०स०–गम्भीर०–*द्विगौ त्वणो लुपीति यदा पञ्चजनशब्दः पातालवाचकः रथकारपञ्चमस्य चातुर्वर्णस्य वा इति व्याख्या तदा न द्विगुः, असंज्ञायां तस्य विधानात्, यदा तु पञ्चसु जनेषु भवस्तदा द्विगौ ञ्यः, अस्य विधानसामर्थ्यान्न लुप् ।

परिमुखादेरव्ययीभावात् ॥ 6. 3. 136. ॥

परिमुख इत्येवमादिभ्योऽव्ययीभावेभ्यस्तत्र भवे ञ्यः प्रत्ययो भवति । अणोऽपवादः । परितः सर्वतो मुखं परिमुखम् । अत एव वचनादव्ययीभावः । वर्जनार्थो वा परिः । मुखात् परि परिमुखम् । ``पर्यपाङ्''–(3. 1. 32.) इत्यादिनाव्ययीभावः । परिमुखे भवः पारिमुख्यः, पारिहनव्यः, पार्योष्ठ्यः । परिमुखादेरिति किम् ? औपकूलम्, औपमूलम्, औपशाखम्, औपकुम्भम्, औपखलम्, आनुकुम्भम्, आनुकूलम्, आनुखलम् । अव्ययीभावादिति किम् ? परिग्लानो मुखाय परिमुखः तत्र भवः पारिमुखः । परिमुख, परिहनु, पर्योष्ठ पर्युलूखल, परिरथ, परिसिर, परिसीर, उपसीर, अनुसीर, उपस्थूण, उपस्थूल, उपकलाप, उपकपाल,

अनुपथ, अनुगङ्ग, अनुतिल, अनुसीत, (अनुशीत) अनुमाष, अनुयव, अनुयूप, अनुवंश, अनुपद इति परिमुखादिः । अनुवंशाद्दिगादित्वाद्योऽपि अनुवंश्यः ॥136॥

न्या०स०–परि०-अत एव वचनादिति न तु ``पर्यपाङ्'' (3. 1. 32.) इत्यादिना पञ्चम्यन्तेन सह तेन विधानात् परेश्चात्र वर्जनार्थाभावात् ``पर्यपाभ्याम्'' (2. 2. 71.) इति पञ्चम्यभावः ।

परिसिरेति सिनोतेः ``ऋज्यजि'' 388 (उणादि) इति किति रे सिरा । परिसीरेति सिनोतेः 'विजि' इति दीर्घत्वे च सीरा ।

अन्तःपूर्वादिकण् ॥ 6. 3. 137. ॥

अन्तःशब्दपूर्वपदादव्ययीभावात्तत्र भवे इकण् प्रत्ययो भवति, अणोऽपवादः । अगारस्यान्तः अन्तरगारम्, तत्र भव आन्तरगारिकः । आन्तर्गेहिकः, आन्तर्वेश्मिकः, आन्तपुरिकः । अव्ययीभावादित्येव ? अन्तर्गतमगारस्य अन्तःस्थं वागारमन्तरगारम् तत्र भवभान्तरगारम् । आन्तःपुरम्, आन्तःकरणम् ॥137॥

न्या०स०–अन्तः०–आन्तर्वेश्मिक इति वेश्मनोऽन्तः ``नपुंसकाद् वा'' (7. 3. 89.) (इति) अत्, अन्तर्वेश्मे अन्तर्वेश्मं ``सप्तम्या वा'' (3. 2. 4.) अम्, अन्तर्वेश्म वा भवः ।

पर्यनोर्ग्रामात् ॥ 6. 3. 138. ॥

परि अनु इत्येताभ्यां परो यो ग्रामशब्दस्तदन्तादव्ययीभावात्तत्र भवे इकण् प्रत्ययो भवति, अणोऽपवादः । ग्रामात्परि परिग्रामम्, ग्रामस्य समीपमनुग्रामम्, तत्र भवः पारिग्रामिकः, आनुग्रामिकः । अव्ययीभावादित्येव ? परिगतो ग्रामः परिग्रामस्तत्र भवः पारिग्रामः आनुग्रामः ॥138॥

उपाज्जानु–नीवि–कर्णात् प्रायेण ॥ 6. 3. 139. ॥

उप इत्येतस्मात्परे ये जानुनीविकर्णशब्दास्तदन्तादव्ययीभावादिकण् प्रत्ययो भवति प्रायेण तत्र भवे यस्तत्र बाहुल्येन भवति अन्यत्र च कदाचिद्भवति तस्मिन्नित्यर्थः । जानुनः समीपमुपजानु, प्रायेणोपजानु भवति औपजानुकः सेवकः, औपजानुकं शाटकम्, औपनीविकं ग्रीवादाम, औपनीविकं कार्षापणम्, औपकर्णिकः सूचकः । प्रायेणेति किम् ? नित्यं भवे

माभूत् । औपजानवं मांसम्, औपजानवं गडु, जानुशब्दो देहावयवो नोपजानुशब्द इति यो न भवति ।।139।।

रूढावन्त:पुरादिकः ।। 6. 3. 140. ।।

अन्त:पुरशब्दात्तत्र भवे इकः प्रत्ययो भवति रूढौ स चेदन्त:पुरशब्दः क्वचिद्रूढो भवति । क्व चायं रूढः एकपुरुषपरिग्रहे स्त्रीसमुदाये, उपचारात्तन्निवासेऽपि । अन्त:पुरे भवा अन्त:पुरिका स्त्री । रूढाविति किम् ? पुरस्यान्तर्गतम् अन्त:पुरम् यथान्तरङ्गुलो नख इति । तत्र भवः आन्त:पुरः । पुरस्यान्तरन्त:पुरमिति अव्ययीभावात्त्विकण् भवति । आन्त:पुरिक इति ।।140।।

न्या०स०–रूढा०-अन्त:पुरमिति पुरस्य शरीरस्य अन्तर्गतं चित्तस्थं गृहस्य वाऽन्तर्गतम्, अव्ययीभावादिति रूढाविति वचनात् अव्ययीभावादिति निवृत्तं, अव्ययीभावे रूढेरसंभवात्, अन्त:पुरमिति ह्यत्र राज्ञोऽन्त:पुरमिति राज्ञः स्त्रीवर्ग उच्यते, नासावव्ययीभावार्थो भवति, अव्ययीभावो हि पूर्वपदार्थप्रधानोन्तरर्थप्रधान इति पूर्वेणेकणेव भवतीति ।

कर्ण–ललाटात् कल् ।। 6. 3. 141. ।।

रूढाविति वर्तते । सेह रूढिः प्रकृतिप्रत्ययसमुदायस्य विशेषणम् । कर्णललाटशब्दाभ्यां तत्र भवे कल् भवति रूढौ प्रकृतिप्रत्ययसमुदायश्चेत्क्वचिद्रूढो भवति । कर्णिका कर्णाभरणविशेषः पद्माद्यवयवश्च, ललटिका ललाटमण्डनम् । रूढावित्येव ? कर्णे भवं कर्ण्यम्, ललाट्यम्, लकारः स्त्रीत्वार्थः ।।141।।

न्या०स०–कर्णललाटा०–पद्माद्यवयवश्चेति कर्णे भवेति भवार्थस्तु व्युत्पत्तिमात्रं पद्माद्यवयवस्य कर्णे अभावात् ।

तस्य व्याख्याने च ग्रन्थात् ।। 6. 3. 142. ।।

ग्रन्थः शब्दसंदर्भः । स व्याख्यायतेऽवयवशः कथ्यते तेन तदव्याख्यानम् । तस्येति षष्ठ्यन्तादव्याख्यानेऽर्थे तत्रेति सप्तम्यन्ताच्च भवेऽर्थे ग्रन्थवाचिनो यथाविहितं प्रत्ययो भवति । चकारस्तत्र भव इत्यस्यानुकर्षणार्थः । वाक्यार्थसमीपे चकारः श्रूयमाणः पूर्ववाक्यार्थमेव समुच्चिनोति । कृतां व्याख्यानं कृत्सु भवं वा कार्तम्, प्रातिपदिकीयम् । ननु च तस्य व्याख्यानेऽर्थे ‘‘तस्येदम्’’ (6. 3. 159.) इत्यनेनैव प्रत्ययविधिः सिद्धः चकारानुकृष्टेऽपि तत्र भवेऽर्थे पूर्वमेव

प्रत्ययविधिरुक्तस्तत्किमनयोर्युगपदुपादानम् ? उच्यते, वक्ष्यमाणः सकलोऽप्यपवादविधिरनयोरर्थयोर्यथा स्यात् इत्येवमर्थम्, उत्तरेणैकयोगत्वे चानुकृष्टत्वात्तत्र भव इत्यस्य ततः परं नानुवृत्तिः स्यात् । योगविभागे त्विहानुवृत्तिरनर्थिकेति द्वयोरुत्तरत्रानुवृत्तिर्भवति । उदाहरणोपन्यासस्तु अनुवादमात्रम् । ग्रन्थादिति किम् ? पाटलिपुत्रस्य व्याख्यानी सुकोसला । पाटलिपुत्रमेवंसंनिवेशमिति सुकोसलया प्रतिच्छन्दकभूतया व्याख्यायते न तु पाटलिपुत्रं ग्रंथ इत्युत्तरेणापवादिक इकण् न भवति ॥142॥

*न्या०स०–तस्य०–*उदाहरणोपन्यास इति ननु कथमनर्थकत्वं भवानुवर्तनस्य यदि हि भव इति नानुवर्त्तते तदा प्रातिपदिकीयम् इत्यत्रापवाद्भूत इकण् प्राप्नोति ? न, तत्र प्रायोग्रहणादेव न भविष्यति, तर्हि किमर्थंतदुदाहरणं दर्श्यते, इत्याह-अनुवादमात्रम् ।

व्याख्यानीति व्याख्यायतेऽनया वाच्यलिङ्गः । इकण् न भवतीति किंतु ``रोपान्यात्'' (6. 3. 42.) इत्यकञ् ।

प्रायो बहुस्वरादिकण् ॥ 6. 3. 143. ॥

बहुस्वराद्ग्रन्थवाचिनस्तस्य व्याख्याने तत्र भवे चार्थे प्राय इकण् प्रत्ययो भवति, अणादेरपवादः । षत्वणत्वत्योर्व्याख्यानं तत्र भवं वा षात्वणत्विकम्, एवं नातानतिकम् । उदात्तानुदात्तयोः स्वरयोरेते नतानतसंज्ञे । आत्मनेपदपरस्मैपदिकम् । आव्ययीभावतत्पुरुषिकम् । नामाख्यातिकम्, आख्यातिकम्, ब्राह्मणिकम्, प्राथमिकम्, आध्वरिकम्, पौरश्चरणिकम् । प्रायोवचनात्क्वचिन्न भवति । सांहितम्, प्रातिपदिकीयम् ॥143॥

*न्या०स०–प्रायो०–*नातानतिकमिति नतोऽनुदात्तः अनतस्तूदात्तोऽल्पस्वरत्वान्नतस्य पूर्वनिपातः, पौरश्चरणिकमिति पुरो विपाककालादर्वाक् चर्यते पुरश्चरणं ``भूजिपत्यादिभ्यः'' (5. 3. 128.) प्रायश्चित्तं, तत्प्रतिपादको ग्रन्थोऽपि ।

ऋगृद्–द्विस्वर–यागेभ्यः ॥ 6. 3. 144. ॥

ऋच् इत्येतस्मात् ऋकारान्तात् द्विस्वरात् यागशब्देभ्यश्च ग्रन्थवाचिभ्यस्तस्य व्याख्याने तत्र भवे चार्थे इकण् प्रत्ययो भवति, अणादेरपवादः । ऋचां व्याख्यानमृक्षु भवं वा आर्चिकम्, ऋकारान्त, चतुर्षु होतृषु भव इत्यणो लुपि चतुर्होता ग्रंथः, तस्य व्याख्यानं तत्र भवं वा चातुर्होतृकम् । एवं पाञ्चहोतृकम्, द्विस्वर,–आङ्गिकम्, पौर्विकम्, सौत्रिकम्, तार्किकम्,

नामिकम्, याग,—आग्निष्टोमिकम्, राजसूयिकम्, वाजपेयिकम्, पाकयज्ञिकम्, नावयज्ञिकम्, पाञ्चौदनिकम्, दाशौदनिकम्, ऋद्द्यागग्रहणं पूर्वस्यैव प्रपञ्चः । यागेभ्य इति बहुवचनं ससोमकानामग्निष्टोमादीनाम् असोमकानां पञ्चौदनादीनां च परिग्रहार्थम् ॥144॥

न्या०स०—ऋगृद्०—नावयज्ञिकमित्यादि नवसु यज्ञेषु, पञ्चसु दशसु ओदनेषु भवः अण् तस्य ``द्विगोः'' (7. 1. 144.) इति लुप्, ऋद्द्यागग्रहणमिति ऋदन्तानां यागवाचिनां च द्विस्वराणां द्विस्वरेत्यंशेन बहुस्वराणां तु ``प्रायो बहुस्वरात्'' (6. 3. 143.) इति सिध्यति, एकस्वरास्तु न संभवत्येव तत् किमर्थमिदम् ? इत्याह—पूर्वस्यैवेति ``प्रायो बहुस्वरात्'' (6. 3. 143.) इत्यस्येत्यर्थः । असोमकानामिति अन्यथा गौणमुख्ययोः इति न्यायेन ससोमकानां मुख्यानामग्निष्टोमादीनामेव ग्रहणं स्यादिति ।

ऋषेरध्याये ॥ 6. 3. 145. ॥

ऋषिशब्देभ्यो ग्रन्थवाचिभ्यस्तस्य व्याख्याने तत्र भवे चाध्याये इकण् प्रत्ययो भवति । वसिष्ठस्य ग्रंथस्य व्याख्यानस्तत्र भवो वा वासिष्ठिकोऽध्यायः, वैश्वामित्रिकोऽध्यायः । अध्याय इति किम् ? वसिष्ठस्य व्याख्यानी तत्र भवा वा वासिष्ठी ऋक् । ``प्रायो बहुस्वरात्'' (6. 3. 42.) इति प्रायोग्रहणादप्राप्तिकल्पनायां विध्यर्थम् प्राप्तिकल्पनायामध्याय एवेति नियमार्थं वचनम् ॥145॥

न्या०स०—ऋषे०—ग्रन्थस्येति वसिष्ठादिसाहचर्यात् ग्रन्थोऽपि तथोच्यते । प्राप्तिकल्पनायामिति प्रायोग्रहस्य यादृच्छिकत्वात् ।

पुरोडाश–पौरोडाशादिकेकटौ ॥ 6. 3. 146. ॥

आभ्यां ग्रंथवाचिभ्यां तस्य व्याख्याने तत्र भवे चार्थे इक इकट् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः, अणीययोरिकणोऽपवादः । वचनभेदाद्यथासंख्याभावः इकेकटोः स्त्रियां विशेषः । पुरोडाशाः पिष्टपिण्डाः, तैः सहचरितो मन्त्रः पुरोडाशः तस्य व्याख्यानस्तत्र भवो वा पुरोडाशिकः पुरोडाशिका, पुरोडाशिकी, पुरोडाशानामयं तत्र भवो या पौरोडाशः तत्संस्कारको मन्त्रस्तस्य व्याख्यानस्तत्र भवो वा पौरोडाशिकः, पौरोडाशिका, पौरोडाशिकी ॥146॥

न्या०स०—पुरो०—अणीययोरिति पुरोडाशादणः पौरोडाशादीयस्य प्राप्तिकल्पनायां तु

द्वाभ्यामपि प्रायोबहुस्वरादिकणोऽपवादोऽयम् ।

छन्दसो यः ।। 6. 3. 147. ।।

छन्दःशब्दाद्ग्रन्थवाचिनस्तस्य व्याख्याने तत्र भवे च यः प्रत्ययो भवति, द्विस्वरेकणोऽपवादः । छन्दसो व्याख्यानस्तत्र भवो वा छन्दस्यः ।।147।।

शिक्षादेश्चाण् ।। 6. 3. 148. ।।

शिक्षा इत्येवमादिभ्यश्छन्दःशब्दाच्च ग्रंथवाचिनस्तस्य व्याख्याने तत्र भवे चार्थेण् प्रत्ययो भवति, इकणोपवादः । शिक्षाया व्याख्यानस्तत्र भवो वा शैक्षः, आर्गयनः, छन्दस्, छान्दसः, एवं छन्दस्शब्दस्य द्वैरूप्यं भवति । अण्ग्रहणमीयबाधनार्थम् । नैयायः, वास्तुविद्यः । शिक्षा, ऋगयन, पद, व्याख्यान, पदव्याख्यान, छन्दोव्याख्यान, छन्दोमान, छन्दोभाष, छन्दोविचिति, छन्दोविचिती, छन्दोविजिति, न्याय, पुनरुक्त, निरुक्त, व्याकरण, निगम, वास्तुविद्या, अङ्गविद्या, क्षत्रविद्या, त्रिविद्या, विद्या, उत्पात, उत्पाद, संवत्सर, मुहूर्त, निमित्त, उपनिषद्, ऋषि, यज्ञ, चर्चा, क्रमेतर, श्लक्ष्ण, इति शिक्षादिः । बहुस्वराणामदुसंज्ञकानामुपादानं प्रायोग्रहणस्य प्रपञ्चः ।।148।।

*न्या०स०–शिक्षा०–*अण्ग्रहणमिति ननु किमर्थमत्राण्ग्रहणं योऽन्येन बाधितो न प्राप्नोतीति न्यायादणेव भविष्यतीत्याशङ्का ।

प्रपञ्च इति ननु दुसंज्ञानामीयबाधनार्थं क्रियतां पाठः, ये तु बहुस्वरा अदुसंज्ञकास्तेषामुपादानं कथं कृतं यतः ``प्रायो बहुस्वरात्'' (6. 3. 143.) इति सूत्रे प्रायोग्रहणादेषां न भविष्यतीकण् किं तु अणेवेत्याशङ्का ।

तत आगते ।। 6. 3. 149. ।।

तत इति पञ्चम्यन्तादागतेऽर्थे यथाविहितमणादय एयणादयश्च प्रत्यया भवन्ति । स्रुघ्नादागतः स्रौघ्नः, माथुरः, औत्सः, गव्यः:, दैत्यः, बाह्यः, कालेयः, आग्नेयः, स्त्रैणः, पौंस्नः, नादेयः, राष्ट्रियः, ग्रामीणः, ग्राम्यः । मुख्यापादानपरिग्रहात्स्रुघ्नादागच्छन् वृक्षमूलादागत इत्यत्र वृक्षमूलाम्नान्तरीयकापादानान्न भवति ।।149।।

विद्या–योनिसंबन्धादकञ् ।। 6. 3. 150. ।।

विद्याकृतो योनिकृतश्च संबन्धो येषां तद्वाचिभ्यः पञ्चम्यन्तेभ्य आगतेऽर्थेऽकञ् प्रत्ययो भवति, अणोऽपवादः । ईयं तु परत्वाद्बाधते । विद्यासंबन्धः, आचार्यादागतमाचार्यकम्, औपाध्यायकम्, शैष्यकम्, आर्त्विजकम्, आन्तेवासकम्, योनिसंबन्ध पैतामहकम्, मातामहकम्, पैतृव्यकम्, मातुलकम् ।।150।।

*न्या०स०–विद्या०–*विद्याकृत इति विद्या च योनिश्च संबन्धो यस्येति बहुव्रीहिः, अत्र विद्याकृते संबन्धे विद्याशब्दो योनिकृते च योनिशब्द उपचारादर्थे च कार्यासंभवाद् विद्यायोनिसंबन्धवाचिनः प्रतिपत्तिरित्याह-विद्याकृत इत्यादि ।

पितुर्यो वा ।। 6. 3. 151. ।।

पितृशब्दाद्योनिसंबन्धवाचिनः पञ्चम्यन्तादागतेऽर्थे यः प्रत्ययो वा भवति, इकणोऽपवादः । पितुरागतं पित्र्यम् । ``ऋतो रस्तद्धिते'' (1. 2. 26.) इति रत्वम् । पक्षे पैतृकम् ।।151।।

ऋत इकण् ।। 6. 3. 152. ।।

ऋकारान्ताद्विद्यायोनिसंबन्धवाचिनः पञ्चम्यन्तादागतेऽर्थे इकण् प्रत्ययो भवति, अकञोऽपवादः । होतुरागतं हौतृकम्, पौतृकम्, प्राशास्तृकम् प्रातिहर्तृकम्, शास्तृकम् यौनिसंबन्ध-मातृकम्, भ्रातृकम्, स्वासृकम्, दौहितृकम्, जामातृकम् नानान्दृकम् । मातुरागता मातृकी विद्या, इकणन्तत्वात् ङीप्रत्ययः ।।152।।

आयस्थानात् ।। 6. 3. 153. ।।

स्वामिग्राह्यो भाग आयः स यस्मिन्नुत्पद्यते तदायस्थानम् । तद्वाचिनः पञ्चम्यन्तादागतेऽर्थे इकण् प्रत्ययो भवति, अणोऽपवादः । ईयं तु परत्वाद्बाधते । एत्य तरन्त्यस्मिन्नित्यातरो नदीतीर्थम् । तत आगतम् आतरिकम्, शौल्कशालिकम् । आपणिकम्, दौवारिकम् आयस्थानत्वेनाप्रसिद्धादपि ताद्रूप्येण विवक्षिताद्भवतीति कश्चित् । स्त्रौघ्निकः ।।153।।

*न्या०स०–आय०–*एति ऐति वा स्वामिनं, ``तन्व्यधी'' (5. 1. 64.) इति णे, आयाति वा ``उपसर्गा'' (5. 1. 56.) इति डः, आयस्तिष्ठत्यस्मिन्निति स्थानं आयस्य स्थानम् ।।

शुण्डिकादेरण् ।। 6. 3. 154. ।।

शुण्डिक इत्येवमादिभ्यः पञ्चम्यन्तेभ्य आगतेऽर्थेऽण् प्रत्ययो भवति, इकणादेरपवादः। शुण्डः शुण्डा वा सुरा ततो मत्वर्थीये शुण्डिकः शुण्डिका वा सुरापणः सुराविक्रयी चोच्यते। तत आगतं शौण्डिकम्, औदपानम्, कार्कणम्, अण्ग्रहणं विस्पष्टार्थम्। यदि ह्यनेनाप्याय स्थानादिकण्तीर्थाद्धूमाद्यकञ् पर्णकृकणाभ्यां चैयः स्यात् वचनमिदम् अनर्थकं स्यात्। न चोदपानादिहाञ्यणि वा विशेषोऽस्तीति। यदा तु शुण्डिकादीनि सर्वाण्यायस्थानान्येव तदा अकञीयबाधनार्थम्। शुण्डिका, उदपान, पर्ण, कृकण, उलप, तृण, तीर्थ, स्थण्डिल, उपल, उदक, भूमि, पिप्पल इति शुण्डिकादिः ॥154॥

न्या०स०—शुण्डिकादे०—विस्पष्टार्थमिति ननु यद्यण् ग्रहणं न क्रियते तदानी ``आयस्थानात्'' (6. 3. 153.) इत्यादिभिरिकणादयः प्राप्नुवतीत्याह—यदीति। अनर्थकं स्यादिति तैरेव सूत्रैरमीषां प्रत्ययानां सिद्धत्वात्, किं चानन्तर इकण् नानुवर्त्तते ? अनायस्थानत्वे हि सूत्रारम्भात् आयस्थानशुण्डिकादिभ्यामित्येकयोगाकरणाच्च, तस्मात् विस्पष्टार्थमिति सूक्तं। अकञीयबाधनार्थमिति अयमर्थः, यदा शुण्डिकादीनि सर्वाण्यप्यायस्थानान्येव तदा तीर्थाद धूमादकञः पर्णकृकणाभ्यामिति च ईयस्यापवादे आयस्थानादितीकणि प्राप्ते इत्यारम्भादिकणो निवृत्तेर्यथाप्राप्तमिति ततोऽकञीयौ प्राप्नुतः, अतस्तौ बाधित्वा ततोऽप्यणेव यथा स्यादित्येवमर्थमण् ग्रहणमित्यर्थः।

गोत्रादङ्कवत् ॥ 6. 3. 155. ॥

गोत्रवाचिनः शब्दात्पञ्चम्यन्तादागतेऽर्थे अङ्क इव प्रत्ययविधिर्भवति। यथा भवति विदानामङ्कः बैदः गार्गः दाक्ष इति ``संघघोषाङ्क''—(6. 3. 171.) इत्यादिनाण् तथेहापि बिदेभ्य आगतं बैदम्, गार्गम्, दाक्षम्, अङ्कग्रहणेन तस्येदमित्यर्थसामान्यं लक्ष्यते। तेनोकञोऽप्यतिदेशः। अन्यथा संघाद्यण् एव स्यात्, तेन यथा भवति औपगवकः कापटवकः नाडायनकः गार्ग्यायणक इति ``गोत्राददण्ड'' (6. 3. 168.) इत्यादिनाऽकञ् तथेहापि औपगवकः कापटवकः नाडायनकः गार्ग्याणकः, एवं ``रैवतिकादेरीयः'' (6. 3. 169.)। रैवतिकेभ्य आगतं रैवतिकीयम् गौरग्रीवीयम्, ``कौपिञ्जलहास्तिपदादण्'' (6. 3. 170.) कौपिञ्जलादागतं कौपिञ्जलम् हास्तिपदम् ॥155॥

न्या०स०—गोत्रा०—कौपिञ्जलमिति कुपिञ्जलस्यापत्यं, हस्तिपादस्यापत्यं `अत इञि प्राप्ते, अत एव निपातनादण् पादस्य पद्भावश्च तस्येदं' ``कौपिञ्जलहास्तिपदादण्'' (6. 3. 171.)।

नृ–हेतुभ्यो–रूप्य–मयटौ वा ।। 6. 3. 156. ।।

नृवाचिभ्यो हेतुवाचिभ्यश्च पञ्चम्यन्तेभ्य आगतेऽर्थे रूप्य मयट् इत्येतौ प्रत्ययौ वा भवतः ताभ्यां मुक्ते यथाप्राप्तम् । वचनभेदाद्यथासंख्याभावः । हेतुः कारणम्, नृग्रहणमहेत्वर्थम् । देवदत्तादागतं देवदत्तरूप्यम्, देवदत्तमयम्, दैवदत्तम्, अत्रापादाने पञ्चमी । हेतु-समादागतं समरूप्यम्, सममयम्, विषमरूप्यं विषममयम्, पक्षे गहादिपाठादीयः । समीयम्, विषमीयम्, पापरूप्यम् पापमयम्, पक्षे ``दोरीयः'' (6. 3. 31.) पापीयम् । अत्र हेतौ पञ्चमी, टकारो ङ्यर्थः । जिनदत्तमयी, सममयी, बहुवचनं स्वरूपव्युदासार्थम् ।।156।।

न्या०स०–नृहे०–समादागतमिति यदा समत्वमृणं तदा ``ऋणाद्धेतोः'' (2. 2. 76.) इति पञ्चमी, अथ गुण वाचकस्तदा ``गुणादस्त्रियां नवा'' (2. 2. 77.) इत्यनेन ।

प्रभवति ।। 6. 3. 157. ।।

तत इति वर्तते तत इति पञ्चम्यन्तात्प्रभवति प्रथमं प्रकाशमानेऽर्थे यथाविहितं प्रत्यया भवन्ति । प्रथममुपलभ्यमानता प्रभवः । अन्ये प्रभवति जायमाने इत्याहुः । ``जाते'' (6. 3. 97.) इति भूते सप्तम्यन्तात्प्रत्ययः अयं तु पञ्चम्यन्ताद्वर्तमाने इति विशेषः । हिमवतः प्रभवति हैमवती गङ्गा, दारदी सिन्धुः, काश्मीरी वितस्ता, कश्मीरशब्दात् ``बहुविषयेभ्यः'' (6. 3. 44.) इति अकञोऽपवादः कच्छाद्यण् ।।157।।

वैडूर्यः ।। 6. 3. 158. ।।

विडूरशब्दात्पञ्चम्यन्तात्प्रभवत्यर्थेञ्यः प्रत्ययो निपात्यते । विडूरात्प्रभवति वैडूर्यो मणिः । विडूरग्रामे ह्ययं संस्क्रियमाणो मणितया ततः प्रथमं प्रभवति । वालवायात्तु पर्वतादसौ प्रभवन्नसौ न मणिः किंतु पाषाणः, यदा तु जायमानतार्थः प्रभवशब्दस्तदा वालवायशब्दस्य ञ्यस्तत्संनियोगे विडूरादेशश्च निपात्यते । वालवायपर्याय एव वा विडूरशब्दः । प्रतिनियतविषयाश्च रूढय इति वैयाकरणानामेव प्रसिद्धिः । यथा जित्वरीशब्दस्य वाराणस्यां वणिजामेव । वालवायशब्दात्तु ईयप्रत्ययोऽनभिधानान्न भवति ।।158।।

न्या०स०–वैडूर्यः–प्रतिनियतेति यद्येवं तर्हि किं सर्वत्रापि वालवायपर्यायो विडूरशब्दः प्रयुज्यते ? इत्याशंङ्क्याह प्रसिद्धिरिति इति वैयाकरणानामेव विडूरशब्दस्य वालवाये प्रसिद्धि-

र्नान्येषां यदा जित्वरीशब्देन वणिज एव वाणारसीं व्यवहरन्ति ।

त्यदादेर्मयट् ।। 6. 3. 159. ।।

त्यदादिभ्यः पञ्चम्यन्तेभ्यः प्रभवत्यर्थे मयट् प्रत्ययो भवति । तन्मयम्, तन्मयी, भवन्मयम्, भवन्मयी ।।159।।

तस्येदम् ।। 6. 3. 160. ।।

तस्येति षष्ठ्यन्तादिदमित्यर्थ यथाविहितमणादय एयणादयश्च प्रत्यया भवन्ति । उपगोरिदमौपगवम्, कापटवम्, स्रौघ्नम्, माथुरम्, दैत्यम्, बार्हस्पत्यम्, कालेयम्, आग्नेयम्, औत्सम्, स्त्रैणम्, पौंस्नम्, गव्यम्, नादेयम्, राष्ट्रियम्, पारीणः, भानवीयः, श्यामगवीयः । पाटलिपुत्रकः प्राकारः, इह त्वनभिधानान्न भवति । देवदत्तस्यानन्तरः । ग्रामस्य समीपम् । विंशतेरवयवे एकः, शतस्य द्वौ, सहस्रस्य पञ्च, तस्येति षष्ठ्यर्थमात्रमिदमिति षष्ठ्यर्थसंबन्धिमात्रं च विवक्षितम् । यदन्यल्लिङ्गसंख्याप्रत्यक्षपरोक्षत्वादिकं तद्विवक्षितम् ।।160।।

हल–सीरादिकण् ।। 6. 3. 161. ।।

आभ्यां षष्ठ्यन्ताभ्यामिदमित्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति, अणोऽपवादः । हालिकम्, सैरिकम् ।।161।।

समिध आधाने टेन्यण् ।। 6. 3. 162. ।।

आधीयते येन समित्तदाधानम्, समिध् इत्येतस्मात्तस्येदमित्यर्थे टेन्यण् प्रत्ययो भवति तच्चेदिदमाधानं भवति, अणोऽपवादः । टकारो ङ्यर्थः, समिधामाधानो मन्त्रः, सामिधेन्यो मन्त्रः सामिधेनी ऋक्, सामिधेनीरन्वाह, पञ्चदश सामिधेन्यः ।।162।।

विवाहे द्वन्द्वादकल् ।। 6. 3. 163. ।।

द्वन्द्वात्तस्येदमित्यर्थे विवाहेऽभिधेयेऽकल् प्रत्ययो भवति, अणोऽपवादः । अत्रिभरद्वाजानां विवाहोऽत्रिभरद्वाजिका, वशिष्ठकश्यपिका, भृग्वङ्गिरसिका, कुत्सकुशिकिका, गर्गभार्गविका, कुरुवृष्णिका, कुरुकाशिका, लकारः स्त्रीत्वार्थः ।।163।।

अदेवासुरादिभ्यो वैरे ॥ 6. 3. 164. ॥

द्वन्द्वात्षष्ठ्यन्ताद्देवासुरादिवर्जितादिदमर्थेवैरेऽकल् प्रत्ययो भवति, अणोऽपवादः । ईयं तु परत्वाद्बाधते । बाभ्रवशालङ्कायनानामिदं वैरम् बाभ्रवशालङ्कायनिका । काकोलूकस्येदं वैरम् काकोलूकिका, श्वावराहिका, श्वश्रृगालिका, अहिनकुलिका अदेवासुरादिभ्य इति किम् ? दैवासुरम्, राक्षोऽसुरम्, देवासुरादयः प्रयोगगम्याः ॥164॥

नटान्नृत्ते ञ्यः ॥ 6. 3. 165. ॥

नटशब्दात्तस्येदमित्यर्थे नृत्ते ञ्यः प्रत्ययो भवति । नटानामिदं नृत्यं नाट्यम् । नृत्त इति किम् ? नटानामिदं गृहम् ॥165॥

छन्दोगौक्थिक–याज्ञिक–बह्वृचाच्च धर्मा–म्नाय–संघे ॥ 6. 3. 166. ॥

छन्दोगादिभ्यश्चरणेभ्यो नटशब्दाच्च तस्येदमित्यर्थे धर्मादौ ञ्यः प्रत्ययो भवति, छन्दोगादिभ्यश्चरणाकञो नटादणोऽपवादः । छन्दोगानां धर्म आम्नायः संघो वा छान्दोग्यम्, औक्थिक्यम्, याज्ञिक्यम्, बाह्वृच्यम्, नाट्यम् । धर्मादिष्विति किम् ? छन्दोगानां गृहं छान्दोगम् ॥166॥

आथर्वणिकादणिकलुक् च ॥ 6. 3. 167. ॥

आथर्वणिकशब्दात्तस्येदमित्यर्थे धर्मादावण्प्रत्यय इकलोपश्चास्य भवति । अथर्वणा प्रोक्तं वेदं वेत्त्वधीते वा आथर्वणिकः, न्यायादित्वादिकण् । अत एव निपातनाद्गणपाटसामर्थ्याद्वा प्रोक्ताल्लुप्न भवति । आथर्वणिकानां धर्म आम्नायः संघो वा आथर्वणः, चरणादकञि प्राप्ते वचमम् ॥167॥

*न्या०स०–आथ०–*आथर्वणिकादण् लुक् चेति क्रियतां किमिकोपादानेन, यतोऽणो विधान सामर्थ्यालुक् न भविष्यति, ततश्च प्रत्ययाप्रत्ययोः इति न्यायात् इकस्यैव लोपो भविष्यति, न च वाच्यमुत्रयोरपि प्राप्नोति यदि स्यात्तदा विधानस्य न किमपि फलम् ?

नैवं, विधानस्य एतदेव फलमकञभावस्तत उभयोरपि लोपेनिष्टं स्यात् रूपं, अत इक ग्रहणं विधातव्यम् ।

चरणादकञ् ॥ 6. 3. 168. ॥

चरणशब्दो वेदशाखावचनस्तद्योगात्तदध्यापिषु वर्तते । चरणवाचिनस्तस्येदमित्यर्थे धर्मादावकञ् प्रत्ययो भवति, अणोऽपवादः । ईयं तु परत्वाद्बाधते । कठानां धर्म आम्नायः संघो वा काठकः, चरकाणां चारकः, कलापानां कालापकःपैष्पलादानां पैष्पलादकः, मौदानां मौदकः, आर्चाभिनामार्चाभकः, वाजसनेयिनां वाजसनेयकः ॥168॥

गोत्राददण्डमाणव–शिष्ये ॥ 6. 3. 169. ॥

गोत्रवाचिनस्तस्येदमित्यर्थे दण्ड–माणव–शिष्यवर्जितेऽकञ् प्रत्ययो भवति, अणोऽपवादः । ईयाञौ तु परत्वाद्बाधते । औपगवस्येदमौपगवकम्, कापटवकम्, दाक्षकम्, प्लाक्षकम्, गार्गकम्, गार्ग्यायणकम्, ग्लौचुकायनकम्, म्लौचुकायनकम् अदण्डमाणवशिष्ये इति किम् ? काण्व्यस्येमे काण्वा दण्डमाणवाः शिष्या वा, एवं गौकक्षाः । ``शकलादेर्यञः'' (6. 3. 27.) इत्यञ् । दाक्षेरिमे दाक्षाः, प्लाक्षाः, माहकाः । ``वृद्धेञः'' (6. 3. 28.) इत्यञ् । दण्डप्रधाना माणवा दण्डमाणवाः आश्रमिणां रक्षापरिचरणार्थाः, शिष्या अध्ययनार्था अन्तेवासिनः ॥169॥

रैवतिकादेरीयः ॥ 6. 3. 170. ॥

रैवतिकादेगोत्रवाचिनस्तस्येदमित्यर्थे ईयः प्रत्ययो भवति, अकञादेरपवादः । रैवतिकस्येदं, रैवतिकीयम् शकटम्, रैवतिकीयः संघादिः, रैवतिकीया दण्डमाणवशिष्याः, गौरग्रीवीयं शकटम्, गौरग्रीवीयः संघादिः, गौरग्रीवीया दण्डमाणवशिष्याः । रैवतिकः, गौरग्रीवि, स्वापिशिष्य, क्षेमधृति, औदमेघि, औदवाहि, वैजवापि, इति रैवतिकादिः ॥170॥

न्या०स०-रैव–अकञादेरिति आदिशब्दादणञोः ।

कौपिञ्जल–हास्तिपदादण् ॥ 6. 3. 171. ॥

आभ्यां गोत्रवाचिभ्यां तस्येदमित्यर्थेऽण् प्रत्ययो भवति, अकञादेरपवादः । कुपिञ्जलस्यापत्यं कौपिञ्जलः, हस्तिपादस्यापत्यं हास्तिपदः, अतो निपातनादेवाण् पादस्य च पद्भावः । तयोरिदं कौपिञ्जलं शकटम् । कौपिञ्जला दण्डमाणवशिष्याः, हास्तिपदं शकटम्, हास्तिपदा दण्डमाणवशिष्याः । अथाण्–ग्रहणं किमर्थम् ? यथाविहितमित्येव ह्यण् सिद्धः । न चेयः प्राप्नोति । तदभीष्टौ हि रैवतिकादावेवैतौ पठ्येयाताम्, अकञ्प्राप्तौ वचनमनर्थकं स्यात् ?

नैवम्, असत्यण्ग्रहणे दण्डमाणवकशिष्येष्वकञर्थमेतत् स्यात् । तत्र ह्यकञ् प्रतिषिद्ध इति । णित्त्वं ङ्यर्थं पुंवद्भावाभावार्थं च । कौपिञ्जलीस्थूण: । हास्तिपदीस्थूण: ।।171।।

संङ्घघोषा–ऽङ्क–लक्षणेऽञ्–यञिञ: ।। 6. 3. 172. ।।

अञन्ताद्यञन्तादिञन्ताच्च गोत्रवाचिनस्तस्येदमित्यर्थे संघादावण् प्रत्ययो भवति, अकञोऽपवाद: । अञ् बिदानामयं बैद: संघो घोषोऽङ्को वा, बैदं लक्षणम् । यञ् गर्गाणामयं गार्ग: संघो घोषोऽङ्को वा, गार्गं लक्षणम् । इञ्, दाक्षीणामयं दाक्ष: संघो घोषोऽङ्को वा, दाक्षं लक्षणम् । संघादिष्विति किम् ? बिदानां गृहम् । अञ्यञिञ इति किम् ? औपगवक: संघादि: । गोत्रादित्येव ? सौतंगमीय: संघादि: । अथाङ्कलक्षणयो: को विशेष: । लक्षणं लक्ष्यस्यैव स्वम्, यथा शिखादि, अङ्कस्तु स्वामिविशेषविज्ञापक: । स्वस्तिकादिर्गवादिस्थो न गवादीनामेव स्वं भवति ।।172।।

*न्या०स०–संघ०–*स्वं भवतीति स्वमात्मीयं सामान्यनिर्देशान्नपुंसकत्वम् ।

शाकलादकञ् च ।। 6. 3. 173. ।।

शाकलशब्दात्तस्येदमित्यर्थे संघादावण् अकञ् च प्रत्ययो भवति । शाकल्येन प्रोक्तं वेदं विदन्त्यधीयते वा शाकला:, तेषां संघो घोषोऽङ्को वा शाकल: शाकलक:, शाकलं शाकलकं लक्षणम् ।।173।।

*न्या०स०–शाक०–*ननु शाकलाद् वेति क्रियतां विकल्पात् पक्षे ``चरणादकञ्'' (6. 3. 168.) इति अकञ् भविष्यति ?

सत्यं, इह सूत्रे संघघोषाङ्कलक्षणाश्चत्वारोऽर्था: चरणादकञित्यत्र तु धर्माम्नायसंघास्त्रयोऽर्थास्ततश्चामीषां चतुर्णामेतत् सूत्रोपात्तार्थानां मध्यात्तत्र एक: संघा एवार्थ: पप्रथे नान्ये इति अन्यार्थार्थोऽकञ्, अन्यथा संघार्थादन्यत्राऽर्थे विकल्पपक्षे ईय: स्यात् ।

गृहेऽग्नीधो रण् धश्च ।। 6. 3. 174. ।।

अग्नीध् ऋत्विग्विशेष:, तस्मात्तस्येदमित्यर्थे गृहे रण् प्रत्ययो भवति अन्तस्य च तृतीयबाधनार्थं धादेश:, अग्नीध इदं गृहमाग्नीध्रम् ।।174।।

रथात् साऽऽदेश्च वोढ्रङ्गे ॥ 6. 3. 175. ॥

नियमसूत्रमेतत्, रथात्केवलात्सपूर्वाच्च षष्ठ्यन्तादिदमर्थे यः प्रत्ययः स रथस्य वोढरि रथाङ्ग एव च भवति रथस्यायं वोढा रथ्योऽश्वः, रथस्येदं रथ्यं चक्रम्, रथ्यं युगम्, सादि द्वयो रथयोर्वोढा द्विरथः, त्रिरथः ``द्विगोरनपत्ये यस्वर–'' (6. 1. 24.) इत्यादिना यलुप् । अन्ये तु स्वरादेरेव लुपमिच्छन्ति । तन्मते द्विरथ्यः, त्रिरथ्यः । परमरथस्येदं परमरथ्यम्, उत्तयरथ्यम्, आश्वरथम्, चक्रम् । वोढ्रङ्ग एव इति नियमात् अन्यत्र वाक्यमेव न प्रत्ययः । रथस्येदं स्थानम्, अश्वरथस्य स्वामी ॥175॥

*न्या०स०–रथा–*नियमसूत्रमिति प्रत्ययस्तूत्तरेणैव तर्ह्येक एव योगः क्रियताम् ? नैवं, रथात् सादेश्च वोढ्रङ्गे य इति कृते विधि सूत्रं स्यात्; ततश्च वोढ्रङ्ग इत्यस्य व्यावृत्तौ रथस्येदं स्थानमिति कृते अण् प्रापेत्, नियमे वाक्यमेव ।

यः ॥ 6. 3. 176. ॥

रथात्केवलात्सादेश्च षष्ठ्यन्तादिदमर्थे यः प्रत्ययो भवति, अणाद्यपवादः । रथस्यायं वोढा रथ्यः, द्वयो रथयोर्वोढा द्विरथः, त्रिरथः, रथ्यम्, परमरथ्यम्, काष्ठरथ्यं चक्रम् ॥176॥

पत्रपूर्वादञ् ॥ 6. 3. 177. ॥

पत्रं वाहनम्, तत्पूर्वाद्रथशब्दात्षष्ठ्यन्तादिदमर्थेऽञ् प्रत्ययो भवति, यापवादः । अश्वरथस्येदमाश्वरथं चक्रम् । आश्वरथं युगम्, औष्ट्ररथम्, रासभरथम् ॥177॥

*न्या०स०–पत्र०–*नन्वञ्करणं किमर्थ प्राग्जितादित्येव सेत्स्यति ? सत्यं, उत्तरसूत्रे हास्तो रथ इत्यत्र ``संयोगादिनः'' (7. 4. 53.) इति निषेधः स्यात् ।

वाहनात् ॥ 6. 3. 178. ॥

वाहनवाचिनस्तस्येदमित्यर्थेऽञ् प्रत्ययो भवति, अणादेरपवादः । उष्टस्यायमौष्टः, रासभः, हास्तो रथः ॥178॥

*न्या०स०–वाह०–*अणादेरिति आदिशब्दादीयञ्ययोः, ईये रासभ इति, ञ्ये औष्ट्रपतमिति

द्रष्टव्यमिति ।

वाह्य–पथ्युपकरणे ॥ 6. 3. 179. ॥

नियमसूत्रमिदम्, वाहनाद्योऽयं प्रत्यय उक्तः स वाह्य पथि उपकरणे एव चेदमर्थे भवति नान्यत्र । अश्वस्यायामाश्वो रथः, आश्वः पन्थाः, आश्वं पल्ययनम्, आश्वी कशा, वाह्यपथ्युपकरण एवेति नियमादन्यत्र वाक्यमेव न प्रत्ययः, अश्वानां घासः ॥179॥

*न्या०स०–वाह्य०–*यदि पूर्वेण सह एकयोगं कुर्यात्तदानीं वाहनवाचिनो वाह्यपथ्युपकरणे अत्रेवान्यत्र यथा प्राप्तमेव स्यात्, पृथग्योगं तु नियमार्थम् ।

वहेस्तुरिश्चादिः ॥ 6. 3. 180. ॥

वहेः परो यस्तृचस्तृनो वा तृशब्दस्तदन्तान्नाम्नस्तस्येदमित्यर्थेऽञ्–प्रत्ययस्तृशब्दस्य चादिरिकारो भवति । संवोढुः सारथेरिदं सांवहित्रम् ॥180॥

*न्या०स०–वहे०–*सांवहित्रमिति अत्र परे इकारागमे कर्त्तव्ये ढत्वादिशास्त्रमसत्, इकारागमे च कृते न प्राप्नोति ।

तेन प्रोक्ते ॥ 6. 3. 181. ॥

प्रकर्षेण व्याख्यातमध्यापितं वा प्रोक्तम् न तु कृतम्, तत्र कृत इत्येव गतत्वात् । तस्मिन्नर्थे तेनेति तृतीयान्तान्नाम्नो यथाविहितं प्रत्यया भवन्ति । भद्रबाहुना प्रोक्तानि भाद्रबाहवानि उत्तराध्ययनानि, गणधरप्रत्येकबुद्धादिभिः कृतानि तेन व्याख्यातानीत्यर्थः । याज्ञवल्क्येन याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानि, पाणिनेन पाणिनीयम्, आपिशलिना आपिशलम्, काशकृत्स्निना काशकृत्स्नम् । उशनसा औशनसम्, बृहस्पतिना बार्हस्पत्यम् ॥181॥

मौदादिभ्यः ॥ 6. 3. 182. ॥

मौदइत्येवमादिभ्यस्तेन प्रोक्ते यथाविहितं प्रत्ययो भवति, स चापवादैर्बाधितोऽणेव । अपवादस्यैव भावे वचनानर्थक्यात् । मौदेन प्रोक्तं वेदं विदन्त्यधीयते वा मौदाः, ''वेदेन्ब्राह्मणमत्रैव'' (6. 2. 130.) इति नियमात् अत्र वेदित्रध्येतृविषय एवाण् । एवं पैष्पलादाः, जाजलाः, माथुरेण प्रोक्ता माथुरी वृत्तिः, सौलभानि ब्राह्मणानि, मौदादयः प्रयोगगम्याः ॥182॥

न्या०स०–मौदा०-जाजल इति जातं जलमस्य पृषोदरादित्वात् साधुः, ``जजल'' 18 (उणादि) इति निपातनाद् वा, जजलस्यापत्यमृष्ययणि जाजलः यद्वा जाजलेन प्रोक्तं जाजलं, तदस्यास्ति इन्, जाजलेन जाजलिना वा प्रोक्तं वेदं ``कलापि'' (7. 4. 62.) इत्यन्त्यस्वरादिलोपः ।

कठादिभ्यो वेदे लुप् ।। 6. 3. 183. ।।

कठ इत्येवमादिभ्यः प्रोक्ते यः प्रत्ययस्तस्य लुप् भवति स चेत्प्रोक्तो वेदो भवति । कठेन प्रोक्तं वेदं विदन्त्यधीयते वा कठाः, चरकाः, कर्कराः, धेनुकण्ठाः, गोगडाः, ``वेदेन्ब्राह्मणमत्रैव'' (6. 2. 130.) इति नियमात् वेदित्रध्येत्रोरेव विषये प्रत्ययस्य लुप् । वेद इति किम् ? चरकेण प्रोक्ताश्चारकाः श्लोकाः, चरको वैशम्पायनः, कठादयः प्रयोगगम्याः।।183।।

तित्तिरि–वरन्तु–खण्डिकोखादीयण् ।। 6. 3. 184. ।।

तित्तिरिवरतन्तु खण्डिक उख इत्येतेभ्यस्तेन प्रोक्तेऽर्थे ईयण् प्रत्ययो भवति अणोऽपवादः स चेत्प्रोक्तो वेदो भवति । तित्तिरिणा प्रोक्तं वेदं विदन्त्यधीयते वा तैत्तिरीयाः, वारतन्तवीयाः, खाण्डिकीयाः, औखीयाः । वेदे इत्येव ? तित्तिरिणा प्रोक्तास्तैत्तिराः श्लोकाः, अत्रापि ``वेदेन्ब्राह्मणमत्रैव'' (6. 2. 130.) इत्युपतिष्ठते ।।184।।

छगलिनो णेयिन् ।। 6. 3. 185. ।।

छगलिन्शब्दात्तेन प्रोक्ते वेदे णयिन् प्रत्गयो भवति, अणोऽपवादः । छगलिना प्रोक्तं वेदं विदन्त्यधीयते वा छागलेयिनः ।।185।।

शौनकादिभ्यो णिन् ।। 6. 3. 186. ।।

शौनक इत्येवमादिभ्यस्तेन प्रोक्ते वेदे णिन् प्रत्ययो भवति, अणाद्यपवादः । शौनकेन प्रोक्तं वेदं विदन्त्यधीयते वा शौनकिनः, शाङ्गरविणः, वाजसनेयिनः । वेद इत्येव ? शौनकीया शिक्षा । शौनक, शाङ्गरव, वाजसनेय, शापेय, काकेय, (शाफेय) शाष्पेय, शाल्फेय, स्कन्ध, स्कम्भ, देवदर्श, रज्जुभार, रज्जुतार, रज्जुकण्ठ, दामकण्ठ, कठ, शाठ, कुशाठ, कुशाप, कुशायन, आश्वपश्चम, तलवकार, परुषांसक, पुरुषांसक, हरिद्र, तुम्बुरु, उपलप, आलम्बि, पलिङ्ग, कमल, ऋचाभ, आरुणि, ताण्ड्य, श्यामायन, खादायन, कषायतल, स्तम्भ

इति शौनकादयः । आकृतिगणोऽयम्, तेन भाल्लविना प्रोक्तं ब्राह्मणं विदन्त्यधीयते वा भाल्लविनः, शाट्यायनिनः, ऐतरेयिणः इत्यादि सिद्धं भवति । ब्राह्मणमपि वेद एव । मन्त्रब्राह्मणं हि वेदः ॥186॥

न्या०स०—शौन०-शाट्यायनिन इति घ्यणन्तात् ``तिकादेरायनिञ्'' (6. 1. 107.) गर्गादिय-ञन्तात्तु `यञिञः' इत्याहनण्, शाट्यायनिना शाट्यायनेन वा प्रोक्तं वेदं विदन्त्यधीयते वा ।

नन्वनेन वेदे प्रत्ययोऽभ्यधायि तत्कथं भाल्लविना प्रोक्तं ब्राह्मणम् ? इत्याह-ब्राह्मणमपीति ।

पुराणे कल्पे ॥ 6. 3. 187. ॥

तेनेति तृतीयान्तात्प्रोक्तेऽर्थे णिन् प्रत्ययो भवति, अणाद्यपवादः । स चेत्प्रोक्तः पुराणः कल्पो भवति । पिङ्गेन प्रोक्तः कल्पः पुराणः पैङ्गी कल्पः, तृणपिङ्गेन तार्णपिङ्गी कल्पः, अरुणपराजेन आरुणपराजी कल्पः, येऽपि पैङ्गिनं कल्पं विदन्त्यधीयते वा तेऽपि पैङ्गिनः, आरुणपराजिनः । प्रोक्ताद्धि लुबुक्तैव । पुराण इति किम् ? आश्मरथः कल्पः । आश्मरथ्येन प्रोक्तः कल्प उत्तरकल्पेभ्य आरातीय इति श्रूयते ॥187॥

काश्यप—कौशिकाद् वेदवच्च ॥ 6. 3. 188. ॥

आभ्यां तेन प्रोक्ते पुराणे कल्पे णिन् प्रत्ययो भवति, ईयापवादः । वेदवच्चास्मिन्कल्पे कार्यं भवति । काश्यपेन प्रोक्तं पुराणं कल्पं विदन्त्यधीयते वा काश्यपिनः, कौशिकेन कौशिकिनः, काश्यपिनां धर्म आम्नायः संघो वा काश्यपकः, कौशिकिनां कौशिककः । वेदवच्चेत्यतिदेशाद्वेदेन् ब्राह्मणमत्रैवेति नियमाद्वेदित्रध्येतृविषयता ``चरणादकञ्'' (6. 3. 167.) इत्यकञ् च भवति । कल्प इत्येव ? काश्यपीया संहिता, पुराण इत्येव ? इदानींतनेन गोत्रकाश्यपेन प्रोक्तः कल्पः काश्यपीयः । वदवच्चेति अतिदेशार्थं वचनम् ॥188॥

न्या०स०—काश्य०-अतिदेशार्थमिति ``पुराणेकल्पे'' (6. 3. 187.) इत्यनेनैव सिद्धत्वात् ।

शिलालि—पाराशर्यान्नट—भिक्षुसूत्रे ॥ 6. 3. 189. ॥

शिलालिन्पाराशर्य इत्येताभ्यां तेन प्रोक्ते यथासंख्यं नटसूत्रे भिक्षुसूत्रे च णिन् प्रत्ययो भवति, अणञपवादः । वेदवच्चास्मिन् कार्यं भवति, नटानामध्ययनं नटसूत्रम् । भिक्षूणामध्ययनं

भिक्षुसूत्रम् । शिलिलिना प्रोक्तं नटसूत्रं विदन्त्यधीयते वा शैलालिनो नटाः, पाराशर्येण प्रोक्तं भिक्षुसूत्रं विदन्त्यधीयते वा पाराशरिणो भिक्षवः, शैलालिनां धर्मः आम्नायः संघो वा शैलालकम्, पाराशरकम्, अतिदेशाद्वेदित्रध्येतृविषयता चरणादकञ् च भवति । नट भिक्षुसूत्र इति किम् ? शैलालं पाराशरम् ॥189॥

*न्या०स०–शिला०–*अणञपवाद इति शिलालिन् शब्दात्तेन प्रोक्ते पाराशर्यात्तु शकलादेर्यञः ।

कृशाश्व–कर्मन्दादिन् ॥ 6. 3. 190. ॥

आभ्यां तेन प्रोक्त यथासंख्यं नटसूत्रे भिक्षुसूत्रे च इन् प्रत्ययो भवति, अणोऽपवादः । वेदवच्चास्मिन् कार्यं भवति । कृशाश्वेन प्रोक्तं नटसूत्रं विदन्त्यधीयते वा कृशाश्विनो नटाः, कर्मन्देन प्रोक्तं भिक्षुसूत्रं विदन्त्यधीयते वा कर्मन्दिनो भिक्षवः, अतिदेशादकञ् च । कार्शाश्वकम्, कार्मन्दकम् । नटसूत्रे कापिले–यशब्दादपीच्छन्त्येके । कापिलेयिनो नटाः । कापिलेयक अम्नायः ॥190॥

उपज्ञाते ॥ 6. 3. 191. ॥

तेनेति वर्तते, प्रथमत उपदेशेन विना वा ज्ञातमुपज्ञातम् प्रथमतः कृतं वोपज्ञातम् । तस्मिन्नर्थे तृतीयान्ताद्यथाविहितं प्रत्ययो भवति । पाणिनेन पाणिनिना वोपज्ञातं पाणिनीयम्, अकालकं व्याकरणम् । काशकृत्स्न, गुरुलाघवम् ॥191॥

*न्या०स०–उप०–*अकालकमिति न विद्यते कालः, कालाधिकारो यत्र, पाणिनेः पूर्वे आचार्याः कालपरिभाषां कुर्वन्ति स्म, आ न्यायादुस्थानादा न्यायाच्च संवेशनादेषोऽद्यतनः कालः ।

अन्ये पुनराहुः उभयतोर्द्धरात्रं वेति, तत्पाणिनिः प्रत्याचष्टे, तदशिष्यं लोकतोऽर्थगतेस्तदेवं कालपरिभाषारहितमकालकं व्याकरणं पाणिनिना प्रथमं ज्ञातं स्वयमेव वोपदेशेन विना ज्ञातं प्रथमतः कृतं वेत्यर्थः, एवं काशकृत्सिननोपज्ञातं काशकृत्स्नम् । ``वृद्धेऽञ्'' (6. 3. 28.) इत्यञ् ।

गुरुलाघवमिति ``अंशादृतोः'' (7. 4. 14.) इत्यत्र गुरुश्च गुरुत्वं लाघवं च गुरोर्लाघवं चेति दर्शिष्यते ।

कृते ॥ 6. 3. 192.॥

तेनेति तृतीयान्तात्कृते उत्पादितेऽर्थे यथाविहतमणादयो भवन्ति । शिवेन कृतो ग्रन्थः शैवः, वाररुचानि वाक्यानि । जलूकेन जलूकया वा कृता जालूकाः श्लोकाः, जालुकिना जालुकाः, अत्र ``वृद्धेञः'' (6. 3. 27.) इत्यञ् । सिद्धसेनीयः स्तवः, इष्टकाभिः कृतः प्रासाद ऐष्टकः, नारदेन कृतं गीतं नारदीयम्, मनसा कृता मानसी कन्या, तक्ष्णा कृतः प्रासाद इत्यादावनभिधानान्न भवति, कृते ग्रन्थे एवेच्छन्त्यन्ये ॥192॥

नाम्नि मक्षिकादिभ्यः ॥ 6. 3. 193. ॥

मक्षिकादिभ्यस्तृतीयान्तेभ्यः कृतेऽर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति नाम्नि प्रत्ययान्तं चेन्नाम भवति । मक्षिकाभिः कृतं माक्षिकं मधु, सरघाभिः सारघम्, गर्मुद्भिर्गार्मुतम्, नर्मुकाभिर्नार्मुकम् । नाम्नीति किम् ? मक्षिकाभिः कृतं शकृत्, वातपैः कृतं वातपमित्यत्राणन्तं नाम नेयान्तमितीयो न भवति । मक्षिका, सरघा, गर्मुत्, नर्मुका, पुत्तिका, क्षुद्रा, भ्रमर, वटर, वातप, इति मक्षिकादयः प्रयोगगम्याः ॥193॥

कुलालादेरकञ् ॥ 6. 3. 194. ॥

कुलाल इत्येवमादिभ्यस्तेन कृतेऽर्थेऽकञ् प्रत्ययो भवति नाम्नि संज्ञायाम् । कुलालेन कृतं कौलालकम्, वारुटकम् । नाम्नीत्यभिधेयनियमार्थम्, तेन घटघटीशरावोदञ्चनाद्येव भाण्डं कौलालकम् न यत्किञ्चित्कुलालकृतम् । शूर्पपिटकपटलिकापिच्छिकाद्यव भाण्डं वारुटकम् नान्यत् । एवमन्यत्राप्यभिधेयनियमः । कुलाल, वरुट, कर्मार, निषाद, चण्डाल, सेना, सिरन्ध्र, देवराजन्, देवराज, परिषद्, वधू, भद्र, अनहुह्, ब्रह्मन्, कुम्भकार, अश्वपाक, रुरु, इति कुलालादिः ॥194॥

न्या०स०–कुला०-सिरन्ध्रेति सितानि बद्धानि रन्ध्राणि यस्य सितरन्ध्रः, पृषोदरादित्वात्तस्य लोपः, `अदासो दासवृत्तिर्यः, स सिरन्ध्र इति स्मृतः ।'

सर्वचर्मण ईनेनञौ ॥ 6. 3. 195. ॥

सर्वचर्मन्शब्दात्तेन कृते इन ईनञ् इत्येतौ प्रत्येतौ भवतः । नाम्नीत्यधिकारादभिधेयनियमः । सर्वश्चर्मणा कृतः सर्वचर्मीणः सार्वचर्मीणः, अत्र सर्वशब्दस्य कृतापेक्षस्य चर्मशब्देनायो-

गिनापि ``नाम नाम्ना''– (3. 1.18.) इत्यादिना समासः ।।195।।

उरसो या–ऽणौ ।। 6. 3. 196. ।।

उरस्शब्दात्तेन कृते य अण् इत्येतौ प्रत्ययौ भवती नाम्नि । उरसा कृतः उरस्यः औरसः ।।196।।

छन्दस्यः ।। 6. 3. 197. ।।

छन्दस्शब्दात्तेन कृते यः प्रत्ययो निपात्यते नाम्नि । छन्दसा इच्छया कृतश्छन्दस्यः, न तु प्रवचनेन गायत्र्यादिना वा । नाम्नीत्यधिकारादभिधेयव्यवस्था । निपातनात् क्वचिदन्यत्रापि भवति । ओश्रावयेति चतुरक्षरम् अस्तु श्रौषट् इति चतुरक्षरं ये यजामहे इति पञ्चाक्षरम् यजेति व्यक्षरम्, व्यक्षरो वषट्कारः एष वै सप्तदशाक्षरश्छन्दस्यो यज्ञमनुविहितः । अत्र स्वार्थे यः । यथानुष्टुबादिरक्षर–समूहश्छन्दस्तथैषां सप्तदशानामक्षराणां समूहश्छन्दस्य उच्यते ।।197।।

न्या०स०–छन्दस्यः–यज्ञमनुविहित इति यज्ञमनुलक्ष्यीकृत्य विहितो अनुगत इत्यर्थः ।

अमोऽधिकृत्य ग्रन्थे ।। 6. 3. 198. ।।

कृत इति वर्तते, अम इति द्वितीयान्तादधिकृत्य कृते ग्रन्थेऽर्थे यथा–विहितं प्रत्ययो भवति । अधिकृत्य प्रस्तुत्य उद्दिश्येत्यर्थः, तदपेक्षा द्वितीया । सुभद्रामधिकृत्य कृतो ग्रन्थः सौभद्रः, भद्रां भाद्रः, सुतारां सौतारः, भीमरथामधिकृत्य कृताख्यायिका भैमरथी । ग्रन्थ इति किम् ? सुभद्रामधिकृत्य कृतः प्रासादः । कथं वासवदत्तामधिकृत्य कृताख्यायिका वासवदत्ता उर्वशी सुमनोहरा बलिबन्धनं सीताहरणमिति । उपचारद्ग्रन्थे ताच्छब्द्यं भविष्यति ।।198।।

न्या०स०–अमो०–उपचारादिति अन्यैः प्रत्ययमुत्पाद्य लुबुक्ता तत्स्वमते कथम् ? इत्याह ताच्छब्द्यमिति स चासौ शब्दश्च तस्य भावः, अयमर्थः, स एव वासवदत्तादिशब्दो ग्रन्थे वर्तते ।

ज्योतिषम् ।। 6. 3. 199. ।।

ज्योतिःशब्दादमोऽधिकृत्य कृते ग्रन्थेऽण् प्रत्ययो वृद्ध्यभावश्च निपात्यते । ज्योतींष्यधिकृत्य कृतो ग्रन्थो ज्योतिषम् ।।199।।

शिशुक्रन्दादिभ्य ईयः ॥ 6. 3. 200. ॥

शिशुक्रन्द इत्येवमादिभ्यो द्वितीयान्तेभ्योऽधिकृत्य कृते ग्रन्थे ईयः प्रत्ययो भवति । शिशुक्रन्दमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः शिशुक्रन्दीयः, यमसभीयः, इन्द्रजननीयः, प्रद्युम्नप्रत्यागमनीयः, प्रद्यम्नोदयनीयः, सीताहरणीयः, सीतान्वेषणीयः, शिशुक्रन्दादयः प्रयोगतोऽनुसर्तव्याः । शिशुक्रन्दशब्दान्केचिन्नेच्छन्ति । शैशुक्रन्दम् ॥200॥

*न्या०स०–शिशु०–*यमसभीय० यमस्य सभा यमसमं शालां विना सभा, राजवर्जितेत्यादिना राक्षसादित्वात् क्लीबत्वम् ।

द्वंद्वात् प्रायः ॥ 6. 3. 201. ॥

द्वन्द्वात्समासादमोऽधिकृत्य कृते ग्रन्थे प्रायः ईयः प्रत्ययो भवति, अणोऽपवादः । वाक्यपदीयम्, द्रव्यपर्यायीयम्, शब्दार्थसंबन्धीयम् । श्येनकपोतीयम् । प्राय इति किम् दैवासुरम्, राक्षोसुरम्, गौणमुख्यम् ॥201॥

*न्या०स०–द्वंद्वात्–*श्येनकपोतीयमिति श्येनकपोतावधिकृत्येति शकटः, उत्पलस्तु नित्यवैरस्येत्येकवद्भावमिच्छति, ततः श्येनकपोतमिति वा ।

गौणमुख्यमिति संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः इति न दोरीयः, गुणमुख्याद् वा प्रत्ययः ।

अभिनिष्क्रामति द्वारे ॥ 6. 3. 202. ॥

द्वितीयान्तादभिनिष्क्रामति अभिनिर्गच्छत्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति तच्चेदभिनिष्क्रामद्द्वारं भवति । स्रुग्घ्नमभिनिष्क्रामति स्रौघ्नं कन्यकुब्जद्वारम् । माथुरम्, नादेयम्, राष्ट्रियं द्वारम्, करणभूतस्यापि द्वारस्याभिनिष्क्रमणक्रियायां स्वातन्त्र्यविवक्षा । यथा साध्वसिश्छनत्तीति । रचनाबहिर्भावे वा निष्क्रमिः । यथा गृहकोणो निष्क्रान्तः । द्वार इति किम् ? स्रुघ्नमभिनिष्क्रामति चैत्रः ॥202॥

*न्या०स०–अभि०–*निष्कान्त इति रचनाया बहिर्निगत इत्यर्थः ।

गच्छति पथि दूते ॥ 6. 3. 203. ॥

द्वितीयान्ताद्गच्छत्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवत्ति योऽसौ गच्छति स चेत्पन्था दूतो वा भवति । स्रुग्घ्नं गच्छति स्रौग्घ्नः पन्था दूतो वा, माथुरः, नादेयः, राष्ट्रियः, पथिस्थेषु गच्छत्सु तद्धेतुः पन्था अपि गच्छतीत्युच्यते । स्रुघ्नादिप्राप्तिर्वा पथो गमनम् । पथिदूत इति किम् ? स्रुग्घ्नं गच्छति साधुः, पाटलिपुत्रं गच्छति नौः पण्यं वाणिग्वा ।।203।।

भजति ।। 6. 3. 204. ।।

द्वितीयान्ताद्भजत्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति । स्रुघ्नं भजति स्रौघ्नः, माथुरः, नादेयः, राष्ट्रियः ।।204।।

महाराजादिकण् ।। 6. 3. 205. ।।

महाराजशब्दात् द्वितीयान्ताद्भजत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । महाराजं भजति माहाराजिकः ।।205।।

अचित्ताददेशकालात् ।। 6. 3. 206. ।।

देशकालवर्जितं यदचित्तमचेतनं तद्वाचिनो द्वितीयान्ताद्भजत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । अणादेर्बाधकः । अपूपान्भजति आपूपिकः, शाष्कुलिकः, मौदकिकः, पायसिकः अचित्तादिति किम् ? दैवदत्तः । अदेशकालादिति किम् ? स्रौघ्नः, हैमनः ।।206।।

वासुदेवा–ऽर्जुनादकः ।। 6. 3. 207. ।।

आभ्यां द्वितीयान्ताभ्यां भजत्यर्थेऽकः प्रत्ययो भवति, ईयाकञोरपवादः । वासुदेवं भजति वासुदेवकः, यदा वासुदेवशब्दः संज्ञाशब्दोऽक्षत्रियवचनस्तदोत्तरेणाकञ् न प्राप्नोति किं तु ``दोरीयः'' (6. 3. 31.) इतीयः स्यात् इति तद्ग्रहणम् । अर्जुनं भजति अर्जुनकः । अर्जुनशब्दः क्षत्रियवाचीत्युत्तरेणाकञ् स्यादिति केनैव सिद्धेऽकविधानं वासुदेवीं भजति वासुदेवकःअर्जुनीमर्जुनक इति एवमर्थम् ।।207।।

*न्या०स०–वासु०–*एवमर्थमिति कप्रत्यये ``ङ्यादीदूतःके'' (2. 4. 104.) इति ह्रस्वत्वं स्यात्, अकप्रत्यये तु ``जातिश्च'' (3. 2. 51.) इति पुंवद् भवति ।

गोत्र–क्षत्रियेभ्योऽकञ् प्रायः ।। 6. 3. 208. ।।

गोत्रवाचिभ्यः क्षत्रियवाचिभ्यश्च द्वितीयान्तेभ्यो भजत्यर्थेऽकञ् प्रत्ययो भवति प्रायः, अणाद्यपवादः । ग्लुचुकायनिं भजति ग्लौचुकायनकः, औपगवकः, दाक्षकः, गार्गकः, गार्ग्यायणकः । क्षत्रिय, नाकुलकः, साहदेवकः, दौर्योधनकः, दौःशासनकः । बहुवचनं क्षत्रियविशेषपरिग्रहार्थम् । प्राय इति किम् ? पणिनोऽपत्यं पाणिनः तं भजति पाणिनीयः, पौरवीयः ।।208।।

सरूपाद् द्रेः सर्वं राष्ट्रवत् ।। 6. 3. 209. ।।

``राष्ट्रक्षत्रियात्सरूपाद्राजापत्ये द्रिरञ्'' (6. 1. 114.) इति प्रस्तुत्य सरूपाद्यो द्रिः प्रत्यय उक्तस्तदन्तस्य द्वितीयान्तस्य भजतीत्यर्थे सर्वं प्रत्ययः प्रकृतिश्च राष्ट्रवद्भवति । राष्ट्रवाचिनी या प्रकृतिर्वृजि इत्यादिस्ततश्च यः प्रत्ययो ``वृजिमद्राद्देशात्कः'' (6. 3. 37.) इत्यादिना विहितस्तदुभयं वार्ज्य इत्येवमादेः सरूपस्य द्रिप्रत्ययान्तस्य भजतीत्यस्मिन् विषये भवतीत्यर्थः । वार्ज्यं वार्ज्यौ वृजीन् वा भजति वृजिकः, माद्रं माद्रौ मद्रान्वा भजति मद्रकः, अत्र कप्रत्ययः । पाण्ड्यं पाण्ड्यौ पाण्डून्वा भजति पाण्डवकः, आङ्गकः, वाङ्गकः, पाञ्चालकः, वैदेहकः, औदुम्बरकः, तैलखलकः । अत्र ``बहुविषयेभ्यः'' (6. 3. 44.) इत्यकञ् । कौरवकः । कौरवः । यौगन्धरकः । यौगन्धरः । अत्र ``कुरुयुगंधराद्वा'' (6. 3. 52.) इति वाकञ् । ऐक्ष्वाकः । अत्र ``कोपान्त्याच्चाण्'' (6. 3. 55.) इत्यण् । सरूपादिति किम् ? पौरवीयम् । अत्र पुरु राजा अनुखण्डो जनपद इति सारूप्यं नास्ति । अत एव `पुरुमगध'–इत्यादौ द्विस्वरत्वेनैव सिद्धे पुरुग्रहणमसरूपार्थं कृतम् । द्रेरिति किम् । पञ्चालान् ब्राह्मणान् भजति पाञ्चालः, अत्र `बहुविषयेभ्यः' इत्यकञ् न भवति । सर्वग्रहणं प्रकृत्य तिदेशार्थम् । तच्च वार्ज्यमाद्रपाण्ड्य- कौरव्याः प्रयोजयन्ति । अन्यत्र हि नास्ति विशेषः ।।209।।

न्या०स०–सरूपाद्रेः–सरूपादिति सूत्रांशेन राष्ट्रक्षत्रियादित्युपलक्ष्यते ।

बहुविषयेभ्य इति–पाण्ड्यं पाण्ड्याविति एकत्वद्वित्वयोरपि राष्ट्रवदित्यतिदेशादबहुवत्ता तथैव इति बहुविषयेभ्य इति अकञ् भवत्येव ।

कौरवक इति कुरोरपत्यं कुरूणां राजा वा ``दुनादि'' (6. 1. 118.) इति ञ्यः कौरव्यं भजति मनुष्ये वाच्चे ``कच्छादेर्नृनृस्थे'' (6. 3. 55.) नित्यमकञ्, अन्यत्र तु ``कुरुयुगंधराद्वा'' (6. 3. 53.) इति वा अकञ्, पक्षे ``कोपान्त्याच्चाण्'' (6. 3. 56.) ।

यौगन्धरक इति युगंधराणां राजा युगंधरापत्यं वा ``साल्वांश'' (6. 1. 117.) इति इञ् तं भजति औत्सर्गिकाण् ।

अतिदेशार्थमिति तेन वृजिकमद्रकपाण्डवक इति सिद्धं, अन्यथा पाण्ड्यक इत्यादौ यकारश्रुतिः स्यात्, न वाच्यं ``तद्धितयस्वरे'' (2. 4. 92.) इति यलोपप्राप्तिः, अनापत्यत्वात् यकारस्य ।

नास्ति विशेष इति–आङ्गक इत्यादि लिखितापेक्षया एतदुक्तं यावता आवन्तक इत्यादाव-स्त्येव विशेषः, अनापत्त्यत्वादावन्त्य इति स्थिते यलोपाप्रसङ्गात् ।

टस्तुल्यदिशि ॥ 6. 3. 210. ॥

ट इति सहार्थतृतीयान्तात्तुल्यदिश्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति । तुल्या, समाना, साधारणा दिक्, यस्य तुल्यदिक् । एकदिगित्यर्थः । सुदाम्ना एकदिक् सौदामनी विद्युत्, सुदामा नाम पर्वतो यस्यां दिशि तस्यां विद्युत्, तेन सा सुदाम्ना सहैकदिगुच्यते । सूर्येण सहैकदिक् सौरी बलाका, हिमवता एकदिक् हैमवती गङ्गा, त्रिककुदा एकदिक् त्रैककुदी लङ्का ॥210॥

तसिः ॥ 6. 3. 211. ॥

ट इति तृतीयान्तात्तुल्यदिश्यर्थे तसिरित्ययं प्रत्ययो भवति । पूर्वेण यथास्वमणादय एयणादयश्च विहिताः प्रत्ययान्तरमिदं सर्वप्रकृतिविषयं विधीयते । सुदाम्ना एकदिक् सुदामतः, सूर्यतः, हिमवत्तः, त्रिककुत्तः, पीलुमूलतः, पार्श्वतः, पृष्ठतः, इकारो ``वत्तस्याम्'' (1. 1. 34.) इत्यत्र विशेषणार्थः ॥211॥

यश्चोरसः ॥ 6. 3. 212. ॥

उरस् इत्येतस्मात् तृतीयान्ता तुल्यदिश्यर्थे यः प्रत्ययश्चकारात्तसिश्च भवतः, अणोऽपवादः । उरसा एकदिक् उरस्यः, उरस्तः ॥212॥

सेर्निवासादस्य ॥ 6. 3. 213. ॥

सेरिति प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमान्तं निवासश्चेत्स भवति । निवसन्त्यस्मिन्निति निवासो देश उच्यते । स्रघ्नो निवासोऽस्य स्रौग्घ्नः, माथुरः, नादेयः, राष्ट्रियः ॥213॥

आभिजनात् ॥ 6. 3. 214. ॥

सेर्निवासादस्येति वर्तते । अभिजनः पूर्वबान्धवाः, तेषामयमाभिजनः । सः प्रथमान्तादाभिजनान्निवासादस्येति षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति । स्रुघ्नोऽस्याभिजनो निवासः स्त्रौघ्नः, माथुरः, नादेयः, राष्ट्रियः ।।214।।

शण्डिकादेर्ण्यः ।। 6. 3. 215. ।।

शण्डिक इत्येवमादिभ्यः प्रथमान्तेभ्य आभिजननिवासवाचिभ्योऽस्येत्यस्मिन्नर्थे ण्यः प्रत्यया भवति, अणाद्यपवादः । शण्डिक आभिजनो निवासोऽस्य शाण्डिक्यः । कौचवार्यः । शण्डिक, कूचवार सर्वसेन, सर्वकेश, शङ्ख, शक, शट, रक, चरण (चणक), शंकर, बोध इति शण्डिकादिः ।।215।।

सिन्ध्वादेरञ् ।। 6. 3. 216. ।।

सिन्ध्वादिभ्यः प्रथमान्तेभ्य आभिजननिवासवाचिभ्योऽस्येत्य–स्मिन्नर्थेऽञ् प्रत्ययो भवति । सिन्धुराभिजनो निवासोऽस्य सैन्धवः, वार्णवः, सिन्धु, वर्णु, मधुमत्, कम्बोज, कुलूज, गन्धार, कश्मीर, सल्व, किष्किन्ध, गब्दिक, उरस्, दरद्, ग्रामणी, काण्डवरक सल्वान्तेभ्यो नृनृस्थाकञोपवादोऽञ् । शेषेभ्यो बहुविषयराष्ट्रलक्षणस्याकञो ग्रामणीकाण्डवरकाभ्यामीयस्य । तक्षशिलादिभ्यस्तु अञ् नोच्यते उत्सर्गेणैव सिद्धत्वात् ।।216।।

न्या०स०–सिन्ध्वादेरञ्–अञ् नोच्यत इति केचित्तक्षशिलादिभ्योऽञ ब्रुवते, तन्न, बाधकप्रत्ययान्तराप्राप्तया ``प्राग्जितात्'' (6. 1. 13.) इत्येव सिद्धत्वात् ।

सलातुरादीयण् ।। 6. 3. 217. ।।

सलातुरशब्दात्प्रथमान्तादाभिजननिवासवाचिनोऽस्येत्यस्मिन्नर्थे ईयण् प्रत्ययो भवति । सलातुर आभिजनो निवासोऽस्य सालातुरीयः पाणिनिः ।।217।।

न्या०स०–सलातुरा०–सलातुरेति सालैस्ततं सालततं तच्च तत्पुरं च सालतस्पुरं, पृषोदरा दित्वात् सलातुरः ।

तूदी–वर्मत्या एयण् ।। 6. 3. 218. ।।

तूदीवर्मतीशब्दाभ्यां प्रथमान्ताभ्यामाभिजननिवासवाचिभ्यामस्येत्यर्थे एयण् प्रत्ययो भवति ।

तूदी आभिजनो निवासोऽस्य तौदेयः, वार्मतेयः ॥218॥

*न्या०स०–तूदीवर्म०–*तावानायामो यस्याः सा तावदायामा, पृषोदरादित्वात्तूदादेशे गौरादिङ्यां तूदी, वर्म तनोति ``क्वचित्'' (5. 1. 171.) इति डे गौरादिङ्यां च वर्मती ।

गिरेरीयोऽस्त्राजीवे ॥ 6. 3. 219. ॥

गिरिर्य आभिजनो निवासस्तदभिधायिनः प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे ईयः प्रत्ययो भवति अस्त्राजीवे अस्त्रमाजीवो जीविका यस्य तस्मिन्नायुध जीविन्यभिधेय इत्यर्थः । हृद्गोलः पर्वत आभिजनो निवासोऽस्यास्त्राजीवस्य हृद्गोलीयः, एवं भोजकटीयः, रोहितगिरीयः, अन्धश्मीयः । गिरोरिति किम् ? सांकाश्यकोऽस्त्राजीवः । ``प्रस्थपुर''–(6. 3. 42.) इत्यादिनाकञ् । अस्त्रा- जीव इति किम् ? ऋक्षोदः पर्वत आभिजनो निवासोऽस्य आर्क्षोदो ब्राह्मणः । पृथुः पर्वत आभिजनो निवासोऽस्य पार्थवः ॥219॥

*न्या०स०–गिरे०–*अन्धश्मीय इति अन्धा अश्मानो यत्र पर्वते सोऽन्धश्मा, पृषोदरादित्वात् अलोपः, अन्धश्मा आभिजनो निवासोऽस्य ।

इत्याचार्य० षष्ठस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ।

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानुशासन–बृहद्वृत्तौ षष्ठस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ॥6. 3.॥

जयस्तम्भान् सीमन्यनुजलधिवेलं निहितवान्,
वितानैर्ब्रह्माण्डं शुचिगुणगरिष्ठैः पिहितवान् ॥
यशस्तेजोरूपैरलिपत जगन्त्यर्घघुसृणैः,
कृतौ यात्रानन्दो विरमति न किं सिद्ध-नृपतिः ? ॥1॥

अथ चतुर्थः पादः

इकण् ।। 6. 4. 1. ।।

अणः पूर्णोऽवधिः, अधिकारोऽयम् आ पादपरिसमाप्तेः, यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्तत्रापवादविषयं परिहृत्येकणित्यधिकृतं वेदितव्यम् ।।1।।

तेन जित–जयद्–दीव्यत्–खनत्सु ।। 6. 4. 2. ।।

तेनेति तृतीयान्ताज्जिते जयति दीव्यति खनति चार्थे इकण् प्रत्ययो भवति । अक्षैर्जितमाक्षिकम्, शालाकिकम्, अक्षैर्जयति आक्षिकः, शालाकिकः, अक्षैर्दीव्यति आक्षिकः, शालाकिकः । अभ्रन्या खनति आभ्रिकः, कौद्दालिकः, अभ्री काष्ठमयी तीक्ष्णाग्रा, इह तेनेति करणे तृतीया वेदितव्या नान्यत्रान–भिधानात्, तेन देवदत्तेन जितम् धनेन जितमित्यत्र न भवति । अभ्रन्या खनन्नङ्गुल्याः खनतीत्यत्र तु सत्यप्यङ्गुलेः करणत्वे मुख्यकरणभावोऽभ्र्त्र्या एव नाङ्गुलेरित्यङ्गुलिशब्दान्न भवति । यथा स्त्रुग्घ्नादागच्छन्वृक्षमूलादागत इति । जयदादिषु त्रिषु कालो न विवक्षितः जिते तु विवक्षितः बहुवचनं पृथगर्थताभिव्यक्त्यर्थम् ।।2।।

अर्हं । तेन०–आक्षिक इति अक्षेर्जयन् दीव्यन् वा आक्षिकः, एवमन्येषि, जयतीत्यादि तु वृत्तावर्थकथनं विग्रहः शत्रन्तेनैव द्रव्यप्रधानेन कर्त्तव्यः ।

कौद्दालिक इति कुं दालयति कर्म्मण्यणि पृषोदरादित्वात् पूर्वपदस्य दागमः, तेन खनन् । न विवक्षित इति कर्त्ता तु विवक्षितोऽत एव जयद्ग्रहणे सत्यपि कर्म्मण्यपि इकण् प्रत्यार्थं जितग्रहणं, अयमर्थः जयतीत्युक्ते जयति, जेष्यति अजैषीदिति लभ्यते किं जितग्रहणेन ? उच्यते, भूते कर्म्मण्यपि वाच्ये यथा स्यादित्येवर्थं, विवक्षित इति अतीतः कालः ।

संस्कृते ।। 6. 4. 3. ।।

तेनेति तृतीयान्तात्संस्कृतेऽर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । सत उत्कर्षाधानं संस्कारः, दध्ना संस्कृतं दाधिकम् । मारिचिकम्, शार्ङ्गवेरिकम्, उपाध्यायेन संस्कृतः औपाध्यायिकः शिष्यः, विद्यया संस्कृतो वैद्यिकः, योगविभाग उत्तरार्थः ।।3।।

कुलत्थ–कोपान्त्यादण् ॥ 6. 4. 4. ॥

कुलत्थशब्दात्ककारोपान्त्याच्च शब्दरूपात्तेन संस्कृतेऽर्थेऽण् प्रत्ययो भवति, इकणोपवादः। कुलत्थैः संस्कृतं कौलत्थम्, अन्ये तु कुलत्थशब्दात्सकाराक्रान्तथकारात्प्रत्ययं मन्यन्ते। कौलस्थः, कोपान्त्य, तित्तिडीकेन तित्तिडीकाभिर्वा संस्कृतं तैत्तिडीकम्, दर्दुरूकेण दार्दुरूकम्, मरण्डूकेन मारण्डूकम्, अन्ये तु कवर्गोपान्त्यादपीच्छन्ति। मौद्गम्, सारघम् ॥4॥

न्या०स०–कुल०—सारघमिति सरघामिः कृत ``नाम्नि मक्षिकादिभ्य'' (6. 3. 193.) इत्यण्, सारघेण मधुना संस्कृतः।

संसृष्टे ॥ 6. 4. 5. ॥

तेनेति तृतीयान्तात्संसृष्टेऽर्थे इकण् प्रत्ययो भवति। मिश्रणमात्रं संसर्ग इति पूर्वोक्तात्संस्कृताद्भेदः, दध्ना संसृष्टं दाधिकम्, शाङ्गवेरिकम्, पैप्पलिकम्, वैषिका भिक्षाः, आशुचिकन्नम् ॥5॥

न्या०स०–संसृ०—दाधिकमिति अत्र संसृष्टं शाकादि भक्ष्यं विवक्षितं, अन्यथा ``व्यञ्जनेभ्य उपसिक्ते'' (6. 4. 8.) इति नियमः स्यात्।

आशुचिकमिति नात्रान्नं भोज्यार्थं पश्चाद्–भावनायामभ–क्ष्यत्वादतोऽनियमः।

लवणादः ॥ 6. 4. 6. ॥

लवणशब्दात्तेन संसृष्टे अकारः प्रत्ययो भवति। लवणेन संसृष्टो लवणः सूपः, लवणः शाकः, लवणा यवागूः, लवणशब्दा द्रव्यशब्दा गुणशब्दश्च। तत्र द्रव्यवाची लवणशब्दः प्रत्ययं प्रयोजयति न गुणवाची, गुणेन विश्लेषपूर्वकस्य संसर्गस्याभावात् ॥6॥

चूर्ण–मुद्गाभ्यामिनणौ ॥ 6. 4. 7. ॥

आभ्यां तेन संसृष्टे यथासंख्यमिन् अण् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः। चूर्णैः संसृष्टाश्चूर्णिनोऽपूपाः, चूर्णिन्यो धानाः। मुद्गैः संसृष्टो मौद्ग ओदनः, मौद्गी यवागूः ॥7॥

न्या०स०–चूर्ण०—मत्वर्थीयेनैव इना सिद्धे संसृष्टविवक्षायामिकण्–बाधनार्थम्।

व्यञ्जनेभ्य उपसिक्ते ॥ 6. 4. 8. ॥

व्यञ्जनवाचिनस्तृतीयान्तादुपसिक्तेऽर्थे इकण् प्रत्ययो भवति। सूपेन उपसिक्तः सौपिक ओदनः, दाधिक ओदनः, घार्तिकः सूपः, तैलिकं शाकम्। व्यञ्जनेभ्य इति किम् ? उदकेन उपसिक्त ओदनः। व्यञ्जनशब्दो रूढ्या सूपादौ वर्तते। उपसिक्त इति किम् ? सूपेन संसृष्टा स्थाली। उपसिक्तमिति यद्भोजनार्थमुपादीयते भोज्यादि तदुच्यते न स्थाल्यादि। उपसिक्तं संसृष्टमेव तत्र ``संसृष्टे'' (6. 4. 5.) इत्येव सिद्धे नियमार्थं वचनम् व्यञ्जनैः संसृष्टे उपसिक्त एव उपसिक्ते च व्यञ्जनैरेव, बहुवचनं स्वरूपविधेर्निरासार्थम् ॥8॥

*न्या०स०–व्यञ्ज०–*उपसिक्त एवेति सूपेन संसृष्टा स्थालीत्यनुपसिक्ते संसृष्टे प्रत्ययो न भवतीति प्रत्ययार्थव्यवस्था।

व्यञ्जनैरेवेति उदकेनोपसिक्त ओदन इत्युकाद्व्यञ्जनान्न भवतीति प्रकृतिव्यवस्था।

तरति ॥ 6. 4. 9. ॥

तेनेति तृतीयान्तात्तरत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति। उडुवेन तरति औडुविकः काण्डप्लविकः, शारप्लविकः, गौपुच्छिकः ॥9॥

नौ–द्विस्वरादिकः ॥ 6. 4. 10. ॥

नौशब्दाद्द्विस्वराच्च नाम्नस्तृतीयान्तात्तरत्यर्थे इकः प्रत्ययो भवति। नावा तरति नाविकः, नाविका, द्विस्वर, घटिकः, प्लविकः, दृतिकः, बाहुकः, बाहुका ॥10॥

चरति ॥ 6. 4. 11. ॥

तेनेति तृतीयान्ताच्चरत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति। चरतिरिह गत्यर्थो भक्ष्यार्थश्चगृह्यते। गत्यर्थ, हस्तिना चरति हास्तिकः, शाकटिकः, घाण्टिकः, आकषिकः। आकषः सुवर्णनिकषोपलः औषधपेषणपाषाणश्च। भक्ष्यर्थ,–दध्ना चरति दाधिकः, शार्ङ्गवेरिकः ॥11॥

पर्पादेरिकट् ॥ 6. 4. 12. ॥

पर्प इत्येवमादिभ्यस्तृतीयान्तेभ्यश्चरत्यर्थे इकट् प्रत्ययो भवति। पर्पेण चरति पर्पिकः, पर्पिकी, अश्विकः, अश्विकी। पर्प, अश्व, अश्वत्थ, रथ, अर्घ्य व्याल, व्यास इति पर्पादिः ॥12॥

पदिकः ॥ 6. 4. 13. ॥

पादशब्दात्तेन चरत्यर्थे इकट् प्रत्ययो भवति अस्य पद्भावश्च निपात्यते । पादाभ्यां चरति पदिकः ॥13॥

श्वगणाद् वा ॥ 6. 4. 14. ॥

श्वगणशब्दात्तेन चरत्यर्थे इकट् प्रत्ययो वा भवति । श्वगणेन चरति श्वगणिकः, श्वगणिकी, पक्षे इकण् श्वागणिकः, श्वागणिकी ``श्वादेरिति'' (7. 4. 10.) इति वात्प्रागौर्न भवति ।14।

वेतनादेर्जीवति ॥ 6. 4. 15. ॥

तेनेति वर्तते, वेतन इत्येवमादिभ्यस्तृतीयान्तेभ्यो जीवत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । वेतनेन जीवति वैतनिकः, वाहिकः । वेतन, वाह, अर्धवाह, धनुस् दण्ड, धनुर्दण्ड, जाल, वेश, उपवेश, प्रेषण, भृति, उपवेष, उपस्था, उपास्ति, उपस्थान, सुख, शय्या, सुखशय्या, शक्ति, उपनिषत्, उपरिजन, स्फिज, स्फिग, वाल, पुतचाल, उपदेश, पाद, उपहस्त, इति वेतनादिः ॥15॥

व्यस्ताच्च क्रय–विक्रयादिकः ॥ 6. 3. 16. ॥

क्रयविक्रयशब्दात्समस्ताद्व्यस्ताच्च तेन जीवत्यर्थे इकःप्रत्ययो भवति । क्रयविक्रयेण जीवति क्रयविक्रयिकः, क्रयिकः, विक्रयिकः ॥16॥

वस्नात् ॥ 6. 4. 17. ॥

वस्नात्तेन जीवत्यर्थे इकः प्रत्ययो भवति । वस्नं मूल्यं तेन जीवति वस्निकः ॥17॥

आयुधादीयश्च ॥ 6. 4. 18. ॥

आयुधशब्दात्तेन जीवत्यर्थे ईयश्चकारादिकश्च प्रत्ययौ भवतः । आयुधीयः, आयुधिकः आयुधिका, आयुधादिकेकणोः स्त्रियां विशेषः ॥18॥

न्या०स०–आयुधादीयश्च–स्त्रियां विशेष इति नन्वायुधादीयो वेति क्रियतां पक्षे इकणापि सेत्स्यतीत्याशङ्का ।

व्रातादीनञ् ॥ 6. 4. 19. ॥

व्रातशब्दात्तेन जीवत्यर्थे ईनञ् प्रत्ययो भवति । नानाजातीया अनियतवृत्तयः शरीरायासजीविनः संघा व्राताः । तत्साहचर्यात्तत्कर्मापि व्रातम् । तेन जीवति व्रातीनः, ञकारो वृद्ध्यर्थः । तेन "तद्धितः स्वरवृद्धि–" (3. 2. 55.) इत्यादिना पुंवद्भावो न भवति, व्रातीनाभार्यः ॥19॥

निर्वृत्तेऽक्षद्यूतादेः ॥ 6. 4. 20. ॥

अक्षद्यूत इत्येवमादिभ्यस्तृतीयान्तेभ्यो निर्वृत्तेऽर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । अक्षद्यूतेन निर्वृत्तमाक्षद्युतिकं वैरम्, जाङ्घाप्रहतिकं वैरम् । अक्षद्यूत, जङ्घाप्रहत, जङ्घाप्रहृत, जङ्घाप्रहार, पादस्वेद, पादस्वेदन, कण्टकमर्द, कण्टकमर्दन, शर्करामर्दन, गत, आगत, गतागत, यात, उपयात, यातोपयात, गतानुगत, अनुगत इत्यक्षद्यूतादिः ॥20॥

भावादिमः ॥ 6. 4. 21. ॥

भाववाचिनस्तेन निर्वृत्तेऽर्थे इमः प्रत्ययो भवति । पाकेन निर्वृत्तं पाकियम्, सेकिमम्, त्यागिमम्, रोगिमम्, कुट्टिमम्, संमूर्छिमम् ॥21॥

याचिताऽपमित्यात्–कण् ॥ 6. 4. 22. ॥

याचित अपमित्य इत्येताभ्यां तेन निर्वृत्ते कण् प्रत्ययो भवति । याचितेन याच्ञया निर्वृत्तं याचितकम्, अपमित्येति यबन्तम् । अपमित्य प्रतिदानेन निर्वृत्तमापमित्यकम् ॥22॥

न्या०स०–याचि०–अपमित्येति अपमानं "निमील्यादिमेङः" (5. 4. 46.) क्त्वा "मेङो वा मित्" (4. 3. 88.) ।

हरत्युत्सङ्गादेः ॥ 6. 4. 23. ॥

उत्सङ्गादिभ्यस्तृतीयान्तेभ्यो हरत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । उत्सङ्गेन हरत्यौत्सङ्गिकः, उत्त्रुपेन औत्त्रुपिकः, उडुपेन औडुपिकः । उत्सङ्ग, उत्त्रुप, उडुप, उत्पुन, उत्पुट, पिटक, पिटाक इत्युत्सङ्गादिः ॥23॥

भस्त्रादेरिकट् ॥ 6. 4. 24. ॥

भस्त्रादिभ्यस्तृतीयान्तेभ्यो हरत्यर्थे इकट् प्रत्ययो भवति । भस्त्रया हरति भस्त्रिकः, भस्त्रिकी, भरटिकः, भरटिकी । भस्त्रा, भरट, भरण, शीर्षभार, शीर्षेभार, अङ्गभार, अङ्गेभार, अंसभार, अंसेभार इति भस्त्रादिः ॥24॥

विवध–वीवधाद् वा ॥ 6. 4. 25. ॥

विवधवीवध इत्येताभ्यां तेन हरत्यर्थे इकट् प्रत्ययो वा भवति । विवधेन हरति विवधिकः, विवधिकी, वीवधिकः, वीवधिकी, पक्षे इकण् वैवधिकः वैवधिकी, विवधवीवधशब्दौ समानार्थौ पथि पर्याहारे च वर्तेते ॥25॥

*न्या०स०–विविध०–*पक्षे इकणिति अत्र वाग्रहणसामर्थ्यात् अन्येनाप्राप्तोऽपि पक्षे इकण् अन्यथा वाग्रहणमनर्थकं स्यात् ।

कुटिलिकाया अण् ॥ 6. 4. 26. ॥

कुटिलिकाशब्दात्तृतीयान्ताद्धरत्यर्थेऽण् प्रत्ययो भवति । कुटिलिकाशब्देनाग्रेवक्रा लोहादिमयी अङ्गाराकर्षणी यष्टिर्वा कुटिला गतिर्वा पलालोत्क्षे–पणोऽग्रेवक्रो दण्डो वा परिव्राजकोपकरणविशेषो वा चौराणां नौगृहाद्यारोहणार्थं दामाग्रप्रतिबद्ध आयसोऽर्द्धाङ्कुशो वोच्यते । कुटिलिकया हरत्यङ्गारान् कौटिलिकः कर्मारः, कुटिलिकया हरति व्याधं कौटिलिको मृगः, कुटिलिकया हरति पलालं कौटिलिकः कर्षकः, कुटिलिकया हरति पुष्पाणि कौटिलिकः परिव्राजकः, कुटिलिकया हरति नावं कौटिलिकश्चौरः ॥26॥

ओजः–स्सहो–ऽम्भसो वर्तते ॥ 6. 4. 27. ॥

ओजस्, सहस्, अम्भस् इत्येतेभ्यस्तृतीयान्तेभ्यो वर्तते इत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति, वृत्तिरात्मयापना चेष्टा वा । ओजसा बलेन वर्तते औजसिकः, सहसा प्रसहनेन पराभिभवेन वा साहसिकः, अम्भसा जलेन आम्भसिकः ॥27॥

तं प्रत्यनोर्लोमेप–कूलात् ॥ 6. 4. 28. ॥

तेनेति निवृत्तम् । तमिति द्वितीयान्तात्प्रति अनु इत्येताभ्यां परो यो लोमशब्द ईषशब्दः कूलशब्दश्च तदन्ताद्वर्तते इत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । प्रतिलोमं वर्तते प्रातिलोमिकः,

आनुलोमिकः, प्रातीपिकः, आन्वीपिकः, प्रातिकूलिकः, आनुकूलिकः अकर्मकस्यापि वृत्तेर्योगे प्रतिलोमादेः क्रियाविशेषणत्वात् द्वितीया, तमिति पुंलिङ्गनिर्देशोऽसंदेहार्थः ॥28॥

*न्या०स०–तं प्रत्यनो०–*असंदेहार्थ इति तदिति कृते हि प्रथमान्तस्यैतद्रूपं द्वितीयान्तस्य वेति संदेहः, यतः स्यमोरपि नपुंसके साधारणं तदिति रूपम् ।

परेर्मुख–पार्श्वात् ॥ 6. 4. 29. ॥

परिशब्दाद्यो मुखशब्दः पार्श्वशब्दश्च तदन्तात् द्वितीयान्तात् वर्तते इत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । परिमुखं वर्तते पारिमुखिकः, परिपार्श्वं वर्तते पारिपार्श्विकः, परिर्वर्जने सर्वतोभावे वा । स्वामिनो मुखं वर्जयित्वा वर्तमानोऽथवा यतोयतः स्वामिमुखं ततस्ततो वर्तमानः पारिमुखिकः सेवकः, एवं पारिपार्श्विकः ॥29॥

*न्या०स०–परे०–*परिमुखमिति मुखात् परि ``पर्यपाङ्'' (3. 1. 32.) इत्यव्ययीभावः, परितः सर्वतो मुखं परिमुखं तदा ``परिमुखादेरव्ययीभावात्'' (6. 3. 136.) वचनाद्व्ययीभावः ।

रक्षदुञ्छतोः ॥ 6. 4. 30. ॥

तमिति द्वितीयान्ताद्रक्षति उञ्छति चार्थे इकण् प्रत्ययो भवति । समाजं रक्षति सामाजिकः, सामवायिकः, नागरिकः, सांनिवेशिकः, बदराण्युञ्छति उच्चिनोति बादरिकः, श्यामाकिकः, नैवारिकः ॥30॥

पक्षि–मत्स्य–मृगार्थाद् घ्नति ॥ 6. 4. 31. ॥

तमिति द्वितीयान्तेभ्यः पक्ष्यर्थेभ्यो मत्स्यार्थेभ्यो मृगार्थेभ्यश्च घ्नत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । पक्षिणो हन्ति पाक्षिकः, मात्सिकः, मार्गिकः, अर्थग्रहणात्तत्पर्यायेभ्यो विशेषेभ्यश्च भवति । शाकुनिकः, मायूरिकः, तैत्तिरिकः, मैनिकः, शाफरिकः, शाकुलिकः, हारिणिकः, सौकरिकः, नैयङ्कुकः । अथाजिह्मान् हन्ति अनिमिषान् हन्तीत्यत्र कस्मान्न भवति । नैतन्मत्स्येत्यस्य स्वरूपं न विशेषो न पर्यायः अपि त्वसाधारणं विशेषणं यथा जिह्मगा भुजगाः अनिमिषा देवा इति ॥31॥

*न्या०स०–पक्षि०–*न पर्याय इति यः किल पर्यायशब्दः स व्युत्पत्तिमन्तरेणापि तावन्तमर्थं

गमयत्यं तु व्युत्पत्त्यपेक्ष एव गमयति ।

विशेषणमिति यत्रापि अजिह्मादिशब्देभ्यो मत्स्यादिप्रतीतिस्तत्राप्य–साधारणविशेषणत्वेनैव न पर्यायत्वेन ।

परिपन्थात्–तिष्ठति च ।। 6. 4. 32. ।।

परिपन्थशब्दाद्द्वितीयान्तात्तिष्ठिति घ्नति चार्थे इकण् प्रत्ययो भवति । परिपन्थं तिष्ठति हन्ति वा पारिपन्थिकश्चौरः, अतः एव निर्देशात् परिपथशब्दस्येकणोऽन्यत्रापि वा परिपन्थादेशः, तेन परिपन्थं गच्छति परिपन्थं पश्यति इत्याद्यपि भवति ।।32।।

न्या०स०–परिपन्थमिति पथः परिशब्दो वर्जनार्थः तदा 'पर्यपाभ्यां वर्ज्ये' इति पञ्चमी, ''पर्यपाङ्बहिः'' (3. 1. 32.) इति समासः, यदा तु परितः पन्थानमिति सर्वतोऽर्थः परिः तदा ''सर्वोभयाभिपरिणातसा'' (2. 3. 35.) (इति) द्वितीया, सूत्रसामर्थ्यादव्ययीभावः ''ऋक्पूःपथ्यपोऽत्'' (7. 3. 73.) ।

परिपथात् ।। 6. 4. 33. ।।

तिष्ठतीति वर्तते, परिपथशब्दाद्द्वितीयान्तात्तिष्ठत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । परिर्वर्जने सर्वतोभावे वा । पथः परि सर्वतः पन्थानं वा परिपथम् । परिपथं तिष्ठति पारिपथिकः, पन्थानं वर्जयित्वा व्याप्य वा तिष्ठतीत्यर्थः ।।33।।

अवृद्धेर्गृह्णति गर्ह्ये ।। 6. 4. 34. ।।

तमिति द्वितीयान्ताद्वृद्धिशब्दवर्जिताद्गृह्णत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति योऽसौ गृह्णाति स चेदन्यायेन ग्रहणाद्गर्ह्यो निन्द्यो भवति । द्विगुणं गृह्णाति द्वैगुणिकः, त्रैगुणिकः, वृधुषीं वृद्धिं गृह्णाति वार्धुषिकः, अल्पं दत्त्वा प्रभूतं गृह्णन्न–पन्यायकारी निन्द्यते । अवृद्धेरिति किम् ? वृद्धिं गृह्णातीति वाक्यमेव । गर्ह्ये इति किम् ? दत्तं गृह्णाति ।।34।।

*न्या०स०–अवृ०–*वृधुषीमिति प्रयुक्तं धनं पुष्णातीति प्रयुक्तधनपोषी तस्य पृषोदरादित्वात् वृधुषीशब्द आदेशः ।

कुसीदादिकट् ।। 6. 4. 35. ।।

तमिति द्वितीयान्तात्कुसीदशब्दाद्गर्ह्ये गृह्णत्यर्थे इकट् प्रत्ययो भवति। कुसीदं वृद्धिस्तदर्थं द्रव्यमपि कुसीदम्। तद्गृह्णाति कुसीदिकः, कुसीदिकी, टकारो ङ्यर्थः ॥35॥

दशैकादशादिकश्च ॥ 6. 4. 36. ॥

तमिति द्वितीयान्ताद्दशैकादशब्दद्गर्ह्ये गृह्णत्यर्थे इकश्चकारादिकट् च प्रत्ययो भवति। दशभिरेकादश दशैकादशाः। तान्गृह्णाति दशैकादशिकः, दशैकादशिका, दशैकादशिकी दशैकादशादित्यत एव निपातनादकारान्तत्वम्। तच्च वाक्ये प्रयोगार्थम्। दशैकादशान् गृह्णाति। अन्ये दशैकादश गृह्णातीति विगृह्णन्ति। तदपि अबाधकान्यपि निपातनानि भवन्तीति न्यायादुपपद्यते ॥36॥

अर्थ–पद–पदोत्तर–ललाम–प्रतिकण्ठात् ॥ 6. 4. 37. ॥

गर्ह्ये इति निवृत्तम्, अर्थात्पदात्पदशब्द उत्तरपदं यस्य तस्मात् ललामात् प्रतिकण्ठाच्च द्वितीयान्ताद्गृह्णत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति। अर्थं गृह्णाति आर्थिकः, पदं पादिकः, पदोत्तरपद, पूर्वपदं पौर्वपदिकः, औत्तरपदिकः, आदिपदिकः, आन्तपदिकः, ललाम लालामिकः, प्रतिकण्ठं प्रातिकण्ठिकः, अव्ययीभाव–समासाश्रयणादिह न भवति। प्रतिगतः कण्ठं प्रतिकण्ठः तं गृह्णाति। उत्तरपदग्रहणाद्बहुप्रत्ययपूर्वान्न भवति, बहुपदं गृह्णाति ॥37॥

न्या०स०–अर्थ०–ललिणो नित्यण्यन्तात् कर्मणिके ललस्तममति प्राप्नोति ललामः प्रतिकण्ठ मिति कण्ठं प्रति प्रतिकण्ठं ``लक्षणेनाभिप्रति'' (3. 1. 32.) इत्यवव्ययीभावः, कण्ठंकण्ठं प्रति ``योग्यतावीप्स्या'' (3. 1. 40.) इति वा समासः।

प्रतिगतः कण्ठमिति ``प्रात्य'' (3. 1. 47.) इति समासस्तत्पुरुषः।

परदारादिभ्यो गच्छति ॥ 6. 4. 38. ॥

परदारादिभ्यो द्वितीयान्तेभ्यो गच्छत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति। परदारान् गच्छति पारदारिकः, गौरुदारिकः, गौरुतल्पिकः, सभर्तृकां गच्छति साभर्तृकिकः, भ्रातृजायिकः, परदारादयः प्रयोगगम्याः ॥38॥

न्या०स०–पर०–भ्रातृजायिक इति भ्रातुः सकाशात् भ्रातरि वा जायेति कृत्यं, षष्ठीसमासे तु ``ऋतां विद्या'' (3. 2. 27.) इत्यलुप् स्यात्।

प्रतिपथादिकश्च ॥ 6. 4. 39. ॥

प्रतिपथशब्दाद्द्वितीयान्ताद्गच्छत्यर्थे इकः प्रत्ययो भवति। चकाराद्यथाप्राप्त इकण्। पन्थानं 2 प्रति पथोऽभिमुखमिति वा प्रतिपथम्। तद्गच्छति प्रतिपथिकः प्रातिपथिको वा ॥39॥

माथोत्तरपदपद–व्याक्रन्दाद् धावति ॥ 6. 4. 40. ॥

तमिति वर्तते। माथ उत्तरपदं यस्य तस्मान्नाम्नः पदवीशब्दादाक्रन्द–शब्दाच्च द्वितीयान्ताद्धावत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति। दण्डमाथं धावति दाण्डमाथिकः, शौक्लमाथिकः। माथशब्दः, पथिपर्यायः। दण्ड इव माथो दण्डमाथः ऋजुमार्ग उच्यते। पदवीं धावति पादविकः, आक्रन्दन्ति यत्र स देश आक्रन्द आक्रन्द्यते इति वा आक्रन्दः आर्तायनं शरणमुच्यते। आक्रन्दं धावति आक्रन्दिकः, उत्तरपदग्रहणाद्बहुप्रत्ययपूर्वान्ना भवति। बहुमाथं धावति ॥40॥

*न्या०स०–माथोत्तरपद०–*दण्डमाथ इति मथ्यते अवगाह्यते पादैः घञि माथः, दण्ड इव माथः, उपमानं सामान्यैरेवेति नियमादप्राप्तोऽपि ``मयूरव्यंसक'' (3. 1. 116.) इति सः।

पश्चात्यनुपदात् ॥ 6. 4. 41. ॥

पश्चातीति प्रकृतिविशेषणम्। पश्चादर्थः पश्चात्। पश्चादर्थे वर्तमानादनुपदशब्दाद्द्वितीयान्ताद्धावत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति पदस्य पश्चादनुपदम्, अनुपदं धावति आनुपदिकः, प्रत्यासत्त्या धावतीत्यर्थः। पश्चातीति किम्? अनुपदं धावति। अत्र ``दैर्घ्येऽनुः'' (3. 1. 34.) समीपे ``प्रात्यव–'' (3. 1. 47.) इत्यादिना वा समासः ॥41॥

सुस्नातादिभ्यः पृच्छति ॥ 6. 4. 42. ॥

तमिति वर्तते। सुस्नातादिभ्यो द्वितीयान्तेभ्यः पृच्छत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति। सुस्नातं पृच्छति सौस्नातिकः, सौखरात्रिकः, सौखशायनिकः, सौखशाय्यिकः, सुस्नातादयः प्रयोगगम्याः ॥42॥

प्रभूतादिभ्यो ब्रुवति ॥ 6. 4. 43. ॥

प्रभूतादिभ्यो द्वितीयान्तेभ्यो ब्रुवत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति। प्रभूतं ब्रुते प्राभूतिकः, पर्याप्तं ब्रूते पार्याप्तिकः, वैपुलिकः, वैचित्रिकः, नैपुणिकः, क्रियाविशेषणादयमिष्यते, तेनेह

न भवति । प्रभूतमर्थं ब्रूते पर्याप्तमर्थं ब्रूत इति । क्वचिदक्रियाविशेषणादपि । स्वर्गमनं ब्रूते सौवर्गमनिकः, स्वागतिकः, सौवस्तिकः, प्रभूतादयः प्रयोगगम्याः ।।43।।

न्या०स०–प्रभू०–सौवस्तिक इति स्वस्तीति ब्रूते व्युत्पत्तिपक्षे ``स्वः पदान्तात्'' (7. 4. 5.) इति अव्युत्पत्तिपक्षे तु ``द्वारादेः'' (7. 4. 6.) इत्यौत् ।

माशब्द–इत्यादिभ्यः ।। 6. 4. 44. ।।

माशब्द इत्यादिभ्यो ब्रुवत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । इति शब्दो वाक्यपरामशार्थः । माशब्द इति ब्रूते माशब्दिकः । मा शब्दः क्रियतामितिब्रूत इत्यर्थः । कार्यः शब्द इति ब्रूते कार्यशब्दिकः, नित्यः शब्द इति ब्रूते नैत्यशब्दिकः, माशब्द इत्यादयः प्रयोगगम्याः । वाक्यात्प्रत्ययविधानार्थं वचनम् ।।44।।

न्या०स०–माश०–वाक्यादिति पूर्वेण हि पदात्प्रत्यय इत्यर्थः ।

शाब्दिक–दार्दरिक–लालाटिक–कौक्कुटिकम् ।। 6. 4. 45. ।।

शाब्दिकादयः शब्दा ययास्वं प्रसिद्धेऽर्थविशेषे इकण्प्रत्ययान्ता–निपात्यन्ते । शब्दं करोति शाब्दिकः, यः कश्चिच्छब्दं करोति न स सर्वः शाब्दिकः किं तर्हियः शब्दं जानाति वैयाकरणः स एवाविनष्टं शब्दमुच्चारयन् शाब्दिक उच्यते । एवं दार्दरिकः, दर्दरो घटो वादित्रं च तत्र वादित्रं कुर्वन्नेव मुच्यते । ललाटं पश्यति लालाटिकः, ललाटदर्शनेन दूरावस्थानं लक्ष्यते तेन च कार्येष्वनुपस्थानम् । यः सेवको दृष्टं स्वामिनो ललाटमिति दूरतो याति न स्वामिकार्येषूपतिष्ठते स एवमुच्यते । ललाटमेव वा कोपमसादलक्षणा यः पश्यति स लालाटिकः, कुक्कुटीं पश्यति कौक्कुटिकः, कुक्कुटीशब्देन कुक्कुटीपातो लक्ष्यते, तेन च देशस्याल्पता, यो हि भिक्षुरविक्षिप्तदृष्टिः पादविक्षेपे देशे चक्षुः संयम्य पुरो युगमात्रदेशप्रेक्षी गच्छति स एवमुच्यते । यो वा तथाविधमात्मानमतथाविधोऽपि संदर्शयति सोऽपि कौक्कुटिकः । दाम्भिकचेष्टा वा मिथ्याशौचादिः कुक्कुटी, तामाचरन् कौक्कुटिकः, हृदयावयवो वा कुक्कुटी तां पश्यति कौक्कुटिको भिक्षुः । निभृत इत्यर्थः । तदेतत्सर्वं निपातनाल्लभ्यते ।।45।।

समूहार्थात्–समवेते ।। 6. 3. 46. ।।

समूहवाचिभ्यो द्वितीयान्तेभ्यः समवेते तादात्म्यात्तदेकदेशीभूतेऽर्थे इकण् प्रत्ययो भवति ।

समूहं समवैति सामूहिकः, सामाजिकः, सांसदिकः, सामवायिकः, गौष्ठिकः । तदेकदेशीभावमनुभवन्नेवमुच्यते । समवेत्यापगते तु समवेतशब्दो न वर्तते यथा सुप्तोत्थिते सुप्तशब्द इति तत्र न भवति ॥46॥

*न्या०स०–समू०–*कैश्चिदत्र प्रत्ययलोपः कृतः ततः स्वमते कथमित्याह समवेत्येति ।

पर्षदो ण्यः ॥ 6. 4. 47. ॥

पर्षच्छब्दाद्–द्वितीयान्तात्समवेतेऽर्थे–ण्यः प्रत्ययो भवति, पर्षदं समवैति पार्षद्यः, परिषच्छब्दादपीच्छन्त्यन्ये, पारिषद्यः ॥47॥

सेनाया वा ॥ 6. 4. 48. ॥

सेनाशब्दाद्–द्वितीयान्तात्समवेतेऽर्थे–ण्यः प्रत्ययो वा भवति । सेनां समवैति सैन्यः, पक्षे समूहार्थात्समवेते इतीकण् । सैनिकः, सेनैव सैन्यमिति तु भेषजादित्वात्स्वार्थे ट्यण् ॥48॥

धर्मा–ऽधर्माच्चरति ॥ 6. 4. 49. ॥

धर्म अधर्म इत्येताभ्यां द्वितीयान्ताभ्यां चरत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । चरतिस्तात्पर्येणानुष्ठाने । धर्मं चरति धार्मिकः, आधर्मिकः ॥49॥

षष्ठ्या धर्म्ये ॥ 6. 4. 50. ॥

षष्ठ्यन्ताद्धर्म्येऽर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । धर्मो न्यायोऽनुवृत्त आचारस्तस्मादनपेतं धर्म्यम् । शुल्कशालाया धर्म्यम् शौल्कशालिकम्, आपणिकम्, गौल्मिकम्, आतरिकम् ॥50॥

ऋन्नरादेरण् ॥ 6. 4. 51. ॥

ऋकारान्तेभ्यो नरादिभ्यश्च षष्ठ्यन्तेभ्यो धर्म्येऽर्थेऽण् प्रत्ययो भवति । नुर्धर्म्यं नारम्, स्त्रियां नारी, मातुर्मात्रम्, पितुः पैत्रम्, शास्तुः शास्त्रम्, विकर्तुः वैकर्त्रम्, होतुर्हौत्रम्, पोतुः पौत्रम्, उद्गातुः औद्गात्रम्, नरादि । नरस्य धर्म्यम् नारम्, स्त्रियां नारी, नृशब्देनैव रूपद्वये सिद्धे नरशब्दादिकण् माभूदिति तद्ग्रहणम् । महिष्या माहिषम् नर महिषी, प्रजावती, प्रजापति विलेपिका, प्रलेपिका, अनुलेपिका, वर्णक, पेषिका, वर्णकपेषिका, मणिपाली, पुरोहित, अनुचारक, अनुवाक, यजमान, होतृयजमान इति नरादिः ॥51॥

विभाजयितृ–विशसितुर्णीड्लुक् च ।। 6. 4. 52. ।।

आभ्यां षष्ठ्यन्ताभ्यां धर्म्येऽर्थेऽण् प्रत्ययो भवति तत्संनियोगे च विभाजयितुर्णिलुक् विशसितुश्चेट्लुक् भवति । विभाजयितुर्धर्म्यं वैभाजित्रम्, विशसितुर्वैशस्त्रम्, ।।52।।

*न्या०स०–विभा०–*विपूर्वो भजण्, ततो णिच् तृच् विभाजयितृ । णिलुकिति नन्वत्र इट्लोप एव विधीयतां किं णिलोपेन विभाजयितृ इत्यत्रापि इट्लोपे णिचा सस्वरत्वे वैभाजित्रमिति सिध्यति ? नैवं, णिलोपाभावे गुणः स्यात्, ततोऽनिष्टं रूपं स्यात्, णिलोपे तु इटो धातुत्वाभावात् गुणो न भवतीति सिध्यति ।

अवक्रये ।। 6. 4. 53. ।।

अवक्रीयते येनेच्छानियमितेन द्रव्येण कियन्तमपि कालमापणादि सोऽवक्रयः । भोमनिर्वेशो भाटकमिति यावत् । षष्ठ्यन्तान्नाम्नोऽवक्रयेऽर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । आपणस्यावक्रयः आपणिकः, शौल्कशालिकः, आतरिकः, गौल्मिकः, लोकपीडया धर्मातिक्रमेणापि अवक्रयो भवतीत्ययं धर्म्याद्भिद्यते ।।53।।

*न्या०स०–अवक्रये–*भोगनिर्वेश इति भूज्यते इति भोगो गृहादि, निर्विश्यते अनेन व्यञ्जनाद् घञि निर्वेशः, ततः षष्ठीसमासः । धर्माद्भिद्यते इति ततः ``षष्ठ्या धर्म्ये'' (6. 4. 50.) इत्यनेन न सिध्यतीति पृथग् योग इत्यर्थः ।

तदस्य पण्यम् ।। 6. 4. 54. ।।

तदिति प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति, तच्चेत् प्रथमान्तं पण्यं विक्रेयं भवति । अपूपाः पण्यमस्य आपूपिकः, पण्यार्थो वृत्तावन्तर्भूत इति पण्यशब्दस्याप्रयोगः । एवं शाष्कुलिकः, मौदकिकः, लावणिकः ।।54।।

किशरादेरिकट् ।। 6. 4. 55. ।।

किशर इत्येवमादिभ्यस्तदस्य पण्यमित्यस्मिन् विषये इकट्प्रत्ययो भवति, किशरादयो गन्धद्रव्यविशेषवचनाः । किशरं किशरो वा पण्यमस्य किशरिकः, किशरिकी स्त्री, तगरिकः, तगरिकी स्त्री । किशर, तगर, स्थगर, उशीर, हरिद्रा, हरिद्रु, हरिद्रुपर्णी, गुग्गुलु, गुग्गुल, नलदा । इति किशरादिः ।। टकारो ङ्यर्थः ।।55।।

शलालुनो वा ॥ 6. 4. 56. ॥

शलालुशब्दाद्गन्धविशेष–वाचिनस्तदस्य पण्यमित्यस्मिन् विषये इकट् प्रत्ययो भवति वा। शलालु पण्यमस्य शलालुकः, शलालुकी, पक्षे इकण्। शालालुकी ॥56॥

शिल्पम् ॥ 6. 4. 57. ॥

तदस्येति वर्तते, तदिति प्रथमान्तादस्येत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमान्तं तच्चेच्छिल्पं भवति। शिल्पं कौशलम् विज्ञानप्रकर्षः। अनेन तन्निर्वर्त्यः क्रियाविशेषो लक्ष्यते, नृत्तं शिल्पमस्य नार्तिकः। गीतं गैतिकः, वादनं वादनिकः, मृदङ्गो मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य मार्दङ्गिकः, । एव पाणविकः, मौरजिकः, वैणिकः मृदङ्गादिशब्दा वादनार्थवृत्तयः प्रत्ययमुत्पादयन्ति न द्रव्यवृत्तयः। उत्पादनार्थवृत्तिभ्य–स्त्वनभिधानान्न भवति। अत एव कुम्भकारादावभिधेये मृदङ्ग करणादिभ्य एव प्रत्ययः, मृदङ्गकरणं शिल्पमस्य मार्दङ्गकरणिकः, वैणाकरणिकः, मृदङ्गवादनादिभ्योऽप्यनभिधानान्न भवति। शिल्पार्थो वृत्तावन्तर्भूत इति शिल्पशब्दस्याप्रयोगः ॥57॥

न्या०स०–शिल्पं० मृदङ्गादिशब्दा इति आदिशब्दात् व्याकरणकरणादि शिल्पमस्येति वैयाकरणिकादयः। न द्रव्यवृत्तय इति द्रव्यस्य शिल्पायोगात्तद्विषयायाः क्रियायाः शिल्पत्वमिति वादनार्थवृत्तय इत्युक्तम्।

कुम्भकारादाविति केषुचिद्ग्रामेषु मृन्मया मृदङ्गा भवन्ति, तेषां कुम्भकारादुत्पत्तिः।

करणादिभ्य एवेति न तु मृदङ्गशब्दादित्यर्थः।

मड्डुक–झर्झराद् वाऽण् ॥ 6. 4. 58. ॥

मड्डुकझर्झर इत्येताभ्यां तदस्य शिल्पमित्येतस्मिन् विषये अण् प्रत्ययो वा भवति। मड्डुकवादनं शिल्पमस्य माड्डुकः, झार्झरः, पक्षे इकण् माड्डुकिकः। झार्झरिकः ॥58॥

शीलम् ॥ 6. 4. 59. ॥

तदिति प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमान्तं तच्चेच्छीलं भवति। शीलं प्राणिनां स्वभावः, फलनिरपेक्षा प्रवृत्तिरिति यावत्। अपूपा अपूपभक्षणं शीलमस्य आपूपिकः, शाष्कुलिकः, मौदकिकः, ताम्बूलिकः। परुषवचनं शीलमस्य पारुषिकः

एवमाक्रोशिकः। मृदङ्गादिवदपूपादयः शब्दाः क्रियावृत्तय प्रत्ययमुत्पादयन्ति। शीलार्थो वृत्तावन्तर्भूत इति शीलशब्दस्याप्रयोगः ॥59॥

अङ्स्थाच्छत्राऽऽदेरञ् ॥ 6. 4. 60. ॥

अङ्प्रत्ययान्तात्तिष्ठतेश्छत्र इत्यादिभ्यश्च तदस्य शील मित्यस्मिन् विषयेऽञ् प्रत्ययो भवति। आस्था शीलमस्य आस्थः, सांस्थः, आवस्थः, सामास्थः, वैयवस्थः, नैष्ठः, वैष्ठः, ``उपसर्गादातः'' (6. 3. 110.) इत्यङ्। आन्तस्थः। भिदादित्वादङ्। छत्रादि, छत्रं शीलमस्य छात्रः, छत्रशब्देन गुरुकार्येष्ववहितस्य शिष्यस्य छत्रक्रियातुल्या गुरुच्छिद्राच्छादनाऽपायरक्षणादिका क्रियोच्यते उपचारात्। शिष्यो हि छत्रवद् गुरुच्छिद्रावरणादिप्रवृत्तश्छात्र इत्युच्यते। अभ्यासापेक्षाऽपि क्रिया शीलमित्युच्यते। यथा शीलिता विद्येति। चुराशीलः चौरः, तपःशीलः तापसः, कर्मशीलः कार्मः, स्त्रियां छात्री चौरी तापसी। छत्र, चुरा, तपस्, कर्मन्, शिक्षा, चुक्षा, चिक्षा, भिक्षा, भक्षा, तितिक्षा, बुभुक्षा, विश्वधा, उदस्थान, उपस्थान, पुरोडा, कृषि, मन्द्र, सत्य, अनृत, विशिख, विशिखा, प्ररोह इति छत्रादिः ॥60॥

*न्या०स०–अङ्स्था०–*अङ्चासौ स्थाश्च, छत्रं आदिर्यस्य अङ्स्थाश्च छत्रादिश्च तस्मात्, अन्तर्मध्ये स्थानं भिदाद्यङि ``व्यत्यये लुग् वा'' (1. 3. 56.) इति इलोपः, अन्तस्थानं वा अन्तस्था शीलमस्य। अभ्यासापेक्षापीति शीलं हि प्राणिनां स्वभावः, छात्रस्य तु न स स्वभाव इत्याशङ्क्योक्तम्।

चुक्षेति चुक्षिः सौत्रो निर्मलीकरणे चुक्षा शौचं चिक्षेति केचित् शिक्षीत्यस्य स्थाने चिक्षीति पठन्ति धात्वन्तरं वा चिक्षिः, चिक्षा शिक्षेत्यर्थः।

तूष्णीकः ॥ 6. 4. 61. ॥

तूष्णीशब्दात्तदस्य शीलमित्यस्मिन्विषये कः प्रत्ययो मकारलोपश्च निपात्यते। तूष्णीभावः शीलमस्य तूष्णीकः ॥61॥

प्रहरणम् ॥ 6. 4. 62. ॥

तदिति प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति यतत्प्रथमान्तं तच्चेत्प्रहरणं भवति। असिः प्रहरणमस्य आसिकः, प्रासिकः, चाक्रिकः, मौष्टिकः, धानुष्कः, मौद्गरिकः, मौसलिकः। चरतीत्यत्र व्यापारसाधनात् प्रत्ययो यथा अश्वेन चरतीति। शिल्पमित्यत्र तु

विज्ञानातिशये यथा नृत्तं शिल्पमस्येति, अनेन तु व्यापाराभावेऽपि परिज्ञानमात्रे प्रत्ययः ।।62।।

न्या०स०–प्रह०–व्यापारसाधनादिति व्यापारश्चरणरूप साध्यते येन तस्मात्, अयमर्थः, चरत्यर्थे व्यापारं साधयन्नेव शब्दः प्रत्ययमुत्पादयति ।

व्यापाराभावेऽपीति प्रहरणस्य हि व्यापारः परप्रहरणरूपः, तस्याभावेऽपि प्रहरणाभावेऽपीत्यर्थः, विज्ञानातिशयश्च प्रहारवैचक्षण्यं तदभावेपि तन्मात्रेऽपीत्यर्थः ।

परश्वधाद् वाऽण् ।। 6. 4. 63. ।।

परश्वधशब्दात्तदस्य प्रहरणमित्यस्मिन्विषयेऽण् प्रत्ययो वा भवति । परश्वधः प्रहरणमस्य पारश्वधः, पक्षे इकण्-पारश्वधिकः ।।63।।

शक्ति–यष्टेष्टीकण् ।। 6. 4. 64. ।।

शक्ति यष्टि इत्येताभ्यां तदस्यप्रहरणमित्यस्मिन् विषये टीकण प्रत्ययो भवति । शक्तिः प्रहरणस्य शाक्तीकः, शाक्तीकी, याष्टीकः, याष्टीको, कथं शाक्तिकः ? शक्त्या जीवतीति वेतनादीकणा भविष्यति ।।64।।

न्या०स०–शक्ति०–ननु टिकणिति मात्रालघुः प्रत्ययो विधीयतां, एवमपि कृते शाक्तीकादयः सेत्स्यन्ति । न च वाच्यं, ``अवर्णेवर्णस्य'' (7. 4. 68.) इत्यस्य प्रसङ्गः, यतष्टकारो हि ङ्यर्थः, स तु इकण् द्वारा सिद्धः इत्यधिकस्य टकारस्यैतदेव फलं यत् ``अवर्णेवर्णस्य'' (7. 4. 68.) इति इलोपं बाधित्वा ``समानानाम्'' (1. 2. 1.) इति दीर्घेण टिकणि कृतेऽपि शाक्तीकादयो भवन्ति, परमुत्तरत्र आम्भसीक इति सिद्ध्यर्थं टीकण्करणम् ।

वेष्ट्यादिभ्यः ।। 6. 4. 65. ।।

इष्टि इत्येवमादिभ्यस्तदस्य प्रहरणमित्यस्मिन्विषये टीकण् वा भवति, पक्षे प्रहरणमितीकण् । इष्टिः प्रहरणमस्य ऐष्टीकः, ऐष्टीकी, ऐष्टिकः, ईषा प्रहरणमस्य ऐषीकः, ऐषीकी, ऐषिकः । कम्पनं प्रहरणमस्य काम्पनीकः, काम्पनीकी, काम्पनिकः, अम्भःप्रहरणः आम्भसीकः, आम्भसीकी, आम्भसिकः, दण्डप्रहरणः दाण्डीकः, दाण्डीकी, दाण्डिकः, इष्ट्यदयः प्रयोगगम्याः ।।65।।

नास्तिका—ऽऽस्तिक—दैष्टिकम् ॥ 6. 4. 66. ॥

एते शब्दास्तदस्येत्यस्मिन्विषये इकण्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते, निपातनं रूढ्यर्थम् । नास्ति परलोकः पुण्यं पापमिति वा मतिरस्य नास्तिकः, अस्ति परलोकः पुण्यं पापमिति वा मतिरस्य आस्तिकः, नास्त्यस्तिशब्दौ तिवादिप्रतिरूपके अव्यये । निपातनादेव वा तदिति प्रथमाधिकारेऽपि आख्यातान्नास्तीति पदसमुदायाच्च प्रत्ययः, दिष्टं दैवं तत्प्रमाणमिति मतिरस्य दिष्टा वा प्रमाणानुपातिनी मतिरस्य दैष्टिकः ॥66॥

*न्या०स०—नास्ति०—*अव्यये इति तयोश्च परतः प्रथमैकवचनम् ।

वृत्तोऽपपाठोऽनुयोगे ॥ 6. 4. 67. ॥

तदस्येति वर्तते । तदिति प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमान्तं तच्चेदनुयोगविषये वृतोऽपपाठो भवति, अनुयोगः परीक्षा । एकमन्यदपपाठोऽनुयोगे वृत्तमस्य ऐकान्यिकः, द्वैयन्यिकः, त्रैयन्यिकः, संख्यान्यशब्दयोस्तद्धिते विषयभूते समासः, ततस्तद्धितः । वृत्तोऽपपाठोऽनुयोग इत्यस्य तु वृत्तावन्तर्भावादप्रयोगः । अन्यत्वं चापपाठस्य सम्यक्पाठापेक्षम् । वृत्त इति किम् ? वर्तमाने वर्त्स्यति च न भवति । अपपाठ इति किम् ? एकमन्यदस्य दुःखमनुयोगे वृत्तम्, जयोऽनुयोगे वृत्तः । अनुयोग इति किम् ? स्वैराध्ययने माभूत् । अन्ये त्वपपाठादन्यत्राप्यध्ययनमात्रे प्रत्ययमिच्छति, एकं रूपमध्ययने वृत्तमस्य ऐकरूपिकः, ऐकग्रिन्थकः ॥67॥

बहुस्वरपूर्वादिकः ॥ 6. 4. 68. ॥

बहुस्वरं पूर्वपदं यस्य तस्मान्नाम्नः प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे इकः प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमान्तं तच्चेद्वृत्तोपपाठोऽनुयोगे भवति । एकादशान्यान्य—पपाठरूपाण्यनुयोगेऽस्य वृत्तानि एकादशान्यिकः, एकादशान्यिका स्त्री, द्वादशान्यिकः, द्वादशान्यिका स्त्री । त्रयोदशान्यिकः, त्रयोदशान्यिका, चतुर्दशान्यिकः । चतुर्दशान्यिका, अत्राप्यन्ये पूर्ववदन्यत्रापीच्छन्ति । द्वादश रूपाण्यध्ययने वृत्तान्यस्य द्वादशरूपिकः ॥68॥

भक्ष्यं हितमस्मै ॥ 6. 4. 69. ॥

तदिति वर्तते । तदिति प्रथमान्तादस्मै इति चतुर्थ्यर्थ इकण् प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमान्तं

तच्चेद्भक्ष्यं हितं भवति। अपूपा भक्ष्यं हितमस्मै आपूपिकः, शाष्कुलिकः, मौदकिकः, गौडधानिकः। भक्ष्यमिति किम् ? देवदत्तो हितोऽस्मै। हितमिति किम् ? अपूपा भक्ष्यमहितमस्मै। हितार्थो भक्षणक्रिया च तद्धितवृत्तावेवान्तर्भवति ॥69॥

*न्या०स०—भक्ष्यं०—*अथास्येत्यनुवर्त्तमानस्य हितमित्येतद्योगेऽर्थवशात् ``हितसुखाभ्याम्'' (2. 2. 65.) इति चतुर्थीपरिणामेनास्मायिति लभ्यते इति किमर्थमस्योपादानम् ?

सत्यं, उत्तरार्थत्वाददोषः, उत्तरत्र हि नियुक्तं दीयते इति षष्ठ्यन्तस्यापि संबन्धोपपत्तेरस्मै इति न लभ्यते इति संप्रदानप्रतिपत्त्यर्थ, अस्मायिति कर्त्तव्यं तदुत्तरार्थं सदिह सूत्रेऽपि विभक्तिपरिणाम—क्लेशमन्तरेण सोऽर्थः प्रतीयते इति क्रियते।

नियुक्तं दीयते ॥ 6. 4. 70. ॥

तदिति अस्मै इति च वर्तते, तदिति प्रथमान्तादस्मै इति चतुर्थ्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमान्तं तच्चेन्नियुक्तमव्यभिचारेण नित्यं वा दीयते। अग्रभोजनमस्मै नियुक्तं दीयते आग्रभोजनिकः, आग्रफलिकः, मांसिकः, आपूपिकः, शाष्कुलिकः, ग्रामिकः, आग्रहारिकः, अस्मै इत्येव। रजकस्य वस्त्रं नित्यं दीयते-अर्प्यते इत्यर्थः ॥70॥

श्राणा—मांसौदनादिको वा ॥ 6. 4. 71. ॥

श्राणामांसौदन इत्येताभ्यां तदस्मै नियुक्तं दीयत इत्यस्मिन् विषये इकः प्रत्ययो वा भवति। श्राणा नियुक्तमस्मै दीयते श्राणिकः पथ्याशी श्राणिका, मांसौदनिकः, मांसौदनिका, पक्षे इकण्। श्राणिकी, मांसौदनिकी। इकेकणोः स्त्रियां विशेषः। अन्ये त्विकं नेच्छन्ति ॥71॥

भक्तौदनाद्वाऽणिकट् ॥ 6. 4. 72. ॥

भक्त ओदन इत्येताभ्यां यथासंख्यमण् इकट् प्रत्ययौ वा भवतः तदस्मै नियुक्तं दीयते इत्यस्मिन्विषये। भक्तमस्मै नियुक्तं दीयते भाक्तः। ओदनिकः। ओदनिकी पक्षे इकण्। भाक्तिकः, औदनिकः—ओदनशब्दादिकणं नेच्छन्त्यन्ये ॥72॥

नवयज्ञादयोऽस्मिन् वर्तन्ते ॥ 6. 4. 73. ॥

नवयज्ञादिभ्यः प्रथमान्तेभ्यो वर्तन्त इत्येवमुपाधिभ्योऽस्मिन्निति सप्तम्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति, नवा यज्ञा अस्मिन्वर्तन्ते नावयज्ञिकः। पाकयज्ञिकः, नवयज्ञादयः प्रयोगगम्याः ॥73॥

तत्र नियुक्ते ॥ 6. 4. 74. ॥

तत्रेति सप्तम्यन्तान्नियुक्तेऽर्थे इकण् प्रत्ययो भवति, नियुक्तोऽधिकृतो व्यापारित इत्यर्थः पूर्वकस्य नियुक्तमित्यस्य क्रियाविशेषणरूपस्याव्यभिचारो नित्यमिति चार्थः । प्रत्ययार्थश्चायम्, स तु प्रकृत्यर्थोपाधिः । शुल्कशालायां नियुक्तः शौल्कशालिकः, आपणिकः, आतरिकः, दौवारिकः, आक्षपटलिकः ।74।

अगारान्तादिकः ॥ 6. 4. 75. ॥

अगारान्तात्तत्र नियुक्तेऽर्थे इकः प्रत्ययो भवति । देवागारिकः, देवागारिका, भाण्डागारिकः, भाण्डागारिका, आयुधागारिकः, आयुधागारिका, कोष्ठागारिकः, कोष्ठागारिका ।75।

अदेश–कालादध्यायिनि ॥ 6. 4. 76. ॥

तत्रेति वर्तते । अध्ययनस्य यौ प्रतिषिद्धौ देशकालौ तावदेशकालौ । तद्वाचिनः सप्तम्यन्तादध्यायिन्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति, अदेश, अशुचावध्यायी आशुचिकः । श्मशानेऽध्यायी श्माशानिकः, श्माशानाभ्यासिकः, अकालः, सान्ध्यिकः, औत्पातिकः, आनध्यायिकः । अदेशकालादिति किम् ? स्वाध्याभूमावध्यायी, पूर्वाह्णेऽध्यायी ॥76॥

*न्या०स०–अदेश०–*अध्ययनस्येति अध्यायिनश्च देशकालावेवाधारौ भवतः ताभ्यामन्यत्राध्येतुमशक्यत्वात्, तत्र देशकालयोराधाराभावेन प्रतिषिद्धयोः क्वान्यत्राध्यायी अधीयीतेति विरोधमाशङ्क्याह-अध्ययनस्येति एतेन प्रतिषिद्धदेशवाचकात् प्रतिषिद्धकालवाचकाच्च सप्तम्यन्तादध्येतरि प्रत्ययः ।

निकटादिषु वसति ॥ 6. 4. 77. ॥

निकटादिभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यो वसत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । निकटे वसति नैकटिकः, आरण्यकेन भिक्षुणा ग्रामात्क्रोशे वस्तव्यमिति यस्य शास्त्रितो वासः स एवोच्यते । एतदर्थ एव च तत्रेत्यधिकारे सप्तमीनिर्देशः । वृक्षमूले वसति वार्क्षमूलिकः, श्माशानिकः, आभ्यवकाशिकः, आवसथिकः, निकटादयः प्रयोगगम्याः ॥77॥

सतीर्थ्यः ॥ 6. 4. 78. ॥

सतीर्थ्य इति समानतीर्थशब्दात्तत्र वसत्यर्थे यः प्रत्ययो निपात्यते समानशब्दस्य च सभावः, समानतीर्थे वसति सतीर्थ्यः । तीर्थमिह गुरुरुच्यते । 78।

प्रस्तार–संस्थान–तदन्त–कठिनान्तेभ्यो व्यवहरति॥ 6. 4. 79. ॥

प्रस्तारसंस्थान इत्येताभ्यां प्रस्तारान्तात् संस्थानान्तात् कठिनान्ताच्च व्यवहरत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । व्यवहरतिरिह क्रियातत्त्वे क्रियाया अविपरीतस्वभावे, यथा लौकिको व्यवहार इत्यत्र, प्रस्तारे व्यवहरति प्रास्तारिकः, सांस्थानिकः, तदन्त, कांस्यप्रस्तारिकः । लौहप्रस्तारिकः, गौसंस्थानिकः, आश्वसंस्थानिकः, कठिनान्त, वांशकठिनिकः, वार्ध्रकठिनिकः, कठिनं तापसभाजनं पीठं वा । बहुवचनं कठिनान्तेति स्वरूपग्रहणव्युदासार्थम् रूढ्यर्थं च, प्रस्तारसंस्थानाभ्यां तदन्ताभ्यां केचिन्नेच्छन्ति ॥79॥

*न्या०स०–प्रस्ता०–*व्यवहरतिरिति व्यवहरतिरयमस्ति विनिमये, यथा शतं व्यवहरति शतस्य व्यवहरति इति, अस्ति विवादे, यथा व्यवहारे पराजित इति, अस्ति विक्षेपे, यथा शलाकां व्यवहरति, अस्ति क्रियातत्त्वे, यथा लौकिको व्यवहार इति, तत्रेह क्रियातत्त्वे वर्त्तमान आश्रीयते, क्रियायास्तत्त्वमविपरीतः स्वभावः, यथेत्यादिनाऽत्रैव व्यवहरति निदर्शयति, अस्यत्वर्थस्य ग्रहणे हेतुः, प्रत्ययान्तादविपरीतस्वरूपक्रियानुष्ठातुः प्रतिपत्तिः ।

रुढ्यर्थं चेति रूढिश्च तापसभाजनेत्यादि तेन कठिने कठोरे न ।

संख्यादेश्चाऽऽर्हदलुचः ॥ 6. 4. 80. ॥

आ अर्हदर्थादित ऊर्ध्वं या प्रकृतिरुपादास्यते तस्याः केवलायास्तदन्तायाश्च संख्यापूर्वाया वक्ष्यमाणः प्रत्ययो भवतीति वेदितव्यम् न चेत्सा लुगन्ता भवति । चन्द्रायणं चरति चान्द्रायणिकः, द्वे चन्द्रायणे चरति द्वैचन्द्रायणिकः, पारायणमधीते पारायणिकः, द्वे पारायणे अधीते द्वैपारायणिकः संख्यादेरिति किम् ? परमपारायणमधीते, महापारायणमधीते, चकारः केवलार्थः । आर्हत इत्यत्राकारोऽभिविधौ, तेनार्हदर्थेऽपि भवति । द्वे सहस्रे द्विसहस्रं वार्हति द्विसाहस्रः । अलुच इति किम् ? द्वाभ्यां शूर्पाभ्यां क्रीतं द्विशूर्पम्, अत्र ''शूर्पाद्वाञ'' (6. 4. 137.) इत्यञ् । ''अनाम्न्यद्विः प्लुप्'' (6. 4. 141.) इति लुप् । द्विशूर्पेण क्रीतं द्विशौर्पिकम् । त्रिशौर्पिकम् । पुनरपि ''शूर्पाद्वाञ'' (6. 4. 137.) इत्यञ् न भवति ॥80॥

*न्या०स०–संख्या०–*द्वैचन्द्रायणिक इति ``द्विगोरनपत्ये'' (6. 1. 24.) इत्यनेन न लुप्, प्राग्जितीयेऽर्थे तस्य विधानात्, ``अनाम्न्यद्विः'' (6. 4. 141.) इत्यपि न यतोऽनाम्न्येति सूत्रेणास्मादेव सूत्रात् येऽर्थास्तमर्हतीति यावत् तेष्वेव लुप् न त्वेषु तेन नात्र लुप् ।

गोदानादीनां ब्रह्मचर्ये ।। 6. 4. 81. ।।

गोदानादिभ्यो निर्देशात् षष्ठ्यन्तेभ्यो ब्रह्मचर्येऽभिधेये इकण प्रत्ययो भवति । गोदानस्य ब्रह्मचर्यं गौदानिकम्, आदित्यव्रतानामादित्यव्रतिकम्, महानाम्नीनां माहानाम्निकम् । गोदानादयः प्रयोगगम्याः, येभ्योऽस्मिन्नर्थे इकण् दृश्यते ते गोदानादयः ।।81।।

*न्या०स०–गोदा०–*गोदानस्येति गाव इति लोम्नामाख्या गवां लोम्नां दानं लवनं वपनमित्यर्थः, यावत् गोदानं न करोति तावद् ब्रह्मचर्यमित्यर्थः ।

चन्द्रायणं च चरति ।। 6. 4. 82. ।।

चन्द्रायणशब्दान्निर्देशादेव द्वितीयान्ताद्गोदानादिभ्यश्चार्थात् द्वितीयान्तेभ्यश्चरत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । चन्द्रायणं चरति चान्द्रायणिकः, गोदानं चरति गौदानिकः, आदित्यव्रतिकः, महानाम्न्यो नाम ऋचः । तत्साहचर्यात्तासां व्रतमपि महानाम्न्यः, महानाम्नीव्रतं चरति माहानाम्निकः ।।82।।

देवव्रतादीन् डिन् ।। 6. 4. 83. ।।

देवव्रतादिभ्यो निर्देशादेव द्वितीयान्तेभ्यश्चरत्यर्थे डिन् प्रत्ययो भवति । देवव्रतं चरति देवव्रती, तिलव्रती, अवान्तरदीक्षी, महाव्रती, देवव्रतादयः प्रयोगगम्याः । डित्करणमुत्तरत्रान्त्यस्वरादिलोपार्थम् ।।83।।

डकश्चाष्टाचत्वारिंशतं वर्षाणाम् ।। 6. 4. 84. ।।

वर्षाणां संबन्धिनोऽष्टाचत्वारिंशच्छब्दाद्व्रतवृत्तेर्निर्देशादेव द्वितीयान्ताच्चरत्यर्थे डकश्चकाराड्डिन् च प्रत्ययो भवति । अष्टाचत्वारिंशद्वर्षसहितं व्रतमष्टाचत्वारिंशत् तच्चरति अष्टाचत्वारिंशकः, अष्टाचत्वारिंशी ।।84।।

चातुर्मास्यं तौ यलुक् च ॥ 6. 4. 85. ॥

चातुर्मास्यशब्दाद्व्रतवृत्तेर्निर्देशादेव द्वितीयान्ताच्चरत्यर्थे तौ डकडिनौ प्रत्ययौ यलोपश्च भवति। चतुर्षु मासेषु भवानि ``यज्ञे ञ्यः'' (6. 3. 133.) इति ञ्यः चातुर्मास्यानि नाम यज्ञाः, तत्सहचरितानि व्रतानि चातुर्मास्यानि तानि चरति चातुर्मासकः चातुर्मासी ॥85॥

क्रोश–योजनपूर्वाच्छताद् योजनाच्चाऽभिगमार्हे ॥ 6. 4. 86. ॥

क्राशशब्दपूर्वाद्यो जनशब्दपूर्वाच्च शताद्योजन शब्दाच्च निर्देशादेव पञ्चम्यन्तादभिगमार्हेऽर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । क्रोशशतादभिगमनमर्हति क्रौशशतिको मुनिः, यौजनशतिको मुनिः, यौजनिकः साधुः ॥86॥

तद्यात्येभ्यः ॥ 6. 4. 87. ॥

तदिति द्वितीयान्तेभ्य एभ्यः क्रोशशत योजनशत योजन इत्येतेभ्यो याति गच्छत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति। कोशशतं याति क्रौशशतिकः, यौजनशतिकः, यौजनिको दूतः। एभ्य इति किम् ? नगरं याति चैत्रः ॥87॥

पथ इकट् ॥ 6. 4. 88. ॥

पथिन्शब्दात्तदिति द्वितीयान्ताद्यात्यर्थे इकट् प्रत्ययो भवति । पन्थानं याति पथिकः पथिकी स्त्री, टकारो ङ्यर्थः । द्वौ पन्थानौ याति द्विपथिकः, द्विपथिकी स्त्री, कटमकृत्वा इकङ्वचनं परस्वात्समासान्ते कृतेऽपि यथा स्यादित्येवमर्थम् ॥88॥

नित्यं णः पन्थश्च ॥ 6. 4. 89. ॥

नित्यमिति प्रत्यायार्थविशेषणम् । पथिन्शब्दाद्द्वितीयान्तान्नित्यं यात्यर्थे णः प्रत्ययो भवति पथिन्शब्दस्य च पन्थादेशः । पन्थानं नित्यं याति पान्थः, पान्था स्त्री, द्वौ पन्थानौ नित्यं याति द्वैपन्थः, द्वैपन्था स्त्री । नित्यमिति किम् ? पथिकः ॥89॥

शङ्कूत्तर–कान्तारा–ऽज–वारि–स्थल–जङ्गलादेस्तेनाऽऽहृते च ॥ 6. 4. 90. ॥

शङ्कु उत्तर कान्तार अज वारि स्थल जङ्गल इत्येतत्पूर्वपदात् पथिन्नन्तात्तेनेति तृतीयान्तादाहृते यातिचार्थे इकण् प्रत्ययो भवति, शङ्कुपथेनाहृतो याति वा शाङ्कुपथिकः, औत्तरपथिकः, कान्तारपथिकः, आजपथिकः । वारिपथिकः, स्थालपथिकः, जाङ्गलपथिकः ।।90।।

स्थलादेर्मधुक–मरिचेऽण् ।। 6. 4. 91. ।।

स्थलपूर्वपदात्पथिन्नन्तात्तृतीयान्तादाहृतेऽर्थेऽञ् प्रत्ययो भवति तच्चेदाहृतं मधुकं मरिचं वा भवति स्थलपथेनाहृतं मधुकं मरिचं वा स्थाळपथम् । मधुकमरिच इति किम् ? स्थालपथिकमन्यत् ।।91।।

तुरायण–पारायणं यजमाना–ऽधीयाने ।। 6. 4. 92. ।।

आभ्यां निर्देशादेव द्वितीयान्ताभ्यां यथासंख्यं यजमानेऽधीयाने चार्थे इकण् प्रत्ययो भवति । तुरायणं नाम यज्ञस्तं यजते तौरायणिकः, पारायणमधीते पारायणिकः ।।92।।

संशयं प्राप्ते ज्ञेये ।। 6. 4. 93. ।।

संशयमिति द्वितीयान्तात्प्राप्तेऽर्थे इकण् प्रत्ययो भवति स चेत्प्राप्तोऽर्थो ज्ञेयो भवति । संशयं प्राप्तः सांशयिकः, सांशयिकोऽयमूर्ध्वो न जाने स्थाणुरुत पुरुष इति, सांशयिकश्चैत्रो न जाने जीवति उत मृत इति । ज्ञेय इति किम् ? संशयितरि माभूत्, सोऽपि हि संशयं प्राप्तो भवति, तस्य तत्र भावात् ।।93।।

तस्मै योगादेः शक्ते ।। 6. 4. 94 .।।

योगादिभ्यस्तस्मै इति चतुर्थ्यन्तेभ्यः शक्तेऽर्थे इकण प्रत्ययो भवति । योगाय शक्तः यौगिकः, सांतापिकः योग, सन्ताप, सन्नाह, संग्राम, संयोग, संपराय, संघात, संपाद, संपादन, संक्रम, संपेष, संवेश, संमोदन, निष्पेष, निःसर्ग, निर्घोष, निसर्ग, विसर्ग, उपसर्ग, प्रवास, उपवास, सक्तु, मांस, ओदन, मांसौदन, सक्तुमांसौदन इति योगादिः ।।94।।

योग–कर्मभ्यां योकञौ ।। 6. 4. 95. ।।

आभ्यां चतुर्थ्यन्ताभ्यां शक्तेऽर्थे यथाक्रमं य उकञ् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः । योगाय शक्तः योग्यः । कर्मणे शक्तं कार्मुकम् । एवं योगशब्दस्य द्वैरूप्यम् ।।95।।

यज्ञानां दक्षिणायाम् ।। 6. 4. 96. ।।

यज्ञवाचिभ्यो निर्देशादेव षष्ठ्यन्तेभ्यो दक्षिणायामर्थे इकण् प्रत्ययो भवति, यज्ञकर्मकृतां वेतनादानं दक्षिणा । अग्निष्टोमस्य दक्षिणा आग्निष्टोमिकी, वाजपेयिकी राजसूयिकी, नावयज्ञिकी, पाञ्चौदनिकी ऐकादशाहिकी, द्वादशाहिकी, द्वैवाजपेयिकी, बहुवचनं स्वरूपविधेर्व्युदासार्थम् ।।96।।

*न्या०स०–यज्ञा०–*नावयज्ञिकी इति नवानां यज्ञानां दक्षिणा तद्धितविषये सः ।

पाञ्चौदनिकीति पञ्चसु ओदनेषु भवः अण्, तस्य लुप्, पञ्चौदनस्य दक्षिणा । ऐकादशाहिकीति एकादशानामह्नां समाहारः, ``द्विगोरन्नह्नः'' (7. 3. 99.) इत्यट्, एकादशाहेन निर्वर्त्यो यागोप्येकादशाहः, तस्य दक्षिणा ।

द्वैवाजपेयिकीति द्वयोर्वाजपेययोर्दक्षिणा इति तद्धितविषये द्विगुः ।

तेषु देये ।। 6. 4. 97. ।।

यज्ञवाचिभ्यस्तेष्विति निर्देशादेव सप्तम्यन्तेभ्यो देयेऽर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । अग्निष्टोमे देयम् अग्निष्टोमिकम् । वाजपेयिकं भक्तम् ।।97।।

*न्या०स०–*तेषु०–ननु यदग्निष्टोमे देयं तदग्निष्टोमे भवति, तत्र ``ऋगृद्द्विस्वरयागेभ्यः'' (6. 3. 144.) इतीकण् भविष्यति किमर्थमिदं वचनम् ? उच्यते, तत्र ``तस्य व्याख्याने च'' (6. 3. 142.) इत्यतो ग्रन्थादित्यधिकृतेऽग्निष्टोमादिविधायके ग्रन्थे वर्त्तमानादग्निष्टोमादेरिकण् विहितः, इह त्वर्थात्मन इति विषयभेदः, किं च द्वयोर्वाजपेययोर्देयं द्वैवाजपेयिकमिति इकण् न स्यात्, अत्र तु ``संख्यादेश्च'' (6. 4. 80.) इति भवति, देयत्वं च प्रत्ययार्थो यथा स्यादिति वचनम् ।

काले कार्ये च भववत् ।। 6. 4. 98. ।।

कालवाचिनो निर्देशादेव सप्तम्यन्तादेये कार्ये चार्थे भववत् प्रत्यया भवन्ति, यकाभ्यः प्रकृतिभ्यो येन विशेषेण ये प्रत्यया भवेऽर्थे भवन्ति ताभ्यः प्रकृतिभ्यस्तेन विशेषेण कार्ये देये चार्थे ते प्रत्यया भवन्ति । वद्धि सर्वसादृश्यार्थः । यथा वर्षासु भवं वार्षिकम्, मासिकम्, शारदिकम्, श्राद्धं कर्म शारदिकः शारदो वा रोग आतपो वा नेशं नैशिकम्, प्रादोषं प्रादोषिकम्, शौवस्तिकम्, चिरत्नम्, परुत्नम्, पुराणम्, पूर्वाह्नेतनम्, सायंतनम्, चिरन्तनम्, पौषम्,

शैशिरम्, सान्ध्यम्, सांवत्सरम् फलं पर्व वा हैमन्तम्, हैमनम्, प्रावृषेण्यमिति भवति एवं वर्षासु देयं कार्यं वा वार्षिकम् मासिकमित्यादि भवति, प्रत्ययस्य भावोऽत्रातिदिश्यते नाभाव इति द्विगोः परस्य लुप् न भवति । द्वयोर्मासयोर्देयं कार्यं वा द्वैमासिकम्, त्रैमासिकम् ।।98।।

व्युष्टादिष्वण् ।। 6. 4. 99. ।।

व्युष्टादिभ्यो निर्देशादेव सप्तम्यन्तेभ्यो देये कार्ये चार्थेऽण् प्रत्ययो भवति । व्युष्टे देय कार्यं वा वैयुष्टम्, नेत्यम् । व्युष्टसाहचर्यान्नित्यशब्दः कालवाची गृह्यते ततः सप्तम्यपवादेन ``कालाध्वनोर्व्याप्तौ'' (2. 2. 42.) इत्यनेन द्वितीयाविधानात् नित्यं देयं कार्यं वेति द्वितीयान्तादेव प्रत्ययः,—अन्ये तु सप्तम्यन्तादपीच्छन्ति । नित्ये विषुवति षड्भिश्चराचरैर्मुहूर्तैरनाक्रम्यमाणे देयं कार्यं वा नैत्यम्, व्युष्ट नित्य निष्क्रमण प्रवेशन तीर्थ संग्राम संघात अग्निपद पीलुमूल प्रवास उपवास । इति व्युष्टादिः । बहुवचनादाकृतिगणोऽयम् ।।99।।

*न्या०स०—व्युष्टा०—*विषुवतीति विषुर्नाम मुहूर्तः, सोऽस्यास्ति विषुवत्, समरात्रिंदिवः कालः पुंनपुंसकः, यद्वैजयन्ती `पुरीतत् महिमा हेम, विषुवत् कर्म्मलोभदोः' नृषण्ढलिङ्गाः ।

यथाकथाचाण्णः ।। 6. 4. 100. ।।

यथाकथाचशब्दोऽव्ययसमुदायोऽनादरेणेत्यर्थे वर्तते तस्माद्देये कार्ये चार्थे णः प्रत्ययो भवति । यथाकथाच दीयते याथाकथाचाम्, याथाकथाचा दक्षिणा ।।100।।

तेन हस्ताद् यः ।। 6. 4. 101. ।।

तेनेति तृतीयान्ताद्धस्तशब्दाद्देये कार्ये चार्थे यः प्रत्ययो भवति । हस्तेन देयं कार्यं वा हस्त्यम् ।।101।।

शोभमाने ।। 6. 4. 102. ।।

तेनेति तृतीयान्ताच्छोभमानेऽर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । कर्णवेष्टकाभ्यां शोभते कार्णवेष्टकिकं मुखम् । एवं वास्त्रयुगिकं शरीरम् । औपानहिकौ पादौ । असमर्थनञ्समासोऽप्यस्मिन्विषये भवति । कर्णवेष्टकाभ्यां न शोभते अकार्णवेष्टकिकम्, अवास्त्रयुगिकम् ।।102।।

*न्या०स०—शोभ०—*कर्णवेष्टकाभ्यामिति कर्णौ वेष्टते ``कर्म्मणोऽण्'' (5. 1. 72.),

तावेव कर्णवेष्टकौ ताभ्यां, अथवा वेष्टेते णकः वेष्टकौ कर्णयोर्वेष्टकौ ताभ्याम् ।

असमर्थेति अत्र हि नञ् शोभमाने इत्यनेन संबद्धत्वादसमर्थः, तत्समासोऽपि गमकत्वाद-भिधानाद् भवतीत्यर्थः ।

अकार्णवेष्टकिकमिति इकणमानीय पश्चान्नञ्समासः ।

कर्म–वेषाद् यः ।। 6. 4. 103. ।।

कर्मन् वेष इत्येताभ्यां तृतीयान्ताभ्यां शोभमानेऽर्थे यः प्रत्ययो भवति । कर्मणा शोभते कर्मण्यं शौर्यम् । वेषेण शोभते वेष्यो नटः । पूर्ववन्नञ्समासो भवति । अकर्मण्यः, अवेष्यः । केचिद्वेषस्थाने वेशं पठन्ति, वेश्या नर्तकी ।।103।।

कालात्परिजय्य–लभ्य–कार्य–सुकरे ।। 6. 4. 104. ।।

कालविशेषवाचिनः शब्दात्तेनेति तृतीयान्तात्परिजय्ये लभ्ये कार्ये सुकरे चार्थे इकण् प्रत्ययो भवति । परितो जेतुं शक्यं परिजय्यम्, शक्ते कृत्यः, लभ्यकार्ययोः शक्तेऽर्हे वा । अकृच्छ्रेण क्रियते यत्तत्सुकरम् । मासेन परिजय्यो मासिको व्याधिः, आर्धमासिकः, सांवत्सरिकः, मासेन लभ्यो मासिकः पटः, मासेन कार्यं मासिकं चान्द्रायणम्, मासेन सुकरः मासिकः प्रमादः । कालादिति किम् ? चैत्रेण परिजय्यम् ।।104।।

निर्वृत्ते ।। 6. 4. 105. ।।

तेनेति कालादिति च वर्तते, कालवाचिनस्तृतीयान्तान्निर्वृत्तेऽर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । अह्ना निर्वृत्तमाह्निकम्, मासिकम्, आर्धमासिकम्, सांवत्सरिकम्, योगविभाग उत्तरत्रास्या-नुवृत्त्यर्थः ।105।

*न्या०स०–निर्वृत्ते–*अत्र सूत्रेऽन्ये कालादिति न मन्यन्ते तन्मते तात्त्विका ऐर्यापिथिकी-त्यादयः स्वमते ``प्रयोजनम्'' (6. 4. 117.) इत्यनेन सिद्धाः ।

तं भावि–भूते ।। 6. 4. 106. ।।

कालादिति वर्तते, तमिति द्वितीयान्तात्कालवाचिनो भाविनि भूते चार्थे इकण् प्रत्ययो भवति । स्वसत्तया व्याप्स्यमानकालो भावी, व्याप्तकालो भूतः । मासं भावी मासिक उत्सवः,

मासं भूतो मासिको व्याधिः ।।106।।

*न्या०स०–तं भा०–*व्याप्यस्यमानेति व्याप्स्यमानः कालो येन भाविना उत्सवेन स व्याप्स्यमानः कालो भावी । व्याप्तकाल इति अत्रापि स्वसत्तयेत्यपेक्ष्यते, ततश्च भूतभाविनोऽर्थस्य स्वया सत्तया व्याप्स्यमानः कालो येन भूतभाविनाऽर्थेन स तथोक्तः, इह काल इति यः काले वर्त्तते ततः प्रत्ययः उत काल एव वर्त्तते, कालान्न व्यभिचरति ततः प्रत्ययः । किंचातः यदि काले यो वर्त्तते ततः प्रत्ययो रमणीयं वर्षं भूतः शोभनं वर्षं भूत इति रमणीयादेरपि प्राप्नोति, यदा यः काल एव वर्त्तते ततः प्रत्ययः तदा षष्टिं वर्षाणि भूतो षाष्टिकः द्विषष्टिं वर्षाणि भूतो द्विषाष्टिकः साप्ततिको द्विसाप्ततिक इति न स्यात्, तत्र संख्यायाः कालवृत्तेः प्रत्ययो वक्तव्यः ?

उच्यते, यः काले वर्त्तते ततः प्रत्ययः तेन षाष्टिक इत्यादौ कालवृत्तेः संख्याया प्रत्ययः सिद्धो भवति, रमणीयं वा भूत इत्यादौ त्वनभिधानान्न भवति ।

तस्मै भृता–ऽधीष्टे च ।। 6. 4. 107. ।।

कालादिति वर्त्तते, तस्मै इति तादर्थ्यचतुर्थ्यन्तात्कालवाचिनो भृतेऽधीष्टे चार्थे इकण् प्रत्ययो भवति । भृतो वेतनेन क्रीतः, अधीष्टः सत्कृत्य व्यापारितः, मासाय भृतः मासिकः कर्मकरः, मासं कर्मणे भृत इत्यर्थः । मासायाधीष्टो मासिक उपाध्यायः । मासमध्यापनायाधीष्ट इत्यर्थः । एवं वार्षिकः, सांवत्सरिकः, चकारस्तेन निर्वृत्ते तं भाविभूते तस्मै भृताधीष्टे चेति सूत्रत्रयस्याप्युत्तरत्रानुवृत्त्यर्थः ।107।

षण्मासादवयसि ण्येकौ ।। 6. 4. 108. ।।

षण्मासशब्दात्कालवाचिनस्तेन निर्वृत्ते तं भाविभूते तस्मै भृताधीष्टे चेत्यस्मिन्विषयेऽवयसि गम्यमाने ण्य इक इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः, षड्भिर्मासैर्निर्वृत्तः षण्मासान् भावी भूतो वा षण्मासेभ्यो भृतोऽधीष्टो वा षाण्मास्यः, षण्मासिकः । अवयमीति किम् ? षण्मासान् भूतः षण्मास्यः, ''षण्मासाद्ययणिकण्'' (6. 4. 115.) इति यः ।।108।।

समाया ईनः ।। 6. 4. 109. ।।

समाशब्दात्तेन निर्वृत्त इत्यादिपञ्चकविषय ईनः प्रत्ययो भवति, समया निर्वृत्तः समा भूतो भावी वा समायै भृतोऽधीष्टो वा समीनः ।।109।।

रात्र्यहः—संवत्सराच्च द्विगोर्वा ॥ 6. 4. 110. ॥

रात्रि अहन् संवत्सर इत्येतदन्तात्समाशब्दान्ताच्च द्विगोस्तेन निर्वृत्त इत्यादिपञ्चकविषये ईनः प्रत्ययो वा भवति । द्वाभ्यां रात्रिभ्यां निर्वृत्तो द्वे रात्री भूतो भावी वा द्वाभ्यां रात्रिभ्यां भूतोऽधीष्टो वा द्विरात्रीणः, त्रिरात्रीणः, एवं द्व्यहीनः, द्विसंवत्सरीणः, द्विसमीनः, पक्षे इकण् द्वैरात्रिकः, द्वैयह्निकः, द्वैयहिक इति तु द्व्यहशब्दात्समाहारद्विगोरिकणि भवति । द्विसांवत्सरिकः, ``मानसंवत्सरस्य'' (7. 4. 19.) इत्यादिनोत्तरपदवृद्धिः । द्वैसमिकः, रात्र्यन्तादहरन्ताच्च परमपि समासान्तं बाधित्वा अनवकाशत्वादीन एव भवति तथा च समासान्तसंनियोगे उच्यमानः ``सर्वांशसंख्याव्ययात्'' (7. 3. 118.) इत्यह्नादेशो न भवति । समान्तात्पूर्वेण नित्ये प्राप्ते शेषेभ्योऽप्राप्ते विकल्पः ॥110॥

*न्या०स०—रात्र्य०—*समासान्तं बाधित्वेति । रात्रिशब्दात् ``संख्यातैक'' (7. 3. 119.) इत्यनेन प्राप्तं, अह्नस्तु ``सर्वांश'' (7. 3. 118.) इत्यनेन । अनवकाशत्वादिति अन्यथा रात्र्यन्ताहरन्ता- भावान्न भवति, एकदेशेत्यपि नोपतिष्ठते न्यायानामनित्यत्वात् ।

वर्षादश्च वा ॥ 6. 4. 111. ॥

वर्षशब्दो यः कालवाची तदन्ताद्द्विगोस्तेन निर्वृत्त इत्यादिपञ्चकविषयेऽकारश्चकारादीनश्च वा भवति, पक्षे इकण्, एवं च त्रैरूप्यं भवति । द्वाभ्यां वर्षाभ्यां निर्वृत्तो द्वौ वर्षौ द्वे वर्षे वा भूतो भावी वा द्वाभ्यां वर्षाभ्यां भृतोऽधीष्टो वा द्विवर्षः, द्विवर्षीणः, द्विवार्षिकः, त्रिवर्षः, त्रिवर्षीणः, त्रिवार्षिकः । ``संख्याधिकाभ्यां वर्षस्याभाविनि'' (7. 4. 18.) इत्युरपदवृद्धिः । भाविनि तु प्रतिषेधात् द्वैवर्षिकः । त्रैवर्षिकः ॥111॥

प्राणिनि भूते ॥ 6. 3. 112. ॥

कालवाचिवर्षशब्दान्तात् द्विगोर्भूतेऽर्थे अः प्रत्ययो भवति स चेद्भूतः प्राणी भवति । द्वे वर्षे भूतो द्विवर्षो दारकः, त्रिवर्षो वत्सः । प्राणिनीति किम् ? द्विवर्षः, द्विवर्षीणः, द्विवार्षिकः सरकः । भूत इति किम् ? शेषेष्वर्थेषु पूर्वेण विकल्प एव । द्विवर्षः, द्विवर्षीणः, द्विवार्षिको मनुष्यः । भाविन्यपि केचिदिच्छन्ति, एवमुत्तरेष्वपि त्रिषु । पूर्वेण विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थो विधिः ॥112॥

मासाद् वयसि य: ॥ 6. 4. 113. ॥

मासशब्दान्ताद्द्विगोर्भूतेऽर्थे य: प्रत्ययो भवति वयसि गम्यमानो । द्वौ मासौ भूतो द्विमास्य:, त्रिमास्यो दारक: । वयसीति किम् ? द्वैमासिको व्याधि:, त्रैमासिको व्याधि:, द्वैमासिको नायक: । भूत इत्येव ? द्वौ मासौ भावी द्वैमासिको युवा ॥113॥

ईनञ् च ॥ 6. 4. 114. ॥

द्विगोरिति निवृत्तम् योगविभागात्, मासशब्दाद् भूतेऽर्थे ईनञ् चकाराद्यश्च प्रत्ययो भवति वयसि गम्यमाने । मासं भूतो मासीन: मास्यो दारक:, ञकारो वृद्धिहेतुत्वेन पुंवद्भावाभावार्थ: । मासीना स्वसाऽस्य मासीनास्वसृक: । वयसीत्येव ? मासिको नायक: ॥114॥

षण्मासाद्य–यणिकण् ॥ 6. 4. 115. ॥

षण्मासशब्दात्कालवाचिनो भूतेऽर्थे य यण् इकण् इत्येते प्रत्यया भवन्ति वयसि गम्यमाने । षण्मासान् भूत: षण्मास्य:, षाण्मास्य:, षाण्मासिक: । भूत इत्येव ? षण्मासान् भावी । वयसीत्येव ? षाण्मास्य: षण्मासिको नयक: ॥115॥

*न्या०स०–षण्मा०–*षण्मासाद्ययण् वेति सिद्धे इकण् ग्रहणं व्यावृत्त्युदाहरणे इकण् निवृत्त्यर्थं, अत एव व्यावृत्त्युदाहरणे वाक्यमेव दर्शितम् ।

सोऽस्य ब्रह्मचर्य–तद्वतो: ॥ 6. 4. 116. ॥

स इति प्रथमान्तात्कालवाचिनोऽस्येति षष्ठ्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति ब्रह्मचर्ये तद्वति चाभिधेये यत्तदस्येति निर्दिष्टं तच्चेद्ब्रह्मचर्यम् ब्रह्मचारी वा भवतीत्यर्थ: । मासोऽस्य ब्रह्मचर्यस्य मासिकं ब्रह्मचर्यम्, आर्धमासिकम्, सांवत्सरिकम् । मासोऽस्य ब्रह्मचारिणो मासिको ब्रह्मचारी, मासं ब्रह्मचर्य–मस्येत्यर्थ: । एवमार्धमासिक:, सांवत्सरिक: ॥116॥

प्रयोजनम् ॥ 6. 4. 117. ॥

सोऽस्येति वर्तते, स इति प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमान्तं तच्चेत्प्रयोजनं स्यात्, प्रयोजनं प्रयोजकम् प्रवर्तनम् जनकमुत्पादकम् । जिनमह: प्रयोजनमस्य जैनमहिकम्, ऐन्द्रमहिकम्, आभिषेचनिकम्, दैपोत्सविकम् ॥117॥

एकागाराच्चौरे ॥ 6. 4. 118. ॥

एकागारशब्दात्तदस्य प्रयोजनमित्यस्मिन् विषये इकण् प्रत्ययो भवति चौरे यत्तदस्येति निर्दिष्टं स चेत् चौरो भवति। एकमसहायमगारं प्रयोजनमस्य ऐकागारिकश्चौरः, ऐकागारिकी, चौरे नियमार्थं वचनम्। तेनान्यत्र न भवति। एकागारं प्रयोजनमस्य भिक्षोरिति वाक्यमेव ॥118॥

न्या०स०—एका०—नियमार्थमिति ``प्रयोजनम्'' (6. 4. 117.) इत्येव सिद्धत्वात्।

चूडादिभ्योऽण् ॥ 6. 4. 119. ॥

चूडादिभ्यस्तदस्य प्रयोजनमित्यस्मिन् विषयेऽण् प्रत्ययो भवति। चूडा प्रयोजनमस्य चौडम्, चूला चौलम्, उपनयनम् औपनयनम्, श्रद्धा श्राद्धम्,—चूडादयः प्रयोगगम्याः ॥119॥

विशाखा—ऽषाढान्मन्थ—दण्डे ॥ 6. 4. 120. ॥

विशाखा अषाढा इत्येताभ्यां तदस्य प्रयोजनमित्यस्मिन् विषयेऽण् प्रत्ययो भवति, यथासंख्यं मन्थे दण्डे चाभिधेये। मन्थो विलोडनं दण्डो वा, विशाखा प्रयोजनमस्य वैशाखो मन्थः, आषाढा आषाढे आषाढाः प्रयोजनमस्य आषाढो दण्डः ॥120॥

उत्थापनादेरीयः ॥ 6. 4. 121. ॥

उत्थापन इत्येवमादिभ्यस्तदस्य प्रयोजनमित्यस्मिन् विषये ईयःप्रत्ययो भवति। उत्थापनं प्रयोजनमस्योत्थापनीयः, उपस्थापनीयः, उत्थापन, उपस्थापन, अनुप्रवचन, अनुवाचन, अनुवदन, अनुवादन, अनुपान, अनुवासन, आरम्भण, समारम्भण इत्युत्थापनादिः ॥121॥

विशि—रुहि—पदि—पूरि—समापेरनात् सपूर्वपदात् ॥ 6. 4. 122. ॥

विशिरुहिपदिपूरिसमापि इत्येतेभ्योऽनप्रत्ययान्तेभ्यः सपूर्वपदेभ्यस्तदस्य प्रयोजनमित्यर्थे ईयः प्रत्ययो भवति। विशि, गृहप्रवेशनं प्रयोजनमस्य गृहप्रवेशनीयम्, संवेशनीयम्, अनुवेशनीयम्, अनुप्रवेशनीयम्, समावेशनीयम्। रुहि, प्रासादारोहणीयम्, आरोहणीयम्, प्ररोहणीयम्, अनुरोहणीयम् अन्वारोहणीयम्, पदि-अश्वप्रपदनीयम्, गोप्रपदनीयम्, पूरि-प्रपापूरणीयम्, महापूरणीयम्, समापि-अङ्गसमापनीयम्, श्रुतस्कन्धसमापनीयम्, व्याकरणसमापनीयम् ॥122॥

स्वर्ग–स्वस्तिवाचनादिभ्यो य–लुपौ ।। 6. 4. 123. ।।

स्वर्गादिभ्यः स्वस्तिवाचनादिभ्यश्च यथासंख्यं तदस्य प्रयोजनमित्यस्मिन् विषये यः प्रत्ययो लुप् च भवतः, स्वर्गादिभ्यो यः । स्वर्गः प्रयोजनमस्य स्वर्ग्यम्, यशस्यम्, आयुष्यम्, काम्यम्, धन्यम्, स्वस्तिवाचनादिभ्य इकणो लुप् । स्वस्तिवाचनं प्रयोजनमस्य स्वस्तिवाचनम्, शान्तिवाचनम्, पुण्याहवाचनम्, स्वर्गादयः स्वस्तिवाचनादयश्च प्रयोगगम्याः । गणद्वयोपादाना-द्वचनभेदेऽपि यथासंख्यम् ।।123।।

समयात् प्राप्तः ।। 6. 4. 124. ।।

सोऽस्येत्यनुवर्तते । समयशब्दात्प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति योऽसौ प्रथमान्तः प्राप्तश्चेत्स भवति । समयः प्राप्तोऽस्य सामायिकं कार्यम्, उपनतकालमित्यर्थः ।।124।।

ऋत्वादिभ्योऽण् ।। 6. 4. 125. ।।

ऋतु इत्येवमादिभ्यः सोऽस्य प्राप्त इत्यर्थे अण् प्रत्ययो भवति । ऋतुः प्राप्तोऽस्य आर्तवं पुष्पफलम्, उपवस्ता प्राप्तोऽस्य औपवस्त्रम्, प्राशिता प्राप्तोऽस्य प्राशित्रम् । ऋत्वादयः प्रयोगगम्याः ।।125।।

*न्या०स०–ऋत्वा०–*औपवस्त्रमिति उपोषितपारणके यद्भक्ष्यद्रव्यं तदौपवस्त्रं यद्वैदिकम्–
'माषान्मधुमसुरांश्चवर्जयेदौपवस्त्रके' पुरुषस्तूपवस्ता ।
प्राशित्रमिति बालस्य यत्प्रथमं भोजनं तदुच्यते प्राशित्रम् ।

कालाद् यः ।। 6. 4. 126. ।।

कालशब्दात्सोऽस्य प्राप्त इत्यर्थे यः प्रत्ययो भवति । कालः प्राप्तोऽस्य काल्यस्तापसः, काल्या मेघाः ।।126।।

दीर्घः ।। 6. 4. 127. ।।

कालशब्दात्मप्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति योऽसौ प्रथमान्तः स चेद्दीर्घो भवति । दीर्घः कालोस्य कालिकमृणम्, कालिकं वैरम्, कालिकी संपत्, योगाविभागा-दिकण् । यविधाने हि कालाद्यो दीर्घश्चेत्येकमेव सूत्रं क्रियेत ।।127।।

आकालिकमिकश्चाद्यन्ते ॥ 6. 4. 128. ॥

आकालिकमिति शब्दरूपमिकान्तमिकणन्तं च निपात्यते, आकालशब्दादिक इकण् च भवत्यर्थे भवतीत्यर्थः । आद्यन्ते आदिरेव यद्यन्तो गम्यते । कथं चादिरेवान्तो भवति ? यस्मिन्काले यत् प्रवृत्तमनध्यायादि तस्मिन्नेव काले प्रत्यावृत्ते यदि तदुपरमेत, यदि वा यस्मिन्नेव काले क्षणादौ विद्युदादेर्जन्म यदि तस्मिन्नेव काले विनश्येन्नात्मलाभकालादूर्ध्वं तिष्ठेदित्यर्थः । आकालं भवति आकालिकोऽनध्यायः पूर्वेद्युर्यस्मिन्काले तृतीये चतुर्थे वा यामे प्रवृत्तः पुनरपरेद्युरपि आ तस्मात्कालाद्भवन् आकालिकोऽनध्याय उच्यते । आकालिका आकालिकी वा वृष्टिः । स्त्रियामिकेकणोर्विशेषः । आकालिका आकालिकी वा विद्युत्, आजन्मकालमेव भवन्ती जन्मानन्तरविनाशिनी ऊर्ध्वमननुवर्तमाना एवमुच्यते । एवं च द्वेधाप्यादिरेवान्तो भवति । आद्यन्त इति किम् ? सर्वकालभाविनि माभूत्, निपातनमादावन्ते चेति द्वन्द्वनिवृत्त्यर्थम् । अथवा निपातनस्येष्टविषयत्वात् समानकालशब्दस्याकालादेशः । आद्यन्त इति च द्वन्द्वः प्रकृतिविशेषणम् । आद्यन्तयोर्वर्तमानात्समानकालशब्दात् प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे इकेकणौ प्रत्ययौ निपात्येते समानकालशब्दस्य चाकालादेशः । समानकालावाद्यन्तावस्याकालिकोऽनध्यायः । आकालिका आकालिकी वा विद्युत्, समानकालताचाद्यन्तयोः पूर्ववद्वेदितव्या ॥128॥

*न्या०स०—आका०—*तस्मिन्नेवेति इह यद्यपि गतः कालो न प्रत्यावर्त्तते तथापि सामान्येन तुल्यः कालः स एवोच्यते, तथा च वक्तारो भवन्ति । अद्य यस्मिन्काले भवानायातः श्वः सोऽपि तस्मिन्नेव काले समागमिष्यति ।

द्वंद्वानिवृत्त्यर्थमिति 'यद्येवमाकालिकमिति किमर्थं, आकालादिकश्चाद्यन्त इत्युच्यमानेऽपि सिध्यति ?

उच्यते निपातनाभावे आद्यन्त इति द्वंद्वाऽपि विज्ञायते, ततश्चाकालादिकश्च भवति, आदौ अन्ते च गम्यमाने इत्यपि स्यात्, ततश्च यत् कुतश्चिदारूब्धमा कुतश्चित्कालाद्भवति तत्रापि प्रत्ययः प्रसज्येत ।

त्रिंशद्–विंशतेर्डकोऽसंज्ञायामाऽर्हदर्थे ॥ 6. 4. 129. ॥

त्रिंशद्विंशति इत्येताभ्यामा अर्हदर्थाद्योऽर्थो वक्ष्यते तस्मिन् डकः प्रत्ययो भवति कापवादः असंज्ञायां विषये न चेत्प्रत्ययान्तं कस्यचित्संज्ञा भवति । त्रिंशता क्रीतं त्रिंशकम्, विंशत्या

क्रीतं विंशकम्, त्रिंशतमर्हति त्रिंशकः, विंशकः, आर्हदर्थ इत्यभिविधावाकारः। असंज्ञायामिति किम् ? त्रिंशत्कम्, विंशतिकम् ॥129॥

न्या०स०–त्रिंश-आर्हदर्थे इति अर्हंश्चासावर्थश्च, अर्हदर्थात् आर्हदर्थं तस्मिन्।

संख्या–डतेश्चाशत्–ति–ष्टेः कः ॥ 6. 4. 130. ॥

शदन्तत्यन्तष्ट्यन्तवर्जितायाः संख्याया डतिप्रत्ययान्ताच्च शब्दाच्चकारात्त्रिंशद्विंशतिभ्यां च आर्हदर्थे कः प्रत्ययो भवति, इकणोऽपवादः । संख्या द्वाभ्यां क्रीतं द्विकम्, त्रिकम्, पञ्चकम्, बहुकम्, गणकम्, यावत्कम्, तावत्कम्, अध्यर्धकम्, अर्धपञ्चमकम्। डति-कतिभिः क्रीतं कतिकम्, त्रिंशत् त्रिंशत्कम् विंशति विंशतिकम्, अशत्तिष्टेरिति प्रतिषेधे प्राप्ते डति-त्रिंशद्विंशतीनामुपादानम्। अशत्तिष्टेरिति किम् ? चात्वारिंशत्कम् पाञ्चाशत्कम्, साप्ततिकम्, आशीतिकम् नावतिकम्, षाष्टिकम् ॥130॥

न्या०स०–संख्या०–ननु डतिग्रहणं किमर्थं संख्याद्वारेणापि गतत्वात् त्यन्तद्वारेण प्रतिषेधः स्यादिति न वाच्यं अर्थवद्ग्रहणे इति न्यायेन तेः सार्थकस्योपादानात् ?

उच्यते, ष्ट्यन्तद्वारेण षष्टिवर्जनं ज्ञापयति, अत्राव्युत्पत्तिपक्षः अव्युत्पत्तिपक्षे च न्यायस्याप्रवृत्तिः, किं च न्यायस्यानित्यत्वज्ञापनार्थं इतिग्रहणं तेन एकसप्ततिरित्यत्र त्यन्तद्वारेण प्रतिषेधः सिद्धः, अन्यथा सप्ततिरित्येव त्यन्तो नैकसप्ततिरिति न स्यात्। अव्युत्पत्तिपक्षश्च कस्मान्निश्चीयते ? षष्टिग्रहणात्, अन्यथा षष्टिशब्दस्यतिप्रत्ययान्तत्वात्त्यन्तद्वारेण प्रतिषेधे अस्योपादनमनर्थकं स्यादिति भावार्थः।

शतात् केवलादतस्मिन् येकौ ॥ 6. 4. 131. ॥

आ अर्हदर्थाद्योऽर्थो वक्ष्यते तस्मिन्केवलाच्छतशब्दात् य इक इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः कापवादौ अतस्मिन् स चेदर्थो वस्तुतः प्रकृत्यर्थादभिन्नो न भवति । शतेन क्रीतं शत्यम् शतिकम्, शतमर्हति शत्यः शतिकः, शतं वर्षाणि मानमस्य शत्यः शतिकः पुरुषः। केवलादिति किम् ? द्व्युत्तरं शतं द्विशतम्, तेन क्रीतं द्विशतकम् । संख्यादेश्चार्हदलुच इति प्राप्नोति । अतस्मिन्निति किम् ? शतं मानमस्य शतकम् स्तोत्रम्, शतकं निदानम्, अत्र हि प्रकृत्यर्थ एव श्लोकाध्यायशतं प्रत्ययान्तेनाभिधीयते, अन्यस्मिस्तु शते भवत्येव। शतेन क्रीतं शाटकशतम् शत्यम् शतिकम् ॥131॥

न्या०स०–शता०–वस्तुत इति वस्तुत इति परमार्थवृत्त्या, यद्यपि अभिन्नेऽपि वस्तुनि कथंचिद् भेदविवक्षया भेदो भवत्येव तथापि न स गृह्यत इत्यर्थः ।

प्रत्ययान्तेनेति शतकमिति कप्रत्ययान्तेन, अयमर्थः,–अत्रास्येति षष्ठ्यर्थे प्रत्ययो विहित इति स एव प्रत्ययार्थः, ततश्च शतरूपात् प्रकृत्यर्थात् अस्य स्तोत्रस्येत्वंरूपः प्रत्ययार्थो भिन्न एव, यतो यदेव शतं तदेव स्तोत्रं न खलु शतादन्यद्रूपं स्तोत्रस्येति ।

वाऽतोरिकः ॥ 6. 4. 132. ॥

अत्वन्तायाः संख्याया आ अर्हदर्थाद्योऽर्थो वक्ष्यते तस्मिन्निकः प्रत्ययो वा भवति । यावतिकम्, यावत्कम्, तावतिकम्, तावत्कम् विधानसामर्थ्यादिकारलोपो न भवति ॥132॥

कार्षापणादिकट् प्रतिश्चास्य वा ॥ 6. 4. 133. ॥

कार्षापणशब्दादार्हदर्थे इकट् प्रत्ययो भवति, अस्य च कार्षापणशब्दस्य प्रति इत्यादेशो वा भवति । कार्षापणिकम्, कार्षापणिकी, प्रतिकम्, प्रतिकी । चकार आदेशस्य प्रत्ययसंनियोगशिष्टत्वार्थः, अत एव द्विगोर्लुपि प्रत्यादेशो न भवति । द्विकार्षापणम्, अध्यर्धकार्षापणम्, अस्येति स्थानिप्रतिपत्त्यर्थम्, अन्यथा प्रतिः प्रत्ययान्तरं विज्ञायेत, टकारो ङ्यर्थः ॥133॥

अर्धात्–पल–कंस–कर्षात् ॥ 6. 4. 134. ॥

अर्धशब्दपूर्वात्पलकंसकर्ष इत्येवमन्तान्नाम्न आर्हदर्थे इकट् प्रत्ययो भवति । अर्धपलिकम्, अर्धपलिकी, अर्धकंसिकम्, अर्धकंसिकी, अर्धकर्षिकम्, अर्धकर्षिकी ॥134॥

कंसा–ऽर्धात् ॥ 6. 4. 135. ॥

कंस अर्ध इत्येताभ्यामार्हदर्थे इकट् प्रत्ययो भवति । कंसिकम्, कंसिकी, आर्धिकम्, आर्धिकी ॥135॥

सहस्र–शतमानादण् ॥ 6. 4. 136. ॥

सहस्रशतमान इत्येताभ्यामार्हदर्थेऽण् प्रत्ययो भवति, केकणोरपवादः । सहस्रेण क्रीतः साहस्रः, शतमानेन शातमानः । ``वसनात्'' (6. 4.136.) इत्यत्र सहस्रशतमानग्रहणमकृत्वा-ऽण्वचनम् ``नवाणः'' (6. 4. 142.) इति एवमर्थम् ॥136॥

न्या०स०—सह०—केकणोरपवाद इति ``संख्याडतेः'' (6. 4. 130.) इति ``मूल्यैः क्रीते'' (6. 4. 150.) इति प्राप्तयोः। एवमर्थमिति ``नवाणः'' (6. 4. 142.) इत्यनेनाण्प्रत्ययस्य वा लुप्, अञस्तु ``अनाम्न्यद्विः'' (6. 4. 141.) इति नित्यं लुप् स्यादित्यर्थः।

शूर्पाद् वाऽञ् ॥ 6. 4. 137. ॥

शूर्पशब्दादार्हदर्थेऽञ् प्रत्ययो वा भवति, इकणोऽपवादः। शौर्पम्, शौर्पिकम् ॥137॥

वसनात् ॥ 6. 4. 138. ॥

वसनशब्दादार्हदर्थेऽञ् प्रत्ययो भवति। वसनेन क्रीतं वासनम् ॥138॥

विंशतिकात् ॥ 6. 4. 139. ॥

विंशतिकशब्दादार्हदर्थेऽञ् प्रत्ययो भवति। विंशतिर्मानमस्य विंशतिकम् तेन क्रीत्तं वैशतिकम्, योगविभाग उत्तरार्थः ॥139॥

द्विगोरीनः ॥ 6. 4. 140. ॥

विंशतिकशब्दान्तात् द्विगोरार्हदर्थे ईनः प्रत्ययो भवति, अञोऽपवादः ॥ विधानसामर्थ्याल्लुप् न भवति। द्विविंशतिकीनम्, त्रिविंशतिकीनम्, अध्यर्धविंशतिकीनम्, अर्धपञ्चमविंशतिकीनम् ॥140॥

अनाम्न्यद्विः प्लुप् ॥ 6. 4. 141. ॥

द्विगोः समासादार्हदर्थे उत्पन्नस्य प्रत्ययस्य पिल्लुप् सकृद्भवति न तु द्विः अनाम्नि न चेत्प्रत्ययान्तं कस्यचिन्नाम भवति। द्वाभ्यां कंसाभ्यां द्विकंस्या वा क्रीतम् द्विकंसम्, त्रिकंसम्, अध्यर्धकंसम्, अर्धपञ्चकंसम्। द्विशूर्पम्, त्रिशूर्पम्। अध्यर्धशूर्पम्। अर्धपञ्चमशूर्पम्। अद्विरिति किम्? द्वाभ्यां शूर्पाभ्यां क्रीतं द्विशूर्पम्, अञ्लुप्। द्विशूर्पेण क्रीतं द्विशौर्पिकम्। अनाम्नि इति किम्? पञ्च लोहिन्यः परिमाणमस्य पाञ्चलोहितिकम्, ``जातिश्चणि''—(3. 2. 51.) इत्यादिना पुंवद्भावः, पञ्च कलायाः परिमाणमस्य पाञ्चकलायिकम्। परिमाणविशेषनाम्नी एते। अत एव ``मानसंवत्सर''—(7. 4. 19.) इत्यादिना नोत्तरपदवृद्धिः, लुपः पित्त्वात् पञ्चभिर्गार्गीभिः क्रीतः पञ्चगर्ग इत्यत्रेकणो लुपि पुंवद्भावो भवति। संख्यान्तात् द्विगोर्लुपं नेच्छन्त्येके, द्वाभ्यां षष्टिभ्यां क्रीतं द्विषाष्टिकम्, त्रिषाष्टिकम् ॥141॥

न्या०स०–अना०–अध्यर्द्धकंसम्, अर्धपञ्चमकंसमिति ``कसमास'' (1. 1. 41.) इति ``अर्धपूर्व'' (1. 1. 42.) इति च संख्यावत्त्वाद् द्विगौ ``संख्यादेश्च'' (6. 4. 80.) इत्यतिदेशात् ``कंसार्धात्'' (6. 4. 135.) (इति) इकट्, एवं पूर्वोदाहरणद्वयेपि द्विशूर्पमित्यादौ 'द्विशूर्पाद्वाञ्' विकल्पपक्षे इकण च द्विशौर्पिकमिति, ``संख्यादेश्च'' (6. 4. 80.) इत्यत्राऽलुच इति भणनाल्लुचि सत्यां शूर्पाद्वाञ् न भवति, ``मानसंवत्सर'' (7. 4. 19.) इत्युत्तरपदवृद्धिः ।

पुंभावो भवतीति ``क्यङ्मानि'' (3. 2. 50.) इत्यनेन पुंभावे कृते ``यञञः'' (6. 1. 126.) इति यञो लुप् ।

नवाऽणः ॥ 6. 4. 142. ॥

द्विगोः परस्यार्हदर्थे विहितस्याणः पिल्लुप् वा भवति न तु द्विः । द्विसहस्रम् द्विसाहस्रम्, अध्यर्धसहस्रम्, अध्यर्धसाहस्रम्, अर्धषष्ठसहस्रम्, अर्धषष्ठसाहस्रम्, द्विशतमानम्, द्विशातमानम्, अध्यर्धशतमानम्, अध्यर्धशातमानम्, अर्धषष्ठशतमानम्, अर्धषष्ठशातमानम् । अण इति किम् ? द्वौ द्रोणौ पचति द्विद्रोणः । अध्यर्धद्रोणः, पूर्वेण नित्यमेव लुप् ॥142॥

न्या०स०–नवा०–द्विशातमानमिति द्वाभ्यां शतमानाभ्यां क्रीतं ``सहस्रशतमानादण्'' (6. 4. 136.) सर्वेष्वत्र प्रकरणे ``मानसंवत्सर'' (7. 4. 19.) इत्युत्तरपदवृद्धिः ।

सुवर्ण–कार्षापणात् ॥ 6. 4. 143. ॥

सुवर्णान्तात्कार्षापणान्ताच्च द्विगोः परस्यार्हदर्थे विहितस्य प्रत्ययस्य वा लुप् भवति न तु द्विः । द्वाभ्यां सुवर्णाभ्यां क्रीतं द्विसुवर्णम्, द्विसौवर्णिकम्, अध्यर्धसुवर्णम्, अध्यर्धसौर्णिकम्, द्विकार्षापणम्, द्विकार्षापणिकम्, द्विप्रति, द्विप्रतिकम्, अध्यर्धकार्षापणम्, अध्यर्धकार्षापणिकम्, अध्यर्धप्रतिकम् ॥143॥

द्वि–त्रि–बहोर्निष्क–विस्तात् ॥ 6. 4. 144. ॥

द्वित्रिबहु इत्येतेभ्यः परौ यौ निष्कविस्तशब्दौ तदन्तात् द्विगोरार्हदर्थे उत्पन्नस्य प्रत्ययस्य लुप् वा भवति न तु द्विः । द्विनिष्कम्, द्विनैष्किकम्, त्रिनिष्कम्, त्रिनैष्किकम्, बहुनिष्कम्, बहुनैष्किकम्, द्विविस्तम्, द्विवैस्तिकम् त्रिविस्तम्, त्रैवैस्तिकम्, बहुविस्तम्, बहुवैस्तिकम् ॥144॥

शताद्यः ॥ 6. 4. 145. ॥

शतान्तात् द्विगोरार्हदर्थे यः प्रत्ययो वा भवति, पक्षे संख्यालक्षणः कः तस्य लुप् भवति, अस्य तु विधानसामर्थ्यान्न भवति । द्वाभ्यां शताभ्यां क्रीतम् द्विशत्यम्, द्विशतम्, अध्यर्धशत्यम्, अध्यर्धशतम्, अर्धषष्ठशत्यम्, अर्धषष्ठशतम् । ॥145॥

शाणात् ॥ 6. 4. 146. ॥

शाणान्ताद्द्विगोरार्हदर्थे यः प्रत्ययो वा भवति, पक्षे इकण्, तस्य लुप् । अस्य तु न भवति विधानसामर्थ्यात् । पञ्चशाणम्, पञ्चशाण्यम्, अध्यर्धशाण्यम्, अध्यर्धशाणम्, अर्धपञ्चमशाण्यम्, अर्धपञ्चमशाणम्, योगविभाग उत्तरार्थः ॥146॥

द्वि–त्र्यादेर्याऽण् वा ॥ 6. 4. 147. ॥

द्वित्रि इत्येतत्पूर्वो यः शाणशब्दस्तदन्ताद्द्विगोरार्हदर्थे यअण् इत्येतौ प्रत्ययौ वा भवतः, वाग्रहणमुत्तरत्र वानिवृत्त्यर्थम् । द्वाभ्यां शाणाभ्यां क्रीतं द्विशाण्यम्, द्वैशाणम् । पक्षे इकण् तस्य लुप्, द्विशाणम्, एवं त्रिशाण्यम्, त्रैशाणम्, त्रिशाणम्, एवं च त्रैरूप्यं भवति ॥147॥

न्या०स०–द्वित्र्यादेर्याण्०– द्वित्र्यादेरण् वेति क्रियतां द्वित्र्यादिर्यः शाणशब्दस्तदन्तादनेनाण् शाणाद् वेति यः विकल्पपक्षे चेकणिति रूपत्रयं सिध्यति, उच्यते, तक्रकौण्डिन्यन्यायेन यप्रत्ययस्य बाधा आशङ्क्येत । यप्रत्ययबाधकोऽण् वा भवति तन्निवृत्त्यर्थं यग्रहणम् ।

पण–पाद–माषाद् यः ॥ 6. 4. 148. ॥

पणपादमाष इत्येवमन्ताद्द्विगोरार्हदर्थे यः प्रत्ययो भवति, विधानसामर्थ्यान्न लुप् । द्वाभ्यां पणाभ्यां क्रीतं द्विपण्यम्, त्रिपण्यम्, अध्यर्धपण्यम्, अर्धषष्ठपण्यम्, द्विपाद्यम्, त्रिपाद्यम्, अध्यर्धपाद्यम्, माषपणसाहचर्यात्पादः परिमाणं गृह्यते न प्राण्यङ्गम् । तेन ''हिमहतिकाषिये पद'' (3. 2. 96.) इति पद्भावो न भवति तत्र प्राण्यङ्गस्यैव ग्रहणात्, यद्वा पादसंबन्धी यकारस्तत्र गृह्यते अयं तु द्विगुसंबन्धीत्ति न भवति । द्विमाष्यम्, त्रिमाष्यम्, अध्यर्धमाष्यम् ॥148॥

खारी–काकणीभ्यः कच् ॥ 6. 4. 149. ॥

खारीकाकणी इत्येवमन्तात् द्विगोर्बहुवचनात्केवलाभ्यां च खारीकाकणीभ्यामार्हदर्थे कच्

प्रत्ययो भवति विधानसामर्थ्याच्च न लुप् । द्वाभ्यां खारीभ्यां क्रीतं द्विखारीकम्, त्रिखारीकम्, अध्यर्धखारीकम्, अर्धतृतीयखारीकम्, एवं द्विकाकणीकम्, त्रिकाकणीकम् अध्यर्धकाकणीकम् अर्धतृतीयकाकणीकम् । केवलाभ्याम्, खारीकम्, काकणीकम्, चकारो ``न किचि'' (2. 4. 104.) इति प्रतिषेधार्थः ।।149।।

मूल्यैः क्रीते ।। 6. 4. 150. ।।

मूल्यवाचिनो निर्देशादेव तृतीयान्तात् क्रीतेऽर्थे यथाविहितमिकणादयः प्रत्यया भवन्ति । प्रस्थेन क्रीतं प्रास्थिकम्, सप्तत्या साप्ततिकम्, आशीतिकम्, नैष्किकम् पाणिकम्, पादिकम्, त्रिंशकम्, विंशकम्, द्विकम्, त्रिकम्, शत्यम्, शतिकम् । मूल्यैरिति किम् ? देवदत्तेन क्रीतम्, पाणिना क्रीतम् । वृत्तौ संख्याविशेषानवगमात् द्विवचनबहुवचनान्तान्ना भवति । प्रस्थाभ्यां प्रस्थैर्वा क्रीतमिति, यत्र तु संख्याविशेषावगमे प्रमाणमस्ति तत्र भवत्येव । द्वाभ्यां क्रीतं द्विकम्, त्रिकम्, द्वाभ्यां प्रस्थाभ्यां क्रीतं द्विप्रस्थम्, त्रिप्रस्थम्, यथा मुद्गैः क्रीतं मौद्गिकम्, माषिकम्, न ह्येकेन मुद्गेन माषेण वा क्रयः संभवति ।।150।।

न्या०स०–मूल्यैः–मूल्यैरिति बहुवचननिर्देशो लाघवार्थः, स्वरूपग्रहणव्युदासार्थश्च । `ख्याविशेषाऽनवगमादिति प्रत्यये सति न ज्ञायते वृत्तिर्द्विवचनेन बहुवचनेन वा कृतेत्येकवचनान्तादेव प्रत्यय इत्यर्थः ।

तस्य वापे ।। 6. 4. 151. ।।

तस्येति षष्ठ्यन्ताद्वापेऽर्थे यथाविधि इकणादयो भवन्ति, उप्यतेऽस्मिन्निति वापः क्षेत्रम् । प्रस्थस्य वापः प्रास्थिकम्, द्रौणिकम्, मौद्गिकम्, शत्यम्, शतिकम्, खारीकम् ।।151।।

वात–पित्त–श्लेष्म–संनिपाताच्छमन–कोपने ।। 6. 4. 152. ।।

वातादिभ्यस्तस्येति षष्ठ्यन्तेभ्यः शमने कोपने चार्थे यथाविहितमिकण् प्रत्ययो भवति । शाम्यति येन तच्छमनम्, कुप्यति येन तत्कोपनम्, वातस्य शमनं कोपनं वा वातिकम्, पैतिकम्, श्लैष्मिकम् सांनिपातिकम् । पथ्यमपथ्यं च द्रव्याद्येवमभिधीयते प्रकरणात्तु विशेषगतिः ।।152।।

हेतौ संयोगोत्पाते ।। 6. 4. 153. ।।

तस्येति षष्ठ्यन्ताद्धेतावर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति योऽसौ हेतुः स चेत् संयोग

उत्पातो वा भवति । हेतुर्निमित्तम्, संयोगः संबन्धः । प्राणिनां शुभाशुभसूचको महाभूतपरिणाम उत्पातः । शतस्य हेतुरीश्वरसंयोगः शत्यः शतिकः, साहस्रः, उत्पात सोमग्रहणस्य हेतुरुत्पातः सोमग्रहणिको भूमिकम्पः, सांग्रामिकमिन्द्रधनुः, सौभिक्षिकः, परिवेषः, शतस्य हेतुर्दक्षिणाक्षि-स्पन्दनम् शत्यं शतिकम्, साहस्रम् । संयोगोत्पात इति किम् ? शतस्य हेतुश्चैत्रः ।। 153।।

पुत्राद् येयौ ।। 6. 4. 154. ।।

पुत्रशब्दात्तस्येति षष्ठ्यन्ताद्धेतावर्थे य ईय इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः स चेद्धेतुः संयोग उत्पातो वा भवति । पुत्रस्य हेतुः संयोग उत्पातो वा पुत्र्यः, पुत्रीयः ।।154।।

द्विस्वर–ब्रह्मवर्चसाद् योऽसंख्या–परिमाणा ऽश्वादेः ।।6. 3. 155.।।

संख्यापरिमाणाश्वादिवर्जिताद्द्विस्वरान्नाम्नो ब्रह्मवर्चसशब्दाच्च तस्येति षष्ठयन्ताद्धेतावर्थे यः प्रत्ययो भवति स चेद्धेतुः संयोग उत्पातो वा भवति, इकणादीनामपवादः । धनस्य हेतुः संयोग उत्पातो वा धन्यः, यशस्यः, आयुष्यः, वात्या विद्युत्, ब्रह्मवर्चसस्य हेतुः संयोग उत्पातो वा ब्रह्मवर्चस्यः । कथं गोर्हेतुः संयोग उत्पातो वा गव्यः ? द्विस्वराभावात् ``गोः स्वरे यः'' (6. 1. 27.) इति भविष्यति । द्विस्वरेति किम् ? विजयस्य हेतुः संयोग उत्पातो वा वैजयिकः, आभ्युदयिकः । ब्रह्मवर्चसग्रहणमद्विस्वरार्थम्, असंख्यापरिमाणाश्वादेरिति किम् ? संख्या, पञ्चानां हेतुः संयोग उत्पातो वा पञ्चकः, सप्तकः, परिमाण, प्रास्थिकः, खारीकः । `ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाणं तु सर्वतः, आयामस्तु प्रमाणं स्यात्संख्या बाह्या तु सर्वतः' इति संख्यापरिमाणयोर्विशेषः । अश्वादि, आश्विकः, गाणिकः, वासुकः । अश्व, गण, वसु, वस्त्र, ऊर्णा, उमा, भङ्गा, वर्षा, अश्मन् इत्यश्वादिः ।।155।।

*न्या०स०–द्विस्व०–*ऊर्ध्वमानमिति इह संख्याग्रहणं किमर्थं परिमाणग्रहणेनैव संख्या गृह्यते, संस्था हि परिमाणं भवति, परिमीयते परिच्छिद्यते इयत्तावधार्यते येन तद्धि परिमाणं संख्यापि चेयत्तावधार्यते ? इत्याह–संख्येति ।

पृथिवी–सर्वभूमेरीश–ज्ञातयोश्चाञ् ।। 6. 4. 156. ।।

पृथिवीसर्वभूमिशब्दाभ्यां षष्ठ्यन्ताभ्यामीशज्ञातयोस्तस्य हेतुस्संयोग उत्पात इत्यस्मिन् विषये चाञ् प्रत्ययो भवति । ईशः स्वामी, पृथिव्या ईशः पार्थिवः, सर्वभूमेः सार्वभौमः

सर्वभूमेरनुशतिकादित्वादुभयपदवृद्धिः । पृथिव्या ज्ञातः पार्थिवः, कर्तरि षष्ठी संबन्धविवक्षायां वा एवं सार्वभौमः । पृथिव्या हेतुः संयोग उत्पातो वा पार्थिवः, सार्वभौमः, ईशज्ञातयोरिति द्विवचनं हेतुविशेषणत्वशङ्का व्यवच्छेदार्थम् ॥156॥

न्या०स०—पृथिवीसर्वभूमे०—व्यच्छेदार्थमिति हेतुविशेषणत्वे ति संयोग उत्पात ईश ज्ञातेत्यर्थचतुष्टयं विज्ञायेत, ततश्च स चेद्धेतुः संयोग उत्पात ईशो ज्ञातो वा भवतीत्यर्थः स्यात् ।

लोक–सर्वलोकाज्ज्ञाते ॥ 6. 4. 157. ॥

लोकसर्वलोकशब्दाभ्यां तस्येति षष्ठ्यन्ताभ्यां ज्ञातेऽर्थे यथाविहितमिकण् प्रत्ययो भवति । लोकस्य ज्ञातो लौकिकः, सार्वलौकिकः । सर्वलोकशब्दस्यानुशतिकादित्वादुभयपदवृद्धिः ॥157॥

तदत्रास्मै वा वृद्ध्याय–लाभोपदा–शुल्कं देयम् ॥ 6. 4. 158. ॥

तदिति प्रथमान्तादत्रेति सप्तम्यर्थे अस्मै इति चतुर्थ्यर्थे वा यथाविहितं प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमान्तं तच्चेद्वृद्धिरायो लाभ उपदा शुल्कं वा देयं भवति । अधमर्णेनोत्तमर्णाय गृहीतधनातिरिक्तं देयं वृद्धिः, ग्रामादिषु स्वामिग्राह्यो भाग आयः । पटादीनामुपादानं मूल्यातिरिक्तं प्राप्तं द्रव्यं लाभः, उपदा उत्कोचः, लञ्च उत्कोट इति यावत्, वणिजां रक्षानिर्वेशो राजभागः शुल्कम्, पञ्चास्मिन् शते वृद्धिः पञ्चकं शतम्, पञ्चास्मिन् ग्रामे आयः पञ्चको ग्रामः, पञ्चास्मिन् पटे लाभः पञ्चकः पटः, पञ्चास्मिन् व्यवहारे उपदा पञ्चको व्यवहारः । पञ्चास्मिन् शते शुल्कं पञ्चकं शतम् । एवं शतमस्मिन् वृद्धिरायो लाभ उपदा शुल्कं वा देयम् शत्यं शतिकम् । साहस्रम्, प्रास्थिकम्, द्रौणिकम्, अस्मै, पञ्चास्मै देवदत्ताय वृद्धिरायो लाभ उपदा शुल्कं वा देयम् पञ्चको देवदत्तः, शत्यः, शतिकः, साहस्रः, प्रास्थिकः, द्रौणिकः । वृद्ध्यादिग्रहणं किम् । पञ्च मूल्यमस्मिन्नस्मै वा दीयते ॥158॥

पूरणा–ऽर्धादिकः ॥ 6. 4. 159. ॥

पूरणप्रत्ययान्तादर्धशब्दाच्च तदिति प्रथमान्तादस्मिन्नस्मै वा दीयत इत्यर्थयोरिकः प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमान्तं वृद्ध्यादि चेत्तद्भवति, इकणिकटोरपवादः । द्वितीयमस्मिन्नस्मै वा वृद्धिरायो लाभ उपदा शुल्कं वा देयम्? द्वितीयिकः, तृतीयिकः, पञ्चमिकः, षष्ठिकः, अर्ध-अधिकः, अर्धिका स्त्री । अर्धशब्दो रूपकार्धे रूढः ॥159॥

न्या०स०–पूर०–इकणिकटोरिति पूरणप्रत्ययान्तेभ्यः पूर्वेणेकण्, अर्द्धात्तु ``कंसार्द्धात्'' (6. 4. 135.) इतीकट् ।

भागाद् येकौ ॥ 6. 4. 160. ॥

भागशब्दात्तदस्मिन्नस्मै वा वृद्ध्यादीनामन्यतमं देयमिति विषये य इक इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः, इकणोऽपवादौ । भागोऽस्मिन्नस्मै वा वृद्ध्यादीनामन्यतमं देयं भाग्यः, भागिकः, भागिका स्त्री । भागशब्दोऽपि रूपकार्धस्य वाचकः ॥160॥

तं पचति द्रोणाद् वाऽञ् ॥ 6. 4. 161. ॥

तमिति द्वितीयान्ताद्द्रोणशब्दात्पचत्यर्थे अञ् प्रत्ययो वा भवति, पक्षे इकण् । द्रोणं पचति, द्रौणः, द्रौणिकः, द्रौणी द्रोणिकी स्थाली गृहिणी वा, द्वौ द्रोणौ पचति द्विद्रोणी । ``अनाम्न्यद्विः प्लुप्'' (6. 4. 141.) इति अञिकणोर्लुप् ॥161॥

संभवदवहरतोश्च ॥ 6. 4. 162. ॥

तमिति द्वितीयान्तान्नाम्नः पचति संभवदवहरतोश्चार्थयोर्यथाविहितमिकणादयो भवन्ति । तत्राधेयस्य प्रमाणानतिरेकेण धारणं संभवः, अतिरेकेणावहारः । प्रस्थं पचति संभवत्यवहरति वा प्रास्थिकः कटाहः, प्रास्थिकी स्थाली, एवं खारीकः, कौडविकः, संभवतिः अकर्मकः सकर्मकश्च संभवति तत्र सकर्मक इह ग्राह्यः । संभवत्यवगृह्णातीत्यर्थः । चकारः पचता संभवदवहरतोः समुच्चयार्थः । तेनोत्तरत्रार्थत्रयस्याप्यनुवृत्तिः ॥162॥

न्या०स०–संभ०–अकर्म्मक इति यथा प्रस्थोऽत्र संभवति माति नातिरिच्यत इति अकर्म्मकः, प्रस्थमयं संभवत्यवगृह्णाति न निर्वमति नातिरेचयतीति सकर्मकः ।

समुच्चयार्थ इति न त्वाकर्षणार्थः, तेन चानुकृष्टमित्यस्याप्रवृत्तिः ।

पात्रा–ऽऽचिता–ऽऽढकादीनो वा ॥ 6. 4. 163. ॥

पात्र आचित आढक इत्येतेभ्यो द्वितीयान्तेभ्यः पचत्संभवदवहरत्स्वर्थेषु ईनः प्रत्ययो वा भवति, पक्षे इकण् पात्रं पचति संभवत्यवहरति वा पात्रीण, पात्रिकः, पात्रीणा, पात्रिकी स्थाली, आचितीना, आचितिकी, आढकीना, आढकिकी । पात्रादयः परिमाणशब्दाः ॥163॥

द्विगोरीनेकटौ वा ॥ 6. 4. 164. ॥

पात्राचिताढकान्तात् द्विगोर्द्वितीयान्तात्पचदादिषु त्रिष्वर्थेषु ईन इकट् इत्येतौ प्रत्ययौ वा भवतः, पक्षे इकण् । तस्य च ``अनाम्न्यद्विः प्लुप्'' (6. 4. 141.) इति लुप् नानयोर्विधानसामर्थ्यात् । द्वे पात्रे पचति संभवत्यवहरति वा द्विपात्रीणः, द्विपात्रिकः, द्विपात्रः, द्विपात्रीणा, द्विपात्रिकी, द्विपात्री, द्व्याचितीना, चितिकी, द्व्याचिता । आचितान्तात् ङीर्न भवति अबिस्ताचितकम्बल्यादिति प्रतिषेधात् । द्व्याढकीना, द्व्याढकिकी, द्व्याढकी, टकारो ङ्यर्थः ।।164।।

न्या०स०–द्विगो०–नन्विह ईन्ग्रहणं किमर्थं, ईनो वेति प्रकृतं तत्र लाघवात् द्विगोरिकट् च वेति वक्तव्यं, एवं च द्विगोरिकट् चकारादीनश्च वा भवतीति विज्ञायते ? अत्रोच्यते, इह च शब्देन ईने समुच्चीयमाने ``कुलिजाद्वा'' (6. 4. 165.) इत्युत्तरसूत्रे इकडेव विज्ञायेत, न त्वीन इत्युत्तरार्थमीनग्रहणम् ।

कुलिजाद् वा लुप् च ।। 6. 4. 165. ।।

कुलिजान्ताद्–द्विगोर्द्वितीयान्तात्पचदादिषु त्रिष्वर्थेषु ईन इकट् इत्येतौ प्रत्ययौ वा भवतः, पक्षे इकण् । तस्य च लुप् वा भवति, तेन चातुरूप्यं संपद्यते । द्वे कुलिजे पचति संभवत्यवहरति वा द्विकुलिजीना द्विकुलिजिकी, पक्षे द्विकुलिजी, द्वैकुलिजिकी लुपि ``परिमाण''–(2. 3. 23.) इत्यादिना ङीः । अन्ये तु लुप्विकल्पं न मन्यते, तन्मते त्रैरूप्यमेव ।।165।।

न्या०स०–कुलि०–तस्य चेति तस्येकणो लुप् वा भवतीत्यर्थः, न चेनेकटोरपि विकल्पेन विधानात्तयोः यदि हि लुबभीष्टा स्यात्तदा नित्यं विदध्यात्, न वाच्यं विधानादेव लुप् न भविष्यतीति, लुपोऽपि विकल्पविधानेन पक्षे चरितार्थत्वात् ।

वंशादेर्भाराद्धरद्–वहदावहत्सु ।। 6. 4. 166. ।।

वंशादिभ्यः परो यो भारशब्दस्तदन्ताद् द्वितीयान्तान्नाम्नो हरति वहति आवहति चार्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति । वंशभारं हरति वहति आवहति वा वांशभारिकः, कौटभारिकः । वंशादेरिति किम् ? भारं वहति । भारादिति किम् ? वंशं हरति, अपरोऽर्थः । भारभूतेभ्यो वंशादिभ्यो द्वितीयान्तेभ्यो हरदादिष्वर्थेषु यथाविहितं प्रत्ययो भवति । भारभूतान् वंशान् हरति वहति आवहति वा वांशिकः, कौटिकः, वाल्वजिकः । भारादिति किम् ? एकं वंशं हरति, हरतिर्देशान्तरप्रापणे चौर्ये वा । वहतिरुत्क्षिप्य धारणे, आवहतिरुपादाने । वंश, कुट, कुटज, वल्वज, मूल, स्थूणा, अक्ष, अश्मन्, इक्षु, खट्वा, श्लक्ष्ण इति वंशादिः ।। बहुवचनमर्थत्रयसूचनार्थम् ।।166।।

द्रव्य–वस्नात्–केकम् ॥ 6. 4. 167. ॥

द्रव्यवस्न इत्येताभ्यां द्वितीयान्ताभ्यां हरति वहति आवहति चार्थे यथासंख्यं क इक इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः । द्रव्यं हरति वहति आवहति वा द्रव्यकः, एवं वस्निकः ॥167॥

सोऽस्य भृति–वस्नांशम् ॥ 6. 4. 168. ॥

स इति प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे यथाविहितमिकणादयो भवन्ति, यत्तत्प्रथमान्तं तच्चेद्भृतिर्वस्नमंशो वा भवति । भृतिर्वेतनम्, वस्नो नियतकालक्रयमूल्यम् । अंशो भागः, पञ्चास्य भृतिः पञ्चकः कर्मकरः, पञ्चास्य वस्नं पञ्चकः पटः, पञ्चास्यांशाः पञ्चकं नगरम्, एवं सप्तकः, अष्टकः, शत्यः शतिकः, साहस्रः, प्रास्थिकः ॥168॥

मानम् ॥ 6. 4. 169. ॥

सोऽस्येति वर्तते । स इति प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमान्तं तच्चेन्मानं भवति, मीयते येन तन्मानम् । प्रस्थो मानमस्य प्रास्थिको राशिः । द्रौणिकः, खारीकः, खारीशतिकः, खारीसहस्रिकः । वर्षशतं मानमस्य वार्षशतिको देवदत्तः । वार्षसहस्रिकः, पञ्च लोहितानि पञ्च लोहिन्यो वा मानमस्य पाञ्चलोहितिकम्, पाञ्चकला- यिकम् । अनयोः संज्ञाशब्दत्वात् ``अनाम्न्यद्विः प्लुप्'' (6. 4. 141.) इति लुप् न भवति, अथ मासो मानमस्य वर्ष मानमस्येत्यादौ कस्मात्प्रत्ययो न भवति । न कालो मानग्रहणेन गृह्यते ``मानसंवत्सरस्य–'' (7. 4. 19.) इत्यादौ मानग्रहणे सत्यपि संवत्सरग्रहणात् ॥169॥

*न्या०स०–मानम्–*न काल इति मीयते येनाऽनया व्युत्पत्त्या कालस्यापि ग्रहणं प्राप्नोति ।

जीवितस्य सन् ॥ 6. 4. 170. ॥

जीवितस्य यन्मानं ततः प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति स च सन् तस्य ``अनाम्न्यद्विः प्लुप्'' (6. 4. 141.) इति लुप् प्राप्तो न भवतीत्यर्थः । षष्टिर्जीवितमानमस्य षाष्टिकः, साप्ततिकः, वार्षशतिकः, वार्षसहस्रिकः, द्वे षष्टी जीवितमानमस्य द्विषाष्टिकः, त्रिषाष्टिकः, द्विसाप्ततिकः, त्रिसाप्ततिकः, द्विवार्षशतिकः, त्रिवार्षशतिकः, द्विवार्षसहस्रिकः । त्रिवार्षसहस्रिकः, कथं पुनः षष्ट्यादयो जीवितमानं भवन्ति । वृत्तौ वर्षशब्देलोपात्, यथा शतायुर्वै पुरुष इति । एवं तर्हि मानमित्यनेनैव सिद्धे किमर्थमिदम् ? नैवम्, प्रास्थिक इत्यादौ

व्रीह्यादय एव मेयाः त एव च प्रत्ययार्थः, अत्र तु जीवितं मेयं पुरुषस्तु प्रत्ययार्थ इत्येतदर्थं लुबभावार्थं च ।।170।।

*न्या०स०–जीवि०–*कथमिति दिनादीनामपि कथं षष्ठ्यादिर्न लभ्यत इत्याह-वृत्तौ वर्षेति यथा शतं वर्षाण्यायुर्यस्यासौ शतायुरित्यत्र समासवृत्तौ गतार्थत्वात् वर्षशब्दलोपः, एतदर्थमिति पूर्वसूत्रे मेयः प्रत्ययार्थोऽत्र तु मानवाचिनी प्रकृतिः जीवितं मेयं प्रत्ययार्थस्तु मेयवानित्यर्थः ।

संख्यायाः संघ–सूत्र–पाठे ।। 6. 4. 171. ।।

संख्यावाचिनः प्रथमान्तादस्य मानमित्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति यत्तदस्येति निर्दिष्टं तच्चेत्संघः सूत्रं पाठो वा भवति । संघः प्राणिनां समूहः, सूत्रं शास्त्रग्रन्थः, पाठोऽधीतिरध्ययनम् । पञ्च गावो मानमस्य पञ्चकः संघः, सप्तकः, अष्टावध्याया मानमस्याष्टकं पाणिनीयं सूत्रम्, दशकं वैयाघ्रपदीयम्, शतकं निदानम्, अष्टौ रूपाणि वारा मानमस्याष्टकः पाठोऽधीतः संघसूत्रपाठ इति किम् ? पञ्च वर्णा मानमस्य पञ्चतयं पदम्, पदं न संघो न सूत्रं न पाठ इति को न भवति । अपि तु तयडेव । एवं चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः । पञ्चादीनां संख्येयानामवयवतया संघादेर्मानत्वान्मानमित्यनेनैव सिध्यति परत्वात्तु तयट् प्राप्नोति तद्बाधनार्थं वचनम्, न चातिप्रसङ्गः । अभेदरूपापन्ने संघादौ तयायटोर्बाधकमिदम् । भेदरूपापन्ने तु तयडेव । चतुष्टेय ब्राह्मणक्षत्रियविट् शूद्राः । द्वये देवमनुष्याः, स्याद्वादाश्रयणाच्चात्र भेदाभेदयोः संभव इति ।।171।।

*न्या०स०–संख्याया०–*न चातिप्रसङ्ग इति संघे वाच्ये क एवेति ।

नाम्नि ।। 6. 4. 172. ।।

संख्यावाचिनस्तदस्य मानमित्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति नाम्नि समुदायश्चेन्नाम भवति । पञ्चेति संख्या मानमेषां पञ्चकाः शकुनयः । त्रिकाः । शालङ्कायनाः, सप्तका ब्रह्मवृक्षाः, अष्टका राजर्षयः, योगविभागकरणात् संज्ञायां पञ्चैव पञ्चकाः त्रय एव त्रिका इति स्वार्थे एव वा प्रत्ययो भवति ।।172।।

विंशत्यादयः ।। 6. 4. 173. ।।

विंशत्यादयः शब्दा नाम्नि विषये तदस्य मानमित्यर्थे साधवो भवन्ति । द्वेर्दशदर्थे

विभावः शतिश्च प्रत्ययः । द्वौ दशतौ मानमेषां संख्येयानामस्य वा संख्यानस्य विंशतिः, त्रेस्त्रिंभावः शच्च प्रत्ययः, त्रयो दशतो मानमेषां संख्येयानामस्य वा संख्यानस्य त्रिंशत्, चतुरश्चत्वारिंभावः शच्च प्रत्यः, चत्वारो दशतो मानमेषां संख्येयानामस्य वा संख्यानस्य चत्वारिंशत् । पञ्चन आत्वं च, पञ्च दशतो मानमेषां संख्येयानामस्य वा संख्यानस्य पञ्चाशत् । षषस्तिः षष्च, षट् दशतो मानमेषां सख्येयानामस्य वा संख्यानस्य षष्टिः, सप्तनस्तिः, सप्त दशतो मानमेषां संख्येयानामस्य वा संख्यानस्य सप्ततिः, अष्टनोऽशी च, अष्टौ दशतो मानमेषां संख्येयानामस्य वा संख्यानस्य अशीतिः, नवनस्तिः, नव दशतो मानमेषां संख्येयानामस्य वा संख्यानस्य नवतिः, दशनः शभावस्तश्च प्रत्ययाः । दश दशतो मानमेषां संख्येयानामस्य वा संख्यानस्य शतम् दश शतानि मानमेषां संख्येयानामस्य वा संख्यानस्य सहस्त्रम्, एवं दश सहस्त्राण्ययुतम्, यशायुतानि नियुतम् । दश नियुतानि प्रयुतम् । दश प्रयुतान्यर्बुदम् । दशार्बुदानि न्यर्बुदम् । बहुवचनाल्लक्षकोटिखर्वनिखर्वादयो भवन्ति, पञ्च पादा मानमस्याः पङ्क्तिश्छन्दः । पिपीलिकाङ्क्तिरित्यादौ तु पचुण् विस्तारे इत्यस्मात् क्त्यन्ताद्भवति, यदत्र लक्षणेनानुत्पन्नं तत्सर्वं निपातनात्सिद्धम् ।। लिङ्गसंख्यानियमश्च विंशत्याद्या शतादिति सिद्धः ।।173।।

*न्या०स०–विंश०–*बहुवचनादिति दशायुतानि लक्षं दश प्रयुतानि कोटिः, दशाब्जानि खर्व्वम्, दशखर्वाणि निखर्व्वम् ।

त्रैशं चात्वारिंशम् ।। 6. 4. 174. ।।

त्रिंशच्चत्वारिंशदित्येताभ्यां तदस्य मानमित्यर्थे डण् निपात्यते प्रत्ययान्तं चेत्कस्यचिन्नाम भवति । त्रिंशदध्याया मानमेषां त्रैंशानि चात्वारिंशानि कानिचित् ब्राह्मणान्येवमुच्यन्ते ।।174।।

पञ्चद् दशद् वर्गे वा ।। 6. 4. 175. ।।

पञ्चद्दशदित्येतौ शब्दौ तदस्य मानमित्येतस्मिन् विषये वर्गेऽभिधेये इत्प्रत्ययान्तौ निपात्येते वा, पक्षे को भवति । पञ्च मानमस्य वर्गस्य पञ्चद्वर्गः, पञ्चको वर्गः, दशद्वर्गः, दशको वर्गः ।।175।।

स्तोमे डट् ।। 6. 4. 176. ।।

संख्यावाचिनः प्रथमान्तात्तदस्य मानमित्यस्मिन् विषये स्तोमेऽभिधेये डट् प्रत्ययौ भवति । ऋगादीनां समूहः स्तोमः । पञ्चदश ऋचो मानमस्य पञ्चदशः स्तोमः । विंशः, पञ्चविंश,

त्रिंशः, पञ्चदशी पङ्क्तिः । डकारोऽन्त्यस्वरादिलोपार्थः । टकारो ङ्यर्थः ।।176।।

तमर्हति ।। 6. 4. 177. ।।

तमिति द्वितीयान्तादर्हदर्थे यथाविधि प्रत्ययो भवति । श्वेतच्छत्रमर्हति श्वैतच्छत्रिकः, वैषिकः, वास्त्रिकः, वास्त्रयुगिकः, आभिषेचनिकः, बालीवर्दिकः, चामरिकः, शत्यः शतिकः, साहस्त्रः, भोजनमर्हति पानमर्हतीत्यादावनभिधानान्न भवति ।।177।।

दण्डादेर्यः ।। 6. 4. 178. ।।

दण्डादिभ्यो द्वितीयान्तेभ्योऽर्हत्यर्थे यः प्रत्ययो भवति । इकणोऽपवादः । दण्डमर्हति दण्ड्यः, मुसल्यः, दण्ड, मुसल, मेधा, वध, मधुपर्क, अर्घ, मेघ (थ), उदक, इभ, कशा, युग इति दण्डादिः ।।178।।

यज्ञादियः ।। 6. 4. 179. ।।

यज्ञशब्दाद्द्वितीयान्तादर्हत्यर्थे इयः प्रत्त्ययो भवति । यज्ञमर्हति यज्ञियो देशः, यज्ञियो यजमानः, यज्ञो नाम क्रियासमुदायः कश्चित् तदभिव्यङ्ग्यं वापूर्वम् इत्याहुः ।।179।।

पात्रात्तौ ।। 6. 4. 180. ।।

पात्रशब्दाद्द्वितीयान्तादर्हत्यर्थे तौ य इय इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः । पात्रमर्हति पात्र्यः । पात्रियः ।।180।।

दक्षिणा–कडङ्गर–स्थालीबिलादीय–यौ ।। 6. 4. 181. ।।

दक्षिणा कडङ्गर स्थालीबिल इत्येतेभ्यो द्वितीयान्तेभ्योऽर्हत्यर्थे ईय य इत्यतौ प्रत्ययौ भवतः । दक्षिणामर्हति दक्षिणीयो दक्षिण्यो गुरुः, कडङ्गरीयः कडङ्गर्यो गौः । कडङ्गरं माषादिकाष्ठम्, स्थालीबिलीयाः स्थालीबिल्यास्तण्डुलाः पाकार्हा इत्यर्थः ।।181।।

छेदादेर्नित्यम् ।। 6. 4. 182. ।।

नित्यमित्यर्हतीत्यस्य विशेषणम्, छेदादिभ्यो द्वितीयान्तेभ्यो नित्यमर्हत्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति । छेदं नित्यमर्हति छैदिकः, भैदिकः । छेद, भेद, द्रोह, दोह, नर्त, गोनर्त,

कर्ष, विवर्ष, प्रकर्ष, विप्रकर्ष, प्रयोग, विप्रयोग, संप्रयोग, प्रेक्षण, संप्रश्न, विप्रश्न इति छेदादिः ॥182॥

विरागाद्विरङ्गश्च ॥ 6. 4. 183. ॥

विरागशब्दाद्–द्वितीयान्तान्नित्यमर्हत्यर्थे यथाविधि प्रत्ययः तत्संनियोगे च विरागशब्दस्य विरङ्गादेशो भवति । नित्यं विरागमर्हति वैरङ्गिकः ॥183॥

शीर्षच्छेदाद् यो वा ॥ 6. 4. 184. ॥

शीर्षच्छेदाद्–द्वितीयान्तान्नित्यमर्हत्यर्थे यः प्रत्ययो वा भवति, पक्षे इकण् । शीर्षच्छेदं नित्यमर्हति शीर्षच्छेद्यः चौरः, शैर्षच्छदिकः ॥184॥

शालीन–कौपीना–ऽऽर्त्विजीनम् ॥ 6. 4. 185. ॥

शालीन कौपीन आर्त्विजीन इत्येते शब्दास्तमर्हत्यर्थे ईनञ्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते, नित्यमिति निवृत्तम् । निपातनस्येष्टविषयत्वात् । शालीन इति शालाप्रवेशनशब्दादीनञ् उत्तरपदस्य च लुक्, शालाप्रवेशनमर्हति शालीनः, अकारस्य वृद्धिनिमित्तत्वात्पुंवद्भावो न भवति । शालीनाभार्यः । शालीनशब्दोऽधृष्टपर्यायः । कौपीन इति कूपप्रवेशनमर्हति कौपीनः, कौपीनशब्दः पापकर्मणि गोपनीयपायूपस्थे तदावरणे च चीवरखण्डे वर्तते । आर्त्विजीन इति ऋत्विज्शब्दात् ऋत्विक्कर्मशब्दाद्वा ईनञ् प्रत्ययः कर्मशब्दलोपश्च निपात्यते, ऋत्विजमर्हत्यार्त्विजीनो यजमानः, ऋत्विक्कर्मार्हति आर्त्विजीनः ऋत्विगेव ॥185॥

*न्या०स०–शाली–*गोपनीयेति उपस्थशब्देन सर्ववस्तूनां मध्यभागोऽभिधीयते इति गुह्यप्रतिपत्त्यर्थं गोपनीयग्रहणम् ।

इत्याचार्य० षष्ठस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानुशासनबृहद्वृत्तौ षष्ठस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ 6. 4. ॥

भूमिं कामगवि ! स्वगोमयरसैरासिञ्च रत्नाकराः !
मुक्तास्वस्तिकमातनुध्वमुडुप ! त्वं पूर्णकुम्भीभव ।
धृत्वा कल्पतरोर्दलानि सरलैर्दिग्वारणास्तोरणा–
न्याधत्त स्वकरैर्विजित्य जगतीं नन्वेति सिद्धाधिपः ॥1॥

।। अथ सप्तमोऽध्यायः ।।

अथ प्रथमः पादः

यः ।। 7 1. 1. ।।

अधिकारोऽयम्, यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामो यावत् प्रकृतिसामान्यविषय–मनुपात्तप्रकृतिविशेषं प्रत्ययान्तरमीयोऽधिकरिष्यते तावत् तत्र य इत्येतदपवादविषयं परिहृत्याधिकृतं वेदितव्यम् ।।1।।

न्या०स० यः–प्रकृतसामान्येति प्रकृतिसामान्यं विषयो यस्य अत एवानुपात्तः प्रकृतिविशेषो यत्र तत्प्रत्ययान्तरमीयलक्षणमित्यर्थः ।

वहति रथ–युग–प्रासङ्गात् ।। 7. 1. 2. ।।

तमित्यनुवर्तते, तमिति द्वितीयान्तेभ्यो रथयुगप्रासङ्ग इत्येतेभ्यो वहत्यर्थे यः प्रत्ययो भवति ।

रथं वहति रथ्यः, द्वौ रथौ वहति द्विरथ्यः, युगं वहति युग्यः । इहानभिधानान्न भवति । कालसंज्ञकं युगं वहति राजा, युगं वहति मनुष्यः । ``कुप्यभिद्य''–(5. 1. 39.) इत्यादिनिपातनादेव युग्य इति सिद्धे इदमर्थविवक्षायामण्बाधनार्थं युगग्रहणम् । यो हि युगं वहति स युगस्य संबन्धी भवति । प्रसज्यते इति प्रासङ्गः । यत्काष्ठं वत्सानां दमनकाले स्कन्ध आसज्यते । तत् वहति यः स प्रासङ्ग्यः । यत्त्वन्यत् यत्प्रसङ्गादागतं प्रासङ्गमिति तद्वहति न भवत्यनभिधानात् । ननु यो रथं वहति स रथस्य वोढा भवति, तत्र 'रथात्सादेश्च वोढ्रङ्गे' ``यः''—(6. 3. 175.) इत्येव सिद्धम् तत्किं रथस्य ग्रहणेन ? सत्यम्, अलुबर्थं तु तस्य ग्रहणं, तेन हि ये विधीयमाने ``द्विगोरनपत्ये यस्वरादेर्लुबद्विः''–(6. 1. 24.) इति लुपा भवितव्यम् । द्वयो रथयोर्वोढा द्विरथः । अनेन तु विधीयमाने न भवति अप्राग्जितीयत्वात्, एवं च द्विगौ रूपद्वयं संपन्नं भवति ।।2।।

न्या०स०–वह०–युगं वहति मनुष्य इति अकालसंज्ञकेऽपि युगे मनुष्ये वोढरि न भवतीत्यर्थः । अनेन त्विति नन्वत्र ग्रहणवता नाम्नेति न्यायादेव तदन्तस्य यो न भविष्यति तत्कथमुच्यते

अलुबर्थमिति ?

उच्यते, एतदेव सूत्रकरणं ज्ञापयति, यत्तदन्तादपि भवति ।

धुरो यैयण् ॥ 7. 1. 3. ॥

धुर् इत्येतस्मात् द्वितीयान्तात् वहत्यर्थे य एयण् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः । धुरं वहति धुर्यः धौरेयः । एयण् वेत्यकृत्वा यग्रहणमिदमर्थविवक्षायां वहत्यर्थेऽण्बाधनार्थम् । यो हि यद्वहति स तस्य संबन्धी । कश्चित् तु यडेयकणावपीच्छति तन्मते धुर्यः । स्त्रियां टित्त्वान् ङी धुरी, धौरेयकः ॥3॥

वामाद्यादेरीनः ॥ 7. 1. 4. ॥

वाम आदिर्येषां ते वामादयः । तत्पूर्वात् धुर् इत्येतदन्तात् द्वितीयान्ताद्-वहत्यर्थे ईनः प्रत्ययो भवति । वामा धूर्वामधुरा, समासान्तादाप् । वामधुरां वहति वामधुरीणः । एवं सर्वधुरीणः, उत्तरधुरीणः, दक्षिणधुरीणः । वामादयः प्रयोगगम्याः । सर्वधुर्य इत्यत्र यप्रत्ययोऽपीति कश्चित् । धुरीण इति केवलादपीन इत्यन्यः ॥4॥

न्या०स०–वामा०–धुर् इत्येतदन्तादिति ननु च वामधुरादिसमुदायः समासान्तादापि कृते धुरन्तो न भवति तत्र कथं धुरन्तादुच्यमानः प्राप्नोति प्रत्ययः ?

उच्यते, ``धुरोऽनक्षस्य'' (7. 3. 77.) इति समासान्तेन भाव्यमेव ततः सामासान्तत्वे मुख्यान्तत्वायोगात् तत्समीपवर्त्ती समासान्तो धुरन्त इत्यदोषः ।

अश्चैकादेः ॥ 7. 1. 5. ॥

एकशब्दादेधुर् इत्येतदन्ताद्–द्वितीयान्ताद् वहत्यर्थे अः प्रत्ययो भवति चकारादीनश्च । एका एकस्य वा धूरेकधुरा । एका धूरस्मिन्नेकधुरम्, तां तद्वा वहति एकधुरः, एकधुरीणः ॥5॥

हल–सीरादिकण् ॥ 7. 1. 6. ॥

हलसीर इत्येताभ्यां द्वितीयान्ताभ्यां वहत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । हलं वहति हालिकः, सैरिकः ॥6॥

शकटादण् ॥ 7. 1. 7. ॥

शकटशब्दाद्–द्वितीयान्ताद्वहत्यर्थेऽण् प्रत्ययो भवति। शकटं वहति शाकटो गौः।

ननु च ``तस्येदम्'' (6. 3. 160.) इति शकटादण् ``हलसीरादिकण्'' (6. 3. 161.) इति हलसीराभ्याम् इकण् च सिद्ध एव, यो हि यद्वहति स तस्य संबन्धी भवति ? सत्यम्, रथवदेव तदन्तार्थमुपादानम्, तेनात्रापि द्विगौ द्वैरूप्यं भवति। द्वयोः शकटयोर्हलयोः सीरयोर्वा वोढा द्विशकटः, द्विहलः, द्विसीरः। द्वे शकटे हले सीरे वा वहति द्वैशकटः, द्वैहलिकः, द्वैसीरिकः। अन्ये तु शकटहलसीरेभ्य इदमर्थविवक्षायां प्रत्ययमिच्छन्ति न वहत्यर्थे तन्मते द्विशकट इत्येव भवति। हलसीराभ्यां तु तदन्तविधिं नेच्छन्त्येव ॥7॥

न्या०स०–शक०–इकण् चेति तृतीयपादोक्तेन ``हलसीरादीकण्'' (6. 3. 161.) इति सूत्रेणेत्यर्थः। तदन्तार्थमिति अलुबर्थमित्यर्थः, यतस्तदन्तस्यैव लुप्प्रसङ्गः। द्विशकट इति त्रिष्वपि ``तस्येदम्'' (6. 3. 160.) इत्यणो लुप्, न तु `हलसीराभ्याम्'।

इति शैषिकेण सूत्रेण विहतस्येकणः, केवलाभ्यामेव हलसीराभ्यां तेन विधानात्। अन्ये त्विति-अयमभिप्रायः, ते हि हलसीराभ्यासिकण् इति इदमर्थप्रस्ताव एवारभन्ते, शकटात्तु औत्सर्गिकोऽण् सिद्ध एव, ततश्च यथा रथात् सपूर्व्वादपि य प्रत्यय इष्यते, न तथा हलसीराभ्यामिति वचनान्न केवलं तदन्ताभ्यामिकण् न भवति, औत्सर्गिकोऽणपीति द्विहल त्रिहल इत्यादि न भवति।

विध्यत्यनन्येन ॥ 7. 1. 8. ॥

तमिति वर्तते, तमिति द्वितीयान्ताद्विध्यत्यर्थे यः प्रत्ययो भवति, स चेद्विध्यन्नात्मनोऽन्येन करणेन न विध्यति।

पादौ विध्यन्ति पद्याः शर्कराः। ऊरू विध्यन्ति ऊरव्याः कण्टकाः। उरो विध्यन्ति उरस्या वाताः। अनन्येनेति किम् ? चौरं विध्यति चैत्रः। अत्र हि चैत्रश्चौरं विध्यन् धनुषा पाषाणेन वा विध्यति। शर्करादयस्तु न करणेन विध्यन्ति। यच्चमुखतैक्ष्ण्यादि करणम् ततेषामात्मनो नान्यत्। यद्येवं पादौ विध्यन्ति शर्कराः मुखेनेति करणप्रयोगे कस्मान्न भवति अस्ति हि अत्रानन्यत्करणमिति ? उच्यते, अत्राप्रधानस्य सापेक्षत्वात्। साधनप्रधाने हि तद्धिते क्रियाऽप्रधानमेव। अनभिधानाद्वा। मुखेन पद्या इत्युक्ते हि मुखस्योपलक्षणत्वं सहयोगो वा प्रतीयते न व्यधनं प्रति करणत्वमिति ॥8॥

न्या०स०–विध्य०–सापेक्षत्वादिति अप्रधानस्य व्यधनस्य कोऽर्थोऽप्रधानाया व्यधनक्रियाया

मुखस्याऽपेक्षमाणत्वात्, अप्राधान्यं च कुतः ? इत्याह–साधनप्रधाने हीति यतः पद्या इत्युक्ते व्यधनक्रियाविशिष्टः कर्त्तोच्यते अतः कर्त्तैव प्रधानं तद्धिते। अनभिधानाद्वेति अप्रतिपादनादित्यर्थः।

धनगणाल्लब्धरि ।। 7. 1. 9. ।।

द्वितीयान्ताद्धनशब्दाद्गणशब्दाच्च लब्धर्यर्थे यः प्रत्ययो भवति। धनं लब्धा धन्यः, गणं लब्धा गण्यः। लब्धेति तृन्नन्तम् ।।9।।

णोऽन्नात् ।। 7. 1. 10. ।।

अन्नशब्दाद्द्वितीयान्ताल्लब्धरि णः प्रत्ययो भवति। अन्नं लब्धा आन्नः ।।10।।

हृद्य–पद्य–तुल्य–मूल्य–वश्य–पथ्य–वयस्य–धेनुष्या–गार्हपत्य-जन्य–धर्म्यम् ।। 7. 1. 11. ।।

हृद्यादयः शब्दा यथास्वमर्थविशेषु यप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते, हृद्य इति हृदयशब्दात् षष्ठ्यन्तात् प्रियेऽर्थे बन्धने च वशीकरणमत्रे यः प्रत्ययो निपात्यते। हृदयस्य प्रियं हृद्यमौषधम्। हृद्यो देशः। हृदयस्य बन्धनो हृद्यो वशीकरणमन्त्रः। ''हृदयस्य हृल्लासलेखाण्ये''–(3. 2. 94.) इति हृदादेशः। निपातनं रूढ्यर्थं तेनेह न भवति। हृदयस्य प्रियः पुत्रः। पद्य इति पदशब्दात्प्रथमान्तात् दृश्यत्वोपाधिकादस्मिन्निति सप्तम्यर्थे यः। पदमस्मिन् दृश्यं पद्यः कर्दमः नातिद्रवो नातिशुष्को यत्र प्रतिमुद्रोत्पादनेन पदं द्रष्टुं शक्यते, तुल्य इति तुलाशब्दात्संमितेऽर्थे यः, तुलसा संमितं तुल्यं भाण्डम्, निपातनं रूढ्यर्थम्, तेन न तुलासंमित एवोच्यते किं तु सदृशार्थोऽपि तुल्यशब्दः, गिरिणा तुल्यो हस्ती। मूल्यमिति मूलशब्दात्प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे यः तच्च यद्युत्पाटनयोग्यं भवति। मूलमेषामुत्पाट्यं मूल्या मुद्गाः। तृतीयान्ताच्चानाम्ये समे च, मूलेनानाम्यं मूल्यम्। मूलं पटाद्युत्पत्तिकारणम्, तेनानाम्यं यत्पटादेर्विक्रयात्प्राप्यते सुवर्णादि तन्मूल्यम्। मूलेन समो मूल्यः पटः, उपादानेन समानफल इत्यर्थः। वश्य इति वशशब्दाद्द्वितीयान्ताद्गतेऽर्थे यः। वशं गतो वश्यो गौर्विधेयः। इच्छानुवर्तीति यावत्, निपातनं रूढ्यर्थं तेनेह न भवति। वशं गतः, इच्छां प्राप्तः, अभिप्रेतं गत इत्यर्थः। पथ्य इति पथिन्शब्दादनपेते यः पथोऽनपेतं पथ्यम् ओदनादि। निपातनादिह न भवति, पथोऽनपेतं शकटादि। वयस्य इति वयःशब्दात्तृतीयान्तात्तुल्येऽर्थे यः। वयसा तुल्यो वयस्यः सखा, निपातनादिह न भवति। वयसा तुल्यः शत्रुः।

धेनुष्येति-धेनुशब्दाद्विशिष्टायां धेनौ यः षोऽन्तश्च । धेनुष्या या गोमता गोपालायाधमर्णेन चोत्तमर्णाय आ ऋणप्रदानाद्दोहार्थं धेनुर्दीयते सा धेनुरेव धेनुष्या । पीतदुग्धेति यस्याः प्रसिद्धिः । गार्हपत्य इति गृहपतिशब्दात्तृतीयान्तात्संयुक्तेऽर्थे ञ्यः प्रत्ययः, गृहपतिना संयुक्तो गार्हपत्य एवंनामा कश्चिदग्निः । निपातनादन्यत्र न भवति । जन्य इति जनीशब्दाद्वधूवाचिनो द्वितीयान्ताद्वहत्सु अभिधेयेषु जनशब्दाच्च षष्ठ्यन्ताज्जल्पेऽर्थे यः । जनीं वहन्ति जन्याः जामातुर्वयस्या उच्यन्ते, जनस्य जल्पः जन्यः । निपातनादन्यत्र न भवति । धर्म्य इति धर्मशब्दात्तृतीयान्तात्प्राप्येऽर्थे पञ्चम्यन्ताच्चानपेतेऽर्थे यः । धर्मेण प्राप्यं धर्म्यम् सुखम्, धर्मादनपेतं च धर्म्यम् । यद्धर्ममनुवर्तते ।।11।।

नौ–विषेण तार्य–वध्ये ।। 7. 1. 12. ।।

नौविष इत्येताभ्यां निर्देशादेव तृतीयान्ताभ्यां यथासंख्यं तार्ये वध्ये चार्थे यः प्रत्ययो भवति । नावा तार्यं नाव्यमुदकम्, नाव्या नदी, विषेण वध्यो वधार्हो विष्यः ।।12।।

न्याया–ऽर्थादनपेते ।। 7. 1. 13. ।।

न्याय अर्थ इत्येताभ्यां निर्देशादेव पञ्चम्यन्ताभ्यामनपेतेऽर्थे यः प्रत्ययो भवति । न्यायादनपेतं न्याय्यम्, अर्थादनपेतमर्थ्यम् ।।13।।

मत–मदस्य करणे ।। 7. 1. 14. ।।

मतमदशब्दाभ्यां निर्देशादेव षष्ठ्यन्ताभ्यां करणेऽर्थे यः प्रत्ययो भवति । इष्टं साम्यं ज्ञानं मतिर्वा मतशब्देनाच्यते, करणं साधकतमं कृतिर्वा । मतस्य करणं मत्यम्, मदस्य करणम् मद्यम् ।।14।।

*न्या०स०–मत०–*साम्यमिति मननं मतं, धातूनामनेकार्थत्वेन मतशब्दः साम्येऽपि यथा मतीकृता समीकृतेत्यर्थः ।

तत्र साधौ ।। 7- 1. 15. ।।

तत्रेति सप्तम्यन्तात्साधावर्थे यः प्रत्ययो भवति । साधुः प्रवीणो योग्य उपकारको वा, सामनि साधुः सामन्यः, वेमनि साधुर्वेमन्यः, कर्मणि कर्मण्यः, सभायां सभ्यः, शरणे शरण्यः ।।15।।

पथ्यतिथि–वसति–स्वपतेरेयण् ॥ 7. 1. 16. ॥

पथिन् अतिथि वसति स्वपति इत्येतेभ्यस्तत्र साधौ एयण् प्रत्ययो भवति । पथि साधु पाथेयम्, आतिथेयम्, वासतेयम्, स्वापतेयम् ॥16॥

भक्ताण्णः ॥ 7. 1. 17. ॥

भक्तशब्दात्तत्र साधौ णः प्रत्ययो भवति । भक्ते साधुर्भाक्तः शालिः, भाक्तास्तण्डुलाः ॥17॥

पर्षदो–ण्य–णौ ॥ 7. 1. 18. ॥

पर्षच्छब्दात्तत्र साधौ ण्यणेत्येतौ प्रत्ययौ भवतः । पर्षदि साधुः पार्षद्यः, पार्षदः । परिषदोऽपीच्छन्त्यन्ये, पारिषद्यः, पारिषदः ॥18॥

सर्वजनाण्ण्येनञौ ॥ 7. 1. 19. ॥

सर्वजनशब्दात्तत्र साधौ ण्य ईनञ् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः । सार्वजन्यः, सार्वजनीनः ॥19॥

प्रतिजनादेरीनञ् ॥ 7. 1. 20. ॥

प्रतिजनादिभ्यस्तत्र साधावीनञ् प्रत्ययो भवति । प्रतिजने साधुः प्रातिजनीनः, अनुजने साधुः आनुजनीनः, इदंयुगे साधुः ऐदंयुगीनः । प्रतिजन, अनुजन, विश्वजन, पाश्चजन, महाजन, इदंयुग, संयुग, समयुग, परयुग, परकुल, परस्यकुल, अमुष्यकुल इति प्रतिजनादिः ॥20॥

*न्या०स०–प्रति०–*परस्यकुलेति गणपाठात् षष्ठ्यलुप्, ``षष्ठ्याः क्षेपे'' (3. 2. 30.) इति वा यदा परकुलसंबन्धित्वेनाऽक्षिप्यते । एवमनुष्यकुलेति ।

कथादेरिकण् ॥ 7. 1. 21. ॥

कथादिभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यः साधावर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । कथायां साधुः काथिकः, वैकथिकः । कथा, विकथा, विश्वकथा, संकथा, वितण्डा, जनेवाद, जनवाद, (जनोवाद) भृशोवाद, जनभृशोवाद, वृत्ति, संग्रह, गुण, गण, आयुर्वेद, गुड, कुल्माष, गुल्मास, इक्षु,

सक्तु, वेणु, अपूप, मांसौदन, मांस, ओदन, संग्राम, संघात, संवाह, प्रवास, निवास, उपवास इति कथादिः ॥21॥

देवतान्तात् तदर्थे ॥ 7. 1. 22. ॥

देवतान्ताच्छब्दरूपात्तदर्थेऽर्थे यः प्रत्ययो भवति । अर्थाच्चतुर्थ्यन्तात् प्रत्ययः, अग्निदेवतायै इदमग्निदेवत्यम् । पितृदेवत्यम्, देवदेवत्यम् । देवताशब्देन देयस्य हविरादेः प्रतिग्रहीता स्वामी संप्रदानमुच्यते ॥22॥

*न्या०स०–देव०–*अर्थादिति तदर्थ इति प्रत्ययार्थादेवेत्यर्थः ।

पाद्या–र्घ्ये ॥ 7. 1. 23. ॥

पाद्य अर्घ्य इत्येतौ तदर्थे यप्रत्ययान्तौ निपात्येते पादार्थमुदकं पाद्यम्, निपातनादेव ये पदादेशो न भवति । अर्घो मूल्यं पूजनं वा, अर्घार्थं रत्नमघ्र्यम् ॥23॥

ण्योऽतिथेः ॥ 7. 1. 24. ॥

अतिथिशब्दात्तदर्थे ण्यः प्रत्ययो भवति । अतिथ्यर्थम्–आतिथ्यम् ॥24॥

सादेश्चा तदः ॥ 7. 1. 25. ॥

अधिकारोऽयम् यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्तत्र आ तदस्तदिति सूत्रं यावत्केवलस्य सादेश्च विधिर्वेदितव्यः ॥25॥

हलस्य कर्षे ॥ 7. 1. 26. ॥

हलशब्दात्केवलात्सादेश्च निर्देशादेव षष्ठ्यन्तात्कर्षेऽर्थे यः प्रत्ययो भवति । हलस्य कर्षो हल्या हल्यो वा, द्वयोर्द्विहल्या, त्रिहल्या, परमहल्या । उत्तमहल्या, बहुहल्यः । यत्र हलं कृष्टं स मार्गः कर्षः । कृष्यते इति कर्षः क्षेत्रमित्यन्ये ॥ 26॥

*न्या०स०–हल०–*कृष्टमिति कृष्टं गतमित्यर्थः, कर्ष इत्यधिकरणे घञ्, न तु कर्ष इति पलस्य चतुर्थो भागः परिमाणमिह गृह्यते अनभिधानात् ।

सीतया संगते ।। 7. 1. 27. ।।

सीताशब्दात्केवलात्सादेश्च निर्देशादेव तृतीयान्तात्संगतेऽर्थे यः प्रत्ययो भवति । सीतया संगतं सीत्यम्, द्वाभ्यां सीताभ्यां संगतं द्विसीत्यम्, त्रिसीत्यम्, परमसीत्यम् । यस्य पूर्णोऽवधिः ।।27।।

ईयः ।। 7. 1. 28. ।।

आ तद इत्यनुवर्तते, यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्तत्रातदोऽर्थेषु ईय इत्यधिकृतं वेदितव्यम् ।।28।।

हविरन्नभेदा–ऽपूपादेर्यो वा ।। 7. 1. 29. ।।

हविर्भेदवाचिभ्योऽन्नभेदवाचिभ्योऽपूपादिभ्यश्च शब्देभ्यः आ तदोऽर्थेषु वा यः प्रत्ययोऽधिक्रियते, ईयापवादः । हविर्भेदः आमिक्षायै इदं दधि आमिक्ष्यम्, आमिक्षीयम्-पुरोडाशाय इमे पुरोडाश्याः, पुरोडाशीयास्तण्डुलाः, हविस्शब्दात्तु परत्वाद्युगादिपाठान्नित्यमेव यः । अन्नभेद, ओदनाय इमे ओदन्या ओदनीयास्तण्डुलाः, कृशरायै कृशर्याः कृशरीयास्तण्डुलाः, सुरायै सुर्याः सुरीयास्तण्डुलाः । अपूपादि,–अपूपायेदमपूप्यम्, अपूपीयम्, तण्डुलाय तण्डुल्यम्, तण्डुलीयम् । सादेश्चेत्यधिकारात्तदन्तादपि भवति । यवापूप्यम् यवापूपीयम्, व्रीहितण्डुल्यम्, व्रीहितण्डुलीयम् । उवर्णान्तात्तु हविरन्नभेदात्परत्वान्नित्यो यो भवति । चरव्यास्तण्डुलाः, सक्तव्या धानाः ।

अपूप, तण्डुल, ओदन, पृथक, अभ्यूष, अभ्योष, अवोष, किण्व, मुसल, कटक, शकट, कर्णवेष्टक, ईर्गल, ईल्वल, स्थूणा, यूप, सूप, दीप प्रदीप अश्वपत्र इत्यपूपादिः । अपूपादिषु येऽन्नभेदशब्दा अपूपादयस्तेषां केनचिदाकारसादृश्येन अर्थान्तरवृत्तो प्रत्ययार्थमुपादानम् । केचित्तु अपूपादिपठितान्नभेदव्यति-रिक्तानामन्नभेदानां तदन्तविधिं नेच्छन्ति । यवसुरीयम् पिष्टसुरीयम्, यो न भवति ।।29।।

*न्या०स०–हवि०–*आमिक्षेति–आमिश्रितं क्षीरं काञ्जिकेन यस्यां सा आमिश्रितक्षीरा गतार्थत्वात् काञ्जिकशब्दस्य लोपः, पृषोदरादित्वादामिक्षादेशः ।

अर्थान्तरवृत्ताविति अपूपाकरं चर्माद्यपूपमित्येव । तदन्तविधिमिति कोऽर्थः ? ये अपूपादिषु पठिता अन्नभेदास्तेषां तदन्तानां विधिर्भवति, अन्नभेदवाचिनां तु अपूपादिष्वपठितानां तदन्तविधिर्न भवतीत्यर्थः ।

उवर्ण–युगादेर्यः ॥ 7. 1. 30. ॥

उवर्णान्ताद्युगादिभ्यश्चा तदोऽर्थेषु यो भवति, ईयापवादः । उवर्ण, शङ्कवे इदं शङ्कव्यं दारु, पिचव्यः कर्पासः, परशव्यमयः, कमण्डलव्या मृत्तिका चरव्यास्तण्डुलाः, सक्तव्या धानाः । युगादि, युगाय हितं युगार्थं युगोऽस्य स्यादिति वा युग्यम् । हविष्यम् । सादेश्चेत्यधिकारात्सुयुग्यम् । अतियुग्यम् ।

युग, हविस्, अष्टका, बर्हिस्, मेधा, स्रच्, बीज, कूप, क्षर, अक्षर, खद, स्खद, विष, दाश, खर, असुर, दर, अध्वन्, गो इति युगादिः । ``गोः स्वरे यः'' (6. 1. 27.) इत्यनेनैव सिद्धे गोग्रहणं तदन्तार्थम् । तेन सुगव्यम् अतिगव्यम् इत्यपि सिद्धम् । इह यग्रहणं बाधक बाधनार्थम् । सनङ्गवे इदं सनङ्गव्यं चर्म अत्र हि परत्वात् ``चर्मण्यञ्'' (7. 1. 45.) इति प्राप्नोति ॥30॥

*न्या०स०–उव०–*बाधनार्थमिति उवर्णान्तत्वादनेन यः प्राप्तस्तं बाधित्वा चर्म्मण्यञ प्राप्त इति तद्बाधनार्थम् ।

नाभेर्नभ् चादेहांशात् ॥ 7. 1. 31. ॥

नाभिशब्दाददेहांशवाचिन आ तदो वक्ष्यमाणेष्वर्थेषु यः प्रत्ययो भवति । नाभिशब्दस्य च नभ् इत्यादेशो भवति । नाभ्यै नाभये वा हितं नभ्यमञ्जनम्, नभ्योऽक्षः, नाभये इदं नभ्यं दारु, अरकमध्यवर्ती अक्षधारणश्चक्रावयवो नाभिस्तदर्थं नभ्यम् । यत्तु अरकगण्डरहितं चक्रम् एककाष्टं तत्र न नाभिरिति तदर्थे नभ्यमित्युपचारात् । नभ्यो वृक्षः नभ्या शिंशपेति नभ्यार्थे वृक्षादौ ताच्छब्द्यान्नभ्यत्वम् इन्द्रार्थायां स्थूणायामिन्द्रवत् । अदेहांशादिति किम् ? नाभये हितं नाभ्यं तैलम् अत्र नभादेशो न भवति । यस्तु ``प्राण्यङ्ग''–(7. 1. 37.) इत्यादिना भवति ॥31॥

*न्या०स०–नाभे०–*एककाष्ठमिति पाषाणानयनशकटस्य रहडू इति प्रसिद्धस्य । नभ्यो वृक्ष इति शाखाद्येव नाभये हितं न समस्तो वृक्ष इति प्रश्नाशयः ।

न् चोधसः ॥ 7. 1. 32. ॥

ऊधस्शब्दात् आ तदोऽर्थेषु यः प्रत्ययो नकारश्चान्तादेशो भवति, ईयापवादः । ऊधसे हितम् ऊधन्यम् ॥ 32॥

न्या०स०–न चोध०–ईयापवाद इति यदा प्राण्यङ्गवाची तदा यः सिद्ध एव नकारा-ऽऽदेशोऽनेन विधीयते, यदातु न प्राण्यङ्गवाची किंतु तदाकारं किंचिदभ्रादि विवक्ष्यते तदा ईयः प्राप्नोति, अतस्तदपवादः ।

शुनो वश्चोदूत् ॥ 7. 1. 33. ॥

श्वन्शब्दादा तदोऽर्थेषु यः प्रत्ययो भवति वकारश्च उकार ऊकाररूपो भवति, अभेदनिर्देशः सर्वादेशार्थः । शुने हितं शुन्यम्, शून्यम् ।

नाभि ऊधस् श्वन्शब्दान् युगादिषु पठित्वापि शक्यः प्रत्ययः आदेशार्थास्तु योगाः ॥33॥

न्या०स०–शुनो०–युगादिष्विति नाभ्यूधसोः प्राण्यङ्गत्वाभावे युगादिपाठ आश्रीयेत, प्राण्यङ्गार्थत्वे तु ``प्राण्यङ्गरथ'' (7. 1. 37.) इत्यनेनैव यः सिध्येत् ।

कम्बलान्नाम्नि ॥ 7. 1. 34. ॥

कम्बलशब्दादा तदोऽर्थेषु यः प्रत्ययो भवति ईयापवादः नाम्नि संज्ञायां विषये । कम्बलोऽस्य स्यात् कम्बल्यं परिमाणम् ऊर्णापलशतमुच्यते । अशीतिशतमित्यन्ये । षट्षष्टिशतमित्यपरे । नाम्नीति किम् ? कम्बलीया ऊर्णा ॥34॥

तस्मै हिते ॥ 7. 1. 35. ॥

हित उपकारकः, तस्मै इति चतुर्थ्यन्तान्नाम्नो हितेऽर्थे यथाधिकृतं प्रत्ययो भवति । वत्सेभ्यो हितो वत्सीयः, करभीयः, पित्रीयः, मात्रीयः, आमिक्ष्यः, आमिक्षीयः, ओदन्यः, ओदनीयः, अपूप्यः, अपूपीयः, हविष्यः, युग्यः, शुन्यः, शून्यः, ऊधन्यः । वत्सेभ्यो न हितः अवत्सीयः, एवमकरभीयः ॥35॥

न्या०स०–तस्मै०–अवत्सीय इति ननु हिते प्रत्यय उच्यमानो निषिध्यमाने तस्मिन् कथं स्यादिति चेत् ? न,

विवक्षोपारोहिण्यर्थे शब्दप्रयोगाद् बाह्यवस्तुनिषेधेऽपि न तन्निषेधः, अन्यथा निषिध्य-मानाभिधायिशब्दप्रयोगान्निर्विषयप्रतिषेधः कथमिव शक्यक्रियः स्यात्, प्रत्ययार्थस्य च प्रकृत्यर्थेन न प्रत्ययार्थेनाऽसामर्थात्, एतदेव हि प्राधान्यं यद्युगपत्कालोपकारकसंबन्धसहत्वं नाम, एवं हितार्थे नञर्थापेक्षेऽपि प्रत्ययोत्पत्तिरविरुद्धा ।

न राजा–ऽऽचार्य–ब्राह्मण–वृष्णः ॥ 7. 1. 36. ॥

राजन् आचार्य ब्राह्मण वृषन् इत्येतेभ्यश्चतुर्थ्यन्तेभ्यो हितेऽर्थेऽधिकृतः प्रत्ययो न भवति । राज्ञे हितः आचार्याय हितः, ब्राह्मणाय हितः, वृष्णे हितः इति वाक्यमेव भवति ॥36॥

प्राण्यङ्ग–रथ–तिल–यव–वृष–ब्रह्म–माषाद्यः ॥ 7. 1. 37. ॥

प्राण्यङ्गवाचिभ्यो रथादिभ्यश्च चतुर्थ्यन्तेभ्यो हितेऽर्थे यः प्रत्ययो भवति । दन्तेभ्यो हितं दन्त्यम्, कर्ण्यम्, चक्षुष्यम्, कण्ठ्यम्, ओष्ठ्यम्, नाभ्यम्, रथाय हिता रथ्या भूमिः, खलाय हितं खल्यम् अग्निरक्षणम्, तिलेभ्यो हितः तिल्यो वायुः, यवेभ्यो हितो यव्यस्तुषारः, वृषाय हितं वृष्यं क्षीरपाणम्, ब्रह्मणे हितो ब्रह्मण्यो देशः, माषेभ्यो हितो माष्यो वातः । सादेश्चेत्यधिकारात् राजदन्त्यम्, शङ्खनाभ्यम्, अश्वरथ्या भूमिः, कृष्णतिल्यः, राजमाष्यः ॥37॥

*न्या०स०–प्राण्य०–*शंखनाभ्यमिति शंखो नाभिश्च देहांशौ ततः शंखश्च नाभिश्च ``प्राणि–तूर्याङ्गाणाम्'' (3. 1. 36.) इति समाहारे शंखनाभिने हितं, शंखाकारा नाभिर्वा तदा शंखनाभये हितम् ।

अव्यजात् थ्यप् ॥ 7. 1. 38. ॥

अवि अज इत्येताभ्यां तस्मै हिते थ्यप् प्रत्ययो भवति । अविभ्यो हितम् अविथ्यम्, अजेभ्यो हितम् अजथ्यम्, पकारः पुंवद्भावार्थः । अजाभ्यो हिता अजथ्या यूतिः ॥38॥

*न्या०स०–अव्य०–*अजथ्येति-पित्करणसामर्थ्यात् ``स्वाङ्गान्ङीर्'' (3. 2. 56.) इत्यनेन निषिद्धोऽपि ``क्यङ्मानि'' (3. 2. 50.) इत्यनेन पुंवद्भावः ।

चरक–माणवादीनञ् ॥ 7. 1. 39. ॥

आभ्यां तस्मै हितेऽर्थे ईनञ् प्रत्ययो भवति । चरकेभ्यो हितश्चारकीणः, माणवीनः ॥39॥

भोगोत्तरपदा–ऽऽत्मभ्यामीनः ॥ 7. 1. 40. ॥

भोगोत्तरपदादात्मन्शब्दाच्च तस्मै हितेऽर्थे ईनः प्रत्ययो भवति । मातृभोगाय हितो

मातृभोगीणः पितृभोगीणः, ग्रामणिभोगीनः, सेनानिभोगीनः, आचार्यभोगीनः। अत्र क्षुभ्नादित्वान्न णत्वम्। आत्मन्, आत्मने हितः आत्मनीनः, अनात्मनीनः। ``ईनेऽध्वात्मनोः'' (7. 4. 48.) इत्यन्त्यस्वरादिलोपाभावः ।।40।।

पञ्च–सर्व–विश्वाज्जनात् कर्मधारये ।। 7. 1. 41. ।।

पञ्च सर्व विश्व इत्येतेभ्यः पराज्जनशब्दात्कर्मधारये वर्तमानात्तस्मै हिते ईनः प्रत्ययो भवति, ईयापवादः। पञ्चजनेभ्यः पञ्चजनाय वा हितः पञ्चजनीनः, रथकारपञ्चमस्य चातुर्वर्ण्यस्य पञ्चजन इति संज्ञा एवं सर्वजनीनः, विश्वजनीनः। कर्मधारय इति किम् ? पञ्चानां जनः पञ्चजनः, तस्मै हितः पञ्चजनीः। सर्वोजनोऽस्य सर्वेषां वा जनः, सर्वजनः, तस्मै हितः सर्वजनीयः, एवं विश्वजनीः ।।41।।

*न्या०स०–पञ्च०–*रथकारपञ्चमस्येति द्वादशधा भिन्नस्य शूद्रस्य त्रैवर्ण्यस्य च मध्ये न पततीति रथकारस्य पृथगुपादानं, यत आरथकृन्मिश्रजातय इत्युक्तं, रथकास्य तु किं लक्षणम् ? इति चेत्, उच्यते-माहिष्येण तु जातः स्यात् करण्यां रथकारकः, वेश्यायां क्षत्रियाज्जातो माहिष्य उच्यते, वृषलस्त्रियां वैश्यात्तु करणः स्त्री चेत् करणी।

महत्–सर्वादिकण् ।। 7. 1. 42. ।।

महतः सर्वाच्च यो जनशब्दस्तदन्तात्कर्मधारये वर्तमानात्तस्मै हिते इकण् प्रत्ययो भवति। महते जनाय हितः माहाजनिकः, सर्वस्मै जनाय हितः सार्वजनिकः, एवं च सर्वजनात्पूर्वेण ईनः अनेनेकणिति द्वैरूप्यम्। कर्मधारय इत्येव ? महान् जनोऽस्य महाजनः, तस्मै हितः महाजनीयः, सर्वेषां जनाय हितं सर्वजनीयम् ।।42।।

सर्वाण्णो वा ।। 7. 1. 43. ।।

जनात्कर्मधारय इति च निवृत्तम्, सर्वशब्दात्तस्मै हिते णः प्रत्ययो वा भवति। सर्वस्मै हितः सार्वः, पक्षे ईयः सर्वीयः ।।43।।

परिणामिनि तदर्थे ।। 7. 1. 44. ।।

हित इति निवृत्तम्, तद्भावः परिणामस्सोऽस्यास्तीति परिणामि द्रव्यमुच्यते, तस्मै इति

चतुर्थ्यन्तात्तदर्थे चतुर्थ्यन्तार्थार्थे परिणामिनि कारणद्रव्येऽभिधेये यथाधिकृतं प्रत्ययो भवति । अङ्गारेभ्य इमानि अङ्गारीयाणि काष्ठानि, अङ्गारार्थानीत्यर्थः । एवं प्राकारीया इष्टकाः, शङ्कव्यं दारु, पिचव्यः कर्पासः आमिक्ष्यम् आमिक्षीयं दधि, ओदन्या ओदनीयास्तण्डुलाः । अपूप्यम् अपूपीयम् पिष्टम् ।

परिणामिनीति किम् ? उदकाय कूपः, असये कोशी । न कूपः कोशी वा उदकासिभावेन परिणमेते । तदर्थे इति किम् ? मूत्राय यवागूः, उच्चाराय यवान्नम्, पादरोगाय नड्वलोदकम् । यवाग्वादि मूत्रादितया परिणमति न तु तदर्थम् अथवा तदर्थे इति चतुर्थीविशेषणम् । तदर्थे या चतुर्थी तदन्तात्प्रत्ययः, इह तु संपद्यतौ चतुर्थीति न भवति । तस्मै इत्येव ? सक्तूनां धानाः, धानानां यवाः। अत्र सत्यपि तादर्थ्ये संबन्धमात्रविवक्षायां षष्ठी यथा गुरोरिदं गुर्वर्थमिति । भवति च सतोऽप्यविवक्षा यथानुदरा कन्येति ।।44।।

न्या०स०–परि०–अथवेति पूर्वं हि तदर्थे इति परिणामिशब्दस्य विशेषणम् ।

चर्मण्यञ् ।। 7. 1. 45. ।।

तस्मै इति चतुर्थ्यन्तात्परिणामिनि तदर्थे चर्मण्यभिधेये अञ् प्रत्ययो भवति । वध्र्यिदं वार्ध्रम् चर्म, वरत्रायै इदं वारत्रं चर्म, रथोपस्थायेदं राथोपस्थं चर्म, हलाबन्धायेदं हालाबन्धं चर्म । सनङ्गवे इदं सनङ्गव्यं चर्मेति ``उवर्णयुगादेर्यः'' (7. 1. 30.) इति यग्रहणाद्य एव भवति । सनङ्गुश्चर्मविकारः ।।45।।

न्या०स०–चर्म०–राथोपस्थमिति अत्राधिकारायातत्वात् परिणामिनीति योजितमपि यथासंभवं योज्यं, तेनाऽत्र चर्मणो रथोपस्थरूपेण परिणामाभावेप्यञ् भवति । सनङ्गवे इति अङ्गेषु सन्नं ``राजदन्तादिषु'' (3. 1. 149.) इति सप्तम्यन्तस्य परनिपातः, पृषोदरादित्वात् सनङ्गु शब्द आदेशः । चर्म्मविकार इति स्थालादीनां रक्षार्थं कोशः ।

ऋषभोपानहाञ्ञ्यः ।। 7. 1. 46. ।।

ऋषभ उपानह् इत्येताभ्यां चतुर्थ्यन्ताभ्यां परिणामिनि तदर्थे अभिधेये ञ्यः प्रत्ययो भवति । ऋषभाय अयम् आर्षभ्यो वत्सः, औपानह्यो मुञ्जः, औपानह्यम् काष्ठम् औपानह्यं चर्मेति चर्मण्यपि परिणामिनि परत्वादयमेव भवति ।।46।।

छदिर्बलेरेयण् ।। 7. 1.47. ।।

छदिस् बलि इत्येताभ्यां चतुर्थ्यन्ताभ्यां परिणामिनि तदर्थे एयण् प्रत्ययो भवति । छदिषे इमानि छादिषेयाणि तृणानि, बलये इमे बालेयास्तण्डुलाः, चर्मण्यपि परत्वादयमेव भवति । छादिषेयं चर्म । कथमौपधेयः, उपधीयत इत्युपधेयः । स एव प्रज्ञाद्यणि स्वार्थिके औपधेयः । उपधिः रथाङ्गमिति यावत्, अत उपधेः स्वार्थे एयणिति नारम्भणीयम् ।।47।।

परिखाऽस्य स्यात् ।। 7. 1. 48. ।।

परिखाशब्दान्निर्देशादेव प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे परिणामिनि एयण् प्रत्ययो भवति या सा परिखा सा चेत्स्यादिति योग्यतया संभाव्यते, तदित्यनेन यथाधिकृतस्य प्रत्ययस्य विधास्यमानत्वादिहोत्तरत्र च एयणेवानुवर्तते । परिखा आसामिष्टकानां स्यादिति पारिखेय्य इष्टकाः । स्यादिति संभावने सप्तमी । इष्टकानां बहुत्वेन संभाव्यत एतत्परिखासां स्यादिति । स्यादिति किम् ? परिखा इष्टकानाम् । परिणामिनीत्येव ? परिखास्य नगरस्य स्यात् ।।48।।

*न्या०स०–परि०–*एयणेवेति एतत्सूत्रोत्तरसूत्रकरणात्, अन्यथा तदित्यनेनैव यथाधिकृतस्य सिद्धत्वादिदं सूत्रद्वयं व्यर्थम् ।

अत्र च ।। 7. 1. 49. ।।

परिखाशब्दान्निर्देशादेव प्रथमान्तादत्रेति सप्तम्यर्थ एयण् प्रत्ययो भवति सा चेत्परिखा स्यादिति संभाव्यते । परिखास्यां स्यात् पारिखेयो भूमिः । योगविभागः परिणामिनीत्यस्येह असंबन्धार्थः । चकार उत्तरत्रास्य स्यादिति परिणामिन्यत्र स्यादिति चोभयस्याप्यनुवृत्त्यर्थः ।।49।।

*न्या०स०–अत्र च०–*असंबन्धार्थ इति तेनेह परिणामिनि अपरिणामिनि च भवतीत्यर्थः ।

तद् ।। 7. 1. 50. ।।

तदिति प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे परिणामिनि अत्रेति सप्तम्यर्थे च यथाधिकृतं प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमान्तं तच्चेत्स्यादिति संभाव्यते । प्राकार आसामिष्टकानां स्यात्प्राकारीया इष्टकाः । प्रासादीयं दारु, परशव्यमयः । प्रासादोऽस्मिन्देशे स्यात् प्रासादीयो देशः, प्रासादीया भूमिः । स्यादित्येव प्राकार इष्टकानाम् । परिणामिनीत्येव प्रासादोऽस्य चैत्रस्य स्यात् ।।50।।

तस्याऽर्हे क्रियायां वत् ।। 7. 1. 51. ।।

ईयस्य पूर्णोऽवधिः, अर्हतीत्यर्हम् ``अच्''—(5. 1. 49.) इत्यच् । तस्येति षष्ठ्यन्तादर्हेऽर्थे वत् प्रत्ययो भवति यत्तदर्हं तच्चेत् क्रिया भवति राज्ञोऽर्हं राजवत् वृतमस्य राज्ञः, राजत्वस्य युक्तमस्य राज्ञो वृत्तमित्यर्थः, राजवदवर्तत भरतः । राजार्हं वर्तते स्मेत्यर्थः । एवं कुलीनवत्, साधुवत् । स शिरांसि द्विषामाजौ चिच्छेद कृतहस्तवत् । राज्ञि एकस्मिन्नुपमानोपमेय-भावासंभवादुत्तरेण न सिध्यतीति वचनम्, यदा तु राज्ञः सगरादेर्वृत्तस्यार्ह इदानींतनः कश्चिद्राजेति भेदो विवक्ष्यते तदोत्तरेणैव सिद्धम् । क्रियायामिति किम् शतस्यार्हो देवदत्तः, राज्ञोऽर्हो मणिः ।।51।।

*न्या०स०—तस्या०—*राजार्हमिति अत्राद्यत्वात् न भरतस्योपमानमन्यो राजाऽस्ति स एव सर्वेषां राज्ञामुपमानभूतस्तत्र राजवदिति, राज्ञ आत्मन एवार्हं वृत्तमवर्त्ततेत्यर्थः ।

स्यादेरिवे ।। 7. 1. 52. ।।

स्याद्यन्तादिवार्थे वत्प्रत्ययो भवति, इवशब्दः सादृश्यं द्योतयति । तच्चेत्सादृश्यं क्रियायां क्रियाविषयं क्रियागतं भवति । क्षत्रिया इव क्षत्रियवद्युध्यन्ते ब्राह्मणाः, अश्ववद्धावति चैत्रः, देवमिव देववत्पश्यन्ति मुनिम् । साधुनेव साधुवदाचरितं मैत्रेण, ब्राह्मणायेव ब्राह्मणवद्दत्तं क्षत्रियाय पर्वतादिव पर्वतवदवरोहति आसनात् । स्यादेरिति किम् गच्छन्नास्त इव मन्दत्वादीप्सित-देशस्य असंप्राप्तेः । अधीयानो नृत्यतीव अङ्गविकारप्रायत्वात् । क्रियायामित्येव गौरिव गवयः । देवदत्त इव गोमान्, हस्तीव स्थूलः । अत्र द्रव्यगुणविषये सादृश्ये न भवति । कथं देवदत्तवत्स्थूलः यज्ञदत्तवद्गोमान् इति । अत्र तुल्यायामस्तौ भवतौ चाध्याह्रियमाणायां प्रत्ययो भविष्यति, अथोपमानोपमेयक्रिययोः साधनभेदापेक्षायामिह कस्मान्न भवति ऋचं ब्राह्मणवदयं गाथामधीत इति, सापेक्षत्वात् ।।52।।

*न्या०स०—स्यादे०—*असंप्राप्तेरिति यथा आसीनोऽभिमतं देशं न प्राप्नोति तथैष गच्छन्नपि । साधनभेदापेक्षायामिति यद्यपि वस्तुवृत्त्या अध्ययनमेकमेव तथापि साधनभेदाद् व्याप्यलक्षणभेदाद् भेद एव । सापेक्षत्वादिति ब्राह्मणवत् अयं गाथामधीत इत्युक्ते हि ऋचः कर्म्मणोऽपेक्षा भवति ।

तत्र ।। 7. 1. 53. ।।

तत्रेति सप्तम्यन्तादिवार्थे वत्प्रत्ययो भवति । मथुरायामिव मथुरावत्पाटलिपुत्रे प्रासादाः, स्रुघ्न इव साकेते परिखा स्रुघ्नवत् । गुरुवद्गुरुपुत्रे वर्तितव्यमित्यादिषु क्रियासादृश्ये पूर्वेणैव सिद्धम् । अक्रियार्थस्त्वारम्भः ।।53।।

न्या०स०–तत्र-अक्रियार्थ इति तथापि नारम्भणीयमिदं सूत्रं षष्ठीसप्तम्योरर्थाभेदात् सप्तमीविषये षष्ठीप्रवृत्तेर्दर्शनात् उत्तरसूत्रेणैव भविष्यति, न, अधिकरणविवक्षायां सप्तम्यन्तादपि यथा स्यादित्येवमर्थः न च सप्तमीविषये षष्ठ्या नियमेन समावेशः, यथा नभसीवोदके शशीति ।

तस्य ।। 7. 1. 54. ।।

तस्येति षष्ठ्यन्तादिवार्थे वत्प्रत्ययो भवति । चैत्रस्येव मैत्रस्य गावश्चैत्रवत्, ब्राह्मणस्येव क्षत्रियस्य दन्ताः ब्राह्मणवत्, अक्रियाविषयसादृश्यार्थ आरम्भः । योगविभाग उत्तरार्थः ।।54।।

भावे त्व–तल् ।। 7. 1. 55. ।।

तस्येति षष्ठ्यन्ताद्भावेऽभिधेये त्व तल् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः । भवतोऽस्मात् अभिधानप्रत्ययौ इति भावः शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तम् द्रव्यसंसर्गी भेदको गुणः, यदाहुः यस्य गुणस्य हि भावात् द्रव्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने त्वतलाविति । तत्र 'जातिगुणाज्जातिगुणे, समासकृत्तद्धिताच्च संबन्धे । डित्थादेः स्वे रूपे, त्वतलादीनां विधिर्भवति' । तत्र जातिवचनेभ्यो जातौ, गौः शब्दस्य भावो गोत्वम् गोता, अत्र गोशब्दजातिर्भावः, गोरर्थस्य भावो गोत्वम् गोता, अत्र गवार्थजातिर्भावः । एवमश्व-वमश्वता, शुक्लस्य गुणस्य भावः शुक्लत्वं शुक्लतेत्यत्र शुक्लगुणजातिः, रूपस्य भावो रूपत्वम् रूपता, रसस्य रसत्वम्, रसता । अत्र रूपादिगुण-जातिः । कत्वं खत्वमिति भिन्नवर्णव्यक्तिसमवेता जातिः । कवर्गत्वं चवर्गत्वमिति ककारादिवर्गव्यक्तिसमवेता जातिः संहतिः । गुणशब्देभ्यो गुणे, शुक्लस्य पटस्य भावः शुक्लत्वम् शुक्लता । अत्र शुक्लो गुणो भावः । एवं शुक्लतरत्वं शुक्लतमत्वमिति स एव प्रकृष्टः । अणुत्वं महत्त्वमिति परिमाणलक्षणो गुणः, एकत्वं द्वित्वमिति संख्यालक्षणः, पृथक्त्वं नानात्वमिति भेदलक्षणः, उच्चैस्त्वं नीचैस्त्वमिति उच्छ्र्यादिलक्षणः, वृत्तौ पृथगादिशब्दाः पृथग्भूताद्यर्थे सत्वे वर्तन्ते इति प्रत्ययः विग्रहस्तु पृथग्भूतस्य भाव इत्यादि । पट्वादयोऽपि गुणा एवेति पटुत्वं मृदुत्वं तीक्ष्णत्वमित्यादिष्वपि गुणो भावः । समासात्संबन्धे, राजपुरुषत्वं चित्रगुत्वम् । अत्र स्वस्वामिसंबन्धः । कृतः संबन्धे, पाचकत्वं पक्तृत्वं कार्यत्वं साधनत्वम् । अत्र क्रियाकारकसंबन्धः । तद्धितात्संबन्धे, औपगवत्वम् दण्डित्वं विषाणित्वम् । अत्रोपगुदण्डादिसंबन्धः ।

डित्थादेः स्वरूपे, डित्थादेस्तु यदृच्छाशब्दादन्यस्य प्रवृत्तिनिमित्तस्यासंभवात्तस्मिन्नेव

स्वरूपे डित्थशब्दवाच्यतया अध्यवसितभेदेऽव्यतिरिक्तेऽपि व्यति रिक्त इव शब्दप्रत्ययबलात् बुद्ध्यावगृहीते धर्मे प्रत्ययः। डित्थस्य भावः स्वरूपंडित्थत्वं डवित्थत्वम्। एवं गोजातेर्भावो गोत्वम् गोतेति गोशब्दस्य स्वरूपम्। शुक्लजातेर्भावः शुक्लत्वं शुक्लतेति शुक्लशब्दस्य स्वरूपम्, गवादयो हि यदा जातिमात्रवाचिनस्तदा तेषां शब्दस्वरूपमेव प्रवृत्तिनिमित्तम्, तथाह्यर्थजातौ शब्दार्थयोरभेदेन शब्द स्वरूपमध्यवस्यते यो गोशब्दः स एवार्थ इति। एवं देव दत्तत्वं, चन्द्रत्वं, सूर्यत्वं, दिक्त्वम्, आकाशत्वम्, अभावत्वमिति स्वरूपमेवोच्यते।

एके तु यदृच्छाशब्देषु शब्दस्वरूपं संज्ञासंज्ञिसंबन्धो वा प्रवृत्तिनिमित्तमिति मन्यन्ते, अन्ये तु डित्थत्वं देवदत्तत्वमिति वयोऽवस्थाभेदभिन्नव्यक्तिसमवेतं सामान्यम्, चन्द्रत्वं सूर्यत्वमिति कालावस्थाभेदभिन्नव्यक्तिसमवेतं सामान्यं, दिक्त्वम् आकाशत्वम् अभावत्वम् इति उपचरितभेदव्यक्तिसमवेतं सामान्यं प्रत्ययार्थ इति वदन्तोऽत्रापि जातिमेव त्वतलादिप्रत्यय-प्रवृत्तिनिमित्तमभिदधति। ननु च समासकृत्तद्धितेभ्योऽपि भावप्रत्ययेन जातिरेवाभिधीयते गौरखरत्वं लोहितशालित्वं सप्तपर्णत्वं धवखदिरत्वमिति, कुम्भकारत्वं तन्तुवायत्वं स्तम्बेरमत्वं पङ्कजत्वमिति, हस्तित्वं मानुषत्वं क्षत्रियत्वं राजन्यत्वमिति उच्यते, समासकृत्तद्धितेषु संबन्धाभिधानमन्यत्र रूढ्यभिन्न–रूपाव्यभिचरितसंबन्धेभ्यः, तत्र रूढ्यो गौरखरादय उदाहृता एव, अभिन्नरूपास्तु तद्धितान्ता एव लुबादिभिः संभवन्ति गर्गत्वं पञ्चालत्वमिति, अत्र गर्गादयः शब्दा यञञोर्लुपि यद्यपि तद्धितान्तास्तथापि मूलप्रकृत्या सह सहविवक्षायामभिन्नरूपत्वात् प्रत्ययोत्पत्तिहेतुः संबन्धो न्यग्भूत इति अभिन्नशब्दाभिधेयतैव भावप्रत्ययात्प्रतीयते न संबन्धः, अथ पञ्चालशब्दात् युगपदपत्यजनपदाभिधायिनो भावप्रत्ययेन किमभिधीयते ? प्रवृत्तिनिमितसंघातः यथा धवखदिरत्वमिति जातिसंहतिः। एतेन अक्षत्वं पादत्वं माषत्वमित्यादीन्यपि व्याख्यातानि। अव्यभिचरित–संबन्धास्तु प्रायः कृत्स्वेव भवन्ति। सतो भावः सत्त्वं सत्ता विद्यमानत्वं विद्यमानता, अत्र हि जातावेव भावप्रत्ययः। न हि सद्वस्तु सत्तासंबन्धस्य व्यभिचरतीति सत्तासंबन्धानपेक्षणान्न संबन्धे। पाचक इत्यादौ तु संबन्धस्य कादाचित्कत्वात् तदपेक्षः पाचकादिशब्दः स्वार्थमभिधत्त इति ततः सम्बन्धे प्रत्ययो युक्तः। तस्मात्सत्सु विद्यमानेषु च पदार्थेषु नित्यसमवायिनी शब्दप्रवृत्तिहेतुः सत्तैव भावप्रत्ययवाच्या न तु सत्सत्तयोः संबन्धः कश्चित् इति। ततः स्थितमेतत् रूढ्यादिभ्योऽन्यत्रैव कृत्तद्धितसमासेषु संबन्धाभिधानमिति। ``त्वे वा'' (6. 1. 26.) इति वचनात्स्त्रीपुंसाभ्यां पक्षे नञ्स्नञावपि भवतः। स्त्रीत्वं स्त्रीता स्त्रैणम्। पुंस्त्वं पुंस्ता पौंस्नम् इति। लकारः स्त्रीत्वार्थः। त्वान्तम् `आ त्वात्त्वादिः' इति नपुंसकम् ॥55॥

*न्या०स०–भावे०–*अभिधानप्रत्ययाविति यद्यपि पूर्वं ज्ञानं पश्चाच्छब्द इति क्रमस्तथापि स्वराद्यदन्तत्वात् अभिधानस्य ``लघ्वक्षर'' (3. 1. 160.) इति पूर्वनिपात एवमाह-पृथग्भूताद्यर्थ इति-ननु पृथगादिशब्दानाम–व्ययानामसत्ववाचित्वात् कथमत्र भावप्रत्ययो नह्यसत्वादसत्वे प्रत्ययो भावो ह्यसत्वरूप इति आशङ्का ?

डित्थादेः स्वरूपे इति डित्थादैस्तस्मिन्नेव स्वरूपे धर्म्मे प्रत्ययो भवति, कथंभूतात् डित्थादेर्यदृच्छाशब्दादत एवान्यस्य प्रवृत्तिनिमित्तस्यासंभवात्, ननु यदि स्वरूप एव प्रत्ययो भवति तर्हि डित्थस्य भाव इति वाक्ये भावशब्दोपादानं न प्राप्नोति यतो डित्थशब्देनापि स्वरूपमभिधीयते, भावशब्देनापि तदेवोच्यते तत्कथं भावशब्दोपादानम् ? इत्याह-अध्यवसितभेदे कोऽर्थोऽध्यवसित आरोपितो भेदो यस्य स्वरूपस्य तद्ध्यवसितभेदं तत्र कया ? डित्थशब्द-वाच्यतया, डित्थशब्देन वाच्यत्वेन कोऽर्थः ? डित्थशब्दस्य यदेव स्वरूपं प्रवृत्तिनिमित्तं तदेवाश्रित्य डित्थशब्दः प्रवृत्त इत्यर्थः, ततो डित्थशब्दवाच्यतया कृत्वा अध्यवसितभेदे आरोपितभेदे । कोऽर्थः ? स्वरूपमेव विशेष्यं विशेषणं चाऽत्र यतो भावो वर्तते इति विशेषणं कस्य डित्थस्य, इदं च विशेष्यं, न हि डित्थशब्दाद्व्यतिरिक्तं किंचिद्भावशब्देनाभिधीयते अपि तर्हि तदेव परमध्यवसितभेदात्तदेव विशेष्यं विशेषणं च भवति ।

किं विशिष्टेऽध्यवसितभेदे ऽव्यतिरिक्तेऽपि व्यतिरिक्त इव । क इव यथा शिलापुत्रकस्य शरीरमित्यत्राव्यतिरिक्तेऽपि वस्तुनि व्यतिरिक्ते प्रत्ययो जायते तथात्रापि, परं कस्मादित्याह-शब्दप्रत्ययबलात् बुद्ध्यावगृहीते शब्देन कृत्वा प्रत्ययो ज्ञानं तद्बलात् ।

अत्रैव प्रस्तावे गोजातेर्भावो गोत्वं गोतेति गोशब्दस्य स्वरूपमित्युक्तं, ततश्च गोशब्दस्य स्वरूपं कोऽर्थो गोजातेः स्वरूपमिति हि किलात्रार्थः । ननु गोशब्दस्य स्वरूपमित्युक्ते गोजातेः स्वरूपमिति कथं लभ्यत ? इत्याह-शब्दार्थयोरभेदेन जातिलक्षणोऽर्थस्ततो जातिलक्षणेनार्थेन गोशब्दस्याभेदः, य एव गोशब्दः स एव जातिलक्षणोऽर्थ इति, अत एव शब्दस्वरूपं प्रवृत्तिनिमितं कोऽर्थः ? गोशब्दस्य स्वरूपं जातिस्तदेव प्रवृत्तिनिमित्तम् ।

अवस्थाभेदभिन्नव्यक्तिसमवेतमिति नित्यमेकमनेकर्वृत्ति सामान्यमित्यनेकवृत्ति-त्वज्ञापनायाहवयो बाल्ययौवनवार्धकलक्षणमिति मान्द्यकार्श्यलम्बकर्णादयो भेदा अवस्थाः, एवमुत्तरेषु भावना कार्या ।

उपचरित भेदव्यक्तिसमवेतमिति आकाशदिशोरेकत्वादुपचार आश्रीयते, अत्र गर्गादय इति आदि शब्दादुपचारो गृह्यते । यदा गर्गशब्देन गर्ग उपचारत्तदपत्यानि वा अभिधीयन्ते तदापि भावप्रत्ययान्तस्य जातिरेवप्रवृत्तिनिमित्तम् । ननु उपचारे आश्रिते समासकृत्तद्धितात्तु सम्बन्ध इति । लक्षणस्य प्रवृत्तिरेव नास्ति तत्कथमादिशब्देनोपचारो गृह्यते, यतस्तद्धितप्रत्य-

यान्तोऽपि तदा गर्गशब्दो नास्ति ?

उच्यते, तद्धितप्रत्ययान्तत्वं योग्यतया व्याख्यातव्यं ततो योग्यतयाऽत्राप्यस्ति । सहविवक्षायामिति युगपद्विवक्षायामित्यर्थः, सा च कथमित्युच्यते, गर्गशब्देनापि सोऽप्यभिधीयते, गर्गस्यापत्यानि गर्गाश्चेत्यनया विवक्षया, स एवेति कृत्वाऽभिन्नस्वरूपत्वम् युगपदपत्यजनपदाभिधायिन इति युगपदभिधायित्वं च कथम् ? इत्युच्यते, पञ्चालस्यापत्यानि पञ्चालाः, द्वितीयपञ्चालशब्दस्तु प्रत्ययरहितो जनपदवाची ततः पञ्चालाश्च पञ्चालाश्चेत्येकशेषे कृते युगपदभिधानं भवति ।

प्रवृत्तिनिमित्तसंघात इति अपत्यजनपदरूपः । अक्षत्वमिति अक्षशब्देनेन्द्रियपाशबिभीतकादी–न्युच्यन्ते, पादशब्देन चरणकिरणश्लोकचतुर्थां शप्रत्यन्तपर्वताः, माषशब्देन धान्यविशेषदशार्द्धगुञ्जवृक्षविशेषा उच्यन्ते, तत एकशेषे त्वप्रत्ययः ।

ननु यथा धवखदिरत्वमिति दृष्टान्त उक्तस्ततश्चात्र जातिसंहतिर्वाच्या कथंभ वति, यतः समासकृत्तद्धितात्तु संबन्ध इति लक्षणात् संबन्ध एव प्रवृत्तिनिमित्तं प्राप्नोति ?

उच्यते, प्रायिकमेतत् ज्ञातव्यं, ततो द्वंद्वेऽपि संबन्धो नाभिधीयते किन्तु जातिसंहतिरेवोच्यते ।

त्वे वेति वचनादिति ``प्राग्वतः स्त्रीपुंसा०'' (6. 1. 25.) इत्यस्मादग्रेतनेन सूत्रेणेत्यर्थः ।

प्राक्–त्वादगडुलादेः ।। 7. 1. 56. ।।

त्वतलित्यनुवर्तते, ब्रह्मणस्त्व इत्यत्र यत्त्वसंशब्दनं तस्मात् प्राक् त्वतल् इत्येतौ प्रत्ययावधिकृतौ वेदितव्यो गडुलादीन् वर्जयित्वा, ते उत्तरत्रैवोदाहरिष्यन्ते । अपवादैः समावेशार्थः कर्मणि विधानार्थश्चाधिकारः । अगडुलादेरिति किम् ? गाडुल्यम्, कामण्डलवम् । गडुल, विशस्त, दायाद, बालिश, संवादिन्, बहुभाषिन्, शीर्षघातिन् 'शीर्षाघातिन्' कमण्डलु इति गडुलादिः । एषु कमण्डलोः ``ऋवर्णाल्लघ्वादेः'' (7. 1. 69.) इत्यण् । शेषेभ्यस्तु राजादेराकृतिगणत्वात् ट्यण् । गडुलादेरपि केचिदिच्छन्ति । गडुलत्वम् गडुलता ।।56।।

*न्या०स०–प्राक्त्वा०–*ते उत्तरत्रैवेति प्रत्यययोर्द्वित्वेऽपि प्रतिसूत्रं व्यक्तयपेक्षया बहुवचनं, यद्वा त्वतल्प्रत्ययान्ताः शब्दाः ।

नञ्तत्पुरुषादबुधादेः ।। 7. 1. 57. ।।

प्राक्त्वान्नञ्पूर्वात्तत्पुरुषाद् बुधाद्यन्तवर्जितात्त्वतलौ भवत इत्ययमधिकारो वेदितव्यः

ट्यणादिबाधनार्थम् । न शुक्लोऽशुक्लस्तस्य भावोऽशुक्लत्वमशुक्लता, वर्णलक्षणट्यण्बाधया त्वतलावेव, अशौक्ल्यम् अकार्ष्ण्यमिति च ट्यणन्तेन समासः । समासात्तु ट्यणि नञो वृद्धिः प्रसज्ज्येत । एवमपतेर्भावः कर्म वा अपतित्वम् अपतिता, अत्र पत्यन्तलक्षणट्यण्बाधया । अनाधिपत्यम् अगाणपत्यमिति ट्यणन्तेन समासः । अराजत्वमराजता, अत्र राजान्तलक्षणट्यण्बाधया, अनाधिराज्यमयौवराज्यमिति ट्यणन्तेन समासः । अमूर्खत्वममूर्खता, अत्र गुणाङ्गलक्षणट्यण्बाधया । अमौर्ख्यमजाड्यमिति ट्यणन्तेन समासः । अस्थविरत्वमस्थविरता, अत्र वयोवचनलक्षणाञ्बाधया, अस्थाविरमकैशोरमित्यणञन्तेन समासः । अहायनत्वमहायनता, अत्र हायनान्तलक्षणाण्बाधया, अद्वैहायनम् अत्रैहायनमित्यणन्तेन समासः । अपटुत्वमपटुता, अत्र य्वृवर्णलक्षणाण्बाधया, अपाटवमलाधवमित्यणन्तेन समासः । अरमणीयत्वमरमणीयता, अत्र योपान्त्यलक्षणाकञ्बाधया । अरामणीयकम् अकामनीयकमित्यकञन्तेन समासः । नञ्ग्रहणं किम् ? प्राजापत्यम् सैनापत्यम् । तत्पुरुषादिति किम् ? न विद्यते पतिरस्य अपतिर्ग्रामः तस्य भावः कर्म वा आपत्यम् एवमाराज्यम्, आहायनम्, आरमणीयकम् । अबुधादेरिति किम् ? न बुधः अबुधः तस्य भावः कर्म वा आबुध्यम्, आचतुर्यम् ।

बुध, चतुर, संगत, लवण, वड, कत, रस, लस, यथा, तथा, यथातथ, यथापुर, ईश्वर, क्षेत्रज्ञ, संवादिन्, संवेशिन्, संभाषिन्, बहुभाषिन्, शीर्षघातिन्, समस्थ, विषमस्थ, पुरस्थ, परमस्थ, मध्यस्थ, मध्यमस्थ, दुष्पुरुष, कापुरुष, विशाल इति बुधादिः, एभ्यो नञ्तत्पुरुषेभ्यो राजादित्वात् ट्यण् । गडुलविशस्तदायादानामपि पाठं केचित् इच्छन्ति । अन्ये तु बुधादीनामष्टानामेव प्रतिषेधमिच्छन्ति, एषामेव च विकल्पमपरे । अथ ट्यणन्तानामेषां नञ्समासो भवति वा नवा बुधस्य भावः कर्म वा बौध्यम् न बौध्यम् अबौध्यमिति । भवतीत्येके, न भवतीत्यन्ये ।।57।।

न्या०स०—नञ् तत्०—अत्र वयोवचनेति स्थविरशब्दस्य केवलस्यैव युवादौ पाठादत्र नञ्पूर्वस्य वयोलक्षणस्याञ एव प्राप्तिस्तेनास्थाविरमित्यत्र युवाद्यण् ।

अत्रैहायनमिति त्रयो हायना यस्य गृहस्य त्रिहायनस्य भावः, अत्रावयोऽर्थत्वात् ``चतुस्त्रेर्हायनस्य वयसि'' (2. 3. 74.) इति न णत्वम् ।

पृथ्वादेरिमन् वा ।। 7. 1. 58. ।।

पृथु इत्येवमादिभ्यस्तस्य भावे इमन् प्रत्ययो वा भवति । प्राक्त्वादित्यधिकारात् त्वतलौ च, वावचनाद्यश्चाणादिः प्राप्नोति सोऽपि भवति । पृथोर्भावः प्रथिमा पृथुत्वं पृथुता पार्थवम्,

म्रदिमा मृदुत्वं मृदुता मार्दवम्, बहुलस्य भावो बंहिमा । इमनि बहुलस्य ``प्रियस्थिर'' (7. 4. 38.) इत्यादिना बंहभावः, बहुलत्वं बहुलता बाहुल्यम् । ट्यण् । वत्सिमा, वत्सत्वं, वत्सता वात्सं, वयोलक्षणोऽञ् । पृथु, मृदु, पटु, महि, तनु, लघु, बहु, साधु, आशु, उरु, गुरु, खण्डु, पाण्डु, बहुल, चण्ड, खण्ड, अकिंचन, बाल, होड, पाक, वत्स मन्द, स्वादु, ऋजु, वृष, कटु, ह्रस्व, दीर्घ, क्षिप्र, क्षुद्र, प्रिय, महत्, अणु, चारु, वक्र, वृद्ध, काल, तृप्त, इति पृथ्वादिः ॥58॥

वर्ण–दृढादिभ्यष्ट्यण् च वा ॥ 7. 1. 59. ॥

वर्णविशेषवाचिभ्यो दृढादिभ्यश्च तस्य भावे ट्यण् इमन् च इत्येतौ प्रत्ययौ वा भवतः, प्राक्त्वादित्यधिकारात् त्वतलौ च । वावचनाद्यश्चाण् प्राप्नोति सोऽपि भवति । शुक्लस्य भावः शौक्ल्यं शुक्लिमा शुक्लत्वं शुक्लता, कार्ष्ण्यं कृष्णिमा कृष्णत्वं कृष्णता, काद्रव्यं कद्रिमा कद्रुत्वं कद्रुता, शितेर्भावः शैत्यं शितिमा शितित्वं शितिता शैतम्, वावचनाद्य्वृवर्णान्तस्य पाश्वरूप्यम् । दृढादि, द ढर्य्यं द्रढिमा दृढत्वं दृढता, वार्ढ्यं व्रढिमा वृढत्वं वृढता, पारिवृढ्यं परिव्रढिमा परिवृढत्वं परिवृढता, वैमत्यं विमतिमा विमतित्वं विमतिता वैमतम्, सांमत्यं संमतिता संमतित्वं संमतिता सांमतम्, य्वृवर्णान्तलक्षणोऽण् टकारो ङ्यर्थः । अर्हतो भावः कर्म वा आर्हन्त्यम् ङी चेत् आर्हन्ती । एवमौचिती, यथाकामी, सामग्री, शैली, पारिख्याती, आनुपूर्वी ।

दृढ, वृढ, परिवृढ, कृश, भृश, चुक्र, शुक्र, आम्र, ताम्र, अम्ल, लवण, शीत, उष्ण, तृष्णा, जड, बधिर, मूक, मूर्ख, पण्डित, मधुर, वियात, विलात, विमनस्, विशारद, विमति, संमति, संमनस् इति दृढादिः । बहुवचनादाकृतिगणोऽयम्, तेन स्थैर्यं स्थेमेत्याद्यपि सिद्धम् ॥59॥

*न्या०स०–वर्ण०–*व्रढिमेति अत्र मतान्तरेण रत्वं, एतच्च ``पृथुमृदु'' (7. 4. 39.) इत्यत्र कथयिष्यते ।

पति–राजान्त–गुणाङ्ग–राजादिभ्यः कर्मणि च ॥ 7. 1. 60. ॥

पत्यन्तेभ्यो राजान्तेभ्यो गुणाङ्गेभ्यो राजादिभ्यश्च तस्येति षष्ठ्यन्तेभ्यो भावे कर्मणि च क्रियायां ट्यण् प्रत्ययो भवति, प्राक्त्वादित्यधिकारात् त्वतलौ च । पत्यन्त, अधिपतेर्भावः कर्म वा आधिपत्यम्, अधिपतित्वम्, अधिपतिता । एवं नारपत्यम्, बार्हस्पत्यम्, प्राजापत्यम्,

सैनापत्यम् । राजान्त-आधिराज्यम्, अधिराजत्वम्, अधिराजता, एवं सौराज्यम्, यौवराज्यम् गुणाङ्ग-द्रव्याश्रयी गुणः । गुणोऽङ्गं निमित्तं येषां प्रवृत्तौ ते गुणाङ्गाः गुणद्वारेण ये गुणिनि वर्तन्ते न तु गुणवचना एव । मौढ्यम् मूढत्वम् मूढता, मौखर्यम्, वैदुष्यम्, राजादि राज्यम् राजत्वं राजता, काव्यं कवित्वं कविता, ब्राह्मण्यं ब्राह्मणत्वं ब्राह्मणता । चकारो भावे कर्मणि चेत्युभयसमुच्चयार्थः ।

राजन्, कवि, ब्राह्मण, माणव, दण्डमाणव, वाडव, चौर, धूर्त, आराधय, विराधय, उपराधय, अपिराधय, अनृशंस, कुशल, चपल, निपुण, पिशुन, चौक्ष, स्वस्थ, विश्वस्त, विफल, विशस्य, पुरोहित, ग्रामिक, खण्डिक, दण्डिक, कर्मिक, चर्मिक, वर्मिक, शिलिक, सूतक, अजिनिक, अञ्जनिक, अञ्जलिक, छत्रिक, सूचक, सुहित, बाल, मन्द, होड राजादिराकृतिगणः ।।60।।

न्या०स०—पति०—द्रव्याश्रयी गुण इति द्रव्याणामेवाश्रय एवास्यास्तीति, ततो द्रव्यमेवाश्रयो यस्येति जातेर्व्यवच्छेदः अयं चैवकारोऽन्ययोगं व्यवच्छेदयति, नहि जातिर्द्रव्यमेवाश्रयति किंतु गुणमपि इति जातिर्गुणो न भवति । आश्रय एवेति किमुक्तं भवति ? केवलो गुणो न भवति, किंतु द्रव्यमेवाश्रयति, अनेन चायोगव्यच्छेदः, तेनोत्क्षेपणावक्षेपणेति या तार्किकाणां क्रिया तस्या गुणसंज्ञा न भवति, यत्तस्या आश्रय एव नास्ति ।

न च गुणवचना एवेति न हि मूढो गुणोऽपि भण्यते, किंतु मोहगुणद्वारेण गुणिन्येव वर्त्तते, अतो गुणोऽङ्गं प्रवृत्तिनिमित्तमस्याऽपि विद्यते इति गुणाङ्गः न तु गुणवचनः, गुणवचना हि पूर्वं गुणे पश्चाद् गुणिनि वर्त्तन्ते, एतावता रूपादीनां व्युदासः ।

आराधयेति आङ्पूर्वाद्राधेः ण्यन्तादत एव निपातनात् शः एवमुत्तरत्रयेऽपि । अनृशंसेति नॄन् शंसत्यण्, ततो नञा योगः।

चौक्षेति चुक्षा शीलमस्य ``अङ्स्था'' (6. 4. 60.) इत्यञ् ।

अर्हतस्तो—न्त् च ।। 7. 1. 61. ।।

अर्हत्शब्दात् षष्ठ्यन्ताद्भावे कर्मणि चार्थे ट्यण् प्रत्ययो भवति तत्संनियोगे च तकारस्य न्त् इत्यादेशो भवति, अरिहननात् रजोहननात् रहस्याभावाच्च अर्हन् पृषोदरादित्वात् । यद्वा, चतुस्त्रिंशतमतिशयान् सुरेन्द्रादिकृतां पूजां वार्हतीति अर्हन्, तस्य भावः कर्म वा आर्हन्त्यम्, आर्हन्ती । प्राक्त्वादितित्वतलौ च अर्हत्त्वम्, अर्हत्ता ।।61।।

सहायाद् वा ।। 7. 1. 62. ।।

सहायशब्दात्तस्य भावे कर्मणि च ट्यण् प्रत्ययो वा भवति, वावचनात्पक्षे योपान्त्यलक्षणोऽकञ् । प्राक्त्वादिति त्वतलौ च । सहायस्य भावः कर्म वा साहाय्यम्, साहायकम्, सहायत्वम्, सहायता ।। 62।।

सखि-वणिग्-दूताद् यः ।। 7. 1. 63. ।।

सखिवणिज्दूत इत्येतेभ्यस्तस्य भावे कर्मणि च यः प्रत्ययो भवति प्राक्त्वादिति त्वतलौ च । सख्युर्भावः कर्म वा सख्यम् सखित्वम् सखिता, वणिज्या वणिज्यम् वणिक्त्वं वणिक्ता, दूत्यम् दूतत्वं दूतता, राजादिराकृति-गणत्वात् ट्यणपि । वाणिज्यम् दौत्यम् ।।63।।

स्तेनान्नलुक् च ।। 7. 1. 64. ।।

स्तेनशब्दात्तस्य भावे कर्मणि च यः प्रत्ययो भवति तत्संनियोगे च न इत्येतस्य लुग् भवति, प्राक्त्वादिति त्वतलौ च । स्तेनस्य भावः कर्म वा स्तेयम्, स्तेनत्वम्, स्तेनता । राजादिदर्शनात् स्तैन्यमित्यपि भवति ।।64।।

कपि-ज्ञातेरेयण् ।। 7. 1. 65. ।।

कपि ज्ञाति इत्येताभ्यां तस्य भावे कर्मणि च एयण् प्रत्ययो भवति त्वतलौ च । कपेर्भावः कर्म वा कापेयम् कपित्वम्, कपिता, ज्ञातेयम्, ज्ञातित्वम्, ज्ञातिता, कपेः इकारान्तत्वादणि प्राप्ते ज्ञातेश्च प्राणिजातित्वादञि प्राप्ते वचनम् ।।65।।

न्या०स०-कपि०-इकारान्तत्वादिति यद्यपि कपिशब्दस्य प्राणिजातित्वं तथापि विशेषत्वात् ``य्वृवर्ण'' (7. 1. 69.) इत्यणि प्राप्ते ।

प्राणिजाति-वयोऽर्थादञ् ।। 7. 1. 66. ।।

प्राणिजातिवाचिनो वयोवचनाच्च तस्य भावे कर्मणि चाञ् प्रत्ययो भवति त्वतलौ च । अश्वस्य भावः कर्म वा आश्वम्, अश्वत्वम्, अश्वता, गार्दभम्, माहिषम्, द्वीपिनो द्वैपम्, हस्तिनो हास्तम्, अञि ``नोऽपदस्य तद्धिते'' (7. 4. 61.) इति अन्त्यस्वरादिलोपः । वयोऽर्थ-कुमारस्य भावः कर्म वा कौमारम्, कुमारत्वम्, कुमारता, कैशोरम्, शावम्, वार्करम्, कालभम् । प्राणिग्रहणं किम् ? तृणत्वम्, तृणता । जातिग्रहणं किम् ? देवदतत्वम्, देवदत्तता ।।66।।

युवादेरण् ।। 7. 1. 67. ।।

युवादिभ्यः शब्देभ्यस्तस्य भावे कर्मणि चाण् प्रत्ययो भवति त्वतलौ च । यूनो लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणात् युवतेर्भावः कर्म वा यौवनम् युवत्व युवता, चौरादिपाठाद्यौवनिकेत्यपि भवति । स्थाविरम्, स्थविरत्वम्, स्थविरता ।

युवन्, स्थविर, यजमान, कुतुक, श्रमण, श्रमणक, श्रवण, कमण्डलुक, कुस्त्री, दुःस्त्री, सुस्त्री, सुहृदय, दुर्हृदय, सुहृत्, दुर्हृत्, सुभ्रातृ, दुर्भ्रातृ, वृषल, परिव्राजक, सब्रह्मचारिन्, अनृशंस, चपल, कुशल, निपुण, पिशुन, कुतूहल, क्षेत्रज्ञ, उद्गातृ, उन्नेतृ, प्रशास्तृ, प्रतिहर्तृ, होतृ, पोतृ, भ्रातृ, भर्तृ, रथगणक, पत्तिगणक, सुष्ठु, दुष्ठु, अध्वर्यु, कर्तृ, मिथुन, कुलीन, सहस्, 'सहस्त्र', कण्डुक कितव इति युवादिः ।

स्थविरश्रमणपिशुननिपुणकुशलचपल-अनृशंसेभ्यो राजादिदर्शनात् ट्यणपि भवति । स्थाविर्यं श्रामण्यमित्यादि, पूर्वत्राणि द्वैपादि न सिध्यति । इह त्वञि यौवनादि इत्यत्रणोरुपादानम् ।।67।।

न्या०स०–युवा०–सुहृदयदुर्हृदशब्दयोरणि ``हृदयस्य'' (3. 2. 94.) इत्यादेशे ``हृद्भग'' (7. 4. 25.) इत्युभयपदवृद्धो सौहार्द दौहार्दमिति, एवमुत्तरयोरपि, ततश्च एकतरद्वयोपादानेनैव सिद्धे यत् युगलद्वयोपादानं तदर्थभेदार्थम् ।

हायनान्तात् ।। 7. 1. 68. ।।

हायनान्तेभ्यः शब्देभ्यस्तस्य भावे कर्मणि चाण् प्रत्ययो भवति त्वतलौ च । द्वैहायनम्, द्विहायनत्वम्, द्विहायनता, त्रैहायनम्, चातुर्हायनम् । अत्रावयोवाचित्वात् ``चतुस्त्रेर्हायनस्य वयसि''–(2. 3. 75.) इति णत्वं न भवति, वयसि तु पूर्वेणात्र् । त्रैहायणम्, चातुर्हायणम् ।।68।।

ॠवर्णाल्लघ्वादेः ।। 7. 1. 69. ।।

लघुरादिर्यस्येवर्णोवर्णवर्णस्य तदन्तान्नाम्नस्तस्य भावे कर्मणि चाण् प्रत्ययो भवति त्वतलौ च । शुचेर्भावः कर्म वा शौचम्, शुचित्वं, शुचिता, शकुनेः, शाकुनम्, मुनेर्भावः कर्म वा मौनम्, संमतेः साम्मतम्, कवेर्भावः कर्म वा काव्यमिति तु राजादिपाठात्, नखरजन्या नाखरजनम्, हरीतक्या हारीतकम्, तितउनस्तैतवम् । पृथोः पार्थवम्, पटोः पाटवम्, लघोर्लाघवम्, वध्वा वाधवम्, पितुः पैत्रम्, आदिग्रहणं समीपमात्रार्थम्, तेन तितउ इत्यत्रा-

व्यवहिते शुच्यादो चैक्रवर्णव्यवहिते लघुनि भवति । ऋवर्णादिति किम् ? घटत्वं, पटत्वम् । लघ्वादेरिति किम् ? पाण्डुत्वं, कण्डूत्वम् । केचित्तु कृशानोर्भावः कर्म वा कार्शानवम् अरत्नेरारत्नम् अरातेरारातम् इत्यादिष्वपीच्छन्ति, तन्मतसंग्रहार्थं लघ्वादेरिति प्रकृतेर्विशेषणम् न ऋवर्णस्येति व्याख्येयम्, तन्मते साम्मतमिति न भवति ।।69।।

पुरुष–हृदयादसमासे ।। 7. 1. 70. ।।

पुरुषहृदय इत्येताभ्यां तस्य भावे कर्मणि चाण् भवति त्वतलौ च असमासे न चेदनयोः समासो विषयभूतो भवति । पुरुषस्य भावः कर्म वा पौरुषम् पुरुषत्वं पुरुषता, हृदयस्य भावः कर्म वा हार्दम्, ``हृदयस्य हृल्लासलेखाण्ये'' (3. 2. 94.) इति हृद्भावः, हृदयत्वम् हृदयता । असमास इति किम् ? परमपुरुषत्वम् परमहृदयत्वम् सत्पुरुषत्वम् सौहृदय्यम् । परमपौरुषम् परमहार्दम् इत्यादि मा भूत् । अत एव निषेधात् सापेक्षादपि भावप्रत्ययो विज्ञायते, तेन काकस्य कार्ष्ण्यम् बलाकायाः शौक्ल्यम् इत्यादि सिद्धम् । पौरुषमिति प्राणिजात्यञापि सिद्धम्, समासविषये प्रतिषेधार्थं पुरुषोपादानम् ।।70।।

*न्या०स०–पुरु०–*असमास इति प्रसज्य प्रतिषेधः न पर्युदासः, तत्र हि समासादन्यत्र कस्यांचिद्वृत्तौ स्यात् बहुहृदयो बहुपुरुष इति इह न स्यात् ।

पौरुषम्, हार्दम् असमास इति च विषयसप्तमीयं न सत्सप्तमी, अस्यां हि ग्रहणवता नाम्ना इति न्यायेन केवलाभ्यामेवाण उक्तत्वात् परमश्चासौ पुरुषश्च परमपुरुषादेः प्राप्तिरेव नास्ति, अतो विषयग्रहणात् समासार्वागवस्थायां परमस्य पुरुषस्य भाव इत्येवंविधायां प्रत्ययः प्रकृत्यादेरिति परिभाषया परमपौरुषमिति स्यात् ।

ननु परमं च तत् पौरुषं चेति कृते परमपौरुषमिति भवति वा नवा ?

उच्यते, सादृश्यत्वान्न भवति, एवं हि कृते परमस्य पुरुषस्य भावः परमं च तत्पौरुषं चेति वा कृतमिति विशेषो न ज्ञायते ।

परम पौरुषं मा भूदिति ततश्च परमस्य पुरुषस्य भाव इति वाक्ये ``सन्महत्'' (3. 1. 107.) इत्यादिना समासविषयो यतो भावपदापेक्षया षष्ठी ततः सामानाधिकरण्यं इति ``सन्महत्'' (3. 1. 107.) इति प्राप्तिः, ततस्त्वे समानीते सति पुरुषत्वं एवंविधेन शब्देन सह परमशब्दस्य समासः, ``षष्ठ्ययत्नाच्छेषे'' (3. 1. 76.) इत्यनेनैव परमस्यैवंविधस्य पुरुषत्वेन शब्देन सह समासो न भवति, ``सन्महत्'' (3. 1. 107.) इति सूत्रेण विशेषणविशेष्याभावात्, विशेषणविशेष्यत्वं च समानाधिकरण्ये सति संभवति, अत्र पुरुषत्वं परमस्येति वैयधिकरण्यं, अतः ``षष्ठ्ययत्ना''

(3. 1. 76.) इत्यनेनैव समास इति प्रकारद्वयेनापि समासविषयो भवति ।

अत एवेति ननु समासे चिकीर्षिते पुरुषहृदयशब्दौ पदान्तरापेक्षौ भवतस्तत्र सापेक्षत्वादेव न भविष्यति किं प्रतिषेधेन ? इत्याह—सापेक्षाद्पीत्यादि ।

श्रोत्रियाद् यलुक् च ॥ 7. 1. 71. ॥

श्रोत्रियशब्दात्तस्य भावे कर्मणि चाण् प्रत्ययो भवति तत्संनियोगे च य इत्यस्य लोपो भवति त्वतलौ च । श्रोत्रियस्य भावः कर्म वा श्रौत्रम्, श्रोत्रियत्वं श्रोत्रियता, चौरादिपाठादकञपि श्रौत्रियकम् ॥71॥

योपान्त्याद्—गुरूपोत्तमादसुप्रख्यादकञ् ॥ 7. 1. 72. ॥

त्रिप्रभृतीनामन्त्यमुत्तमम्, तत्समीपमुपोत्तमम्, उपोत्तमं गुरुर्यस्य तस्मात् यकारोपान्त्यात् सुप्रख्यवर्जितात् तस्य भावे कर्मणि चाकञ् प्रत्ययो भवति त्वतलौ च ।

रमणीयस्य भावः कर्म वा रामणीयकम्, रमणीयत्वम् रमणीयता, दार्शनीयकम्, कामनीयकम्, औपाध्यायकम् पानीयकम् । गुरुग्रहणादनेकव्यञ्जनव्यधानेऽपि भवति । आचार्यकम्, गुरुग्रहणं हि दीर्घपरिग्रहार्थं संयोगपरपरिग्रहार्थं च, अन्यथा दीर्घोपोत्तमादित्युच्येत । योपान्त्यादिति किम् ? कापोतं, विमानत्वम् । गुरुपोत्तमादिति किम् ? क्षत्रियत्वम्, कायत्वम् । असुप्रख्यादिति किम् ? सुप्रख्यत्वम् । गुणाङ्गत्वात् ट्यणपि, सौप्रख्यम् ॥72॥

न्या०स०—योपा०— गुरुपोत्तम इत्यत्र ``विशेषणसर्वादि'' (3. 1. 150.) इति गुरोः पूर्वनिपातः संयोगपरेति—संयोगे गुरुरित्यर्थः, तेनाचार्यकमित्यादावनेक—व्यञ्जनव्यधानेऽपि ।

क्षत्रियत्वम्, कायत्वम्—प्रथमे गुरुनास्ति द्वितीये तु उपोत्तमत्वं नास्ति ।

चौरादेः ॥ 7. 1. 73. ॥

चौरादिभ्यस्तस्य भावे कर्मणि चाकञ् प्रत्ययो भवति त्वतलौ च । चौरस्य भावः कर्म वा चौरिका चौरकम्, धौर्तिका धौर्तकम्, मानोज्ञकम्, प्रैयरूपकम्, चौरत्वम्, चौरता ।

चौर, धूर्त, युवन्, ग्रामपुत्र, ग्रामसण्ड, ग्रामसाण्ड, ग्रामकुमार, ग्रामकुल, ग्रामकुलाल, अमुष्यपुत्र, अमुष्यकुल, शरपत्र, शारपत्र, मनोज्ञ, प्रियरूप, अदोरूप, अभिरूप, बहुल, मेधाविन्, कल्याण, आढ्य, सुकुमार, छान्दस, छात्र, श्रोत्रिय, विश्वदेव, ग्रामिक, कुलपुत्र, सारपुत्र, वृद्ध, अवश्यम् इति चौरादिः ।

मनोज्ञादीनामकञन्तानां नपुंसकत्वमेव । पूर्वेषां तु 'चौराद्यमनोज्ञाद्यकञिति स्त्रीनपुंसकते' । चौर्यं धौर्त्यं ग्रामिक्यमिति राजादित्वात् ट्यणपि ॥73॥

द्वन्द्वाल्लित् ॥ 7. 1.74. ॥

द्वन्द्वसमासात्तस्य भावे कर्मणि चाकञ् प्रत्ययो भवति स च लित् त्वतलौ च, लित्करणं स्त्रीत्वार्थम् । गोपालपशुपालानां भावः कर्म वा गौपालपशुपालिका, शैष्योपाध्यायिका, कौत्सकुशिकिका, विश्च पक्षी ना च नरः विन्नोर्भावः कर्म वा वैन्निका, अत्र ``खृवर्णाल्लघ्वादेः'' (7. 1. 69.) इत्यणि प्राप्ते परत्वादकञ् । एवं भारतबाहुबलिका, गोपालपशुपालत्वम्, गोपालपशुपालता ॥74॥

न्या०स०–द्वंद्वा०– कौत्सकुशिकिकेति कुत्सस्य कुशिकस्य चापत्यानि प्रथमे ऋष्यण् द्वितीये 'विदाद्यञ्', ``भृग्वङ्गिर सक्रुत्स'' (6. 1. 128.) ``यञञोश्यापर्ण'' (6. 1. 126.) इति च यथाक्रमं लुक् ।

एवमिति अत्राष्यणि प्राप्ते इत्यर्थः, अत्र बाहुबलिशब्द इकारान्तो ग्राह्यः अन्यथाऽणोऽप्राप्तिः ।

गोत्र–चरणाच्छ्लाघा–ऽत्याकार–प्राप्त्यवगमे ॥ 7. 1. 75. ॥

गोत्रवाचिनश्चरणवाचिनश्च शब्दात्तस्य भावे कर्मणि च लिदकञ् प्रत्ययो भवति त्वतलौ च श्लाघादिषु विषयभूतेषु, श्लाघा विकत्थनम्, अत्याकारः पराधिक्षेपः, विषयभावः पुनः श्लाघादीनां क्रियारूपाणां भावकर्मणी प्रति साध्यत्वात् । गोत्रमपत्यम् प्रवराध्याय पठितं च चरणं शाखानिमित्तं कठादि । गार्ग्यस्य भावः कर्म वा गार्गिका तया श्लाघते, काठिकया विकत्थते, गार्गिकयात्याकुरुते, काठिकयाधिक्षिपति, गार्गिकां प्राप्तवान् । काठिकामधिगतवान्, गार्गिकामवगतवान्, काठिकां विज्ञातवान्, गार्ग्यत्वेन गार्ग्यतया कठत्वेन कठतया श्लाघते । श्लाघादिष्विति किम् ? गार्गम्, काठम्, प्राणिजातिलक्षणोञ् ॥75॥

न्या०स०–गोत्रचरणा० विषयभूतेष्विति न विशेषणेषु, यतो विशेषणानि न घटन्ते, कुतः ? इति चेत्,–उच्यते, भाव इति शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तमिह गृह्यते, गार्गिकाइत्यादिषु न श्लाघादयः प्रवृत्तिनिमित्तान्यपि तर्हि गर्गत्वमिति, कर्म्म इति च क्रिया गृह्यते, अतः क्रिया-विशेषणं न संभवतीति श्लाघादिषु विषयभूतेष्विति व्याख्यातम् ।

साध्यत्वादिति भावकर्म्मभ्यां कर्तृभ्यां श्लाघादयो यत्र साध्यन्ते इति तात्पर्यम्, विषयभाव इत्यादिना श्लाघादीनां भावकर्म्मणी प्रति विषयमाह, एषां च भावकर्म्मणी प्रति विषयत्वं भावकर्म्मसाध्यत्वात्, क्रियारूपत्वाच्च तेषां भावकर्म्मणी प्रति साध्यत्वमुपपद्यत एव भावकर्म्मणोः सत्वात्मनोस्तत्र कारकत्वोपपत्तेरिति श्लाघादीनां कारके भावे कर्म्मणि च प्रत्यय इत्यर्थः, अयमर्थः, श्लाघाद्या हि क्रियास्ताश्च कारकैरेव साध्याः, कारकाणि चात्र भावकर्म्मरूपाण्येवेति तैः साध्यत्वम् ।

पठितं चेति प्रवरमाद्यं गोत्रं तस्याध्यायस्तत्र पठितं यत् गोत्रं तदप्यभिधीयते, एतेन किमुक्तं भवति ? द्विविधमिह गोत्रं गृह्यते, तेन मित्रयोर्भावः कर्म वेति कृते मैत्रेयिकेत्यत्र प्रयोजनम् ।

होत्राभ्य ईयः ॥ 7. 1. 76. ॥

होत्राशब्द ऋत्विग्विशेषवचनः, ऋत्विग्विशेषवाचिभ्यस्तस्य भावे कर्मणि च ईयः प्रत्ययो भवति त्वतलौ च । मैत्रावरुणस्य भावः कर्म वा मैत्रावरुणीयम्, मैत्रावरुणत्वम्, मैत्रावरुणता ॥ अग्नीधः अग्नीधीयम्, नेष्टुः नेष्ट्रीयम्, पोतुः पोत्रीयम्, ब्राह्मणाच्छसिनो ब्राह्मणाच्छंसीयम् । हूयते आभिरिति होत्रा ऋच इत्येके, तान्येवोदाहरणानि । मैत्रावरुणादयस्तु ऋग्वचनाः, बहुवचनं स्वरूपविधिनिरासार्थम् ॥76॥

*न्या०स०–होत्रा०–*ऋत्विग्विशेषवचन इति स्त्रीलिङ्गोऽपि सन् ऋत्विजः प्राह ।

ब्रह्मणस्त्वः ॥ 7. 1. 77. ॥

होत्राभ्य इति वर्तते, ब्रह्मन् इत्येतस्मादृत्विग्वाचिनस्तस्य भावे कर्मणि च त्वः प्रत्ययो भवति, ईयापवादः । ब्रह्मणो भावः कर्म वा ब्रह्मत्वम्, होत्राधिकाराद् ब्राह्मणपर्यायाज्जातिवाचिनो ब्रह्मन्शब्दात् तलपि भवति, ब्रह्मत्वम् ब्रह्मता ॥77॥

*न्या०स०–ब्रह्मण०–*ईयापवाद इति ईयेत्युपलक्षणं तलोऽप्ययमपवादः, अन्यथा ईयस्यैव प्रतिषेधे ब्रह्मणो नेति सूत्रं कुर्यात् ।

तलपीति न केवलं ``भावे त्वतल्'' (7. 1. 55.) इत्यनेन त्वः किंतु तलपि, अयमर्थः ऋत्विग्वचनस्य ब्राह्मणवचनस्य च त्वप्रत्ययः समानः, तेन जातिवचनस्य तलपि भवतीत्यर्थः । उपलक्षणं चेदं तेन ब्रह्मणो भावः कर्म्म वा प्राणिजात्यत्रि ब्राह्ममित्यपि ।

शाकट–शाकिनौ क्षेत्रे ।। 7. 1. 78. ।।

तस्येति वर्तते, क्षेत्रं धान्यादीनामुत्पत्त्याधारभूमिः, तस्येति षष्ठ्यन्तात्क्षेत्रेऽर्थे शाकटशाकिन इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः । इक्षूणां क्षेत्रम् इक्षुशाकटम्, इक्षुशाकिनम्, मूलकशाकटं मूलकशाकिनम्, शाकशाकटम् शाकशाकिनम् ।।78।।

धान्येभ्य ईनञ् ।। 7. 1. 79. ।।

धान्यवाचिभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्यः क्षेत्रेऽर्थे ईनञ् प्रत्ययो भवति । कुलत्थानां क्षेत्रं कौलत्थीनम्, मौद्गीनम्, प्रैयङ्गवीणम्, नैवारीणम्, कौद्रवीणम् ।।79।।

व्रीहि–शालेरेयण् ।। 7. 1. 80. ।।

व्रीहिशालि इत्येताभ्यां तस्य क्षेत्रे एयण् प्रत्ययो भवति, ईनञोऽपवादः । व्रीहेः क्षेत्रं व्रैहेयम्, शालेयम् ।।80।।

यव–यवक–षष्टिकाद् यः ।। 7. 1. 81. ।।

यवयवकषष्टिक इत्येतेभ्यस्तस्य क्षेत्रे यः प्रत्ययो भवति, ईनञोऽपवादः । यवानां क्षेत्रं यव्यं, यवक्यं, षष्टिक्यम्, षष्टिरात्रेण पच्यमाना व्रीहयः षष्टिकाः, अतः एव निपातनात् सिद्धिः ।।81।।

वाऽणु–माषात् ।। 7. 1. 82. ।।

अणुमाष इत्येताभ्यां षष्ठ्यन्ताभ्यां क्षेत्रेऽर्थे यः प्रत्ययो भवति वा, पक्षे ईनञ् । अणूनां क्षेत्रमणव्यम्, आणवीनम्, माष्यम्, माषीणम् ।।82।।

वोमा–भङ्गा–तिलात् ।। 7. 1. 83. ।।

उमाभङ्गातिल इत्येतेभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्यः क्षेत्रेऽर्थे यः प्रत्ययो वा भवति, पक्षे ईनञ् । उमाभङ्गे अपि धान्ये एवेष्येते । उमानां क्षेत्रम् उम्यम् औमीनम्, भङ्ग्यम्, भाङ्गीनम्, तिल्यम्, तैलीनम्, योगविभाग उत्तरार्थः ।।83।।

अलाब्वाश्च कटो रजसि ।। 7. 1. 84. ।।

अलाबूशब्दाच्चकारादुमाभङ्गातिलेभ्यश्च षष्ठ्यन्तेभ्यो रजस्यर्थे कटः प्रत्ययो भवति । अलाबूनां रजः अलाबूकटम्, उमाकटम्, भङ्गाकटम्, तिलकटम् ॥84॥

अह्वा गम्येऽश्वादीनञ् ॥ 7. 1. 85. ॥

तस्येति षष्ठ्यन्तादश्वशब्दादेकेनाह्ना गम्येऽर्थे ईनञ् प्रत्ययो भवति । अश्वस्यैकेनाह्ना गम्यः आश्वीनोऽध्वा, अह्नेति किम् ? अश्वस्य मासेन गम्यः ॥85॥

कुलाज्जल्पे ॥ 7. 1. 86. ॥

तस्येति षष्ठ्यन्तात्कुलशब्दाज्जल्पेऽर्थे ईनञ् प्रत्ययो भवति । कुलस्य जल्पः कौलीनम् ॥86॥

पील्वादेः कुणः पाके ॥ 7. 1. 87. ॥

पीलु इत्यादिभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्यः पाकेऽर्थे कुणः प्रत्ययो भवति । पीलूनां पाकः पीलुकुणः, कर्कन्धुकुणः ।

पीलु, कर्कन्धु, शमी, करीर, बदर, कुवल, अश्वत्थ, खदिर इति पील्वादिः ॥87॥

कर्णादेर्मूले जाहः ॥ 7. 1. 88. ॥

कर्णादिभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्यो मूलेऽर्थे जाहः प्रत्ययो भवति । कर्णस्य मूलं कर्णजाहम्, अक्षिजाहम् ।

कर्ण, अक्षि, आस्य, वक्त्र, नख, मुख, केश, दन्त, ओष्ठ, भ्रू, शृङ्ग, पाद, गुल्फ, पुष्प, फल इति कर्णादिः ॥88॥

पक्षात् तिः ॥ 7. 1. 89. ॥

पक्षशब्दात्षष्ठ्यन्तान्मूलेऽर्थे तिः प्रत्ययो भवति । पक्षस्य मूलं पक्षतिः ॥89॥

*न्या०स०–पक्षा०–*पक्षतिरिति मूलेप्यभिधेये शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् स्त्रीलिङ्गः ।

हिमादेलुः सहे ॥ 7. 1. 90. ॥

हिमशब्दात्षष्ठ्यन्तात्सहे सहमानार्थे एलुः प्रत्ययो भवति । हिमस्य सहः हिमं सहमानः हिमेलुः ।।90।।

बल–वातादूलः ।। 7. 1. 91. ।।

बलवात इत्येताभ्यां षष्ठ्यन्ताभ्यां सहेऽर्थे ऊलः प्रत्ययो भवति । बलस्य सहः बलं सहमानः बलूलः, वातूलः ।।91।।

*न्या०स०–बल०–*वातूल इति वातसहः, वातासहोऽप्येतदर्थ एवेति शब्दभेदः ।

शीतोष्ण–तृप्रादालुरसहे ।। 7. 1. 92. ।।

शीत, उष्ण, तृप्त इत्येतेभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्योऽसहेऽसहमानेर्थे आलुः प्रत्ययो भवति । शीतस्यासहः शीतमसहमानः शीतालुः, उष्णालुः, तृप्रालुः, तृप्रम् दुःखम् ।।92।।

यथामुख–संमुखादीनस्तद्–दृश्यतेऽस्मिन् ।। 7. 1. 93. ।।

यथामुखसंमुख इत्येताभ्यां तदिति प्रथमान्ताभ्यामस्मिन्निति सप्तम्यर्थे ईनः प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमान्तं दृश्यते यत्तद्भवति, यथामुखं दृश्यतेऽस्मिन् यथामुखीनः आदर्शादिः मुखस्य सदृशोऽर्थो यथामुखं प्रतिबिम्ब उच्यते, अत एव ``निपातनाद्यथाथा'' (3. 1. 41.) इति प्रतिषेधेऽप्यव्यीभावः । समं मुखं संमुखम्, समं मुखमस्यानेनेति वा संमुखं प्रतिबिम्बमेव, अत एव निपातनात्समशब्दस्य अन्तलोपः, संमुखं दृश्यतेऽस्मिन्निति संमुखीनः, यथामुखीनः सीताया इति । संमुखीनो हि जयो रन्ध्रप्रहारिणामिति च उपमानात् ।।93।।

*न्या०स०–यथा०–*अन्तलोप इति ननु सम्शब्द एव वृत्तिविषये समशब्दस्यार्थे वर्त्तिष्यते ततः किं समस्यान्तलोपेन ?

उच्यते, समशब्दस्यापि विशेषणसमासादौ मुखशब्देन संमुख इति यथा स्यादित्येवमर्थम् ।

सर्वादेः पथ्यङ्ग–कर्म–पत्र–पात्र–शरावं व्याप्नोति ।। 7. 1. 94. ।।

सर्वशब्दपूर्वेभ्यः पथिन्, अङ्ग, कर्मन्, पत्र, पात्र, शराव इत्येतदन्तेभ्यो निर्देशादेव द्वितीयान्तेभ्यो व्याप्नोतीत्यर्थे ईनः प्रत्ययो भवति । सर्वपथं व्याप्नोति सर्वपथीनो रथः । सर्वपथान् व्याप्नोति सर्वपथीनमुदकम् । एवं सर्वाङ्गीणस्तापः । सर्वकर्मीणः पुरुषः सर्वपत्रीणः

सारथिः, सर्वपात्रीण ओदनः, सर्वशरावीण ओदनः सर्वादेरिति किम् ? पन्थानं व्याप्नोति ।।94।।

आप्रपदम् ।। 7. 1. 95. ।।

प्रगतं पदं प्रपदम् पदाग्रमित्यर्थः, अथवा प्रवृद्धं पदं प्रपदम् पदस्योपरिष्टात् संस्था खलुको गुल्फ इति यावत्, आङ् मर्यादायामभिविधौ वा । आ प्रपदात् आप्रपदम् ``पर्यपाङ्''–(3. 1. 32.) इत्यव्ययीभावः । आप्रपदशब्दान्निर्देशादेवद्वितीयान्तात् व्याप्नोतीत्यर्थे ईनः प्रत्ययो भवति ।

आप्रपदं व्याप्नोति न तदतिवर्तते यः स आप्रपदीनः पटः, अनेन पटस्य प्रमाणमाख्यायते ।।95।।

अनुपदं बद्धा ।। 7. 1. 96. ।।

अनुपदशब्दान्निर्देशादेव द्वितीयान्ताद्बद्धा इत्येतस्मिन्नर्थे ईनः प्रत्ययो भवति । अनुपदं बद्धा अनुपदीना उपानत् । पदप्रमाणेत्यर्थः । अनुपदमिति ``दैर्घ्येऽनुः''–(3. 1. 34.) इत्यव्ययीभावः ।।96।।

*न्या०स०–अनु०–*अनुपदमिति पदं लक्ष्यीकृत्यायतं बन्धनमिति क्रियाविशेषणत्वात् द्वितीयाभेदोपचाराद् बद्धेत्युच्यते ।

अयानयं नेयः ।। 7. 1. 97. ।।

अयानयशब्दान्निर्देशादेव द्वितीयान्तान्नेय इत्येतस्मिन्नर्थे ईनः प्रत्ययो भवति । अयानयं नेयोऽयानयीनः शारः, फलकशिरसि स्थित उच्यते । अयः प्रदक्षिणं गमनम्, अनयः प्रसव्यं वामम्, शारिद्यूते हि केचिच्छाराः प्रदक्षिणं गच्छन्ति केचित्प्रसव्यम्, तेषां गतिरयसहितोऽनयोऽयानय इत्युच्यते । यस्मिन् परशारैः पदानामप्रवेशः तदुभयं नेयः अयानयीन इति रूढिः। अथवा अयः शुभं दैवम्, अनयोऽशुभम् । शुभाद्दैवादपवर्ततेऽशुभं दैवं यस्मिन् कर्मणि तदयानयं शान्तिकर्म चतुःशरणप्रतिपत्तिरनाघातघोषणं देवगुरुपूजा तपो दानं ब्रह्मचर्यादिनियमः तद्यो नेयः कारयितव्यः सोऽयानयीन ईश्वर इति ।।97।।

*न्या०स०–अया०–*अयानयं नेय इति कर्म्मणि द्वितीया, यद्यपि नेयशब्देन कर्म्माभिधीयते तथापि अयानयशब्दाद् द्वितीया भवत्येव द्विकर्म्मकत्वात्, शार इत्येतदेव हि कर्म्माभिहितं नेतरत् ।

यस्मिन्निति दक्षिणगमने वामगमने च परशारा बाधिता भवन्ति, तस्मिन् परशारैः कर्तृभिः पदानां गृहकाणां कर्म्मभूतानां स्वशारैर्बद्धत्वात् अप्रवेशः ।

रूढिरिति प्रदक्षिणप्रसव्यगामी च शारो नीयमानो न सर्वोऽयानयीन इत्युच्यते अपि तु कश्चिदेवेति, अयमर्थः, यत्र फलके अक्षैर्दीव्यन्ति तस्य यच्छिरोभूतं स्थानं कितवानां प्रसिद्धं तत्रस्थ एव शारोऽयानयीनः ।

सर्वाऽन्नमत्ति ॥ 7. 1. 98. ॥

सर्वान्नशब्दाद्द्वितीयान्तात् अत्तीत्यस्मिन्नर्थे ईनः प्रत्ययो भवति, सर्वशब्दः प्रकारकात्स्नर्ये । सर्वप्रकारमन्नं सर्वान्नम् तदत्ति सर्वान्नीनो भिक्षुः नियमरहितः ॥98॥

परोवरीण–परंपरीण–पुत्रपौत्रीणम् ॥ 7. 1. 99. ॥

परोवरीणादयः शब्दा अनुभवत्यर्थे ईनप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । परावरशब्दाद्–द्वितीयान्तादनुभवत्यर्थे ईनः प्रत्ययोऽवरशब्दाकारस्य चोत्वं प्रत्ययसंनियोगे निपात्यते । परांश्चावरांश्चानुभवति परोवरीणः, पारोवर्यमित्यत्रातीतक्रमवाचि परोवरमिति शब्दान्तरम् । परंपरीणेति परपरतरशब्दात् द्वितीयान्तादनु–भवत्यर्थे ईनः परंपरभावश्च, परान् परतरांश्चानुभवति परंपरीणः । मन्त्रिपरंपरा मन्त्रं भिनत्तीत्यत्र परम्पराशब्द आबन्तो बाहुल्यार्थः प्रकृत्यन्तरम्, पुत्रपौत्रीणेति पुत्रपौत्रशब्दात् द्वितीयान्तादनुभवत्यर्थे ईनः । पुत्रांश्च पौत्रांश्चानुभवति पुत्रपौत्रीणः ॥99॥

न्या०स०–परो०–पारोवर्यमिति यदि प्रत्ययसंनियोगे ओत्वं तत्कथमत्र तदभावे इत्याशङ्का ।

यथाकामा–ऽनुकामा–ऽत्यन्तं गामिनि ॥ 7. 1. 100. ॥

यथाकामानुकाम अत्यन्त इत्येतेभ्यो निर्देशादेव द्वितीयान्तेभ्यो गामिन्यर्थे ईनः प्रत्ययो भवति । यथाकामं गामी यथाकामीनः, अनुकामीनः, यथेच्छं गामीत्यर्थः । अत्यन्तं गामी अत्यन्तीनः, भृशं गन्तेत्यर्थः ॥100॥

पारावारं व्यस्त–व्यत्यस्तं च ॥ 7. 1. 101. ॥

पारावारशब्दात्–समस्ताद्व्यस्ताद्व्यत्यस्ताच्च निर्देशादेव द्वितीयान्ताद्गामिन्यर्थे ईनः प्रत्ययो भवति । पारावारं गामी पारावारीणः, पारीणः, अवारीणः, अवारपारीणः ॥101॥

अनुग्वलम् ॥ 7. 1. 102. ॥

अनुगुशब्दाद्द्वितीयान्ता–दलंगामिनि ईनः प्रत्ययो भवति । अलं पर्याप्तमित्यर्थः । गवां पश्चादनुगु तदलं गामी अनुगवीनो गोपालकः ॥102॥

अध्वानं येनौ ॥ 7. 1. 103. ॥

अलं गामिनीति वर्तते । अध्वन्शब्दान्निर्देशादेव द्वितीयान्तादलंगामिनि य ईन इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः । अध्वानमलं गामी अध्वन्यः अध्वनीनः ॥103॥

अभ्यमित्रमीयश्च ॥ 7. 1. 104. ॥

अभ्यमित्रशब्दान्निर्देशादेव द्वितीयान्तादलंगामिनि ईयः प्रत्ययो भवति चकाराद्येनौ च । अभ्यमित्रमलंगामी अभ्यमित्रीयः, अभ्यमित्र्यः, अभ्यमित्रीणः, अमित्राभिमुखं भृशं गन्तेत्यर्थः ॥104॥

समांसमीना–ऽद्यश्वीना–ऽद्यप्रातीना–ऽऽगवीन–साप्तपदीनम् ॥ 7. 1. 105. ॥

समांसमीनादयः शब्दा ईनप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते। साप्तपदीनस्त्वीनञ्–प्रत्ययान्तः । समांसमीनेति समांसमामिति वीप्साद्वितीयान्तात्समुदायाद्गर्भं धारयत्यर्थे ईनः पूर्वपदविभक्ते-श्चालुप् । समां समां गर्भं धारयति समांसमीना गौः । समामिति ``कालाध्वनोर्व्याप्तौ'' (2. 2. 42.) इति द्वितीया ।

अन्ये समायां समायां विजायते गर्भं विमुञ्चति समांसमीनेति पूर्वपदस्य यलोपमाहुः । व्याप्त्यभावाच्चाधिकरणे सप्तमी । अद्यश्वीनेति अद्यश्वः–शब्दयोर्वार्थे समासः विजनिष्यमाणेऽर्थे विजननस्य प्रत्यासत्तौ गम्यमानायामीनः । अद्य श्वो वा विजनिष्यमाणा अद्यश्वीना गौः । एवं नाम प्रत्यासन्न–प्रसवेत्यर्थः । अन्ये तु प्रत्यासत्तौ गम्यमानायां भविष्यत्यर्थे प्रत्ययमाहुः । अद्य श्वो वा भविष्यति अद्यश्वीनो लाभः, अद्यश्वीनं मरणम्, एवमद्यप्रातः–शब्दादीनः, अद्यप्रातीना गौः, अद्यप्रातीनो लाभः, अद्यप्रातीनं मरणम्, आगवीनेति आगोप्रतिदानशब्दात्कारिण्यर्थे ईनः प्रतिदानशब्दस्य च लुक् । आगोप्रतिदानं कारी आगवीनः कर्मकरः । गवा भृतो य आ तस्या गोः प्रत्यर्पणात्कर्म करोति स आगवीनः, रूढिशब्दोऽयम् । यत्किंचिदादाया तस्य प्रतिदानात्कर्मकर एवमुच्यते इत्येके, अन्ये तु आ गोः प्राप्तेः कर्म कारी आगवीन इत्याहुः ।

साप्तपदीनेति सप्तपदशब्दात्तृतीयान्तात्तदवाप्येऽर्थे ईनञ् यत्तदवाप्यं तच्चेत्सख्यं सखा वा भवति। सप्तभिः पदैरवाप्यम् साप्तपदीनं सख्यम्, साप्तपदीनः सखा, साप्तपदीनं मित्रम् ॥105॥

न्या०स०—समांस०—द्वितीयेति ननु समायाः कथं व्याप्तिरेकदेशे एव गर्भग्रहणात् ?

सत्यं, अवयवे समुदायोपचारात्। एवमिति पूर्वोक्तनीत्या विजनिष्यमाणे भविष्यति चाऽर्थे इत्यर्थः।

अषडक्षा–ऽऽशितंग्वलंकर्मा–ऽलंपुरुषादीनः ॥ 7. 1. 106. ॥

अषडक्ष, आशितंगु, अलंकर्मन्, अलंपुरुष, इत्येतेभ्यः स्वार्थे ईनः प्रत्ययो भवति। अविद्यमानानि षडक्षीण्यस्मिन् अषडक्षीणो मन्त्रः, ``सक्थ्यक्ष्णः स्वाङ्गे'' (7. 3. 126.) इति टान्तादीनः। अषडक्षीणा क्रीडा, द्वाभ्यां साध्यत इत्यर्थः। अषडक्षीणः कन्दुकः, येन द्वौ क्रीडतः। अदृश्यानि षडक्षीण्यस्य अषडक्षीणश्चैत्रः पितुः पितामहस्य पुत्रस्य वा द्रष्टोच्यते। इन्द्रियपर्यायो वाक्षशब्दः। अविद्यमानानि षडक्षाण्यस्याषडक्षीणोऽमनस्कः। विचारेण विना प्रवर्तते इत्यर्थः। आशिता गावोऽस्मिन्निति आशितंगु, अस्मादेव निपातनात्पूर्वपदस्य मोऽन्तः। तत् ईनः। आशितंगवीनमरण्यम्, अलं कर्मणे अलं पुरुषाय ``प्रात्यवपरि''–(3. 1. 47.) इत्यादिना समासः तत ईनः। अलंकर्मीणः, अलंपुरुषीणः। राजाधीनमिति त्वधीनेन शाण्डादित्वात्सप्तमीसमासः। अस्ति चाधीनशब्दः। अस्मास्वधीनं किमु निःस्पृहाणाम् इति, वाक्यं हि वक्तर्यधीनं भवति इति, तदेतत् प्रयोक्तर्यधीनं भवतीति ॥106॥

अदिक्स्त्रियां वाऽञ्चः ॥ 7. 1. 107. ॥

अञ्चत्यन्तान्नाम्न ईनः प्रत्ययो वा भवति स्वार्थे न चेत्स दिशि स्त्रियां वर्तते। प्राक् प्राचीनम्, प्रत्यक् प्रतीचीनम्, उदक् उदीचीनम्, अवाक् अवाचीनम्, सम्यङ् समीचीनः। अदिक्स्त्रियामिति किम् ? प्राची उदीची दिक्। दिग्ग्रहणं किम् ? प्राचीना शाखा, अवाचीना ब्राह्मणी, स्त्रीग्रहणं किम् ? प्राक् प्राचीनं रमणीयम्। दिश्यपि लुबन्तं स्वभावात् नपुंसकम्, ``वाद्यात्'' (6. 1. 11.) इति विकल्पे लब्धे वाग्रहणं पूर्वत्र नित्यार्थम् ॥107॥

न्या०स०—अदिग्०—प्रसज्योऽयं नञ् दिग्लक्षणा स्त्री चैन्न भवतीति न तु अदिग्-लक्षणायां स्त्रियामितिपर्युदासस्तेन पुंक्लीबयोरपि भवति।

ननु दिशः स्त्रीत्वमव्यभिचारि तत्किमत्र स्त्रीग्रहणेन ? इत्याह–स्त्रीग्रहणमिति स्त्रीलिङ्गरहितायां दिश्यश्चत्यन्तवाच्यायां प्रत्युदाहरति प्राक्प्राचीनं रमणीयमित्यादिना । नपुंसकमिति प्रागिति धातुलुबन्तम्, अव्ययत्वाल्लिङ्गायोग्यं, प्राचीनं च स्वार्थिकान्तत्वात् तद्वत् तथापि स्वभावान्नपुंसकं, अन्यथा अभेदे अलिङ्गत्वं भेदे तु स्त्रीलिङ्गत्वं स्यात् ।

नित्यार्थमिति ``अषडक्ष'' (7. 1. 107.) इत्यत्र सूत्रे वाक्यं त्वलौकिकम् ।

तस्य तुल्ये कः संज्ञा–प्रतिकृत्योः ॥ 7. 1. 108. ॥

तस्येति षष्ठ्यन्तात्तुल्ये सदृशेर्थे कः प्रत्ययो भवति संज्ञाप्रतिकृत्योः संज्ञायां प्रतिकृतौ च विषये । प्रतिकृतिः काष्ठादिमयं प्रतिच्छन्दकम्, अश्वस्य तुल्यः अश्वकः, उष्ट्रकः, गर्दभकः । अश्वादिसदृशस्य संज्ञा एताः । प्रतिकृतिः, अश्वकम् रूपम् । अश्विका प्रतिमा, अश्वकानि रूपाणि । तुल्य इति किम् ? इन्द्रदेवः । एवंनामा कश्चित्, नात्र सादृश्यम् । संज्ञाप्रतिकृत्योरिति किम् ? गोस्तुल्यो गवयः । संज्ञाग्रहणमप्रतिकृत्यर्थम्, एके त्वाहु:-तुल्यमात्रे प्रत्ययः,-शिव इव शिवकः ॥108॥

न्या०स०–तस्य०–संज्ञा एता इति एवं नामानः पशुविशेषा, न तु प्रतिबिम्बानि । इन्द्रदेव इति षष्ठ्यन्तादभेदे इन्द्रदेवस्य संबन्धी इन्द्रदेवः, इन्द्रदेवक इत्युक्ते संज्ञा प्रतीयत इति न द्वयङ्गविकलता ।

गोस्तुल्य इति न हि गोक इति कप्रत्ययान्तेन संज्ञा प्रतीयते ।

न नृ–पूजार्थ–ध्वज–चित्रे ॥ 7. 1. 109. ॥

नरि मनुष्ये पूजार्थे ध्वजे चित्रे च चित्रकर्मणि अभिधेये कः प्रत्ययो न भवति, तत्र सोऽयमित्येवाभिसंबन्धः । संज्ञाप्रतिकृत्योरिति यथासंभवं प्राप्ते प्रतिषेधोयम् । नृ, चञ्चा तृणमयः पुरुषः, यः क्षेत्ररक्षणाय क्रियते । चञ्चातुल्यः पुरुषश्चञ्चा, एवं- वर्ध्रिका, खरकुटी, पूजार्थ, अर्हन्, शिवः, स्कन्दः । पूजनार्थाः प्रतिकृतय उच्यन्ते । ध्वज, गरुडः, सिंहः, तालो, ध्वजः, चित्र, दुर्योधनः, भीमसेनः ॥109॥

न्या०स०–न नृ०–तत्रेति निषेधे सतीत्यर्थः । सोयमिति चञ्चातुल्य पुरुषोऽभेदोपचारेण चञ्चा, अतश्चञ्चा पुरुष इत्यादौ सामानाधिकरण्यम् तथा चान्यैरिव प्रत्ययस्य लुप् न वक्तव्या ।

यथासंभवमिति मनुष्ये संज्ञायां पुजार्थादिषु प्रतिकृतौ प्राप्तिः ।

अपण्ये जीवने ॥ 7. 1. 110. ॥

जीवन्त्यनेनेति जीवनम् । पण्यं विक्रेतव्यम् । पण्यवर्जितं यज्जीवनं तस्मिन् कः प्रत्ययो न भवति । वासुदेवसदृशः वासुदेवः, शिवः स्कन्दः विष्णुः, देवलकानां जीविकार्थाः प्रतिकृतय उच्यन्ते । अपण्य इति किम् ? हस्तिकान् विक्रीणीते । जीवन इति किम् ? क्रीडने निषेधो मा भूत् । हस्तिकः ॥110॥

देव–पथादिभ्यः ॥ 7. 1. 111. ॥

देवपथ इत्येवमादिभ्यस्तुल्ये संज्ञाप्रतिकृत्योः कः प्रत्ययो न भवति । देवपथस्य तुल्यः देवपथः, एवं हंसपथः ।

देवपथ, हंसपथ, अजपथ, वारिपथ, राजपथ, शतपथ, शङ्कुपथ, स्थलपथ, सिन्धुपथ, उष्ट्रग्रीवा, वामरज्जु, हंस, (हस्त) इन्द्र, दण्ड, पथ्य (पुष्प) मत्स्य, इति देवपथादिः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम्, पूर्वयोगावस्यैव प्रपञ्चः ॥111॥

वस्तेरेयञ् ॥ 7. 1. 112. ॥

तस्य तुल्य इति वर्तते न संज्ञाप्रतिकृत्योरिति । वस्तिशब्दात्षष्ठ्यन्तात्तुल्येऽर्थे एयञ् प्रत्ययो भवति । वस्तेस्तुल्यं वास्तेयम्, वास्तेयी प्रणालिका ॥112॥

*न्या०स०–वस्ते०–*न संज्ञेति प्रत्ययान्तरोपादानात् ।

शिलाया एयच्च ॥ 7. 1. 113. ॥

शिलाशब्दात्षष्ठ्यन्तात्तुल्येऽर्थे एयच् प्रत्ययो भवति चकारादेयञ् च । शिलायास्तुल्यं शिलेयं दधि, शिलेयी इष्टका, शैलेयं दधि, शैलेयी इष्टका । चकारः ``अणञेयेकण्''–(2. 4. 20.) इति एयस्य सामान्यग्रहणाविघातार्थः । अन्यथा ह्रस्यैव स्यात्, अन्ये तु द्रव्यशब्दवदेयजन्तं स्त्रियां नास्तीत्याहुः ॥113॥

*न्या०स०शिला०–*द्रव्यशब्दवदिति यथा द्रोर्भव्ये इति तुल्यार्थे ये द्रव्यशब्दो नियतं लिङ्गमाह एवं शिलेयमिति ।

शाखादेर्यः ।। 7. 1. 114. ।।

शाखा इत्येवमादिभ्यस्तस्य तुल्ये यः प्रत्ययो भवति । पुरुषस्कन्धस्य वृक्षस्कन्धस्य वा तिर्यक् प्रसृतमङ्गं शाखेत्युच्यते, तद्यथा शाखा पार्श्वायता तथा कुलस्य यः पार्श्वायतोऽङ्गभूतः स शाखायास्तुल्यः शाख्यः, मुख्यः, जघन्यः ।

शाखा, मुख, जघन, स्कन्द, स्कन्ध, मेघ, शृङ्ग, चरण, शरण, उरस्, शिरस्, अग्र । इति शाखादिः ।।114।।

द्रोर्भव्ये ।। 7. 1. 115. ।।

द्रुशब्दात्तस्य तुल्ये भव्येऽभिधेये यः प्रत्ययो भवति । विशिष्टेष्टपरिणामेन भवतीति भव्यम् अभिप्रेतानामर्थानां पात्रम् । द्रुतुल्यः द्रव्यमयं माणवकः, द्रव्यं कार्षापणम्, यथा द्रु अग्रन्थि अजिह्मं दारु उपकल्प्यमानविशिष्टेष्टरूपं भवति तथा माणवकोऽपि विनीयमानो विद्यालक्ष्म्यादिभाजनं भवतीति द्रव्यमुच्यते ।। कार्षापणमपि विनियुज्यमानं विशिष्टेष्टमाल्याद्युप-भोगफलं भवति इति द्रव्यमुच्यते । द्रुरिव द्रव्यं राजपुत्रः, यथा द्रुमः पुष्पफलादिभिरर्थिनः कृतार्थयति एवमन्योऽपि यः सोऽपि द्रव्यमुच्यते । भव्य इति किम् ? द्रुतुल्योऽयं न चेतयते ।।115।।

कुशाग्रादीयः ।। 7. 1. 116. ।।

कुशाग्रशब्दात्तस्य तुल्ये ईयः प्रत्ययो भवति, कुशाग्रस्य तुल्यं कुशाग्रीयं शस्त्रम् तदाकारत्वात् । कुशाग्रीया बुद्धिः, तीक्ष्णत्वात् ।।116।।

काकतालीयादयः ।। 7. 1. 117. ।।

काकतालीयादयः शब्दा ईयप्रत्ययान्ताः साधवो भवन्ति तस्य तुल्येऽभिधेये ।। काकश्च तालश्च काकतालम्, यथा कथंचिद्व्रजतः काकस्य निपतता तालेनातर्कितोपनतश्चित्रीयमाणः संयोगो लक्षणयोच्यते तत्तुल्यं काकतालीयम्, एवं खलतिबिल्वीयम्, अन्धकश्च वर्तिका च अन्धकवर्तिकम्, अत्रान्धकस्य वर्तिकाया उपरि अतर्कितः पादन्यास उच्यते, अन्धकस्य बाहूत्क्षेपे वर्तिकायाः करे निलयनं वा तत्तुल्यमन्धकवर्तिकीयम् । अजया पादेनावकिरत्यात्मवधाय कृपाणस्य दर्शनमजाकृपाणम् तत्तुल्यमजाकृपाणीयम्, एवंविधचित्रीकरणविषयाः काकातालीयादयः । निपातनं रूढ्यर्थम् । बहुवचनादन्येऽपि, अर्धजरतीय घुणाक्षरीयमि-त्यादि ।।117।।

शर्करादेरण् ॥ 7. 1. 118. ॥

शर्करादिभ्यस्तस्य तुल्येऽण् प्रत्ययो भवति । शर्करायास्तुल्यं शार्करं दधि मधुरत्वात् । शार्करी मृत्तिका कठिनत्वात् ।

शर्करा, कपालिका, कम्वाष्टिका, गोपुच्छ गोलोमन् पुण्डरीक, शतपत्र, नराची, नकुल, सिकता, कपाटिका । इति शर्करादिः ॥118॥

अः सपत्न्याः ॥ 7. 1. 119. ॥

सपत्नीशब्दात्तस्य तुल्ये अः प्रत्ययो भवति । सपत्न्यास्तुल्यः सपत्नः ॥119॥

एकशालाया इकः ॥ 7. 1. 120. ॥

एकशालाशब्दात्तस्य तुल्ये इकः प्रत्ययो भवति । एकशालायास्तुल्यमेकशालिकम् ॥120॥

गोण्यादेश्चेकण् ॥ 7. 1. 121. ॥

गोण्यादिभ्य एकशालाशब्दाच्च तस्य तुल्ये इकण् प्रत्ययो भवति । गोण्यास्तुल्यं गौणिकम् अङ्गुलेरङ्गुल्या वा आङ्गुलिकम्, एकशालाया ऐकशालिकम् ।

गोणी, अङ्गुली, भरुजा, वभ्रु, बभ्रु, वल्गु, मण्डर, मण्डल, शष्कुली, हरि, मण्डु, कपि, भरु, खल, उदश्वित्, तरस् कुलिश, मुनि, रुरु, इति गोण्यादिः ॥121॥

कर्कलोहिताट्टीकण् च ॥ 7. 1. 122. ॥

कर्कलोहितयब्दाभ्यां तस्य तुल्ये टीकण् प्रत्ययो भवति चकारादिकण् च ॥ शुक्लोऽश्वः कर्कः । तस्य तुल्यः कार्कीकः, कार्किकः, लौहितीकः, लौहितिकः । स्फटिकादिः अलोहितवर्णोऽप्युपाश्रयवशाद्यस्तथावभासते स एवमुच्यते, टकारो ङ्यर्थः । कार्कीकी, लौहितीकी ॥122॥

*न्या०स०–कर्क०–*ननु लोहितेन तुल्यस्य संभवो नास्ति, लोहितगुणयुक्तश्चेत् स्वयमेव लोहितो गुणान्तरयुक्तश्चेत् कथं लोहितेन तुल्यः स्यादित्याशङ्क्यस्फटिकादेर्लोहितगुणयुक्तेन द्रव्येण तुल्यतां समर्थयितुमाह–अलोहितवर्णोपीत्यादि ।

वेर्विस्तृते शाल–शङ्कटौ ।। 7. 1. 123. ।।

विशब्दाद्विस्तृतेऽर्थे शाल शङ्कट इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः । विशालः, विशङ्कटः विस्तृत इत्यर्थः । विनानानेत्यव्यये पृथग्भावे वर्तेते इति विनञ्भ्यां नानाञौ प्रत्ययौ न वक्तव्यौ ।।123।।

कटः ।। 7. 1. 124. ।।

विशब्दाद्विस्तृतेऽर्थे कटः प्रत्ययो भवति । विकटः ।।124।।

सं–प्रोन्नेः संकीर्ण–प्रकाशा–ऽधिक–समीपे ।। 7. 1. 125. ।।

सम् प्र उद् नि इत्येभ्यो यथासंख्यं संकीर्णादिष्वर्थेषु कटः प्रत्ययो भवति । समः संकीर्णे संकटः, प्रात्प्रकाशे, प्रकटः, उदोऽधिके, उत्कटः, नेः समीपे निकटम् ।।125।।

अवात्कुटारश्चावनते ।। 7. 1. 126. ।।

अवशब्दादवनतेऽर्थे कुटारश्चकारात्कटश्च प्रत्ययो भवति । अवकुटारः, अवकटः ।।126।।

नासानति–तद्वतोष्टीट–नाट–भ्रटम् ।। 7. 1. 127. ।।

अवशब्दान्नासानतौ तद्वति च वाच्ये टीट नाट भ्रट इत्येते प्रत्यया भवन्ति नासानतौ । नासाया नमनम् अवटीटम्, अवनाटम्, अवभ्रटम् । सा नासानतिर्विद्यते यस्मिन् स तद्वान् नासा पुरुषः, अपकृष्टो वार्थः । तत्र अवटीटा, अवनाटा, अवभ्रटा नासिका । अवटीटः, अवनाटः, अवभ्रटः पुरुषः । अवटीटम्, अवनाटम्, अवभ्रटं वा ब्रह्मदेयम् । अपकृष्टमपि हि वस्तु दृष्ट्वा लोको नासिकां नामयति ।।127।।

नेरिन–पिट–काश्चिक्–चि–चिकश्चाऽस्य ।। 7. 1. 128. ।।

निशब्दान्नासानतौ तद्वति चाभिधेये इन पिट क इत्येते प्रत्यया भवन्ति तत्संनियोगे चास्य नेर्यथासंख्यं चिक् चि चिक् इत्येते आदेशा भवन्ति । चिकिनम्, चिपिटम्, चिक्कम्, नासिकानमनम् । चिकिना, चिपिटा, चिक्का, नासिका । चिकिनः, चिपिटः, चिक्कः पुरुषः । बहुवचनं रुढ्यर्थम् ।।128।।

न्या०स०—नेरिन०—चिकिनमिति नासिकाया नमनं शब्दान्तरेण निशब्दस्यार्थकथनम् । रूढ्यर्थमिति तेनाप्रकृष्टे अर्थे ब्रह्मदेयलक्षणे चिकिनमित्यादयो न भवन्ति ।

बिड—बिरीसौ नीरन्ध्रे च ॥ 7. 1. 129. ॥

निशब्दान्नीरन्ध्रेऽर्थे नासानतितद्वतोश्च बिडबिरीस इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः । निबिडाः निबिरीसाः केशाः, निबिडम् निबिरीसम् वस्त्रम्, नासिकाया नमनं निबिडम्, निबिरीसम् । निबिडा, निबिरीसा नासिका । निबिडो, निबिरीसो मैत्रः । विधानसामर्थ्यात् षत्वं न भवति ॥129॥

क्लिन्नाल्लश्चक्षुषि चिल्—पिल्—चुल्—चास्य ॥ 7. 1. 130. ॥

क्लिन्नशब्दाच्चक्षुषि वाच्ये लः प्रत्ययो भवति तत्संनियोगे चास्य चिल् पिल् चुल् इत्येते आदेशा भवन्ति । चिल्लम्, पिल्लम् चुल्लम् चक्षुः । तद्योगात्पुरुषोऽपि चिल्लः, पिल्लः चुल्लः ॥130॥

उपत्यका—ऽधित्यके ॥ 7. 1. 131. ॥

उपत्यका अधित्यका इत्येतौ शब्दौ निपात्येते । उपाधिशब्दाभ्यां यथासंख्म् पर्वतस्यासन्नायामधिरूढायां च भुवि त्यकः प्रत्ययो निपात्यते । उपत्यका, अधित्यका । क्षिपकादित्वादित्वाभावः । स्वभावतः स्त्रीलिङ्गावेतौ । पुंलिङ्गावपीति कश्चित् उपत्यको देशः, अधित्यकः पन्थाः, निपातनं रूढ्यर्थम् ॥131॥

अवेः संघात—विस्तारे कट—पटम् ॥ 7. 1. 132. ॥

अविशब्दात् सामर्थ्यात्षष्ठ्यन्तात्संघाते विस्तारे चार्थे यथासंख्यं कटपट इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः । अवीनां संघातः अविकटः, अवीनां विस्तारः अविपटः संघाते सामूहिकानां विस्तारे ऐदमर्थिकानां चापवादो योगः ॥132॥

न्या०स०—अवेः संघात०—सामर्थ्यादिति षष्ठीमन्तरेण संघातविस्तारार्थयोरप्रतीतेः षष्ठ्यैव च प्रतीतेरित्यर्थः । संघात इति अविशब्दस्य कटपटशब्दाभ्यां सिद्धस्वरूपाभ्यां षष्ठीसमासे अविकट इत्यादि सिध्यति किमर्थो योगः ? इत्याह—सामूहिकानामिति ''षष्ठ्याः समूहे'' (6. 2.9.) इत्यादीनाम् ।

ऐदभर्थिकानामिति ``तस्येदम्'' (6. 3. 160.) इत्यादीनां ``दोरीय'' (6. 3. 32.) इति च दुसंज्ञाविवक्षायाम् ।

पशुभ्यः स्थाने गोष्ठः ।। 7. 1. 133. ।।

पशुनामभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्यः स्थानेऽर्थे गोष्ठः प्रत्ययो भवति, इदमर्था नामपवादः । गवां स्थानं गोगोष्ठम्, महिषीगोष्ठम्, अश्वगोष्ठम् ।।133।।

द्वित्वे गोयुगः ।। 7. 1. 134. ।।

पशुनामभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्यो द्वित्वेऽर्थे गोयुगः प्रत्ययो भवति, इदमर्थानामपवादः । गवोर्द्वित्वं गोगोयुगम्, अश्वगोयुगम्, उष्ट्रगोयुगम् ।।134।।

षट्त्वे षड्गवः ।। 7. 1. 135. ।।

पशुनामभ्यः षष्ठ्यन्तेश्चः षट्त्वे गम्यमाने षड्गवः प्रत्ययो भवति । उष्ट्राणां षट्त्वम् उष्ट्रषड्गवम्, हस्तिषड्गवम्, अश्वषड्गवम् । इदमर्थानामपवादः ।।135।।

तिलादिभ्यः स्नेहे तैलः ।। 7. 1. 136. ।।

तिलादिभ्यः सामर्थ्यात्षष्ठ्यन्तेभ्यः स्नेहेऽर्थे तैल इति प्रत्ययो भवति, विकारप्रत्यया-पवादः । तिलानां स्नेहो विकारस्तिलतैलम्, सर्षपतैलम् इङ्गुदतैलम्, एरण्डतैलम् ।।136।।

तत्र घटते कर्मणष्ठः ।। 7. 1. 137. ।।

कर्मन्शब्दात्तत्रेति सप्तभ्यन्ताद्घटते इत्यर्थे ठः प्रत्ययो भवति । कर्माणि घटते कर्मठः ।।137।।

तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इनः ।। 7. 1. 138. ।।

तदिति प्रथमान्तेभ्यस्तारका इत्यादिभ्योऽस्येति षष्ठ्यर्थे इतः प्रत्ययो भवति यतत्प्रथमान्तं संजातं चेत्तद्भवति । तारकाः संजाता अस्य तारकितं नभः, पुष्पाणि संजातान्यस्य पुष्पितस्तरुः ।

तारका, पुष्प, कर्णक, ऋजीष, मूत्र, पुरीष, निष्क्रमण, उच्चार, विचार, प्रचार, आराल, कुड्मल, कुसुम, मुकुल, वकुल, स्तबक, पल्लव, किशलय, वेश, वेग, निद्रा, तन्द्रा, श्रद्धा, बुभुक्षा, पिपासा, अभ्र, श्वभ्र, रोग, अङ्गारक, अङ्गार, पर्णक, द्रोह, सुख,

दु:ख, उत्कण्ठा, भर, तरङ्ग, व्याधि, व्रण, कण्डूक, कण्टक, मञ्जरी, कोरक, अङ्कुर, हस्तक, पुलक, रोमाञ्च, हर्ष, उत्कर्ष, गर्व, कल्लोल, शृङ्गार, अन्धकार, कन्दल, शैवल, कुतूहल, कुवलय, कलङ्क, कज्जल कर्दम, सीमन्त, राग, क्षुध्, तृष्, ज्वर, गर, दोह, शास्त्र, पण्डा, मुकुर, मुद्रा, गर्ध, फल, तिलक, चन्द्रक इति तारकादि: ।। बहुवचनमाकृति-गणार्थम् ।।138।।

गर्भादप्राणिनि ।। 7. 1. 139. ।।

गर्भशब्दात्तदस्य संजातमित्यर्थे इत: प्रत्ययो भवति । अप्राणिनि स चेत्षष्ठ्यर्थ: प्राणी न भवति । गर्भ: संजातोऽस्य गर्भितो व्रीहि:, गर्भिता: शालय: । अप्राणिनीति किम् ? गर्भ: संजातोऽस्या दास्या इति वाक्यमेव ।।139।।

प्रमाणान्मात्रट् ।। 7. 1. 140. ।।

तदस्येति वर्तते । तदिति प्रथमान्तात्प्रमाणवाचिनो नाम्नोऽस्येति षष्ठ्यर्थे मात्रट् प्रत्ययो भवति, आयाममानं प्रमाणं, तद्द्विविधम् ऊर्ध्वमानं तिर्यग्मानं च । तत्रोर्ध्वमानात्, जानुनी प्रमाणमस्य जानुमात्रमुदकम् । जानुमात्री खाता, ऊरुमात्रमुदकम्, ऊरुमात्री खाता । तिर्यग्मानात्, रज्जुमात्री भूमि:, तन्मात्री, तावन्मात्री । टकारो ङ्यर्थ: ।।140।।

हस्तिपुरुषाद्वाण् ।। 7. 1. 141. ।।

तदिति प्रथमान्तात्प्रमाणवाचिनो हस्तिशब्दात्पुरुषशब्दाच्चास्येति षष्ठ्यर्थेऽण् प्रत्ययो वा भवति पक्षे यथाप्राप्तम् । हस्ती प्रमाणमस्य हास्तिनं हस्तिमात्रम् हस्तिदघ्नं हस्तिद्वयसमुदकम्, हास्तिनी हस्तिमात्री हस्तिदघ्नी हस्तिद्वयसी खाता । पौरुषम् पुरुषमात्रम् पुरुषदघ्नम् पुरुषद्वयसमुदकम्, पौरुषी पुरुषमात्री पुरुषदघ्नी पुरुषद्वयसी खाता, पौरुषी पुरुषमात्री छाया ।।141।।

*न्या०स०—हस्ति०—*पौरुषी पुरुषमात्री छायेति अत्र तिर्यग्मानमिति ऊर्ध्वे माने विधीयमानौ दघ्नट्द्वयसटौ न भवत: किंतु मात्रडेव ।

वोर्ध्वं दघ्नट् द्वयसट् ।। 7. 1. 142. ।।

ऊर्ध्वं यत्प्रमाणं तद्वाचिनो नाम्नः प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे दघ्नट् द्वयसट् इत्येतौ प्रत्ययौ वा भवतः पक्षे मात्रट् । ऊरुः प्रमाणमस्य उरुदघ्नम् ऊरुद्वयसम् ऊरुमात्रमुदकम्, उरुदघ्नी ऊरुद्वयसी ऊरुमात्री खाता, तद्दघ्नी तद्द्वयसी तन्मात्री, तावद्दघ्नी तावद्द्वयसी तावन्मात्री, वाग्रहणमण्मात्रटोरबाधनार्थम्, तेन पुरुषदघ्नम् पुरुषद्वयसम् पुरुषमात्रम् पौरुषमिति पुरुषहस्तिनोश्चातूरूप्यं भवति । ऊर्ध्वमिति किम् ? रज्जुमात्री भूमिः ।।142।।

न्या०स०—वोर्ध्वं०—वा ग्रहणमिति अन्यथा ऊर्ध्वमानाभावेऽण्मात्रटौ सावकाशाविति तौ बाधित्वा इमावेव स्याताम् ।

मानादसंशये लुप् ।। 7. 1. 143. ।।

प्रमाणादिति वर्तते, मानवाच्येव साक्षाद्यः प्रमाणशब्दो हस्तवितस्त्यादिः प्रसिद्धो न तु रज्ज्वादिर्यो लक्षणया प्रमाणे वर्तते तस्मात्प्रस्तुतस्य मात्रडादेः प्रत्ययस्यासंशये गम्यमाने लुब् भवति । हस्तः प्रमाणमस्य हस्तः, वितस्तिः, दिष्टिः । शमः चतुर्विंशतिरङ्गुलानि । मानादिति किम् ? ऊरुमात्रमुदकम्, रज्जुमात्री भूमिः । असंशय इति किम् ? शमः प्रमाणमस्य स्यात् शममात्रम्, दिष्टिमात्रम्, वितस्तिमात्रम् । केचित्तु मानमात्रान्मात्रटं तस्यासंशये लुब्-विकल्पं चेच्छन्ति । प्रस्थः प्रस्थमात्रो वा व्रीहिः । हस्तः हस्तमात्रं वा काष्ठम्, पलं पलमात्रं वा सुवर्णम्, शतं शतमात्रा वा गावः ।।143।।

न्या०स०—माना०—मानवाच्येवेति प्रमाणादित्यधिकारे मानग्रहणमवधारणार्थमिति ।

द्विगोः संशये च ।। 7. 1. 144. ।।

मानादिति वर्तते, प्रमाणादिति निवृत्तम् ``पुरुषाद्वा'' (2. 4. 25.) इत्यत्र उपचरितप्रमाणा-त्पुरुषाल्लुपि ङीविधानात् । तदनुवृत्तौ तु तस्य मानेन विशेषणात् प्रसिद्धादेव हस्तादेः लुप् स्यात् । मानान्ताद्द्विगोः संशये चकारादसंशये च प्रस्तुतस्य मात्रडादेः प्रत्ययस्य लुप् भवति । द्वौ शमौ प्रमाणमस्य द्वौ शमौ प्रमाणमस्य स्यादिति वा द्विशमः, द्विदिष्टिः, द्विवितस्तिः, द्विकाण्डा क्षेत्रभक्तिः, द्विकाण्डी रज्जुः, द्विपुरुषी खाता, द्विहस्तिनी, त्रिहस्तिनी, द्वौ प्रस्थौ मानमस्य स्यात् द्विप्रस्थः, द्विपलम्, द्विशतः । मीयतेऽनेन मानं प्रमाणम् परिमाणम् उन्मानं संख्या चेह गृह्यते ।

`ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाणं तु सर्वतः । आयामस्तु प्रमाणं स्यात्संख्या बाह्या तु

सर्वतः ॥1॥

अन्ये तु रूढप्रमाणान्तादेव द्विगोरिच्छन्ति तन्मते द्विप्रस्थमात्रम् द्विपलमात्रं द्विशतमात्रं स्यादित्यादौ लुप् न भवति ॥144॥

*न्या०स०—द्विगोः०—*उपचरितप्रमाणादिति पुरुषशब्दस्य हि प्रमाणत्वमुपचरितमेव न साक्षात् प्रमाणमेव । लुप् स्यादिति तदभावे च ङीर्न स्यात् ।

द्विशम इति ``मात्रट्'' (7. 1. 145.) इति मात्रट् संशयविवक्षायां सर्वत्र, अन्यत्र यथासंभवं मात्रट् दघ्नट् द्वयसट् च, एवं सर्वत्र । द्विपुरुषीति अत्र ``हस्तिपुरुषाद्वाऽण्'' (7. 1. 141.), न, तत्र तदन्तविधेरनाश्रयणादिति मात्रडादेर्लुप् ।

मात्रट् ॥ 7. 1. 145. ॥

मानात् संशये इति च वर्तते, तदिति प्रथमान्तान्मानवाचिनो नाम्नः षष्ठ्यर्थे मात्रट् प्रत्ययो भवति संशये । प्रस्थो मानमस्य स्यात् प्रस्थमात्रम् धान्यम्, प्रस्थमात्रा वीहयः, कुडवमात्रम्, पलमात्रम्, कर्षमात्रम्, पञ्चमात्राः, शतमात्राः, शतमात्रम्, दिष्टिमात्रम् । मात्रदघ्नद्वयसानि नामान्यपि सन्ति । अनुबन्धासञ्जनार्थं तु प्रत्ययविधानम्, तेन च स्त्रियां विशेषः । वैश्वदेवमात्रा भिक्षा ॥145॥

*न्या०स०—मात्रट्०—*वैश्वदेवमात्रेति विश्वे देवा देवता अस्याण् वैश्वदेवो मात्रं मात्राऽवास्याः ।

शन्—शद्—विंशतेः ॥ 7. 1. 146. ॥

शन्नन्ताच्छदन्ताच्च संख्याशब्दाद्विंशतिशब्दाच्च मानवृत्तेस्तदिति प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे संशये गम्यमाने मात्रट् प्रत्ययो भवति, डिनोऽपवादः । दश मानमेषां स्यात् दशमात्राः, पञ्चदशमात्राः, त्रिंशन्मात्राः, त्रयस्त्रिंशन्मात्राः विंशतिमात्राः ॥146॥

डिन् ॥ 7. 1. 147. ॥

संशये इति निवृत्तम्, योगविभागात् । शन्नन्ताच्छदन्ताच्च संख्याशब्दाद्विंशतिशब्दाच्च मानवृत्तेस्तदिति प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे डिन् प्रत्ययो भवति । पञ्चदशाहोरात्राः परिमाणमस्य पञ्चदशी अर्धमासः, पञ्चदशिनौ, पञ्चदशिनः, एवं त्रिंशी त्रिंशिनौ त्रिंशनो मासाः । त्रयस्त्रिंशिनो देवविशेषाः, विंशिनो भवनेन्द्राः ॥147॥

न्या०स०–डिन्०–योगविभागादिति अन्यथा शन्शद्विंशतेर्डिन्वेत्येक एव योगः क्रियेत ।

इदं–किमोऽतुरिय्–किय् चास्य ।। 7. 1. 148. ।।

तदस्य मानादिति वर्तते, तदिति प्रथमान्तादिदंशब्दात् किंशब्दाच्च मानवृत्तेरस्येति षष्ठ्यर्थे मेयेऽतुः प्रत्ययो भवति तत्संनियोगे च इदम्किम्शब्दयोरिय् किय् इत्येतावादेशो भवतः । चतुर्विधं मानं, तत्र प्रमाणात्, इदं मानमस्य इयान् पटः । किं मानमस्य कियान् पटः । परिमाणात्, इयद्धान्यम्, कियद्धान्यम्, उन्मानात्, इयत्सुवर्णम्, कियत्सुवर्णम्, संख्यायाः, इयन्तो गुणिनः । कियन्तो गुणिनः इयती, कियती । उदित्करणं दीर्घत्वाद्यर्थम् ।।148।।

न्या०स०–इदंकिमो०–दीर्घत्वाद्यर्थमिति आदिशब्दात् ``ऋदुदितः'' (1. 4. 70.) इति नागमः, ``अधातूदृदितः'' (2. 4. 2.) इति ङीश्च गृह्यते ।

यत्–तदेतदो डावादिः ।। 7. 1. 149. ।।

यत्तदेतदित्येतेभ्यस्तदिति प्रथमान्तेभ्यो मानवृत्तिभ्योऽस्येति षष्ठ्यर्थे मेयेऽतुः प्रत्ययो भवति स च डावादिः । यत्तदेतद्वा प्रमाणमस्य यावान् पटः, तावान्, एतावान्, यावत्, तावत्, एतावत्, धान्यम्, यावत्, तावत्, एतावत्, सुवर्णम् । यावन्ति तावन्ति एतावन्ति अधिकरणानि । यावती तावती एतावती । ननु मात्रडादयोऽपि दृश्यन्ते इदं प्रमाणमस्य इदंमात्रं किंमात्रम् यन्मात्रम् तन्मात्रम् एतन्मात्रम् यद्दघ्नम् यद्द्वयसमित्यादि ? सत्यम्, स्वविषये मानविशेषे प्रमाणे मात्रटादयो भवन्त्येव मानसामान्येऽतुरेवेति विभागः ।।149।।

न्या०स०–यत्तदे०–नन्विति मानवाचिनोऽतावुच्यमाने कथं मात्रडादय इत्याशङ्का ।

यत्-तत्-किमः संख्याया डतिर्वा ।। 7. 1. 150. ।।

संख्यारूपं यन्मानं तद्वृत्तिभ्यो यत्तत्किम् इत्येतेभ्यः प्रथमान्तेभ्योऽस्येति षष्ठ्यर्थे संख्येये मेये डतिः प्रत्ययो भवति वा पक्षे यथाविहितोऽतुश्च । या संख्या मानमेषां यति यावन्तः, सा संख्या मानमेषां तति तावन्तः, का संख्या मानमेषां कति कियन्तः । एतौ चातुडति प्रत्ययौ स्वभावाद्बहुवचनविषयावेव भवतः । संख्याया इति किम् ? कियान् यावान् तावान् पटः । मानादिति संख्याया विशेषणं किम् ? क्षेपे माभूत्, का संख्या येषां दशानाम् ।।150।।

न्या०स०–यत्तत्०—एतौ चेति अनेन संख्यावृत्तिभ्यो विहितो मानवृत्तेस्तु ``इदं किमोतु'' (7. 1. 148.) इत्यादिना एकत्वादावपि ।

अवयवात्–तयट् ॥ 7. 1. 151. ॥

तदस्येति संख्याया इति च वर्तते, मानादिति निवृत्तम्, अवयवादिति विशेषणान्तरापादानात्, अवयवे वर्तमानात्संख्यावाचिनो नाम्नस्तदिति प्रथमान्तात् अस्येति षष्ठ्यर्थे अवयविनि तयट् प्रत्ययो भवति । चत्वारोऽवयवा अस्याः चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः । चतुष्टयी रज्जुः, पञ्चतयो यमः, सप्ततयी नयप्रवृत्तिः, दशतयो धर्मः, द्वादशतयः सिद्धान्तः ॥151॥

द्वि–त्रिभ्यामयट् वा ॥ 7. 1. 152. ॥

द्वित्रि इत्येताभ्यामवयववृत्तिभ्यां प्रथमान्ताभ्यामस्येति षष्ठ्यर्थे अवयविनि अयट् प्रत्ययो वा भवति । द्वाववयवावस्य द्वयम् द्वितयम् तपः, त्रयं त्रितयम् जगत्, त्रयः त्रितयो मोक्षमार्गः । टकारो ङ्यर्थ । द्वयी द्वितयी, त्रयी त्रितयी रज्जुः । अवयवा अवयविनि संबद्धा इति सामर्थ्यादवयवी प्रत्ययार्थ इति विज्ञायते । त्रयाणि पानानि यथातथा पिबेदित्यत्र तु देशकालादिभेदेन समुदायाभिधानात् बहुवचनम् । द्वये पदार्था जीवा अजीवाश्चेत्यत्र तु जीवाजीवतया द्वैराश्योपादानात् बहूनामपि द्वाववयवौ भवतः । कथमुभयो मणिः उभये देवमनुष्याः उभयी दृष्टिरिति ? उभयशब्दः सर्वादिषु उभयट् इति पठ्यमानः शब्दान्तरमेव विज्ञेयम् तथा चास्य ``नेमार्ध''–(1. 4. 10.) इत्यादिना जस इकारविकल्पो न भवति ॥152॥

न्या०स०–द्वित्रि०–पयश्च दिव्यं शुचि मेघसंभवं स्वतिप्रसन्नां परमां च वारुणीं, ममातुलं वारि च वक्त्रसंभवं त्रयाणि पानानि यथातथा पिबेत् ।

बहुवचनमिति पानस्यैकत्वात् कथं बहुवचनमित्याशङ्कार्थः । कथमिति इह केचिदुभयशब्दान्नित्यमयटमिच्छन्ति उभौ शुक्लकृष्णौ अवयवावस्य तत् स्वमते कथमित्याशङ्का ।

द्व्यादेर्गुणान्मूल्य–क्रेये मयट् ॥ 7. 1. 153. ॥

संख्याया इति वर्तते, द्व्यादेः संख्याशब्दाद्गुणवृत्तेस्तदिति प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे मयट् प्रत्ययो भवति स चेत्संख्याशब्दो मूल्ये क्रेये वा वर्तते ।

यवानां द्वौ गुणौ मूल्यमस्योदश्वितः क्रेयस्य द्विमयमुदश्विद्यवानाम्, एवं त्रिमयम्, चतुर्मयम् ।

उदश्वितो द्वौ गुणो क्रेयावेषां यवानां द्विमया यवा उदश्वितः, एवं त्रिमयाः, चतुर्मयाः । द्व्यादिपदस्य सापेक्षस्यापि नित्यसापेक्षत्वेन गमकत्वाद्वृत्तिः । द्व्यादेरिति किम् ? यवानामेको गुणो मूल्यमस्योदश्वित उदश्वित एको गुणः क्रेय एषां यवानाम् ।

गुणादिति किम् ? द्वौ व्रीहियवौ मूल्यमस्योदश्वितः । द्वे घृतोदश्विती क्रेये एषां यवानाम् । मूल्यक्रेय इति किम् ? क्षीरस्य द्वौ गुणौ तैलस्य पाक्यस्य ।। अपरः प्रकारः । मूल्यक्रेय इति प्रत्ययार्थविशेषणम् । द्व्यादेः संख्याशब्दाद्गुणवृत्तेस्तदिति प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे मयट् प्रत्ययो भवति स चेत् षष्ठ्यर्थो मूल्यं क्रेयं वा भवति । द्वौ गुणावेषां मूल्यभूतानां यवानामुदश्वितः द्विभया यवा उदश्वितो मूल्यम् । त्रिमयाः, चतुर्मयाः । द्वौ गुणावस्योदश्वितः क्रेयभूतस्य द्विमयमुदश्विद्यवानाम् क्रेयम्, त्रिमयम्, चतुर्मयम् । द्व्यादेरिति किम् ? एकगुणा यवा उदश्वितो मूल्यम् एकगुणमुदश्विद्यवानाम् क्रेयम् । गुणादिति किम् ? उदश्वितस्त्रयाणां भागानां द्वौ भागौ यवानां मूल्यभूतानाम् । यवानां त्रयाणां भागानां द्वौ भागौ उदश्वितः क्रेयस्य । द्वौ गुणाविति क्रेयं मूल्यं चैकगुणं कृत्वा तदपेक्षया मूल्यक्रेययोर्द्विस्तावत्तोच्यते । मूल्यक्रेय इति किम् ? द्विगुणं क्षीरं तैलस्य पाक्यस्य ।।153।।

*न्या०स०–द्व्यादे०–*मूल्ये क्रेये वेति यदा मूल्ये संख्याशब्दस्तदा क्रेयः प्रत्ययार्थः, क्रेये तु मूल्यं प्रत्ययार्थः ।

प्रत्ययार्थविशेषणमिति पूर्वं तु प्रकृति विशेषणम् । गुणादिति किम्–भागादिति क्रियतामित्यर्थः । द्वौ भागौ यवानामिति यत्र साक्षात् गुणः प्रयुज्यते तत्र भवतीति भागशब्दप्रयोगे माभूदित्यर्थः ।

अधिकं तत्संख्यमस्मिन् शत–सहस्त्रे शति–शद्–दशान्ताया डः ।। 7. 1. 154. ।।

संख्याया इति वर्तते तदिति च तदिति प्रथमान्तात् शतिशद्दशन् इत्येवमन्तात्संख्याशब्दादस्मिन् इति सप्तम्यर्थे शते सहस्त्रे च डः प्रत्ययो भवति यत्तत् प्रथमान्तं तच्चेदधिकं तत्संख्यं च भवति, सा शतसहस्त्रलक्षणा संख्या यस्य योजनादेस्तत्तत्संख्यं शतं सहस्त्रमिति च यत्संख्यायते तदेव यद्यधिकमपि भवतीत्यर्थः ।

योजनानां विंशतिर्योजनानि वा विंशतिरधिकास्मिन्योजनशते शते वा योजनेषु विंशं योजनशतम् विंशं शतं योजनानि, एवं विंशं योजनसहस्त्रम् विंशं सहस्त्रं योजनानि, विंशं कार्षापणशतम् विंशं शतं कार्षापणानि, विंशं कार्षापणसहस्त्रम् विंशं सहस्त्रं कार्षापणानि ।

संख्यासमुदायोऽपि संख्यैव संख्यायतेऽनयेति कृत्वेत्यत्रापि भवति । एकविंशति एकविंशम् द्वाविंशं शतम्, शत्, त्रिंशं शतं त्रिंशं सहस्रम्, एकत्रिंशम्, चत्वारिंशम्, पञ्चाशम्, दशन्, एकादशं शतम्, एकादशं सहस्रम् द्वादशम् त्रयोदशम् शतं सहस्रम् वा, योजनादीनामिव शतानामपि सहस्रे भवति । विंशतिः शतान्यधिकान्यस्मिन् शतानां सहस्रं विंशं शतसहस्रम्, त्रिंशम् एकादशम्, एवं सहस्राणामपि शते भवति । विंशतिः सहस्राण्यधिकान्यस्मिन्सहस्राणां शते विंशं शतसहस्रम्, त्रिंशम्, एकादशम् । राजदन्तादिषु पाठाच्छतशब्दस्य पूर्वनिपातः ।

अधिकमिति किम् ? विंशतिः त्रिंशत् एकादश वा ऊना अस्मिन् शते । तत्संख्यमिति किम् ? विंशतिर्दण्डा अधिका अस्मिन् योजनशते, त्रिंशत्पणा अधिका अस्मिन् कार्षापणसहस्रे, एकादश माषा अधिका अस्मिन् कार्षापणशते । अस्मिन्निति किम् ? विंशतिरधिकास्माच्छतात् । शतसहस्र इति किम् ? एकादशाधिका अस्यां त्रिंशति । शतिशद्दशान्ताया इति किम् ? षडधिका अस्मिन् शते, दशाधिका अस्मिन्सहस्रे । व्यपदेशिवद्भावाद्दशान्तत्वे शन्नित्येव क्रियते न तु दशन्निति । संख्याया इत्येव ? गोविंशतिः अधिका अस्मिन् गोशते, न गोविंशतिशब्द एकविंशत्यादिवत्संख्याशब्दः ॥154॥

न्या०स०–अधि०—ननु दशान्तशतिशत इत्युक्तेऽपि शतिशतोः प्रत्ययत्वात् प्रत्ययग्रहण-परिभाषया तदन्तप्रतिपत्तिर्भविष्यति किं तयोरन्तरसंबन्धनेन ?

सत्यं, अन्तग्रहणाभावे विंशतित्रिंशदादेरेव स्यात्, न त्वेकविंशत्येकत्रिंशदादेः, अन्तग्रहणे तु यावतः शतिशच्छब्दावन्तौ स्तस्तावतो ग्रहणं सिद्धम् । भवत्येवं तथापि संख्यानुवृत्तेः संख्याशब्दादुच्यमानः प्रत्ययः संख्यासमुदायादेकविंशत्यादेर्न स्यात् इत्याशङ्क्याह–संख्यासमुदायोपीत्यादि एकविंशत्यादेः समुदायस्य लोके पृथक् संख्यात्वेन रूढत्वादिति भावः ।

पूर्वनिपात इति सहस्राणां शतमिति कृते ``षष्ठ्ययत्ना०'' (3. 1. 76.) इति समासे प्रथमोक्तत्वात् सहस्रस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते ।

ऊना अस्मिन् शते इति योजनेष्वित्याध्याहार्यमन्यथा तत्संख्यत्वं न स्यात् ।

संख्यापूरणे डट् ॥ 7. 1. 155. ॥

संख्या पूर्यते येन तत्संख्यापूरणम्, संख्याया इति वर्तते । संख्याशब्दा- त्संख्यापूरणेऽभिधेये डट् प्रत्ययो भवति, अत्र सामर्थ्यात् षष्ठ्यन्तात्प्रत्ययो विज्ञायते, अत एव तदिति निवृत्तम् ।

एकादशानां पूरणः एकादशः, एकादशसंख्यापूरण इत्यर्थः । एवं द्वादशः, त्रयोदशः,

चतुर्दशः, एकादशी स्त्री । संख्याग्रहणं किम् ? एकादशानामुष्ट्रिकाणां पूरणो घटः । एकस्य तु पूरणाभावान्न ग्रहणम्, द्व्यादेरित्यनुवृत्तेर्वा ।।155।।

विंशत्यादेर्वा तमट् ।। 7. 1. 156. ।।

विंशत्येवमादिकायाः संख्यायाः संख्यापूरणे तमट् प्रत्ययो वा भवति, पक्षे डट् ।

विंशते पूरणः विंशतितमः, विंशः, विंशतितमी, विंशी स्त्री, एकविंशतितमः । एकविंशः, द्वाविंशतितमः, द्वाविंशः, एकान्नत्रिंशत्तम, एकान्नत्रिंशः, त्रिंशत्तमः, त्रिंशः, चत्त्वारिंशत्तमः, चत्वारिंशः, द्वाचत्वारिंशतमः द्वाचत्वारिंशः, पञ्चाशत्तमः, पञ्चाशः, अष्टपञ्चाशत्तमः, अष्टपञ्चाशः ।।156।।

शतादि–मासा–ऽर्द्धमास–संवत्सरात् ।। 7. 1. 157. ।।

शतादिभ्यः संख्याशब्देभ्यो मास अर्धमास संवत्सर इत्येतेभ्यश्च संख्यापूरणे तमट् प्रत्ययो भवति ।

शतस्य पूरणः शततमः, शततमी, एकशततमः, सहस्रतमः, लक्षतमः, मासस्य पूरणो मासतमो दिवसः, अर्धमासतमः, संवत्सरतमः । षष्ठ्यादेरित्येव सिद्धे शतादिग्रहणं संख्याद्यर्थम् ।।157।।

षष्ट्यादेरसंख्यादेः ।। 7. 1. 158. ।।

संख्या आदिरवयवो यस्य स संख्यादिः, ततोऽन्यस्मात् षष्ठ्यादेः षष्टिप्रभृतिभ्यः संख्याशब्देभ्यः संख्यापूरणे तमट् प्रत्ययो भवति, विकल्पापवादः ।

षष्टेः पूरणः षष्टितमः, सप्ततितमः, अशीतितमः, नवतितमः । असंख्यादेरिति किम् ? एकषष्टितमः, एकषष्टः, एकसप्ततितमः, एकसप्ततः । विंशत्यादेरिति विकल्प एव ।।158।।

नो मट् ।। 7. 1. 159. ।।

असंख्यादेः संख्याशब्दान्नकारान्तात्संख्यापूरणे मट् प्रत्ययो भवति, डटोऽपवादः ।

पञ्चानां पूरणः पञ्चमः, पञ्चमी, सप्तमः, अष्टमः, नवमः, दशमः । न इति किम् ? विंशः । असंख्यादेरित्येव ? एकादशः, द्वादशः ।।159।।

पित्–तिथट् बहु–गण–पूग–संघात् ।। 7. 1. 160. ।।

बहुगणपूगसंघ इत्येतेभ्यः संख्यापूरणे तिथट् प्रत्ययो भवति स च पित् ।

बहुनां पूरणः बहुतिथः, बह्वीनां पूरणी बहुतिथी, गणतिथः, गणतिथी, पूगतिथः, पूगतिथी, संघतिथः, संघतिथी । संख्याविशेषणं संभवापेक्षम् । पित्करणं पुंवद्भावार्थम्, टकारो ङ्यर्थः ।।160।।

अतोरिथट् ।। 7. 1. 161. ।।

अत्वन्तात्संख्याशब्दात्संख्यापूरणे इथट् प्रत्ययो भवति स च पित्, डटोऽपवादः ।

इयतां पूरणः इयतिथः, इयतीनां पूरणी इयतिथी, कियतिथः, कियतिथी, यावतिथः, यावतिथी, तावतिथः, तावतिथी, एतावतिथः, एतावतिथी ।।161।।

षट्–कति–कतिपयात्–थट् ।। 7. 1. 162. ।।

षट् कति कतिपय इत्येतेभ्यः संख्यापूरणे थट् प्रत्ययो भवति स च पित् ।

षण्णां पूरणः षष्ठः षष्ठी, कतीनां पूरणः कतिथः, कतिथी, कतिपयथः, कतिपयानां स्त्रीणां पूरणी कतिपयथी ।। ``षष्ठी वानादरे'' (2. 2. 108.) ``चतुर्थी'' (2. 2. 53.) इति च निर्देशात्थटि ``नाम सिदय्व्यञ्जने'' (1. 1. 21.) इति पदत्वं न भवति ।।162।।

चतुरः ।। 7. 1. 163. ।।

चतुर् इत्येतस्मात्संख्यापूरणे थट् प्रत्ययो भवति ।

चतुर्णां पूरणः चतुर्थः । चतसृणां पूरणी चतुर्थी । योगविभाग उत्तरार्थः ।।163।।

येयौ च लुक् च ।। 7. 1. 164. ।।

चतुर् इत्येतस्मात्संख्यापूरणे य ईय इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः च इत्येतस्य लुक् च भवति । चतुर्णां पूरणः तुर्यः तुरीयः तुर्या तुरीया । एवं च त्रैरूप्यं भवति ।।164।।

द्वेस्तीयः ।। 7. 1. 165. ।।

दिशब्दात्संख्यापूरणे तीयः प्रत्ययो भवति । द्वयोः पूरणः द्वितीयः द्वितीया ।।165।।

त्रेस्तृ च ॥ 7. 1. 166. ॥

त्रि इत्येतस्मात्संख्यापूरणे तीयः प्रत्ययो भवति, तत्संनियोगे च त्रेस्तृ इत्ययमादेशो भवति । त्रयाणां पूरणः तृतीयः, तिसृणां पूरणी तृतीया ॥166॥

पूर्वमनेन सादेश्चेन् ॥ 7. 1. 167. ॥

पूर्वमिति क्रियाविशेषणान्निर्देशादेव द्वितीयान्तात्केवलात्सादेः सपूर्वाच्चानेनेति तृतीयार्थे कर्तरि इन् प्रत्ययो भवति ।

केवलात्-पूर्वमनेन पूर्वी, पूर्विणौ, पूर्विणः । अनेनेति कर्तृ पदं, कर्ता च क्रियामन्तरेण न भवतीति कृतं भुक्तं पीतं चेति कांचित्क्रियामपेक्षते । विशेषावगमस्तु अर्थात् प्रकरणात् शब्दान्तरसंनिधेर्वा भवति । पूर्वी कटम्, पूर्वी ओदनम्, पूर्वी पयः । सादेः, कृतं पूर्वमनेन कृतपूर्वी कटम्, भुक्तं पूर्वमनेन भुक्तपूर्वी ओदनम्, प्रीतं पूर्वमनेन पीतपूर्वी पयः । कृतपूर्वादिसमासात् प्रत्ययः क्तान्तं येनैव समानाधिकरणं तस्यैव कर्मतां वक्ति । न च वृत्तौ क्तान्तं कटादिना समानाधिकरणमिति कटादिगतं कर्मानुक्तमिति अतो द्वितीया ॥167॥

इष्टादेः ॥ 7. 1. 168. ॥

इष्ट इत्येवमादिभ्यः सामर्थ्यात्प्रथमान्तेभ्योऽनेनेति तृतीयार्थे कर्तरि इन् प्रत्ययो भवति । इष्टमनेन इष्टी यज्ञे, पूर्ती श्राद्धे । ''व्याप्ये क्तेनः'' (2. 2. 99.) इति कर्मणि सप्तमी ।

इष्ट, पूर्त, उपपादित, उपसादित, उपासित निगदित, परिगदित, निकटित, संकलित, परिकलित, संरक्षित, परिरक्षित, अर्चित, अगणित, अवगणित, अवकीर्ण, अवमुक्त, आयुक्त, गृहीत, अधीत, आम्नात, श्रुत, आसेवित, अवधारित, अवकल्पित, कृत, निराकृत, उपकृत, उपाकृत, अनुयुक्त, अनुगुणित, अनुगणित, गणित, परिगणित, अनुपठित, निपठित, पठित, व्याकुलित, उद्गृहीत, कथित, निकथित, निषादित इतीष्टादिः ॥168॥

श्राद्धमद्यभुक्तमिकेनौ ॥ 7. 1. 169. ॥

श्राद्धशब्दात्प्रथमान्ताद्यभुक्त–मित्येवमुपाधिकादनेनेति तृतीयार्थे कर्तरि इक इन् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः, श्राद्धशब्दः कर्मनामधेयं तत्साधने द्रव्ये वर्तित्वा प्रत्ययमुत्पादयति । श्राद्धमनेनाद्य भुक्तं श्राद्धिकः, श्राद्धी । अद्यग्रहणादद्य भुक्ते श्राद्धे श्वः श्राद्धिकः श्राद्धी इति न भवति । भुक्तमिति किम् ? श्राद्धमनेनाद्य कृतम् ॥169॥

अनुपद्यन्वेष्टा ॥ 7. 1. 170. ॥

अनुपदीति इन्नतं निपात्यते अन्वेष्टा चेत्प्रत्ययार्थी भवति, अनुपदमन्वेष्टा अनुपदी उष्ट्राणाम् । अनुपदी गवाम् ॥170॥

दाण्डाजिनिका–ऽऽय:शूलिक–पार्श्वकम् ॥ 7. 1. 171. ॥

दाण्डाजिनिकाय:शूलिकशब्दौ इकण्प्रत्ययान्तौ पार्श्वकशब्दश्च कप्रत्ययान्तौ निपात्यते अन्वेष्टा चेत्प्रत्ययार्थो भवति ।

दण्डाजिनं दम्भ: तेनान्वेष्टा दाण्डाजिनिक:, यो मिथ्याव्रती परप्रसादार्थं दण्डाजिनमुपादायार्थानन्विच्छति स दाम्भिक उच्यते । निपातनं रूढ्यर्थं तेन शैवभागवतादौ न भवति । आय: शूलिक इति, तीक्ष्ण उपायोऽय:शूलसाम्यादय:शूलम् तेनान्वेष्टा आय:शूलिक:, यो मृदुनोपायेनान्वेष्टव्यानर्थान्तीक्ष्णो–पायेनान्विच्छति राभसिक: स एवमुच्यते । केचिद्दण्डाजिनाय:शूलाभ्यामिकमेवाहु: तन्मते दण्डाजिनिक: दण्डाजिनिका अय:शूलिक: अय:शूलिका । पार्श्वक इति पार्श्वमनृजुरुपाय: लश्चादि: तेनान्वेष्टा पार्श्वक: । ऋजुनोपायेनान्वेष्टव्यानर्थाननृजुनोपायेन योऽन्विच्छति स पार्श्वक उच्यते, यस्तु राज्ञ: पार्श्वेनार्थानन्विच्छति स राजपुरुषस्तत्र न भवति ॥171॥

क्षेत्रेऽन्यस्मिन्–नाश्य इय: ॥ 7. 1. 172. ॥

क्षेत्रशब्दान्निर्देशादेव सप्तम्यन्तादन्योपाधिकान्नाश्येऽर्थे इय: प्रत्ययो भवति ।

अन्यस्मिन् क्षेत्रे नाश्य: क्षेत्रियो व्याधि:, क्षेत्रं शरीरम् । अन्यदिति जन्मान्तरशरीरमुच्यते । तत्र नाश्यो नेहेत्यसाध्यो व्याधिरुच्यते । क्षेत्रियं विषम् । तद्धि स्वशरीरादन्यस्मिन्परशरीरे संक्रमय किंचिन्नास्यं चिकित्स्यं भवति । क्षेत्रियाणि तृणानि, तानि हि सस्यक्षेत्रेऽन्यस्मिन्नुत्पन्नानि नाश्यान्युत्पाद्यानि भवन्ति । क्षेत्रिय: पारदारिक:, स हि स्वक्षेत्रादन्यस्मिन् क्षेत्रे परदारेषु प्रवर्तमानस्तत्र नाश्यो निग्राह्यो भवति । दारा: क्षेत्रम् ॥172॥

छन्दोऽधीते श्रोत्रश्च वा ॥ 7. 1. 173. ॥

छन्दस्शब्दान्निर्देशादेव द्वितीयान्तादधीत इत्यस्मिन्नर्थे इय: प्रत्ययो वा भवति तत्संनियोगे च छन्दस्शब्दस्य श्रोत्रभाव: । छन्दोऽधीते श्रोत्रिय:, पक्षेऽण् छान्दस: ॥173॥

इन्द्रियम् ॥ 7. 1. 174. ॥

इन्द्रियमितीन्द्रशब्दादियप्रत्ययो निपात्यते, निपातनं रूढ्यर्थं, तेन यथायोगमर्थकल्पना। इन्द्र आत्मा इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियम् चक्षुराद्युच्यते तेन हि करणेनात्मानुमीयते नाकर्तृकं करणमिति। इन्द्रेण दृष्टमिन्द्रियम्, आत्मा हि चक्षुरादीनि दृष्ट्वा स्वविषये नियुङ्क्ते, इन्द्रेण सृष्टमिन्द्रियम्। आत्मकृतेन हि शुभाशुभेन कर्मणा तथाविधविषयोपभोगायास्य चक्षुरादीनि भवन्ति। इन्द्रेण जुष्टमिन्द्रियम्, तद्द्वारेणास्य विज्ञानोत्पादात्। इन्द्रेण दत्तमिन्द्रियम्, विषयग्रहणाय विषयेभ्यः समर्पणात्। इन्द्रस्यावरणक्षयोपशम–साधनमिन्द्रियम्, एवं सति संभवेऽन्यापि व्युत्पत्तिः कर्तव्या ।174।

तेन वित्ते चञ्चु–चणौ ।। 7. 1. 175. ।।

तेनेति तृतीयान्ताद्वित्तेऽर्थे चञ्चुचण इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः। वित्तो ज्ञातः प्रकाश इत्यर्थः, विद्यया वित्तः विद्याचञ्चुः, विद्याचणः, केशचञ्चुः, केशचणः ।।175।।

पूरणाद्–ग्रन्थस्य ग्राहके को लु–क्चाऽस्य ।। 7. 1. 176. ।।

तेनेति तृतीयान्तात्पूरणप्रत्ययान्तात् ग्रन्थस्य ग्राहकेऽर्थे कः प्रत्ययो भवति तत्संनियोगे च पूरणप्रत्ययस्य लुक्।

द्वितीयेन रूपेण ग्रन्थस्य ग्राहकः द्विकः, त्रिकः, चतुष्कः, पञ्चकः, षट्कः वैयाकरणः। ग्रन्थस्येति किम्? पञ्चमेन दिनेन शत्रूणां ग्राहकः ।।176।।

ग्रहणाद् वा ।। 7. 1. 177. ।।

ग्रन्थस्येति वर्तते पूरणादिति च, गृह्यतेऽनेनेति ग्रहणं रूपादि, ग्रन्थस्य ग्रहणाद् ग्रहणे वर्तमानात्पूरण–प्रत्ययान्तान्नाम्नः कः प्रत्ययो भवति स्वार्थे प्रकृत्यर्थ एव अर्थान्तरानिर्देशात् तत्संनियोगे च पूरणप्रत्ययस्य वा लुक्, वेति लुकैव संबन्ध्यते न प्रत्ययेन। पक्षे प्रत्ययानुत्पत्तेर्महा-विभाषयैव सिद्धत्वात्।

द्वितीयमेव द्विकम् ग्रन्थग्रहणमस्य, द्वितीयकम् ग्रन्थग्रहणमस्य एवं त्रिकं व्याकरणस्य ग्रहणम्, तृतीयकं व्याकरणस्य ग्रहणम्, चतुष्कं चतुर्थकं पञ्चकं पञ्चमकम्। ग्रन्थस्येत्येव? द्वितीयं ग्रहणं धान्यस्य ।।177।।

सस्याद्–गुणात्–परिजाते ।। 7. 1. 178. ।।

सस्यशब्दाद्–गुणवाचिनस्तेनेति तृतीयान्तात्परिजातेऽर्थे कः प्रत्ययो भवति। परिः

सर्वतोभावे, जनिः संपत्तौ, सस्येन परिजातः सस्यकः शालिः, यः सर्वतो गुणैः संपन्नो न यस्य किंचिदपि वैगुण्यमस्ति स एवमुच्यते । एवं सस्यको देशः, सस्यको वत्सः, सस्यकं सीधु, सस्यको मणिः । रूढिशब्दश्चायं मणिविषये ।

सस्यकः, खड्गः सर्वतः सारेण संबद्धः । गुणादिति किम् ! धान्यवचनान्मा भूत् । सस्येन परिजातं क्षेत्रम् ॥178॥

न्या०स०–सस्या०–रूढिशब्दश्चेति गुणेन परिजातोऽस्तु वा मा वा समुदायप्रसिद्ध्या तु मणिविशेषस्य संज्ञा ।

धन–हिरण्ये कामे ॥ 7. 1. 179. ॥

धन हिरण्य इत्येताभ्यां निर्देशादेव सप्तम्यन्ताभ्यां कामेऽभिलाषेऽर्थे कः प्रत्ययो भवति । धने कामः धनकः चैत्रस्य, हिरण्यको मैत्रस्य ॥179॥

स्वाङ्गेषु सक्ते ॥ 7. 1. 180. ॥

स्वाङ्गवाचिभ्यो नामभ्यो निर्देशादेव सप्तम्यन्तेभ्यः सक्ते तत्परेऽर्थे कः प्रत्ययो भवति । केशेषु सक्तः केशकः नखकः, दन्तकः । केशादिरचनायां प्रसक्त उच्यते । बहुवचनात्स्वाङ्ग–समुदायादपि भवति । दन्तौष्ठकः, केशनखकः ॥180॥

उदरे त्विकणाद्यूने ॥ 7. 1. 181. ॥

उदरशब्दान्निर्देशादेव सप्तम्यन्तात्सक्तेऽर्थे इकण् प्रत्ययो भवति सक्तश्चेदाद्यूनो भवति । उदरे सक्तः औदरिकः आद्यूनः अविजिगीषुः यो बुभुक्षयात्यन्तं पीड्यते । औदरिकी । आद्यून इति किम् ? उदरकोऽन्यः । तु शब्दः पूर्वयोगशेषतामस्य कथयति तेन काधिकारो न बाध्यते ॥181॥

अंशं हारिणि ॥ 7. 1. 182. ॥

अंशशब्दान्निर्देशादेव द्वितीयान्ताद्धारिण्यर्थे कः प्रत्ययो भवति । अंशं हारी अंशको दायादः, हारीत्यावश्यके णिन् ॥182॥

न्या०स०–अंशं०—अवश्यं हरिष्यति णिन्, ``एष्यदृणेनः'' (2. 2. 94.) इति षष्ठ्या निषेधः, शीलार्थे तु षष्ठी स्यात् ।

तन्त्रादचिरोद्धृते ॥ 7. 1. 183. ॥

तन्त्रशब्दान्निर्देशादेव पञ्चम्यन्तादचिरोद्धृतेऽचिरादुत्तीर्णेऽर्थे कः प्रत्ययो भवति । तन्त्रात्पटवानोपकरणादचिरोत्तीर्णः तन्त्रकः पटः । प्रत्यग्र इत्यर्थः ॥183॥

ब्राह्मणान्नाम्नि ॥ 7. 1. 184. ॥

ब्राह्मणशब्दान्निर्देशादेव पञ्चम्यन्तादचिरोद्धृतेऽर्थे नाम्नि संज्ञायां कः प्रत्ययो भवति ।

सदाचारब्राह्मणेभ्यस्तदानीमेवोद्धृत्य पृथक्कृतः ब्राह्मणको नाम देशः । यत्रायुधजीविनः काण्डस्पृष्टा नाम ब्राह्मणा भवन्ति । आयुधजीवी ब्राह्मण एव ब्राह्मणक इत्यन्ये ॥184॥

उष्णात् ॥ 7. 1. 185. ॥

उष्णशब्दात्पञ्चम्यन्तादचिरोद्धृतेऽर्थे कः प्रत्ययो भवति नाम्नि । उष्णादग्नेरचिरोद्धृता उष्णिका यवागूः । अल्पान्ना पेया विलेपिकेति यावत्, उष्णकुण्डान्निसृता नदीति केचित् ॥185॥

शीताच्च कारिणि ॥ 7. 1. 186. ॥

शीतादुष्णाच्च सामर्थ्यात् द्वितीयान्तात्कारिण्यर्थे कः प्रत्ययो भवति नाम्नि । शीतं मन्दं करोति शीतकः अलसः, उष्णं क्षिप्रं करोति उष्णकः दक्षः । नाम्नीत्यनुवृत्तेः शीतोष्णशब्दाविह मान्द्यशीघ्रवचनौ गृह्येते न स्पर्शवचनौ । क्रियाविशेषणत्वात् द्वितीया, कारीत्यावश्यके णिन् ॥186॥

अधेरारूढे ॥ 7. 1. 187. ॥

अधिशब्दादारूढेऽर्थे वर्तमानात्स्वार्थे कः प्रत्ययो भवति । आरूढशब्दः कर्तरि कर्मणि च क्तप्रत्यये सिद्धः । तत्र यदा कर्तरि तदा अधिको द्रोणः खार्याः अधिको द्रोणः खार्यामिति च भवति । यदा तु कर्मणि तदा अधिका खारी द्रोणेनेति भवति ॥187॥

न्या०स०–अधे०–खार्याः, खार्यामिति चेति ``अधिकेन भूयसस्ते'' (2. 2. 111.) पञ्चमी- सप्तम्यौ । द्रोणेनेति ``तृतीयाल्पीयसः'' (2. 2. 112.) ।

अनोः कमितरि ॥ 7. 1. 188. ॥

अनुशब्दात्कः प्रत्ययो भवति समुदायेन चेत्कमिता गम्यते । अनुकामयतेऽनुकः ॥188॥

अभेरीश्च वा ।। 7. 1. 189. ।।

अभिशब्दात्कः प्रत्ययो भवति ईकारश्चास्य वा भवति समुदायेन चेत्कमिता गम्यते । अभिकामयते अभिकः, अभीकः ।।189।।

सोऽस्य मुख्यः ।। 7. 1. 190. ।।

स इति प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे क प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमान्तं स चेन्मुख्यः प्रधानं ग्रामणीर्भवति । देवदत्तो मुख्योऽस्य देवदत्तकः संघः, जिनदत्तकः, देवदत्तो मुख्य एषां देवदत्तकाः, जिनदत्तकाः, मुख्य इति किम् ? देवदत्तः शत्रुरेषाम् ।।190।।

श्रृङ्खलकः करभे ।। 7. 1. 191. ।।

श्रृङ्खलकशब्दः कप्रत्ययान्तो निपात्यते करभे उष्ट्रशिशौ वाच्ये । शृङ्खलं बन्धनमस्य श्रृङ्खलकः करभ उच्यते । करभाणां काष्ठमयं पादबन्धनं श्रृङ्खलम्, वयःशब्दश्चायम् । श्रृङ्खल बन्धनं भवतु वा माभूत् ।।191।।

उदुत्सोरुन्मनसि ।। 7. 1.192. ।।

उत् उत्सु इत्येताभ्याम–स्येत्युन्मनस्यभिधेये कः प्रत्ययो भवति । उद्गतं मनोऽस्य उत्कः, उत्सुगतं मनोऽस्य उत्सुकः– उन्मना इत्यर्थः ।।192।।

काल–हेतु–फलाद् रोगे ।। 7. 1. 193. ।।

स इति वर्तते, स इति प्रथमान्तेभ्यः कालविशेषवाचिभ्यो हेतुवाचिभ्यः फलवाचिभ्यश्चास्येति षष्ठ्यर्थे कः प्रत्ययो भवति यत्तदस्येति निर्दिष्ट रोग-श्चेतद्भवति ।

द्वितीयो दिवसोऽस्याविर्भावाय, द्वितीयकः, तृतीयकः, चतुर्थको ज्वरः, सततः कालोऽस्य सततको ज्वरः । हेतु,–विषपुष्पं हेतुः कारणमस्य विषपुष्पकः, काशपुष्पकः, पर्वतको रोगः । फल, शीतं फलं कार्यमस्य शीतकः, उष्णको ज्वरः । रोग इति किम् ? द्वितीयो दिवसोऽस्य जातस्य बालकस्य ।।193।।

*न्या०स०–काल०–*स इति वर्तते इति अतः कारणनिर्देशादेव पञ्चम्यन्तेभ्य इति न लभ्यते । ननु कालस्यापि रोगकारणत्वाद् हेतुग्रहणेनैव तद्ग्रहणे सिद्धे किं कालग्रहणेन ?

न, अन्यतो भवतोऽपि रोगस्यायमस्य काल इति रोगाधिकरणभूतस्य कालस्यासंबन्धित्वे विज्ञायमानेऽपि यथा स्यादित्येवमर्थम् ।

प्रायोऽन्नमस्मिन–नाम्नि ॥ 7. 1. 194. ॥

स इति वर्तते । स इति प्रथमान्तादस्मिन्निति सप्तम्यर्थे नाम्नि संज्ञायां विषये कः प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमान्तं तच्चेदन्नं प्रायः प्रायेण भवति, प्रायशब्दोऽत्रान्न–समानाधिकरणो नियतलिङ्गसंख्यः, प्रायः अकृत्स्नबहुत्वम् ।

गुडापूपाः प्रायेण प्रायो वान्नमस्यां गुडापूपिका पौर्णमासी, तिलापूपिका, कृशरिका, त्रिपुटिका । नाम्नीति किम् ? अपूपाः प्रायेण प्रायो वान्नमवन्तिषु ॥194॥

*न्या०स०–*प्रायो०–नियतलिङ्गसंख्य इति अनव्ययं पुंलिङ्ग एकवचनान्तोऽदन्तश्च पूर्वस्तु सान्तोऽव्ययत्वादलिङ्गश्च ।

इत्याचार्य श्री हेमचन्द्रविरचितायां...सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञ० स० प्रथमः पादः ।

कुल्मासादण् ॥ 7. 1. 195. ॥

कुल्मासशब्दात्–प्रथमान्तात्प्रायोऽन्नमस्मिन्नित्यर्थेऽण् प्रत्ययो भवति नाम्नि । कुल्मासाः प्रायेण प्रायो वान्नमस्यां पौर्णमास्यां कौल्मासी । कुल्माष इति मूर्धन्योपान्त्योप्यस्ति ॥195॥

वटकादिन् ॥ 7. 1. 196. ॥

वटकशब्दात्प्रथमान्तात्–प्रायोऽन्नमस्मिन्नित्यर्थे इन् प्रत्ययो भवति नाम्नि । वटकानि प्रायेण प्रायो वान्नमस्यां पौर्णमास्यां वटकिनी ॥196॥

साक्षाद्–द्रष्टा ॥ 7. 1. 197. ॥

साक्षाच्छब्दाद्–द्रष्टेत्यस्मिन्नर्थे इन् प्रत्ययो भवति ।

साक्षाद्द्रष्टा साक्षी, साक्षिणौ, साक्षिणः । ``प्रायोऽव्ययस्य'' (7. 4. 65.) इत्यन्त्यस्वरादिलोपः ॥ नाम्नीत्येव ? साक्षाद्द्रष्टा ॥197॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानुशासनबृहवृत्तौ सप्तमस्याध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ॥ 7. 1. ॥

लब्धलक्षा विपक्षेषु विलक्षास्त्वयि मार्गणाः ॥
तथापि तव सिद्धेन्द्र ! दातेत्युक्तंधरं यशः ॥1॥

अथ द्वितीयः पादः

तदस्याऽस्त्यस्मिन्निति मतुः ।। 7. 2. 1. ।।

तदिति प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थेऽस्मिन्निति सप्तम्यर्थे वा मतुः प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमान्तमस्तीति चेत्तद्भवति अस्तिसमानाधिकरणं भवतीत्यर्थः ।

गावोऽस्य सन्ति गोमान्, यवमान्, वृक्षा अस्मिन् सन्ति वृक्षवान् प्लक्षवान् पर्वतः, अस्ति धनमस्य अस्तिमान्, स्वस्ति आरोग्यमस्यास्ति स्वस्तिमान्, अत्रास्तिस्वस्ती अव्ययौ धनारोग्यवचनौ । अस्तीति च सामान्याभिधायि । विशेषास्तेश्च सामान्यास्तिना सामानाधिकरण्यमुपपद्यत एव । अस्तीति वर्तमानकालोपादानात् वर्तमानसत्तायां प्रत्ययो भवति न भूतभविष्यत्सत्तायाम् गावोऽस्यासन् गावोऽस्य भवितार इति । न तर्हि इदानीमिदं भवति गोमानासीत् गोमान् भवितेति । भवति, न त्वेतस्मिन्वाक्ये भवति । तथा सति हि यथा गोमान् यवमानित्यत्रास्तेः प्रयोगो न भवति एवं गोमानासीत् गोमान् भवितेत्यत्रापि न स्यात् । भवतु वा प्रयोगः तथापि गावोऽस्यासन् गावोऽस्य भवितार इतिवत् गोमानासीदित्यादिष्वपि बहुवचनं श्रुयेत । का तर्हीयं वाचोयुक्तिः गोमानासीत् गोमान् भवितेति ? एषैषा वाचोयुक्तिः, नैषा गवांसत्ता कथ्यते गोमत्सत्तैषा कथ्यते । तर्हि कथं मतुः ? अस्त्यत्र वर्तमानकालोक्तिः । कथं तर्हि भूतभविष्यत्कालता गम्यते, ``धातोः संबन्धे प्रत्ययाः'' (5. 4. 41.) इति । अथेह कस्मान्न भवति, चित्रा गावोऽस्य सन्ति स चित्रगुः शबलगुरिति ? बहुव्रीहिणैव मत्वर्थस्योक्तत्वात् । एवं पूर्वशालः अपरशालः पञ्चगुः दशगुरित्यत्राप्यस्तीतिपदसापेक्षं तद्धितद्विगुं द्वैमातुर इत्यादौ सावकाशं बाधित्वा अस्तिपदनिरपेक्षत्वादन्तरङ्गेण बहुव्रीहिणा भवता उक्तार्थत्वान्मतुर्न भवति ।

अस्तीति किम् ? गावोऽस्यानन्तराः, गावोऽस्य समीपाः । अनन्तरादिष्वपि स्यात् । इतिकरणो विवक्षार्थः । तेन

'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।। संसर्गेऽस्तिविवक्षायां प्रायो मत्वादयो मताः' ।।1।। भूम्नि,—गोमान् यवमान्, निन्दायाम्,—शङ्खोदकी, ककुदावर्ती । प्रशंसायाम्,—रूपवती शीलवती कन्या, नित्ययोगे-क्षीरिणो वृक्षाः कण्टकिनः, अतिशायने-उदरिणी कन्या, बलवान् मल्लः, संसर्गे, दण्डी छत्री । प्रायिकमेतद्भूमादिदर्शनं सत्तामात्रेऽपि प्रत्ययो दृश्यते । व्याघ्रवान्, पर्वतः, स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः, रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी, रूपरसस्पर्शवत्य आपः, रूपस्पर्शवत्तेजः, स्पर्शवान् वायुः । यवमतीभिरद्भिर्यूपं प्रोक्षन्ति । तथा मत्वर्थीकान्मत्वर्थीः

सरूपो न भवति, गाव एषां सन्तीति गोमन्तः गोमन्तोऽत्र सन्तीति मतुर्न भवति, दण्ड एषामस्तीति दण्डिकाः दण्डिका अत्र सन्तीति इको न भवति । विरूपस्तु भवत्येव । दण्डिमती शाला, हस्तिमती उपत्यका । विरूपोपि मत्वर्थीयः समानायां वृत्तौ न भवति । दण्ड एषामस्तीति दण्डिकाः दण्डिनः । दण्डिका अस्य सन्ति दण्डिनोऽस्य सन्तीति इन्मतू न भवतः ॥

'शैषिकाच्छैषिको नेष्टः सरूपः प्रत्ययः क्वचित् ॥ समानवृत्तौ मत्वर्थान्मत्वर्थीयोऽपि नेष्यते' ॥1॥ क्वचिदिति समानायामसमानायां च वृत्तौ, शालायां भवः शालीय । ''दोरीयः'' (6. 3. 31.) इतीये सति पुनः शालीये भवः शालीयस्यायं वेतीयो न भवति । विरूपस्तु भवति । अहिच्छत्रे भव आहिच्छत्रः तत्र भव आहिच्छत्रीयः ॥ तथा असंज्ञाभूतात् कर्मधारयान्मत्वर्थीयो न भवति । वीरपुरुषा अस्मिन् ग्रामे सन्ति । अत्र बहुव्रीहिरेव भवति । वीरपुरुषको ग्रामः, संज्ञायास्तु भवत्येव-गौरखरवदरण्यम्, कृष्णसर्पवान् वल्मीकः, लोहितशालिमान् ग्रामः । कथमैकगविकः सर्वधनीति । ''एकादेः कर्मधारयात्'' (7. 2. 58.) इत्याद्यारम्भसामर्थ्याद्भ-विष्यति । तथा गुणे गुणिनि च ये गुणशब्दा वर्तन्ते तेभ्यो मत्वर्थीयो न भवति । शुक्लो वर्णोऽस्यास्तीति तिक्तो रसोऽस्यास्तीति प्रत्ययमन्तरेणाप्येषां तदभिधाने सामर्थ्यात्, ये तु गुणमात्रे तेभ्यो भवत्येव । रूपवान् रसवान् शौक्ल्यवान् कार्ष्ण्यवानिति ॥1॥

*न्या०स०—अर्हं तद०—*अस्तीति चेति यदा अस्तिशब्दो धनार्थस्तदास्तिमानित्युपपद्यते, यदा तु विद्यमानार्थस्तदा कथं द्वयोरेकार्थत्वादित्याह-सामान्याभिधायीति अस्तीति क्रियापदं सामान्याभिधायि सामान्येनास्तित्वमात्रप्रतिपादनात्, प्रकृतिभूतस्य त्वव्ययस्य विशेषाभिधायित्वं विद्यमानत्वरूप—विशेषस्याभिधानात् ।

अस्तीति वर्तमानेति यद्यपि सूत्रे लिङ्गं संख्या कालश्चातन्त्राणि तथापीह सूत्रे वर्तमान-कालस्यैव प्राधान्यमस्तीतिपदोपादानादन्यथा किमनेन ? न खलु पदार्थः सत्तां व्यभिचरति, ततः सत्तायां निसर्गसिद्धायां यत्पुनरस्तीति ग्रहणं तद्वर्तमानकालार्थम् ।

एषैषेति एषा या त्वया पृष्टा सा एषा वक्ष्यमाणेत्यर्थः । कथं मतुरिति वर्तमानत्वाभावा-दित्यर्थः ।

धातोः सम्बन्ध इति अनेन सूत्रेणायथाकालमपि प्रत्यया भवन्तीत्यर्थः, तेन प्रत्ययस्य वर्तमानकालत्वेऽपि भूतभविष्यत्कालतावगमः । शबलगुरिति शबलशब्दाद्वर्णवाचिनो गौरादित्वात् ङ्यां शबल्यो गावोऽस्य सन्तीत्येवं कार्यम् । यदा तु शबलशब्दो गवि वर्त्तते तदा गौरादित्वा-भावादापि सति ''तद्धिताककोपान्त्य'' (3. 2. 54.) इत्यनेन आख्याद्वारेण पुंवत्त्वनिषेधात् शबलागुरित्येव स्यात् । शंखादककुदावर्त्तौ द्वे अपि अश्वस्यापलक्षणे ।

समानायां वृत्ताविति अत्र एषामस्येति च उभयत्रापि षष्ठ्याः सद्भावात् समाना वृत्तिः । समानवृत्तावित्यादि पूर्वार्द्धे यत्सरूप इति पदं तदुत्तरार्द्धेऽपि योज्यं, ततोऽयमर्थः– न केवलं सरूपो मत्वर्थीयो मत्वर्थीयात् समानवृत्तौ न भवति, मत्वर्थीयोऽपीत्यत्रापिशब्दाद् विरूपोऽपि इति । विषमवृत्तौ सरूपो मत्वर्थीयो न भवतीति तु कारिकया न संजगृहे अथवा पूर्वार्द्धात् सरूप इति नाधिक्रियते किंतु मत्वर्थीयोऽपि नेष्यत इति सामान्येन भणनात् सरूपो विरूपश्च नेष्यत इत्येव व्याख्यायते, अपिशब्दस्तु शौषिकापेक्षया समुच्चये व्याख्येयः ।

असंज्ञाभूतादिति द्विविधः कर्म्मधारयः संज्ञाभूतोऽसंज्ञाभूतश्च, तत्र संज्ञाभूतो यः समुदायप्रसिद्धया प्रवर्त्तते यथा गौरखरादयः, असंज्ञाभूतो योऽवयवार्थयोगेन प्रवर्त्तते, न पृथक्समुदाय–प्रसिद्धया यथा वीरपुरुषादिः ।

कर्म्मधारयादित्यादि उपलक्षणमिदं यत्कर्म्मधारयान्मत्वर्थीयो न भवतीति । यावता नञ् तत्पुरुषादपि बहुव्रीहिणैव भाव्यं, यथा अघोषा इति । अत्र हि न घोषोऽघोषः, सोऽस्यास्ति इति कृते बहुव्रीहिरेव न मतुः, यत्र त्वर्थविशेषो मत्वर्थीयेनाभिधीयते तत्र नञ्तत्पुरुषादप्यसौ भवति यथानखन्ति चक्राणीति । अत्र हि नञ्तत्पुरुषेण चक्रेष्वरकाभावः सामान्येनोच्यते, मत्वर्थीयेन त्वत्यन्तं मूलतोऽप्यरकाभाव यावत्, तथा यद्यप्यसंज्ञाभूतात् कर्मधारयान्मत्वर्थीयो न भवतीत्युक्तं तथापि प्रायेण दृश्यते यथा बिसकिसलयछेदपाथेयवन्त इति, अत्र हि बिस-किसलयच्छेदाच्च ते पाथेयं चेति कर्म्मधारये सति मतुरिति वल्लभेन निश्चिक्ये ।

कथमिति अत्राप्यसंज्ञाभूतः कर्म्मधारयोऽस्तीत्यभिप्रायः ।

आ–यात् ॥ 7. 2. 2. ॥

``गुणादिभ्यो यः'' (7. 2. 53.) ``रूपात्प्रशस्ताहतात्'' (7. 2. 54.) इत्या एतस्माद्यप्रत्ययात् याः प्रकृतयो निर्देक्ष्यन्ते ताभ्यो मतुः प्रत्ययो भवति तदस्यास्ति तदस्मिन्नस्तीत्यस्मिन्विषये । कुमारीमान्, व्रीहिमान्, दण्डवान्, अशीर्षवान्, वातवान्, चूडावान्, सिध्मवान्, गोमान्, गुणवान् । आ यादित्यभिविधावाङ् । अपवादैर्बाधा माभूदिति वचनम्, तेन यथाभिधानमुत्तरत्र मतुरपि भवति ॥2॥

न्या०स०–आ यात्०–अत्र कुमारीमानित्यादि-प्रयोगेषु यथाक्रमं ``नावादेरिकः'' (7. 2. 3.) ``व्रीह्यादिभ्यस्तौ'' (7. 2. 5.) ``अतोऽनेकस्वरात्'' (7. 2. 6.) ``अशिरसोऽशीर्षश्च'' (7. 2. 7.) ``बलवातदन्त०'' (7. 2. 19.), ``प्राण्यङ्गादातो लः'' (7. 2. 20.), ``सिध्मादिक्षुद्रजन्तु० गोः'' (7. 2. 50.), ``गुणादिभ्यो यः'' (7. 2. 53.) इत्यादिसूत्रविहितप्रत्ययविषये

पक्षे आयादित्यनेन मतुर्विधीयते ।

यथाभिधानमिति ``कालाजटा'' (7. 2. 23.) इत्यादिभि: कैश्चित्सूत्रैरर्थविशेषे प्रत्ययोऽभिहित:, स च मतुना न गम्यत इति तदर्थप्रतिपादनाय तत्सूत्रविहित एव प्रत्ययो भवति, न तु मतुरित्याशय: ।

नावादेरिक: ॥ 7. 2. 3. ॥

नौ इत्येवमादिभ्यो मत्वर्थे इक: प्रत्ययो भवति मतुश्च ।

नौरस्यास्मिन्वास्तीति नाविक:, नौमान्, कुमारिक:, कुमारीमान्, यवखदिक:, यवखदावान् । नौकुमारीभ्याम् इनं केचिदाहु: नावी, कुमारी । नौ, कुमारी, यवखदा, सभा, करण इति नावादि: ॥3॥

न्या०स०—नावा०—इनं केचिदाहुरिति ते ह्यनयो: शिखादौ पाठमिच्छन्ति । यवखदिक इति खदनं भिदाद्यङ्, यवानां खदा यवखदा यवाभ्योष: ।

शिखादिभ्य इन् ॥ 7. 2. 4. ॥

शिखा इत्येवमादिभ्यो मत्वर्थे इन् प्रत्ययो भवति मतुश्च । शिखी, शिखावान्, माली, मालावान् ।

शिखा, माला, शाला, मेखला, शाखा, वीणा, संज्ञा, वडवा, अष्टका, बलाका, पताका, कर्मन्, चर्मन्, वर्मन्, बल, उत्साह, उद्वास, उद्भास, उल, मुल, मूल, आयाम, व्यायाम, प्रयाम, आरोह, अवरोह, परिणाह, शृङ्ग, वृन्द, गदा, निचुल, मुकुल, कूल, फल, अल, मान, मनीषा, व्रत, धन्वन्, चूडा, केका दंष्ट्रा, सूना, घृणा, करुणा, जरा, आयास, (आयस) स्तबक, उपयाम, उद्यम इति शिखादिराकृतिगण: । केचित्तु वडवा, अष्टका, कर्मन्, वर्मन्, चर्मन् इत्येतेभ्य इकमपीच्छन्ति ॥4॥

न्या०स०—शिखा०—इकमपीच्छन्ति इति ते ह्येतान् व्रीह्यादौ पठन्ति ।

व्रीह्यादिभ्यस्तौ ॥ 7. 2. 5. ॥

व्रीह्यादिभ्यो मत्वर्थे तौ इक इन् इत्येतौ प्रत्ययौ भवत: मतुश्च । व्रीहयोऽस्यास्मिन्वा सन्ति व्रीहिक:, व्रीही, व्रीहिमान्, मायिक:, मायी, मायावान्, मायावीति विन् । व्रीह्यादय:

प्रयोगगम्याः ॥5॥

अतोऽनेकस्वरात् ॥ 7. 2. 6. ॥

अकारान्तादनेकस्वरान्मत्वर्थे तौ इक इन् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः मतुश्च ।

दण्डिकः, दण्डी, दण्डवान्, छत्रिक, छत्री, छत्रवान्। अत इति किम् ? खट्वावान्, मालावान् । अनेकस्वरादिति किम् ? खवान्, स्ववान् । अभिधानार्थस्येतिकरणस्यानुवृत्तेः कृदन्तान्न भवतः। राप्यवान्, लाप्यवान्, लव्यवान्, हव्यवान्, कृत्यवान्, भृत्यवान्, कारकवान्, हारकवान्, कुम्भकारवान्, धान्यमायवान्, हिंस्रवान्, ईश्वरवान् पाकवान्, स्नेहनवान् । क्वचिद्भवतः। कार्यिकः, कार्यी, हार्यिकः, हार्यी, गृहिकः, गृही, दात्रिकः, दात्री, पात्रिकः, पात्री, भोगिकः, भोगी, तरिकः, तरी, विजयिकः, विजयी, संयमिकः, संयमी, स्थानिकः, स्थानी इति ।

जातिशब्देभ्यो न भवतः। व्याघ्रवान्, सिंहवान्, वृक्षवान्, प्लक्षवान् तथा द्रव्यवान्, क्रव्यवान्, सस्यवान्, धान्यवान्, माल्यवान्, पुण्यवान्, सत्यवान् अपत्यवान्, धनवान् । क्वचिद्भवतः, तण्डुलिकः, तण्डुली, कर्पटिकः, कर्पटी । धनादुत्तमर्णे भवतः–धनिकः, धनी। सप्तम्यर्थे च न भवतः–दण्डोऽस्मिन्नस्ति दण्डवद्गृहम्, वीरवान् ग्रामः। क्वचिद्भवतः। खलिनी भूमिः, शाद्वलिनी भूमिः। रसरूपवर्णगन्धस्पर्शशब्दस्नेहेभ्यो गुणवाचिभ्यो न भवतः। क्वचिद्भवतः। रसिको नटः, रसी इक्षुः, रूपिको दारवः, रूपिणी कन्या, रूपिष्ववधिः, रूपिसमवायाच्चाक्षुषाणि, स्पर्शिको वायुः, गन्धिकः, गन्धी। तदेवं व्यभिचारे सूत्रणादभिधानमेव श्रेयः ॥6॥

*न्या०स०–अतो०–*स्ववानिति अत्र स्वामित्वाविवक्षणात् ''स्वान्मिन्नीशे'' (7. 2. 49.) इति न मिन् ।

तथा द्रव्यवानिति व्याघ्रादयो लोकप्रसिद्ध्या जातिशब्दा द्रव्यादयस्तु शास्त्रप्रसिद्ध्या इति द्रव्यादीनामपि शास्त्रप्रसिद्ध्या जातिशब्दत्वं दर्शयता तथेत्युपात्तम् ।

गुणवाचिभ्यो नेति यदा तु कस्यचिद्रूपं रस इत्यादि नाम भवति तदा भवत्येव । रूपिसमवायादिति संख्या परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ कर्म्म च रूपिसमवायाच्चाक्षुषाणीति ।

अशिरसोऽशीर्षश्च ॥ 7. 2. 7. ॥

अशिरःशब्दान्मत्वर्थे तो इक इन् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः मतुश्च तत्संनियोगे चाशिरःशब्दस्याशीर्ष इत्ययमादेशो भवति ।

अशीर्षिकः, अशीर्षी, अशीर्षवान् । इकेनोः ``शीर्षः स्वरे तद्धिते'' (3. 2. 103.) इति शीर्षादेशो विद्यत एव, मतौ त्वशिरसोऽशीर्षभावोऽनेन विधीयते ।।7।।

अर्था ऽर्थान्ताद् भावात् ।। 7. 2. 8. ।।

अर्थशब्दादर्थान्ताच्च भाववाचिनो मत्वर्थे तौ इक इन् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः, नियमार्थमिदम्, उभयथा चायं नियमो वाक्यभेदेन क्रियते, भाववाचिन एवैतौ प्रत्ययौ भवतः, भाववाचिनश्चैतावेव भवतः ।

अर्थणि उपयाचने-अर्थनमर्थः, सोऽस्यास्तीत्यर्थिकः अर्थी । प्रतीपमर्थनं प्रत्यर्थः सोऽस्यास्तीति प्रत्यर्थिकः, प्रत्यर्थी । इकेनावेवेति नियमादतो मतुर्न भवति । भावादेवेति नियमादतो द्रव्यवाचिन इकेनौ न भवतः, अर्थो हिरण्यादिरस्यास्तीति अर्थवान् इति मतुरेव भवति ।।8।।

व्रीह्यर्थ–तुन्दादेरिलश्च ।। 7. 2. 9. ।।

व्रीहिवाचिभ्यस्तुन्दादिभ्यश्च मत्वर्थे इलः प्रत्ययो भवति चकारात्तौ चेकेनौ आ यादिति मतुश्च । व्रीह्यर्थ, कलमा अस्यास्मिन्वा सन्ति कलमिलः, कलमिकः, कलमी, कलमवान्, शालिलः, शालिकः, शाली, शालिमान् । व्रीहिशब्दोऽपि व्रीह्यर्थो भवति किंतु तस्य पूर्वत्रोपादानादिलो न भवति । भावे हि तत्रोपादानमनर्थकं स्यात् । भवतीत्येके । व्रीहिलः । तुन्दादि, तुन्दिलः, तुन्दिकः, तुन्दी, तुन्दवान्, उदरिलः, उदरिकः, उदरी, उदरवान् ।

तुन्द, उदर, पिचण्ड, यव, ग्रह, पङ्क, गुहा, कला, काक इति तुन्दादिः ।।9।।

*न्या०स०–व्रीह्य०–*चकारात्तौ चेति अत्र च शब्दोऽप्यर्थे तावपीत्यर्थः ।

पूर्वत्रेति व्रीह्यादिभ्यस्तावित्यत्र । ननु तर्हि अर्थग्रहणाभावेऽपि व्रीहिशब्दोपादानेऽपि व्रीह्यर्थग्रहणे लब्धे किमर्थग्रहणेन ?

न, प्रतिपत्तिगौरवनिरासार्थत्वादर्थग्रहणस्य ।

स्वाङ्गाद् विवृद्धात् ते ।। 7. 2. 10. ।।

स्वाङ्गाद्विवृद्धोपाधिकान्मत्वर्थे ते इल इक इन् इत्येते प्रत्यया भवन्ति मतुश्च ।

विवृद्धौ महान्तौ कर्णावस्य स्तः कर्णिलः, कर्णिकः, कर्णी, कर्णवान्, ओष्ठिलः, ओष्ठिकः, ओष्ठी, ओष्ठवान् । विवृद्धादिति किम् ? अन्यत्रेलो न भवति । ``अतोऽनेकस्वरात्''

(7. 2. 6.) इतीकेन्मतव एव भवन्ति ॥10॥

वृन्दादारकः ॥ 7. 2. 11. ॥

वृन्दशब्दान्मत्वर्थे आरकः प्रत्ययो भवति मतुश्च । वृन्दारकः, वृन्दवान् । शिखादित्वात् वृन्दी ॥11॥

शृङ्गात् ॥ 7. 2. 12. ॥

शृङ्गान्मत्वर्थे आरकः प्रत्ययो भवति मतुश्च ।
शृङ्गारकः, शृङ्गवान् । शिखादित्वात् शृङ्गी ॥12॥

फल–बर्हाच्चेनः ॥ 7. 2. 13. ॥

फलबर्ह इत्येताभ्यां शृङ्गाच्च मत्वर्थे इनः प्रत्ययो भवति मतुश्च ।
फलिनः, फलवान्, बर्हिणः, बर्हवान्, शृङ्गिणः, शृङ्गवान् । शिखादित्वात् फली बर्ही ॥13॥

मलादीमसश्च ॥ 7. 2. 14. ॥

मलशब्दान्मत्वर्थे ईमस इनश्च प्रत्ययौ भवतः मतुश्च । मलीमसः, मलिनः, मलवान् ॥14॥

मरुत्–पर्वणस्तः ॥ 7. 2. 15. ॥

मरुत्पर्वन् इत्येताभ्यां मत्वर्थे तः प्रत्ययो भवति मतुश्च । मरुत्तः, मरुत्वान्, पर्वतः, पर्ववान् ॥15॥

वलि–वटि–तुण्डेर्भः ॥ 7. 2. 16. ॥

वलिवटितुण्डि इत्येतेभ्यो मत्वर्थे भः प्रत्ययो भवति । वलिभः, वलिन इत्यङ्गादित्वान्न । वटिभः, तुण्डिभः । सिध्मादिपाठाल्ले तुण्डिलः, मतुश्च । वलिवान्, प्रवृद्धा नाभिस्तुण्डिः ॥16॥

*न्या०स०–वलिव०–*वटिरुन्नतनाभ्यर्थः, एकदेश इति न्यायात्तुन्दिशब्दादपि भे तुन्दिभ इति क्षीरः ।

ऊर्णा–ऽहं–शुभमो युस् ।। 7. 2. 17. ।।

ऊर्णा अहम् शुभम् इत्येतेभ्यो मत्वर्थे युस् प्रत्ययो भवति । ऊर्णायुः उरभ्रः, अहंयुः अहंकारी, शुभंयुः कल्याणबुद्धिः ।।17।।

कं–शंभ्यां युस्–ति–यसुतु–त–व–भम् ।। 7. 2. 18. ।।

कम्, शम् इत्येताभ्यां मत्वर्थे युस्, ति, यस्, तु, त, व, भ इत्येते प्रत्यया भवन्ति ।

कंयुः, शंयुः, कन्तिः, शंतिः, कंयः, शंयः, कंतुः, शन्तुः, कन्तः, शन्तः, कंवः, शंवः, कंभः, शंभः । युस्यसोः सकारो ``नाम सिदय्व्यञ्जने''–(1. 1. 21.) इति पदत्वार्थः, तेन ``तौ मुमो व्यञ्जने स्वौ'' (1. 3. 14.) इत्यनुस्वारानुनासिकौ सिद्धौ । कंयुः, कँय्युः, शंयः, शँय्यः ।।18।।

बल–वात–दन्त–ललाटादूलः ।। 7. 2. 19. ।।

एभ्यो मत्वर्थे ऊलः प्रत्ययो भवति । बलूलः, वातूलः, दन्तूलः, ललाटूलः । मतुश्च । बलवान्, वातवान्, दन्तवान्, ललाटवान् ।।19।।

प्राण्यङ्गादातो लः ।।। 7. 2. 20. ।।

प्राण्यङ्गवाचिन आकारान्तान्मत्वर्थे लः प्रत्ययो भवति मतुश्च । चूडालः, जङ्घालः, शिखालः, चूडावान्, जङ्घावान्, शिखावान् । प्राण्यङ्गादिति किम् ? जङ्घावान् प्रासादः, शिखावान् प्रदीपः । अङ्गग्रहणं किम् ? इच्छावान्, वासनावान् । कर्णिकाल इत्यत्र कर्णिकाशब्दः प्राण्यङ्गस्यैव वाचक इत्याहुः । आत इति किम् ? हस्तवान्, पादवान् ।।20।।

*न्या०स०–प्राण्य०–*चूडाल इति शाखादिपाठेन न बाध्यते इतिकरणात् ।

शिखाल इति इदमुदाहृतं शकटोत्पलभोजैः मूलोदाहरणं तु भोजेनैव ततश्चैवं ज्ञायते यथा शिखाया वलच् संज्ञायां तथा इन्नपि वह्नौ मयूर इति नियतेऽर्थे द्रष्टव्य इत्यवधार्यमितिकरणात् ।

प्राण्यङ्गस्यैवेति न तु कर्णाभरणस्येत्यर्थः ।

सिध्मादि–क्षुद्रजन्तु–रुग्भ्यः ।। 7. 2. 21. ।।

सिध्मादेर्गणात् क्षुद्रजन्तुवाचिभ्यो रुग्वाचिभ्यश्च मत्वर्थे लः प्रत्ययो भवति मतुश्च । सिध्मान्यस्य सन्ति सिध्मलः, सिध्मवान्, वर्ध्मलः, वर्ध्मवान् । अङ्गादित्वान्ने वर्ध्मनः । गडुलः, गडुमान् । पार्ष्णीधमनीशब्दौ दीर्घान्तावेव गणे पठ्येते तेन दीर्घान्ताभ्यामेव लः । पार्ष्णीलः, धमनीलः । ह्रस्वान्ताभ्यां तु मतुरेव । पार्ष्णिमान्, धमनिमान् । क्षुद्रजन्तु, यूकालः, यूकावान्, मक्षिकालः, मक्षिकावान् । आ नकुलात् क्षुद्रजन्तुः । रुक्, मूर्च्छालः, मूर्च्छावान्, विचर्चिकालः, विचर्चिकावान् । रुग्भ्य इति बहुवचनं स्वरूपविधिनिषेधार्थम् ।

सिध्म, वर्ध्मन्, गडु, तुण्डि, मणि, नाभि, बीज, निष्पाद्, निष्पद्, निष्प, पांशु, हनु, पशु, पार्ष्णी, धमनी, सक्तु, मांस, पत्र, वात, पित्त, श्लेष्मन्, पार्श्व, कर्ण, सक्थि, स्नेह, शीत, कृष्ण, श्याम, पिङ्ग, पक्ष्मन्, पृथु, मृदु, मञ्जु, वटु, कण्डू इति सिध्मादिः । कथं वत्सलः स्नेहवान् अंसलो बलवान् ? नात्र कश्चिद्वत्साद्यर्थोऽस्ति इति पेशलकुशलादिवदेतौ यथाकथचिद्व्युत्पादनीयौ सिध्मादिषु वा पठनीयौ ।।21।।

न्या०स०–सिध्मा०–ननु सिध्मशब्दस्य दुर्भित्तार्थत्वात् रुग्द्वारेणैव लः सिद्धः किं गणपाठेन ?

सत्यं, अस्यादन्तत्वात् ``प्राणिस्थादस्वाङ्गात्'' (7. 2. 60.) इतीन् स्यात्तद्बाधनार्थम्, वर्ध्मन्शब्दस्यापि दुर्भित्तार्थत्वात् कण्डूशब्दस्य च तथैव सिद्धं किं त्वाभ्यां यथाक्रमं `नोऽगाङ्देः' ``मध्वादिभ्योरः'' (7. 2. 26.) इत्येव स्यात्, तथाऽत्र गडुशब्दो गडूलत्वरूपे गुणे वत्तते इति रुग्द्वारेण न सिध्यति ।

पेशलकुशलादिवदिति यथा पेशं लाति, कुशं लाति इत्येवमनयोर्व्युत्पत्तिरेवं वत्सलांसलयोरपि । औणादिकौ वा मनोज्ञमेधावि वाचिनौ ।

प्रज्ञा–पर्णोदक–फेनाल्लेलौ ।। 7. 2. 22. ।।

प्रज्ञा पर्ण उदक फेन इत्येतेभ्यो मत्वर्थे ल इल इत्येतौ भवतः मतुश्च ।

प्रज्ञालः, प्रज्ञिलः, प्रज्ञावान्, पर्णलः, पर्णिलः, पर्णवान्, उदकलः, उदकिलः, उदकवान्, फेनलः, फेनिलः, फेनवान् ।।22।।

काला–जटा–घाटात्–क्षेपे ।। 7. 2. 23. ।।

कालाजटाघाटा इत्येतेभ्यो ल इल इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः क्षेपे प्रत्ययार्थस्य निन्दायां गम्यमानायाम् । कालालः कालिलः । कालेति डोपान्त्यं केचित्पठन्ति । काडालः, काडिलः,

जटालः, जटिलः, घाटालः, घाटिलः । मतुना क्षेपो न गम्यते इति क्षेपे मतुर्न भवति । क्षेपे इति किम् ? कालावान्, जटावान्, घाटावान् ।।23।।

न्या०स०—काला०—कालाल इति कडत् णिग् भिदाद्यङ्, ``ऋफिड'' (2. 3. 104.) इति ले काला पादस्त्रसाविशेषः, अस्मान्मतौ ``प्राण्यङ्ग'' (7. 2. 20.) इति ले अभ्राद्यकारे च प्राप्ते लेलौ ।

जटाल इति लोकवञ्चनाय जटा अस्यास्ति । घाटाल इति निन्द्या घाटा कृकाटिकास्यास्ति ।

वाच आलाटौ ।।। 7. 2. 24. ।।

वाच् इत्येतस्मान्मत्वर्थे आल आट इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः क्षेपे गम्यमाने, ग्मिनोऽपवादः । वाचालः, वाचाटः । यो बहु निःसारं भाषते स एवं क्षिप्यते । मतुना क्षेपो न गम्यते इति क्षेपे मतुर्न भवति । क्षेपे इत्येव ? वाग्ग्मी, वाग्वान् ।।24।।

ग्मिन् ।। 7. 2. 25. ।।

वाचो मत्वर्थे ग्मिन् प्रत्ययो भवति मतुश्च । वाग्ग्मी, वाग्वान् । गकारः ``प्रत्यये च'' (1. 3. 2.) इति अनुनासिक निवृत्त्यर्थः । क्षेप इति निवृत्तम् ।।25।।

न्या०स०—ग्मिन्-निवृत्त्यर्थ इति द्वितीयगश्रवणं न स्यादिति न वाच्यं, रूपमेव हि भिद्यते न श्रुतिः, शब्दस्य श्रोत्रग्राह्यत्वादिति पूर्वन्यासाः ।

क्षेप इति निवृत्तम्-पृथग्योगादिति-करणानुवृत्तेश्च प्रशंसायामेवायं न स्वरूपमात्रे ।

मध्वादिभ्यो रः ।। 7. 2. 26. ।।

मध्वादिभ्यो मत्वर्थे रः प्रत्ययो भवति । मधुरो रसः । अत्र मधुशब्दः स्वादुत्वे गुणत्वे गुणसामान्ये वर्तते । मधुरं मधु, मधुरं क्षीरम्, अत्र गुणे । क्षौद्रादिद्रव्यवृत्तेस्तु मतुरेव इतिकरणानुवृत्तेः । मधुमान् घटः । एवं खं महत् कण्ठविवरमस्यास्ति खरः गर्दभः, खवानन्यः । मुखं सर्वस्मिन् वक्तव्ये यस्यास्तीति मुखरः वाचालः, मुखवानन्यः । कुञ्जावस्य स्तः कुञ्जरो हस्ती । कुञ्जशब्दोऽत्र हनुपर्यायः । कुञ्जवानन्यः । नगरं पुरं, नगवदन्यत् । ऊषरं क्षेत्रम्, ऊषवदन्यत् । मुष्करः पशुः, मुष्कवानन्यः । शुषिरं शुषिमत्काष्ठम् । कण्डूरः कण्डूमान्, पाण्डुरः पाण्डुमान्, पांशुरः पांशुमान्, मध्वादयः प्रयोगगम्याः ।।26।।

न्या०स०—मध्वा0-मधुर इति मधुशब्दो माधुर्येऽर्थे पुंलिङ्गः क्षौद्राद्यर्थे तु नपुंसकः तस्मात् माधुर्येऽर्थे पुंलिङ्गेन वाक्यं कार्यं मधुरस्यास्तीति, स्वादुत्वे इत्यस्य गुणत्व इति गुणसामान्ये इति च पर्यायद्वयम् । एवमिति इतिकरणानु वृत्तेः, खर इत्यादिषु अर्थविशेषे रप्रत्ययोऽन्यत्र मधुरेवेत्यर्थ । पाण्डुर इति अत्र पाण्डुशब्दः पाण्डुत्वरूपे गुणे वर्त्तते ।

कृष्यादिभ्यो वलच् ।। 7. 2. 27. ।।

कृष्यादिभ्यो मत्वर्थे वलच् प्रत्ययो भवति । कृषीवलः कुटुम्बी, कृषिमत्क्षेत्रम्, आसुतीवलः कल्यपालः, आसुतिमान्, परिषद्वलः, परिषद्वान्, पर्षद्वलः, पर्षद्वान्, परिषद्वलं तीर्थं पङ्किलमित्यर्थः । परिषद्वत् । रजस्वला स्त्री, रजस्वान् ग्रामः । केचित्तु रजस्वलो देशः रजस्वला भूमिः रजस्वान् रजस्वतीति सर्वत्राविशेषेण वृत्तिमिच्छन्ति । दन्तावलो नाम राजा हस्ती च । शिखावलं नगरम् शिखावलो मयूरः, शिखावला स्थूणा, दन्तवान् शिखावानन्यः । मातृबलः मातृमान्, एवं पितृवलः, भ्रातृवलः, उत्साहवलः पुत्रवलः उत्सङ्गवलः । विशेष इतिकरणात्सिद्धः । कृष्यादयः प्रयोगगम्याः ।।27।।

न्या०स०—कृष्या०—शिखावलो मयूर इति इतिकरणात् प्राण्यङ्गार्थादपि शिखाशब्दात् वलच् न तु लः, एवं दन्तवान् शिखावानन्य इति दन्तशिखाभ्यां संज्ञायामिति पूर्वैरुक्तत्वात् ।

लोम–पिच्छादेः शेलम् ।। 7. 2. 28. ।।

लोमादिभ्यः पिच्छादिभ्यश्च मत्वर्थे यथासंख्यं श इल इत्येतौ भवतः मतुश्च । लोमशः लोमवान्, रोमशः रोमवान्, पिच्छिलः पिच्छवान् उरसिलः उरस्वान् ।

लोमन्, रोमन्, बभ्रु, वल्गु, हरि, कपि, मुनि, गिरि, उरु, कर्क इति लोमादिः । पिच्छ, उरस्, धुवका, ध्रुवका, पक्ष, चूर्ण इति पिच्छादिः ।।28।।

न्या०स०—लोम०—पिच्छिल इति पिच्छं चिक्कणत्वमस्यास्ति, यद्वा पिच्छं मयूरादिसत्कम-स्यास्त्युपमानतया ।

नोऽङ्गादेः ।। 7. 2. 29. ।।

अङ्ग इत्येवमादिभ्यो मत्वर्थे नः प्रत्ययो भवति मतुश्च । अङ्गान्यस्याः सन्ति अङ्गना ।

रूढिशब्दोऽयं, कल्याणाङ्गी स्त्री उच्यते इतिकरणात् अन्यत्राङ्गवती । पामनः पामवान्, वामनः वामवान् ।

अङ्ग, पामन्, वामन्, हेमन्, श्लेष्मन्, सामन्, वर्ष्मन् (वर्ध्मन्) शाकिन्, पलालिन्, पलाशिन्, ऊष्मन्, कद्रु, बलि इत्यङ्गादिः योगविभाग उत्तरार्थः ॥29॥

*न्या०स०–नोऽङ्गा०–*वामन इति वामानि नीचान्यर्थादङ्गान्यस्य । योगविभाग इति एकयोगस्तु लोमपिच्छाङ्गादेः शेलेनमित्येवंविधः स्यात् ।

शाकी–पलाली–दर्द्वा ह्रस्वश्च ॥ 7. 2. 30. ॥

शाकी पलाली दर्द्रू इत्येतेभ्यो मत्वर्थे नः प्रत्ययो भवति मतुश्च नप्रत्ययसंनियोगे चैषां ह्रस्वोऽन्तादेशः । महच्छाकं शाकसमूहो वा शाकी, महत्पलालं पलालक्षोदो वा पलाली । दद्रूर्नाम व्याधिः । शाकिनः, शाकीमान्, पलालिनः, पलालीमान्, दद्रुणः, दद्रूमान् । केचित्तु शाकीपलाल्यो र्ह्रस्वत्वं नेच्छन्ति । तन्मते शाकीनः, पलालीनः ॥30॥

*न्या०स०–शाकी–*शाकीति महत्त्वे समूहेऽपि तद्बहुलमिति स्त्रीत्वे गौरादित्वात् ङी ।

विष्वचो विषुश्च ॥ 7. 2. 31. ॥

विष्वच् इत्येतस्मान्मत्वर्थे नः प्रत्ययो भवति विषु इत्ययं चादेशो भवति । विषु अञ्चतीति विष्वक् । विष्वञ्चो रश्मयो विष्वग्नतानि वा अस्य सन्ति इति विषुणः आदित्यः । विषुणः वायुः । विषुशब्दो निपातो नानात्वे वर्तते । विष्वगिति अखण्डमव्ययं वा । नकारसंनियोगे आदेशस्य विधानात् मतौ विष्वग्वान् । कथं विषुमानहोरात्रप्रविभाग इति ? विषुर्नाम मुहूर्तस्तस्माद्ध-विष्यति ॥31॥

*न्या०स०–विष्वचो०–*विष्वक् इति अत्र रूपमित्यध्याहारात् क्लीबत्वे सेर्लुपि नागमाभावः । अखण्डमिति चकारान्तमित्यर्थः, चकारान्तस्यैव सूत्रे ग्रहणात् ।

लक्ष्म्या अनः ॥ 7. 2. 32. ॥

लक्ष्मीशब्दान्मत्वर्थेऽनः प्रत्ययो भवति । लक्ष्मीरस्यास्तीति लक्ष्मणः, मतौ लक्ष्मीवान् ॥32॥

प्रज्ञा–श्रद्धाऽर्चा–वृत्तेर्णः ।। 7. 2. 33. ।।

प्रज्ञाश्रद्धार्चावृत्ति इत्येतेभ्यो मत्वर्थे णः प्रत्ययो भवति मतुश्च । प्राज्ञः, प्रज्ञावान्, श्राद्धः, श्रद्धावान्, आर्चः, अर्चावान्, वार्त्तः, वृत्तिमान् । स्त्री तु प्राज्ञा श्राद्धा आर्चा वार्ता । प्राज्ञीति स्वार्थिकाणन्तात् ।।33।।

ज्योत्स्नादिभ्योऽण् ।। 7. 2. 34. ।।

ज्योत्स्ना इत्येवमादिभ्यो मत्वर्थेऽण् प्रत्ययो भवति । ज्योत्स्ना अस्मिन्नस्ति ज्यौत्स्नाः पक्षः, ज्यौत्स्नी रात्रिः, तामिस्रः पक्षः, तामिस्री रात्रिः । तामिस्राणि गुहामुखानि । वैसर्पो व्याधिः, वैपादिकं कुष्ठम्, कौतुपं गृहम्, कौण्डलो युवा, तापसः पाखण्डी, साहस्रो देवदत्तः, मतौ ज्योत्स्नावान् तमिस्रावानित्यादि । तापस इति रूढिशब्दो रूढिविषये च मतुर्न भवति । कुण्डली सहस्री चेति शिखादित्वात् । ज्योत्स्नादयः प्रयोगगम्याः ।।34।।

सिकता–शर्करात् ।। 7. 2. 35. ।।

सिकताशर्करा इत्येताभ्यां मत्वर्थेऽण प्रत्ययौ भवति मतुश्च । सैकतः, सिकतावान् देशः, शार्करः शर्करावानोदनः ।।35।।

इलश्च देशे ।। 7. 2. 36. ।।

सिकताशर्कराभ्यां देशे मत्वर्थे इलश्चकारादण् च प्रत्ययौ भवतः मतुश्च । सिकतिलः, सैकतः, सिकतावान् देशः, शर्करिलः, शार्करः, शर्करावान् देशः । सिकताः, देशः, शर्कराः देशः इत्यभेदोपचारात् ।।36।।

*न्या०स०–इल०–*ननु पूर्वसूत्रेण सामान्येन भणनाद्देशेऽपि ``सिकताशर्कराभ्यामण्'' (7. 2. 35.) सिद्ध एवेति किमत्र तदनुकर्षणार्थेन च शब्देन ?

सत्यं, यद्यत्र चकारो न स्यात्तदनुकर्षणार्थस्तदा देशेऽसावेव स्यान्न त्वण् ।

ननु सिकता देश इत्याद्यर्थं मत्वर्थीयस्य पक्षे लुप् लुबन्तस्य च प्रकृतिलिङ्गसंख्ये वक्तव्ये इत्याह-उपचारादिति रूढिवशाच्च बहुवचनान्त इति ।

द्यु–द्रोर्मः ।। 7. 2. 37. ।।

द्यु इति दिवः कृतोकारस्य निर्देशः द्युशब्द उकारान्तोऽहःपर्यायः प्रकृत्यन्तरं वा । द्युद्रुशब्दाभ्यां मत्वर्थे मः प्रत्ययो भवति । द्योर्द्युर्वास्यास्मिन्वास्तीति द्युमः । द्रूणि दारूण्यस्यास्मिन्वा सन्ताति द्रुमः । रूढिशब्दाविमौ रूढिविषये च मतुर्न भवति । अन्यत्र तु मतुरेव । द्युमान्, द्रुमान् ॥37॥

काण्डा–ऽऽण्ड–भाण्डादीरः ॥ 7. 2. 38. ॥

काण्ड आण्ड भाण्ड इत्येतेभ्यो मत्वर्थे ईरः प्रत्ययो भवति मतुश्च । काण्डीरः, काण्डवान्, आण्डीरः, आण्डवान्, भाण्डीरः, भाण्डवान् । आण्डौ मुष्कौ ॥38॥

*न्या०स०–काण्डा०–*आण्डीर इति एकदेशेति न्यायात् श्लिष्टनिर्देशाद्वा अण्डीर इत्यपि गौडजयौ ।

कच्छ्वा डुरः ॥ 7. 2. 39. ॥

कच्छूशब्दान्मत्वर्थे डुरः प्रत्ययो भवति । कच्छुरः, कच्छूमान् ॥39॥

दन्तादुन्नतात् ॥ 7. 2. 40. ॥

उन्नतत्वोपाधिकाद्–दन्तशब्दान्मत्वर्थे डुरः प्रत्ययो भवति । उन्नता दन्ता अस्य सन्ति दन्तुरः । उन्नतादिति किम् ? दन्तवान् ॥40॥

*न्या०स०–दन्ता०–*दन्तवानिति निर्गतत्वमुन्नतत्वं, प्रमाणातिरेकस्तु वृद्धिरिति भिन्नत्वं, तत्रोन्नतत्वे दन्तुरः, विवृद्धिविवक्षायां तु ``स्वाङ्गाद्विवृद्धात्'' (7. 2. 10.) इति ``आयात्'' (7. 2. 2.) इति च दन्तिलो, दन्ती, दन्तिको, दन्तवानिति यथायोगं भवति, उन्नतार्थो मतुना न गम्यते इत्यत्र मतुर्न भवति ।

मेधा–रथान्नवेरः ॥ 7. 2. 41. ॥

मेघारथ इत्येताभ्यां मत्वर्थे इरः प्रत्ययो वा भवति, वावचनाद्यथा–प्राप्तिमिकेनौ आ यादिति मतुश्च । मेधिरः । मेधावान् । उत्तरसूत्रेण विन्नपि । मेधावी, रथिरः, रथिकः, रथी, रथवान् ॥41॥

कृपा–हृदयादालुः ॥ 7. 2. 42. ॥

कृपाहृदयशब्दाभ्यां मत्वर्थे आलुः प्रत्ययो वा भवति मतुश्च । कृपालुः कृपावान्, हृदयालुः, हृदयिकः, हृदयी, हृदयवान् ॥42॥

केशाद् वः ॥ 7. 2. 43. ॥

केशशब्दान्मत्वर्थे वः प्रत्ययो वा भवति मतुश्च । केशवः, केशिकः, केशी, केशवान् । केशव इति रूढिशब्दोऽपि विष्णुवाची ॥43॥

*न्या०स०–केशा०–*रूढिशब्दोऽपीति न केवलं यस्य केशाः सन्ति स केशवः, किन्तु विष्णुरपि ।

मण्यादिभ्यः ॥ 7. 2. 44. ॥

मण्यादिभ्यो मत्वर्थे वः प्रत्ययो वा भवति मतुश्च, योगविभागाद्वेति निवृत्तम् । मणिवः, मणिमान् । सिध्मादिपाठात् मणिलः, हिरण्यवः, हिरण्यवान्, बिम्बावम्, कुररावम्, कुरबावम् । ``घञ्युपसर्गस्य बहुलम्'' (3. 2. 86.) इति बाहुलकाद्दीर्घः । राजीवम्, इष्टकावम्, गाण्डिवम्, गाण्डीवम्, अजकावम्, बिम्बावम् इत्यादयो रूढिशब्दाः । रूढिशब्दविषये च मतुर्न भवति । विषयान्तरे तु भवत्येव । बिम्बवानित्यादि, मणि, हिरण्य, बिम्ब, कुरर, कुरव, राजी, इष्टका, गाण्डि, गाण्डी, अजका इति मण्यादयः प्रयोगगम्याः ॥44॥

हीनात्–स्वाङ्गादः ॥ 7. 2. 45. ॥

हीनोपाधिकात् स्वाङ्गान्मत्वर्थे अः प्रत्ययो भवति । खण्डः कर्णोऽस्यास्ति कर्णः, छिन्ना नासिकास्यास्ति नासिकः । हीनादिति किम् ? कर्णवान् नासिकावानित्येव भवति ॥45॥

अभ्रादिभ्यः ॥ 7. 2. 46. ॥

अभ्र इत्येवमादिभ्यो मत्वर्थे अः प्रत्ययो भवति यथादर्शनं मतुश्च । अभ्राण्यस्मिन् सन्ति अभ्रं नभः, अर्शांस्यस्य सन्ति अर्शसो देवदत्तः, उरसः । उरस्वान् ।

अभ्र, अर्शस्, उरस्, तुन्द, चतुर, पलित, जटा, घाटा, कर्दम, काम, बल, घटा, अम्ल, लवण इत्यभ्रादिराकृतिगणः ॥46॥

अस्–तपो–माया–मेधा स्रजो विन् ॥ 7. 2. 47. ॥

असन्तेभ्यस्तपस्मायामेधास्रज् इत्येतेभ्यश्च मत्वर्थे विन् प्रत्ययो भवति मतुश्च । असन्त, यशस्वी, यशस्वान्, सरस्वी, सरस्वान्, सरस्वती, एवं तेजस्वी, वर्चस्वी, तपस्वी, तपस्वान् । असन्तत्वेनैव सिद्धे तपसो ग्रहणं ज्योत्स्नाद्यणा बाधो माभूदित्येवमर्थम् । मायावी, मायावान्, मायी, मायिक इति व्रीह्यादिपाठात् । मेधावी, मेधावान्, स्रग्वी, स्रग्वान् ॥47॥

*न्या०स०–अस्त०–*सरस्वतीति यदा नदी तदा सरः सरणं गमनमस्यास्तीति वाक्यं, यदा तु भारती तदा सरो मानसाद्यस्यास्तीति ।

आमयाद् दीर्घश्च ॥ 7. 2. 48. ॥

आमयशब्दान्मत्वर्थे विन् प्रत्ययो दीर्घश्चामयशब्दस्य भवति मतुश्च । आमयावी, आमयवान् ॥48॥

स्वान्मिन्नीशे ॥ 7. 2. 49. ॥

स्वशब्दान्मत्वर्थे ईशे वाच्ये मिन् प्रत्ययो भवति दीर्घश्चास्य । स्वमस्यास्तीति स्वामी । ईश इति किम् ? स्ववान् ॥49॥

गोः ॥ 7. 2. 50. ॥

गोशब्दान्मत्वर्थे मिन् प्रत्ययो भवति । गावोऽस्य सन्ति गोवी, मतुश्चगोमान् । पूज्य एव मिनमिच्छन्त्यन्ये ॥50॥

ऊर्जो विन्–वलावस् चान्तः ॥ 7. 2. 51. ॥

ऊर्ज् शब्दान्मत्वर्थे विन्वल इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः तत्संनियोगे चास्यास् चान्तो भवति । ऊर्जस्वी, ऊर्जस्वलः, मतुश्च ऊर्वान्, कथमूर्जस्वान् ? ऊर्जयतेः अस्प्रत्ययान्तस्य मतौ ॥51॥

*न्या०स०–ऊर्जो०–*अस्प्रत्ययान्तस्येति यद्येवं ऊर्जयतेरसन्तस्यास्तपोमायेत्यनेन असन्तत्वाद्विन् सिद्ध एव किमत्र सूत्रे ऊर्जुशब्दाद् विन्विधानेन ?

सत्यं, असन्तस्य ऊर्जयतेर्नियत एव प्रयोग इति, ततोऽनेन विन्विधानं, एतच्च ऊर्जशब्दाद् विन्विधानेनैव ज्ञाप्यते ।

तमिस्राऽर्णव–ज्योत्स्नाः ।। 7. 2. 52. ।।

तमिस्रार्णवज्योत्स्ना इत्येते शब्दा निपात्यन्ते । तमिस्रेति तमश्शब्दाद्रः उपान्त्यस्य चेत्वम् । तमोऽत्रास्तीति तमिस्रा रात्रिः, तमिस्रं तमःसमूहः, तमिस्राणि गुहामुखानि । मतुश्च । तमस्वान्, अर्णवेति अर्णसो वः प्रत्ययः अन्त्यस्य च लोपः, अर्णवः समुद्रः । ज्योत्स्नेति ज्योतिःशब्दान्नः प्रत्यय उपान्त्यलोपश्च निपात्यते । ज्योत्स्ना चन्द्रप्रभा । अन्यत्र ज्योतिष्मती रात्रिः निपातनस्येष्टविषयत्वात् ।।52।।

गुणादिभ्यो यः ।। 7. 2. 53. ।।

गुणादिभ्यो मत्वर्थे यः प्रत्ययो भवति । गुण्यः पुरुषः, हिम्यः पर्वतः, मतुश्च-गुणवान्, हिमवान् । कथं को गुणिनो नार्चयेत् इति इन् ? शिखादित्वेन भविष्यति । गुणादयः प्रयोगगम्याः ।।53।।

रूपात् प्रशस्ता–ऽऽहतात् ।। 7. 2. 54. ।।

प्रशस्तोपाधिकादाहतोपाधिकाच्च रूपान्मत्वर्थे यः प्रत्ययो भवति । प्रशस्तं रूपमस्यास्ति रूप्यो गौः । रूप्यः पुरुषः, आहतं रूपमस्यास्ति रूप्यः कार्षापणः । निघातिकाताडनाद्दीनारादिषु यद्रूपमुत्पद्यते तदाहतं रूप्यम् । प्रशस्ताहतादिति किम् ? रूपवान् । प्रशंसायां मतुरपि भवति । रूपवती कन्या । आहते न भवति इतिकरणात् । कथं रूपिणी कन्या रूपिको दारक इति ? व्रीह्यादित्वाद्भविष्यति । आ यादित्यस्य पूर्णोऽवधिः अतः परं मतुर्नास्ति ।।54।।

पूर्णमासोऽण् ।। 7. 2. 55. ।।

पूर्णमास्शब्दान्मत्वर्थेऽण् प्रत्ययो भवति । पूर्णो माश्चन्द्रमा अस्यामस्ति पौर्णमासी ।।55।।

गोपूर्वादत इकण् ।। 7. 2. 56. ।।

गोशब्दपूर्वादकारान्तान्मत्वर्थे इकण् प्रत्ययो भवति, मत्वादीनामपवादः । गौशतिकः, गौसहस्रिकः । अत इति किम् ? गोविंशतिमान् । कथं गौशकटिकः ? शकटीशब्देन समानार्थः

शकटशब्दोऽस्ति । शकटीशब्दात्तु मतुः अनभिधानान्न भवति । केचित्तु गवादेरनकारान्तादपीच्छन्ति । गवां समूहो गोत्रा सा विद्यते यस्य गौत्रिकः, गावो वयांसि चास्य सन्ति गौवयसिकः ।।56।।

*न्या०स०–गोपू०–*कथमिति अदन्ताद्विहित इकण् कथं शकटीशब्दाद् भवतीत्याशयः शकटी शब्दात्त्विति शकटीशब्दात्तावददन्तत्वाभावादिकण् न भवति, परं मतुर्भवति नो वेत्याह–अनभिधानादिति ।

निष्कादेः शत–सहस्रात् ।। 7. 2. 57. ।।

निष्को य आदिस्ततः परं यच्छतं सहस्रं च तदन्तान्मत्वर्थे इकण् प्रत्ययौ भवति । नैष्कशतिकः, नैष्कसहस्रिकः । निष्कादेरिति किम् ? शती, सहस्री । आदिग्रहणात्सुवर्णनिष्कशतमस्यास्तीत्यत्र न भवति ।।57।।

*न्या०स०–निष्का०–*निष्कश्चासावादिश्च बहुव्रीहिर्वा ।

ननु बहुव्रीहौ सुवर्णनिष्कशतशब्दादपि प्राप्नोति ? सत्यं, अत्रादिशब्दोऽवयवार्थः निष्कशब्दश्च शतसहस्रशब्दयोरवयवः समास एव सति भवति वाक्ये तस्य स्वातन्त्र्यात्, समासश्च सुवर्णनिष्कशब्देन शतशब्देन चारभ्यत इति शतशब्दान्तसमासापेक्षया सुवर्णनिष्कशब्दस्यैवावयवत्वं, न तु निष्कशब्दस्येति सुवर्णनिष्कशतशब्दान्नेकण्, अथवात्रादिशब्दः प्राथम्यार्थोऽपि व्याख्यायते प्राथम्यं च सुवर्णनिष्कशतशब्दे शतशब्दापेक्षया निष्कशब्दस्यास्त्येवेतीकण प्राप्नोतीति तन्निवृत्त्यर्थं सावधारणं व्याख्येयं निष्क एवादिर्यस्येति अत्र तु न निष्क एवादिः किंतु सुवर्णशब्दोऽपीति न भवति, एवमुत्तरत्रापि ।

आदिग्रहणादित्यादि सुवर्णस्य निष्काशस्तेषां शतमिति विग्रहः ।

एकादेः कर्मधारयात् ।। 7. 2. 58. ।।

एकादेः कर्मधारयादकारान्तान्मत्वर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । एको गौरेकगवः सोऽस्यास्त्यैकगविकः, ऐकशतिकः ऐकसहस्रिकः । कर्मधारयादिति किम् ? एकस्य गौरेकगवः सोऽस्यास्ति इति न भवति । अत इत्येव ? एकविंशतिरस्यास्तीति न भवति । कथमेकद्रव्यवत्त्वादिति । एकेन द्रव्यवत्त्वमिति समासे भविष्यति ।।58।।

*न्या०स०–एका०–*समासे इति । ``ऊनार्थपूर्वाद्यैः'' (3. 1. 67.) इत्यनेन ।

सर्वादेरिन् ॥ 7. 2. 59. ॥

सर्वादेरकारान्तात्कर्मधारयान्मत्वर्थे इन् प्रत्ययो भवति । सर्वं धनं सर्वधनम् तदस्यास्तीति सर्वधनी, सर्वबीजी, सर्वकेशी नटः ॥59॥

प्राणिस्थादस्वाङ्गाद्–द्वन्द्व–रुग्–निन्द्यात् ॥ 7. 2. 60. ॥

प्राणिस्थोऽस्वाङ्गवाची अकारान्तो यो द्वन्द्वः समासो यश्च रुग्वाची निन्द्यवाची च शब्दस्तस्मान्मत्वर्थे इन् प्रत्ययो भवति । द्वन्द्व, कटकवलयिनी । शंखनूपुरिणी । रुक्-कुष्टी, किलासी, निन्द्य, ककुदावर्ती, काकतालुकी । प्राणि स्थादिति किम् ? पुष्पफलवान् वृक्षः । अस्वाङ्गादिति किम् ? स्तनकेशवती । अत इत्येव ? चित्रकललाटिकावती । विपादिकावती । काकतालुमती । ``अतोऽनेकस्वरात्'' (7. 2. 6.) इत्येव सिद्धे इकादिबाधनार्थं वचनम् ॥60॥

*न्या०स०–प्राणि०–*शङ्खनुपुरिणीति अनुपरतो रवो यस्य यस्माद् वा तदनुपस्तरचं तस्य पृषोदरादित्वान्नूपुरादेशः ``श्वशुर'' (3. 1. 123.) इति निपातनाद् वा ।

वाता–ऽतीसार–पिशाचात्–कश्चान्तः ॥ 7. 2. 61. ॥

वात, अतीसार, पिशाच इत्येतेभ्यो मत्वर्थे इन् प्रत्ययो भवति ककारश्चान्तः । वातातीसारयो रुक्त्वात् पूर्वेणेन् सिद्धः कार्थमुपादानम् । पिशाचस्य तूभयार्थम् । वातकी, अतीसारकी, पिशाचकी ॥61॥

*न्या०स०–वाता०–*अत्र एकदेशविकृतेति न्यायादतिसारकीत्यपि ।

पूरणाद्–वयसि ॥ 7. 2. 62. ॥

पूरणप्रत्ययान्ताद्वयसि गम्यमाने मत्वर्थे इन्नेव प्रत्ययो भवति । पञ्चमो मासः संवत्सरो वास्यास्तीति पञ्चमी बालकः दशमी करभः ॥62॥

*न्या०स०–पूर०–*ननु ``अतोऽनेकस्वरात्'' (7. 2. 6.) इत्यनेनेन् सिद्ध एव किमनेन ? सत्यं, इन्नेवेति नियमार्थं तेन हि इन्विधाने इकोऽपि स्यादिति ।

सुखादेः ॥ 7. 2. 63. ॥

सुखादिभ्यो मत्वर्थे इन्नेव प्रत्ययो भवति । सुखी, दुःखी ।

सुख, दुःख, तृप्र, कृच्छ, अस्त्र, अलीक, कृपण, सोढ, प्रतीप, प्रणय, हस्त, (हल) आस्त्र, कक्ष, शील इत्येके इति सुखादिः ॥63॥

मालायाः क्षेपे ॥ 7. 2. 64. ॥

मालाशब्दात्क्षेपे गम्यमाने मत्वर्थे इन्नेव प्रत्ययो भवति । माली । क्षेप इति किम् ? मालावान्, मालाशब्दः शिखादिः । ततः क्षेपे मतुनिवृत्त्यर्थं वचनम् ॥64॥

धर्म–शील–वर्णान्तात् ॥ 7. 2. 65. ॥

धर्मशीलवर्ण इत्येतदन्तान्मत्वर्थ इन्नेव भवति । मुनिधर्मी, यतिशीली, ब्राह्मणवर्णी ॥65॥

बाहुर्वादेर्बलात् ॥ 7. 2. 66. ॥

बाहु-ऊरुपूर्वाद्बलान्तान्नम्नो मत्वर्थे इन्नेव भवति । बाहुबली, ऊरुबली ॥66॥

मन्–मा–ऽब्जादेर्नाम्नि ॥ 7. 2. 67. ॥

मन्नन्तेभ्यो मान्तेभ्योऽब्जादिभ्यश्च मत्वर्थे इन्नेव भवति नाम्नि समुदायश्चेत्कस्यचिन्नाम भवति । मन्नन्त, दामिनी, सामिनी, प्रथिमिनी, महिमिनी, धर्मिणी (वर्मिणी) । कर्मिणी, मान्त-प्रथमिनी, भामिनी, कामिनी, यामिनी, सोमिनी, अब्जादि, अब्जिनी, कमलिनी, सरोरुहिणी, सरोजिनी, अम्भोजिनी, राजीविनी, अरविन्दिनी, पङ्कजिनी, पुटकिनी, नालीकिनी, मृणालिनी, बिसिनी, तामरसिनी, यवासिनी । नाम्नीति किम् ? सामवान्, सोमवान्, अब्जवान् ॥67॥

*न्या०स०–मन्म०–*प्रत्ययाप्रत्ययोः इति न्यायात् मन्नन्तेभ्य इत्युक्तेऽपि मन्प्रत्ययान्तेभ्य इति दृश्यं अब्जिन्यादयः कमलिनीवाचकाः यवासिनी त्वौषधिः ।

हस्त–दन्त–कराज्जातौ ॥ 7. 2. 68. ॥

हस्त दन्त कर इत्येतेभ्यो मत्वर्थे इन्नेव भवति समुदायेन चेज्जातिरभिधीयते ।

हस्तोऽस्यास्तीति हस्ती, दन्ती, करी । जाताविति किम् ? हस्तवान्, दन्तवान्, करवान्नरः ।।68।।

*न्या०स०—हस्त०—*ननु हस्ती इत्यादिभिर्जातिमानेवाभिधीयते न जातिस्तत्कथमनेन ? सत्यं, जातिमत्युच्यमाने गौणवृत्त्या जातिरप्युच्यते, गौणमुख्यन्यायस्तु मुख्यया वृत्त्या इन्प्रत्ययान्तेन हस्त इत्यादिना प्रतिपादनासंभवान्नाद्रियते, यद्वा निर्विशेषं न सामान्यं भवेच्छ-शविषाणवदिति न्यायात् समुदायेन चेञातिरभिधीयते इत्युक्तेऽपि ज्जातिमती व्यक्तिरुच्यत इति दृष्टव्यं, निर्विशेषायास्तस्या जातेः असत्कल्पत्वात् ।

वर्णाद् ब्रह्मचारिणि ।। 7. 2. 69. ।।

वर्णशब्दान्मत्वर्थे इन् भवति ब्रह्मचारी चेदभिधेयो भवति । वर्णशब्दो ब्रह्मचर्यपर्यायः, वर्णो ब्रह्मचर्यमस्यास्ति वर्णी, ब्रह्मचारीत्यर्थः । अन्ये तु वर्णशब्दो ब्राह्मणादिवर्णवचनः । तत्र ब्रह्मचारीत्यनेन शूद्रव्यवच्छेदः क्रियते इति मन्यन्ते तेन त्रैवर्णिको वर्णीत्युच्यते । स हि विद्याग्रहणार्थमुपनीतो ब्रह्म चरति न शूद्र इति । ब्रह्मचारिणीति किम् ? वर्णवान् ।।69।।

*न्या०स०—वर्णात्—*त्रैवर्णिक इति त्रिषु वर्णेषु भवः अध्यात्मादिभ्य इतीकण् विधान सामर्थ्यात् ``द्विगोरनपत्य'' (6. 1. 24.) इत्यनेन न लुप्, ``प्रयोजनम्''' (6. 4. 117.) इति वेकण् प्राग्जितीयत्वाभावात् ``द्विगोरनपत्ये'' (6. 1. 24.) इत्यस्य लुपः प्रसङ्ग एव नास्ति । विद्याग्रहणार्थमिति एवमुक्तेऽपि वेदविद्याग्रहणार्थमिति व्याख्येयम् ।

पुष्करादेर्देशे ।। 7. 2. 70. ।।

पुष्करादिभ्यो मत्वर्थे इन्नेव भवति देशेऽभिधेये । पुष्करिणी, पद्मिनी । देश इति किम् ? पुष्करवान् हस्ती ।

पुष्कर, पद्म, उत्पल, तमाल, कुमुद, कैरव, नल, कपित्थ, बिस, मृणाल, कर्दम, शालूक, विवर्ह, करीष, शिरीष, यवास, यबाष, यव, माष, हिरण्य, तट, तरङ्ग, कल्लोल इति पुष्करादिः । कथं कुमुद्वती सरसी कुमुद्वान् ह्रदः नड्वान् नड्वलमिति ? ``नडकुमुद''—(6. 2. 74.) इत्यादिना चातुरर्थिकेन मतुना भविष्यति ।।70।।

*न्या०स०—पुष्क०—*पुष्करिणी, पद्मिनी च देशविशेषौ, यवासशब्दोऽब्जादिगणे पुष्करादि-

गणे चाधीतस्तत्रौषधौ पूर्वसूत्रं प्रवर्त्तते देशविशेषे त्विदमिति विवेकः । कथमिति अत्र गण-पाठात् कुमुदिनी इत्येव प्राप्नोतीत्याशङ्का ।

सूक्त–साम्नोरीयः ॥ 7. 2. 71. ॥

सूक्ते सामनि चाभिधेये मत्वर्थे ईयः प्रत्ययो भवति, मत्वादीनामपवादः । अच्छावाक् शब्दोऽत्र सूक्तेऽस्ति अच्छावाकीयम्, मैत्रावरुणीयम्, साम्नि, यज्ञायज्ञीयम्, अशनापिपासीयम्, वारतन्तवीयम् साम । अथास्यवामीयं सूक्तं कयानश्चित्रीयं सामेत्यत्र ``ऐकार्थ्ये'' (3. 2. 8.) इति विभक्तिलोपः कथं न भवति ? उच्यते, अस्यवामादयः सूक्तसामस्थानामनुकार्याणामखण्डा एवानुकरणशब्दाः नात्र विभक्तिरिति लुप् न भवति । अत एव प्रथमान्ततापि न विरुध्यध्ते । सूक्तसाम्नी ग्रन्थविशेषौ ॥71॥

*न्या०स०–सूक्त०–*अत एव प्रथमान्ततापीति यत एवामी अखण्डा अनुकरणशब्दा अत एव तेनैवानुकार्येणार्थेनार्थवत्त्वान्नामत्वे सति प्रथमान्तताप्यविरुद्धैवेत्यर्थः ।

लुब् वाध्याया–ऽनुवाके ॥ 7. 2. 72. ॥

अध्यायेऽनुवाके चाभिधेये मत्वर्थेय ईयस्तस्य लुब् वा भवति । अत एव लुब्वचनादध्यायानुवाकयोरीयोऽनुमीयते । एतावपि ग्रन्थविशेषौ । गर्दभाण्ड- शब्दोऽस्मिन्न-ध्यायेऽनुवाके वास्तीति गर्दभाण्डः गर्दभाण्डीयोऽध्यायोऽनुवाको वा । एवं दीर्घजीवितिः, दीर्घजीवितीयः, पलितस्तम्भः, पलितस्तम्भीयः, पलितः, पलितीयः, स्तम्भः, स्तम्भीयः, उच्छिष्टः, उच्छिष्टीयः, द्रुमपुष्पः, द्रुमपुष्पीयः॥72॥

*न्या०स०–लुब् वा०–*अध्यायानुवाकयोरर्थान्तरत्वात् पूर्वेण न प्राप्नोतीत्याह– अत एवेति ।

विमुक्तादेरण् ॥ 7. 2. 73. ॥

विमुक्तादिभ्यो मत्वर्थेऽध्यायानुवाकयोरभिधेययोरण प्रत्ययो भवति । विमुक्तशब्दोऽस्मिन्न-ध्यायेऽनुवाके वास्ति वैमुक्तः । दैवासुरः ।

विमुक्त, दैवासुर, रक्षोसुर, उपसद्, उपसद, परिसारक, वसु, मरुत्, सत्वत्, सत्वन्तु, दशार्ह, वयस्, हविर्धान, महित्री, सोमापूषन्, इडा, इला, अग्नाविष्णू, उर्वशी,

दशार्ण, वसुमन्तु, पत्नीवन्तु, वर्हवन्तु, (सु) वृत्रहन्, पतत्रिन्, सुपर्ण इति विमुक्तादिः ॥73॥

*न्या०स०–विमु०–*सोमापूषन्निति अत्र ``वेदसहश्रुत'' (3. 2. 41.) इति पूर्वपदस्य आत्वम् ।

घोषदादेरकः ॥ 7. 2. 74. ॥

घोषदित्येवमादिभ्यो मत्वर्थेऽध्यायानुवाकयोरभिधेययोरकः प्रत्ययो भवति । घोषच्छब्दोऽस्मिन्नस्ति घोषदकः, गोषदकः, इषेत्वकः ।

घोषद्, गोषद्, इषेत्वा, मातरिश्वन्, देवस्यत्वा, पत्वा, देवीराप, कृष्णोस्य, खरेष्ठा, देविंधीया, रक्षोहण, अञ्जन, प्रतूर्त, उशान, कृशानु, सहस्त्रशीर्षन्, वाचस्पति, स्वाहा, प्राण इति घोषदादिः ॥74॥

प्रकारे जातीयर् ॥ 7. 2. 75. ॥

तदस्येति वर्तते, तदिति प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे जातीयर् प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमान्तं तच्चेत्प्रकारो भवति । सामान्यस्य भिद्यमानस्य यो विशेषो विशेषान्तरानुप्रवृत्तः स प्रकारः । पटुः प्रकारोऽस्य पटुजातीयः, मृदुजातीयः, यज्जातीयः, तज्जातीयः, नानाभूतः प्रकारोऽस्य नानाजातीयः, एवं प्रकारोऽस्य एवंजातीयः, अस्येति षष्ठ्यर्थे विधानात् प्रकारवति जातीयर् विज्ञायते । ततः प्रकारमात्रभाविथाथमन्तादपि जातीयर् प्रत्ययो भवति । यथाजातीयः, तथाजातीयः, कथंजातीयः, इत्थंजातीयः । रित्करणं ``रिति'' (3. 2. 58.) इत्यत्र विशेषणार्थम् ॥75॥

*न्या०स०–प्रका०–*सामान्यस्य पुरुषरूपस्य भिद्यमानस्य पटुजडादिभेदेन विशेष्यमाणस्य यो विशेषो पटुत्वादिरित्यर्थः ।

विशेषान्तरानुप्रवृत्त इति स विशेषो द्विप्रकारो विशेषान्तरेष्वनुप्रवृत्तोऽनुस्युतः संबद्ध इति यावत् यथाऽयं पटुर्मृदुः पण्डित इत्यादि, अयं हि पटुत्वलक्षणो विशेषो बहूनामपि तथा भावात् सभेदेषु विशेषान्तरेष्वनुप्रवृत्तो भवति, अपरश्चाननुप्रवृत्तो यस्य भेदा न सन्ति यथा अमूर्त्तसामान्यस्याकाशमिति भेदः, आकाशमिति ह्येकं द्रव्यं, न तस्य भेदाः सन्ति येन विशेषो विशेषान्तरेष्वनुप्रवृत्तः स्यात्, तत्र यो विशेषो विशेषान्तरेष्वनुप्रवृत्तः स प्रकार उच्यते ।

कोऽण्वादेः ॥ 7. 2. 76. ॥

अणु इत्येवमादिभ्यस्तदस्य प्रकारे इत्यस्मिन् विषये कः प्रत्ययो भवति । जातीयरोऽपवादः । अणुः प्रकारोऽस्य अणुकः पटः, स्थूलकः पटः, अणुका माषाः, स्थूलका माषाः, माषकं हिरण्यम्, इषुका, गोलिका ।

अणु. स्थूल, माष, इषु, इक्षु, वाद्य, तिल, काल, तिलकाल, पत्र मूल, पत्रमूल, पर्णमूल, कुमारीपुत्र, कुमारी, श्वशुर, मणि, बृहत्, चश्वत्, चन्द्र, एरण्ड, पुण्ड्र इत्यण्वादिः ॥76॥

जीर्ण–गोमूत्रा–ऽवदात–सुरा–यव–कृष्णाच्छाल्या-च्छादन–सुरा–हि–ऽव्रीहि–तिले ॥ 7. 2. 77. ॥

जीर्ण, गोमूत्र, अवदात, सुरा, यव, कृष्ण इत्येतेभ्यो यथासंख्यं शालिआच्छादन सुराऽहिव्रीहितिलेषु वाच्येषु तदस्य प्रकार इत्यस्मिन्विषये कः प्रत्ययो भवति ।

जीर्णाच्छालिषु, जीर्णः प्रकार एषां जीर्णकाः शालयः । गोमूत्रादाच्छादने, गोमूत्रप्रकारं गोमूत्रकम् गोमूत्रवर्णमाच्छादनम् । अवदातात्सुरायाम्, अवदातप्रकारा अवदातिका सुरा, सुराया अहौ, सुराप्रकारः सुरावर्णः सुरकोऽहिः । यवात् व्रीहिषु, यवप्रकारा यवका व्रीहयः । कृष्णात्तिलेषु, कृष्णप्रकाराः कृष्णकास्तिलाः । शाल्यादिष्विति किम् ? जीर्णजातीयोऽन्य इत्यादि ॥77॥

न्या०स०–जीर्ण०—गोमूत्रप्रकारमिति अर्थकथनमिदं वाक्यं तु गोमूत्रं प्रकारोऽस्येत्येवं कार्यम्, एवमवदातप्रकारेत्यादिष्वपि ज्ञेयम् ।

भूतपूर्वे प्चरट् ॥ 7. 2. 78. ॥

अतः परंप्रायः स्वार्थिकाः प्रत्ययाः । तत्रोपाधिः प्रकृतेर्विज्ञायते स प्रत्ययस्य द्योत्यो भवति । पूर्वं भूतो भूतपूर्वः, भूतपूर्वेऽर्थे वर्तमानान्नाम्नः प्चरट् प्रत्ययो भवति स्वार्थे । भूतपूर्व आढ्य आढ्यचरः, दर्शनीयचरः । टकारो ङ्यर्थः । पकारः पुंवद्भावार्थः, भूतपूर्वा आढ्या आढ्याचरी, दर्शनीयचरी । भूतशब्दो वर्तमानेऽप्यस्ति पूर्वशब्दो दिगादावपीति अतिक्रान्तकाल-प्रतिपत्त्यर्थमुभयोरुपादानम् । प्रत्यासत्तेः शब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य भूतपूर्वत्वेऽयं प्रत्यय इतीह न भवति । अर्जुनो माहिष्मत्यां भूतपूर्व इति ॥78॥

*न्या०स०–भूतपूर्व०–*तत्रोपाधिरिति तत्र तेषु स्वार्थिकप्रत्ययेषु प्रकान्तेषु उपाधिर्विशेषणं भूतपूर्वादि प्रकृतेरेव सकाशादवसीयते केवलं प्रत्ययेन द्योत्यते न तूच्यते ।

प्रत्यासत्तेरिति अत्र हि नार्जुनत्वस्यार्जुनशब्दाभिधेयस्य भूतपूर्वत्वम्, न हि अर्जुनो माहिष्मत्यामर्जुनेन भूतपूर्व इत्यत्र विवक्षाऽपि तु राजत्वेनेत्यत्र न भवति ।

गोष्ठादीनञ् ।। 7. 2. 79. ।।

गोष्ठशब्दाद्भूतपूर्वत्वे ईनञ् प्रत्ययो भवति । गोष्ठो भूतपूर्वो गौष्ठीनो देशः ।।79।।

षष्ठ्या रूप्य–प्चरट् ।। 7. 2. 80. ।।

षष्ठ्यन्ताद्भूतपूर्वेऽर्थे रूप्यप्चरट् प्रत्ययौ भवतः । भूतपूर्व इतीह प्रत्ययार्थः । देवदत्तस्य भूतपूर्वो देवदत्तरूप्यो गौः, देवदत्तचरः, प्चरटित्यत्र पकारटकारौ पुंवद्भावङीप्रत्ययाथौ । देवदत्तचरी ।।80।।

*न्या०स०–षष्ठ्या०–*प्रत्ययार्थ इति प्रकृत्यर्थस्तु पूर्वसूत्रेणैव सिद्धः सर्वविभक्त्यन्तत्वात् । देवदत्तचरीति देवदत्ताया भूतपूर्वा, असंज्ञाशब्दोऽयमन्यथा ``तद्धिताक'' (3. 2. 54.) इति निषेधः स्यात् ।

व्याश्रये तसुः ।। 7. 2. 81. ।।

नानापक्षाश्रयो व्याश्रयः, षष्ठ्यन्ताद्व्याश्रये गम्यमाने तसुः प्रत्ययो भवति । ``उकारोऽधण्तस्वाद्याशसः'' (1.1. 32.) इत्यत्र विशेषणार्थः । देवा अर्जुनतोऽभवन्, आदित्यः कर्णतोऽभवत् । अर्जुनकर्णयोर्विवदमानयोरर्जुनस्य पक्षे देवाः कर्णस्य पक्षे आदित्योऽभवदित्यर्थः । यत्तोऽभवत् यस्य पक्षे इत्यर्थः । तत्तोऽभवत् तस्य पक्षे इत्यर्थः । एवं त्वत्तोऽभवत्, मत्तोऽभवत् । व्याश्रय इति किम् ? वृक्षस्य शाखा ।।81।।

*न्या०स०–व्याश्र०–*यत्त इति तसोरुकारानुबन्धत्वात् ``आद्वेरः'' (2. 1. 41.) इति न भवति ।

रोगात्–प्रतीकारे ।। 7. 2. 82. ।।

रोगवाचिनः षष्ठ्यन्तात्प्रतीकारेऽपनयने गम्यमाने तसुः प्रत्ययो भवति । प्रवाहिकातः कुरु, प्रच्छर्दिकातः कुरु, अस्य रोगस्य चिकित्सां कुर्वित्यर्थः ।।82।।

पर्यभेः सर्वोभये ॥ 7. 2. 83. ॥

परि अभि इत्येताभ्यां यथाक्रमं सर्वोभयार्थे वर्तमानाभ्यां तसुः प्रत्ययो भवति । परितः सर्वत इत्यर्थः । अभितः उभयत इत्यर्थः । सर्वोभय इति किम् ? वृक्षं परि, वृक्षमभि ॥83॥

आद्यादिभ्यः ॥ 7. 2. 84. ॥

आद्यादिभ्यः संभवाद्विभक्त्यन्तेभ्यस्तसुः प्रत्त्ययो भवति । आदौ आदेर्वा आदितः, एवं मध्यतः, अन्ततः, अग्रतः, वक्षस्तः, पार्श्वतः, पृष्ठतः, मुखतः, सर्वतः, विश्वतः, उभयतः, अन्यतः, पूर्वतः, एकतः, इतः । प्रमाणेन प्रमाणाद्वा प्रमाणतः, पृष्ठेन पृष्ठतोऽर्कं सेवेत । एवं पार्श्वतः, इतः, दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा, शब्दतः, अर्थतः, अधिधानतः, येन यस्मिन्वा यतः, ततः, पृषोदरादित्वात् दलोपः । आद्यादयः प्रयोगगम्याः ॥84॥

न्या०स०—आद्या०—दलोप इति ``आद्वेरः'' (2. 1. 41.) इति तु न तसादावित्यधिकारात्, अयं तु उदनुबन्धः ।

क्षेपा—ऽतिग्रहा—ऽव्यथेष्वकर्तुस्तृतीयायाः ॥ 7. 2. 85. ॥

तृतीयान्तादकर्तृवाचिनः क्षेपातिग्रहाव्यथाविषये तसुः प्रत्ययो भवति । क्षेपो निन्दा, वृत्तेन क्षिप्तः वृत्ततः क्षिप्तः, वृत्तेन निन्दित इत्यर्थः । अतिक्रम्य ग्रहणमतिग्रहः । वृत्तेनातिगृह्यते वृत्ततोऽतिगृह्यते । साधुवृत्तोऽन्यानतिक्रम्य वृत्तेन गृह्यते । साध्वाचार इति संभाव्यत इत्यर्थः । अतिशयेन वा ग्रहण—मतिग्रहः । तत्रातिशयेन गृह्यत इत्यर्थः । अचलनमक्षोभणमव्यथा अभीतिर्वा । वृत्तेन न व्यथते वृत्ततो न व्यथते । वृत्तेन न चलति न विभेति चेत्यर्थः । क्षेपातिग्रहाव्यथेष्विति किम् ? वृत्तेन भिन्नः । अकर्तुरिति किम् ? देवदत्तेन क्षिप्तः । तृतीयाया इति किम् ? देवदत्तं क्षिपति ॥85॥

पाप—हीयमानेन ॥ 7. 2. 86. ॥

अकर्तृवाचिनस्तृतीयान्तात्पापहीयमानाभ्यां योगे तसुः प्रत्ययो भवति । वृत्तेन पापः वृत्ततः पापः, वृत्तेन हीयते वृत्ततो हीयते । शब्दतो हीनः स्वरतो वर्णतो वा । पापहीयमानेनेति किम् । चारित्रेण शुद्धः । अकर्तुरित्येव ? चैत्रेण हीयते । तृतीयाया इत्येव ? ग्रामे हीयते । क्षेपस्याविवक्षायां तत्त्वाख्याने यथा स्यादिति वचनम् ॥86॥

न्या०स०—पाप०—पापहीयमानाभ्यां योगे क्षेपस्य प्रतीयमानत्वात् पूर्वेणैव सिध्यतीत्याह-तत्वाख्याने इति ।

प्रतिना पञ्चम्याः ॥ 7. 2. 87. ॥

प्रतिना योगे या पञ्चमी विहिता तदन्तात्तसुः प्रत्ययो भवति वा । अभिमन्युरर्जुनात्प्रति अभिमन्युरर्जुनतः प्रति । अर्जुनस्य प्रतिनिधिरित्यर्थः । माषानस्मै तिलेभ्यः प्रति यच्छति तिलतः प्रति यच्छति । पञ्चम्या इति किम् ? वृक्षं प्रति विद्योतते ॥87॥

अहीय–रुहोऽपादाने ॥ 7. 2. 88. ॥

अपादाने या पञ्चमी विहिता तदन्तात्तसुः प्रत्ययो भवति वा तच्चेदपादानं हीयरुहोः संबन्धि न भवति । ग्रामादागच्छति ग्रामत आगच्छति । चौराद्बिभेति चौरतो बिभेति । अहीयरुह इहि किम् ? सार्थात् हीयते सार्थाद्धीनः, पर्वतादवरोहति । सार्थादिति कर्तुरपायेऽवधिविवक्षा, सार्थेन हीयते देवदत्तः इत्यर्थः । हीयते इति कर्मकर्तरीत्यन्ये । सार्थात्स्वयमेव हीयते देवदत्त इत्यर्थः । हीयेति क्यान्तस्य जहातेर्निर्देशो जिहीते इत्यस्य व्युदासार्थः, तेन तत्र प्रतिषेधो न भवति । भूमित उज्जिहीते । हागिति निर्देशेनैव हाङो निवृत्तिसिद्धौ हीयेति निर्देशो यत्रैव भावे कर्मणि कर्मकर्तरि च जहातेः प्रयोगस्तत्रैवापायविवक्षा नान्यत्रेत्येवमर्थम्, तेन सार्थाज्जहातीति न भवति । अपादान इति किम् । ऋते धर्मात्कुतः सुखम् । आ पाटलिपुत्राद्वृष्टो देवः ॥88॥

न्या०स०—अही०—हीयत इति जहाति सार्थो देवदत्तं, स एवं विवक्षते, नाहं जहामि किंतु स्वयमेव हीयते ।

तेन सार्थाज्जहातीति न भवतीति सार्थो जहातीति वक्तव्ये।

किमद्व्यादिसर्वाद्यवैपुल्यबहोः पित् तस् ॥ 7. 2. 89. ॥

पञ्चम्या इत्यनुवर्तते, किंशब्दात् द्व्यादिवर्जितेभ्यः सर्वादिभ्योऽवैपुल्यवाचिनो बहुशब्दाच्च पञ्चम्यन्तात्तस् प्रत्ययो भवति स च पित् । किम्, कस्मात् कुतः, सर्वादि, सर्वतः, विश्वतः, यतः ततः बहु, बहुभ्यः बहुतः । किमः सर्वादित्वेऽपि द्व्यादिवर्जनान्न प्राप्नोतीति पृथगुपादानम् । द्व्यादिवर्जनं किम् ? द्वाभ्याम्, त्वत्, मत्, युष्मत्, अस्मत्, भवतः । कथं द्वितः त्वत्तः मत्तः युष्मत्तः अस्मत्त इति । ``अहीयरुहोऽपादाने'' (7. 2. 88.) इति भविष्यति । अनेन हि तस्विधाने ``आ द्वेरः'' (2. 1. 41.) इत्यत्वं स्यात् । तसावप्यत्वमिच्छन्त्येके । बहोर्वैपुल्यप्रतिषेधः

किम् । बहोः सुपात् । किमद्व्यादिसर्वाद्यवैपुल्यबहोरिति किम् । वृक्षाद्विना । किंसर्वादिवहोश्च तसुविषयेऽपि परत्वादयमेव तस् । यतः प्रति, ततः प्रति, यत आगच्छति, तत आगच्छति । निरनुबन्धप्रत्ययान्तरकरणमत्वार्थम् । पित्करणं पुंवद्भावार्थम् । बह्वीभ्यो बहुतः, पञ्चम्यन्तमात्रादयं विधिः । सर्वतो हीयते, सर्वतो रोहति, सर्वतो हेतोः, सर्वतः पूर्वः ॥89॥

*न्या०स०—किम०—*द्विरादिर्यस्य द्वयादिस्ततो नञा योगः, सर्व आदिर्यस्य सर्वादिः, अद्व्यादिश्चासौ सर्वादिश्च अद्व्यादिसर्वादिः, अवैपुल्ये बहुः अवैपुल्यबहुः, किम् च अद्व्यादिसर्वादिश्च अवैपुल्यबहुश्च, तस्मात् तसुविषयेऽपीति ``प्रतिना पञ्चम्याः'' (7. 2. 87.) ``अहीयरुहोपादाने'' (7. 2. 88) इति विहितस्य । पञ्चम्यन्तमात्रादिति न त्वपादान एव विहितपञ्चम्यन्तात् ।

इतोऽतः कुतः ॥ 7. 2. 90. ॥

इतस् अतस् कुतस् इत्येते शब्दा निपात्यन्ते । इत इति इदमस्तसि इः सर्वादेशो निपात्यते । अस्मादितः, इमकस्मादितः, अत इति एतदः अ सर्वादेशः । एतस्मादतः, एतकस्मादतः । कुत इति किमः कुरित्यादेशः, कस्मात्कुतः । इह पञ्चम्या इति नानुवर्तते । लक्षणान्तरेण तसि तसौ वा सिद्धे आदेशमात्रं विधीयते । तेनोत्तरसूत्रेण तसि इतोभवान् अतोभवान् आद्यादितसौ इत आस्यतामिति भवति ॥90॥

भवत्वायुष्मद् दीर्घायुर्देवानांप्रियैकार्थात् ॥ 7. 2. 91. ॥

भवतु आयुष्मत् दीर्घायुस् देवानांप्रिय इत्येतैः समानाधिकरणात् किम-द्व्यादिसर्वाद्यवै-पुल्यबहोः सर्वविभक्त्यन्तात्पित्तस् प्रत्ययो वा भवति । स भवान् ततोभवान्, तौ भवन्तौ ततोभवन्तौ, ते भवन्तः ततोभवन्तः तं भवन्तं ततोभवन्तम्, तेन भवता ततोभवता, तस्मै भवते ततोभवते, तस्माद्भवतः ततोभवतः, तस्य भवतः ततोभवतः । एवमयं भवान् इतोभवान् को भवान् कुतोभवान् इत्याद्युदाहार्यम् । तथा स आयुष्मान् ततआयुष्मान्, स दीर्घायुः ततोदीर्घायुः, स देवानांप्रियः ततोदेवानांप्रियः, अयमायुष्मान् इतआयुष्मान्, क आयुष्मान् कुतआयुष्मान, एवं दीर्घायुर्देवानांप्रियाभ्यामपि । भवत्वित्युकारः सर्वादिपरिग्रहार्थः । तेन मतुशत्रन्तव्युदासः ॥91॥

*न्या०स०—भवत्वा०—*उकारोपादानात् मुख्यवृत्त्या उदनुबन्धस्य भवतुशब्दस्य सर्वादिपठितस्य औणादिकत्वात् अव्युत्पन्नस्य ग्रहणं, न तु भशब्दात् मतौ भवतुशब्दस्य, अत्र प्रत्ययस्यैव उदित्त्वं शब्दस्य तूपचारेण, यद्वा श्रुतानुमितेति न्यायात् ।

त्रप् च ॥ 7. 2. 92. ॥

भवत्वायुष्मद्दीर्घायुर्देवानांप्रियैः समानाधिकरणात् किमद्व्यादिसर्वाद्यवैपुल्यबहोः सर्वविभक्त्यन्तात् त्रप् प्रत्ययौ वा भवति । स भवान् तत्रभवान्, तौ भवन्तौ तत्रभवन्तौ, ते भवन्तः तत्रभवन्तः, तं भवन्तम् तत्रभवन्तम्, तेन भवता तत्रभवता, तस्मै भवते तत्रभवते, तस्माद्भवतः तत्रभवतः, तस्य भवतः तत्रभवतः, तस्मिन् भवति तत्रभवति । एवमायुष्मद्दीर्घायुर्देवानां प्रियैरप्युदाहार्यम् । योगविभागश्चकारेण पुनस्तस्विधानार्थः । तेन सप्तम्यन्तादपि तस् भवति । ततोभवति, तत्रभवति, अन्यथा हि ततः ``सप्तम्याः'' (7. 2. 94.) इति परत्वात्त्रबेव स्यात् । रूढिशब्दाश्चैते ततोभवदादयः समुदायाः पूजावचना यथाकथंचित् व्युत्पाद्यन्ते । अत एव पुनस्त्यदादिरनुप्रयुज्यते । स तत्रभवान्, तं तत्रभवन्तम् । केचित्तु भवच्छब्दस्यामन्त्रणे सौ भो इत्यादेशं कुर्वन्ति तन्मते ततो भोः तत्रभोः इत्यत्रापि भवति । केचित्तु भवदाद्ययोगेऽपि त्रप्तसाविच्छन्ति । क गमिष्यसि कं देशं गमिष्यसीत्यादि ॥92॥

*न्या०स०—त्रप्च-*अत एवेति यद्येते रूढिशब्दा न स्युरवयवार्थयोगेन प्रवर्त्तेरन् तदा स तत्र भवान् तं तत्रभवन्तमिति पुनस्तदः प्रयोगोऽनुपपन्नः स्यात्, प्रकृत्यैव तदर्थस्यावगतत्वात्, रूढिशब्दत्वे तु न तत्रावयवार्थोऽस्ति, किंतु समुदायोऽयं विशिष्टः पूजां गमयतीति तदर्थप्रतिपादनाय पुनस्तच्छब्दप्रयोग उपपद्यते ।

क्व कुत्रा—ऽत्रेह ॥ 7. 2. 93. ॥

क्व, कुत्र, अत्र, इह इत्येते शब्दास्त्रबन्ता निपात्यन्ते । क्वेति किमः क्वादेशः, त्रपश्चाकारः । कस्मिन् क्व, कुत्रेति किमः कु इत्यादेशः, कस्मिन् कुत्र, अत्रेति एतदोऽकारादेशः । एतस्मिन् अत्र, एतकस्मिन् अत्र, इहेति इदम इकारादेशः त्रपश्च हादेशः । अस्मिन् इह, इसकस्मिन्निह । एषु ``सप्तम्याः'' (7. 2. 94.) इति त्रप् । त्रप्मात्रे चैते आदेशा विधीयन्ते तेन भवदादियोगेऽपि भवन्ति । क्वभवान्, कुत्रभवान्, अत्रभवान्, इहभवान्, क्वायुष्मान् कुत्रायुष्मान्, अत्रायुष्मान्, इहायुष्मान्, क्वदीर्घायुः, कुत्रदीर्घायुः, अत्रदीर्घायुः इहदीर्घायुः इत्यादि ॥93॥

न्या०स०–क्वकु०–क्वभवानिति ``त्रप् च'' (7. 2. 92.) इत्यनेन सर्वविभक्तिद्वारेणापि त्रपायोगे क्वाद्यादेशः ।

सप्तम्याः ॥ 7. 2. 94. ॥

सप्तम्यन्तात् किमद्व्यादिसर्वाद्यवैपुल्यबहोस्त्रप् भवति । कस्मिन्कुत्र, सर्वत्र, तत्र बहुषु बहुत्र । पकारस्य पुंवद्भावार्थत्वात् बह्वीषु बहुत्र ॥94॥

किम्–यत् तत्सर्वैका–ऽन्यात्काले दा ॥ 7. 2. 95. ॥

किंयत्तत्सर्व एक अन्य इत्येतेभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यः काले वाच्ये दा प्रत्ययो भवति । कस्मिन् काले कदा, यदा, तदा, सर्वदा एकदा अन्यदा । काल इति किम् ? क्व देशे ॥95॥

सदा–ऽधुनेदानीं–तदानीमेतर्हि ॥ 7. 2. 96. ॥

सदा, अधुना, इदानीं, तदानीम्, एतर्हि, इत्येते शब्दाः काले वाच्ये निपात्यन्ते । सदेति सर्वशब्दाद्दा प्रत्ययः सभावश्चास्य । सर्वस्मिन् काले सदा, सर्वदेत्यपि पूर्वेण । अधुनेति इदमो धुना प्रत्ययोऽकारादेशश्च । अस्मिन्कालेऽधुना, इदानीमिति इदमो दानीं प्रत्ययः इकारादेशश्च, अस्मिन्काले इदानीम्, तदानीमिति तदो दानीम् प्रत्ययः, तस्मिन् काले तदानीम्, एतर्हीति इदमोर्हिः प्रत्ययः एतादेशश्च, अस्मिन्काले एतर्हि ॥96॥

सद्यो–ऽद्य–परेद्यव्यह्नि । 7. 2. 97. ॥

सद्यस् अद्य परेद्यवि इत्येतेऽह्नि काले निपात्यन्ते । सद्य इति समानशब्दात् सप्तम्यन्तादह्नि काले वर्तमानात् द्यस् प्रत्ययः समानस्य च सभावो निपात्यते । समानेऽह्नि, सद्यः, अद्य इति अद्येति, इदं शब्दात् द्यः प्रत्ययः अकारादेशश्चास्य, अस्मिनहनि अद्य । परेद्यवि इति परशब्दात् एद्यवि प्रत्ययः, परस्मिन्नहनि परेद्यवि, सद्य इति केचित्कालमात्रे निपातयन्ति ॥97॥

पूर्वा–ऽपरा–ऽधरोत्तरा–ऽन्या–ऽन्यतरेतगदेद्युस् ॥ 7. 2. 98. ॥

पूर्व, अपर, अधर, उत्तर, अन्य, अन्यतर, इतर, इत्येतेभ्यः सप्तम्यन्तेभ्योऽह्नि काले वर्तमानेभ्य एद्युस् प्रत्ययो भवति । पूर्वस्मिन्नहनि पूर्वेद्युः, अपरेद्युः, अधरेद्युः, उत्तरेद्युः, अन्येद्युः, अन्यतरेद्युः, इतरेद्युः ॥98॥

उभयाद् द्युस्–च ॥ 7. 2. 99. ॥

उभयशब्दादह्नि काले द्युस् चकारादेद्युस् च प्रत्ययो भवति । उभयस्मिन्नहनि उभयद्युः, उभयेद्युः ॥99॥

ऐषमःपरुत्–परारि वर्षे ॥ 7. 2. 100. ॥

ऐषमस्, परुत्, परारि इत्येते वर्षे संवत्सरे काले निपात्यन्ते । ऐषमसिति इदम्शब्दात्सप्तम्यन्ताद्वर्षे वर्तमानात् समसिण् प्रत्ययः इदमश्चेकारादेशः । अस्मिन् संवत्सरे ऐषमः, इमकस्मिन् संवत्सरे ऐषमः । परुदिति पूर्वशब्दात् परशब्दाद्वा उत् प्रत्ययस्तस्य च पर इत्यादेशः । पूर्वस्मिन् परस्मिन् वा संवत्सरे परुत् । परारीति पूर्वतरशब्दात्परतरशब्दाद्वा आरिप्रत्ययः तस्य च परादेशः, पूर्वतरे परतरे वा संवत्सरे परारि ॥100॥

अनद्यतने र्हिः ॥ 7. 2. 101. ॥

सप्तम्यन्तादनद्यतने काले वर्तमानात् यथासंभवं किमद्व्यादिसर्वाद्यवैपुल्यबहोः र्हिः प्रत्ययो भवति । कस्मिन्ननद्यतने काले कर्हि, यर्हि, तर्हि, अन्यर्हि । एतस्मिन् काले एतर्हि, एतदः साको नेष्यते । अमुष्मिन् काले अमुर्हि, इदमस्तु अनेन नेष्यते । बहुषु कालेषु बहुर्हि । किंयत्तदेतदन्येभ्य एवेच्छन्त्यन्ये । काल इत्येव ? यस्मिन्ननद्यतने भोजने यत्र । अनद्यतन इति किम् ? यस्मिन् काले यदा, अनद्यतनेऽपि काले कालमात्रविवक्षायाम् दादिः प्रत्ययो भवति । कदा, यदा, तदा, तदानीम्, अन्यदा सप्तम्यर्थमात्रविवक्षायां त्रबपि भवति । अमुत्र काले ॥101॥

*न्या०स०–अन०–*अनेन नेष्यते इति किंतु ``सदाधुनेदानींतदानीम्'' (7. 2. 96.) इति सामान्यकाले भवति । बहुषु कालेष्विति बहुवचनेनावैपुल्यं दर्श्यते ।

प्रकारे था ॥ 7. 2. 102. ॥

सप्तम्या इति निवृत्तम् । यथासंभवं विभक्तिः । सामान्यस्य भिद्यमानस्य भेदान्तरानुप्रवृत्तो भेदः प्रकारः तस्मिन्वर्तमानात् किमद्व्यादिसर्वाद्यवैपुल्यबहोः था प्रत्ययो भवति । सर्वेण प्रकारेण सर्वथा, यथा, तथा, उभयथा, अन्यथा, अपरथा, इतरथा । बहोस्तु परत्वाद्धा भवति ॥102॥

न्या०स०–प्रका०–बहोस्तु परत्वादिति ``संख्याया धा'' (7. 2. 104.) इत्यनेन ।

कथमित्थम् ॥ 7. 2. 103. ॥

कथमित्थमिति प्रकारे निपात्यते, कथमिति किमस्थापवादस्थम् निपात्यते । केन प्रकारेण कथम्, इत्थमिति इदम् एतदो वा थम् प्रत्यय इदादेशश्च, अनेन एतेन वा प्रकारेण इत्थम् ॥103॥

संख्याया धा ॥। 7. 2. 104. ॥

संख्यावाचिनो नाम्नः प्रकारे वर्तमानाद्धा प्रत्ययो भवति । एकेन प्रकारेण एकधा । द्विधा, त्रिधा, चतुर्धा, पञ्चधा, शतधा, बहुधा, गणधा, कतिधा, तावद्धा ॥104॥

न्या०स०–संख्या०–द्विधेति ``किमः कस्तसादौ च'' (2. 1. 40.) इत्यत्रादिशब्दो व्यवस्था- वाचीति थमवसाना एव तसादयो ग्राह्याः, ``तेनात्र धाप्रत्यये आद्वेरः'' (2. 1. 41.) इत्यत्वं न भवति तसाद्यभावात् ।

विचाले च ॥ 7. 2. 105. ॥

विचलनं विचालः, द्रव्यस्य पूर्वसंख्यायाः प्रच्युतिः संख्यान्तरापतिः एकस्यानेकीभावः अनेकस्य चैकीभावः, तस्मिन् गम्यमाने संख्यावाचिनो नाम्नी धाप्रत्ययो वा भवति । एको राशिर्द्वौ क्रियते द्विधा क्रियते, त्रिधा क्रियते । एको राशिर्द्वौ भवति द्विधा भवति, त्रिधा भवति । एकं राशिं द्वौ करोति, द्विधा करोति, त्रिधा करोति शतेन शतधा ।

'यदि मे यतमानाया वचनं न करिष्यसि ।
उन्मत्त शताधा मूर्धा तवैषोऽद्य फलिष्यति' ॥1॥

अनेक एकः क्रियते एकधा क्रियते । अनेक एको भवति एकधा भवति । अनेकमेकं करोति एकधा करोति । पञ्च राशयस्त्रयो द्वौ एको वा क्रियन्ते त्रिधा द्विधा एकधा वा क्रियन्ते । एवं त्रिधा, द्विधा, एकधा वा भवन्ति । त्रिधा, द्विधा, एकधा वा करोति । एवं बहुधा, गणधा, कतिधा, तावद्धा । चकार उत्तरत्र प्रकारे विचाले चेत्युभयोः समुच्चयार्थः ॥105॥

न्या०स०–विचाले०–प्रकारे विचाले चेति प्रकारोऽवस्थितस्य धर्म्मिणो भवति, विचाले तु अवस्थित एव धर्मी (धर्मः) पृथक्क्रियते ।

वैकाद् ध्यमञ् ॥ 7. 2. 106. ॥

एक इत्येतस्मात् संख्यावाचिनः प्रकारे वर्तमानाद्विचाले च गम्यमाने ध्यमञ् प्रत्ययो भवति वा । एकेन प्रकारेण ऐकध्यम्, एकधा भुङ्क्ते । अनेकमेकं करोति ऐकध्यं करोति, एकधा करोति । वाग्रहणं धार्थम् ॥106॥

न्या०स०–वैका०–संख्यावाचिन इति अन्यादावप्यसौ वर्त्तते इति संख्याविशेषणं सार्थकम् ।

द्वि–त्रेर्धमञेधौ वा ॥ 7. 2. 107. ॥

द्वि, त्रि इत्येताभ्यां संख्यावाचिभ्यां प्रकारे वर्तमानाभ्यां विचाले च गम्यमाने धमञ् एधा इत्येतौ प्रत्ययौ वा भवतः । वचनभेदाद्यथासंख्यं नास्ति । द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां द्वैधम्, त्रैधम्, द्वेधा, त्रेधा भुङ्क्ते । वावचनात् द्विधाः त्रिधा । एकं राशिं द्वौ करोति द्वैधम्, त्रैधम्, द्वेधा त्रेधा, द्विधा, त्रिधा करोति ॥107॥

तद्वति धण् ॥ 7. 2. 108. ॥

द्वित्रिभ्यां संख्यावाचिभ्यां तद्वति प्रकारवति विचालवति चाभिधेये धण् प्रत्ययो भवति । द्वौ प्रकारौ विभागौ वा एषां द्वैधानि, त्रैधानि, राजद्वैधानि, राजद्वैधानि द्वैधीभावः, त्रैधीभावः ॥108॥

वारे कृत्वस् ॥ 7. 2. 109. ॥

संख्याया इति वर्तते, वारो धात्वर्थस्यायौगपद्येन वृत्तिः, तत्कालो वा । तस्मिन्वर्तमानात्सं-ख्याशब्दात् तद्वति वारवति धात्वर्थे क्रियायामर्थे कृत्वस् प्रत्ययो भवति । पञ्च वारा अस्य पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते, षट्कृत्वः, शतकृत्वः सहस्त्रकृत्वोऽधीते । बहुकृत्वः, गणकृत्वः, कतिकृत्वः, तावत्कृत्वः । भुज्यर्थो वारवानिति भुज्यर्थस्य इदं विशेषणम् । तद्वतीत्येव ? भोजनस्य पञ्च वाराः । संख्याया इत्येव ? भूरयो वारा अस्य भोजनस्य ॥109॥

न्या०स०–वारे०–तत्कालो वेति तस्य धात्वर्थस्यायौगपद्येन वृत्तेः कालः । इदं विशेषणमिति पञ्चकृत्व इत्यादिकम् । भोजनस्य पञ्च वारा इति इह वारे पञ्चेति संख्याया वृत्तिरस्ति न तु वारवानुच्यते भोजनस्य वारेण संबन्धमात्रस्यैव विद्यमानत्वात् ।

द्वि–त्रि–चतुरः सुच् ॥ 7. 2. 110. ॥

द्वित्रिचतुर् इत्येतेभ्यः संख्याशब्देभ्यो वारे वर्तमानेभ्यस्तद्वति सुच् प्रत्ययो भवति, कृत्वसोऽपवादः ।

द्वौ वारावस्य द्विर्भुङ्क्ते, त्रिर्भुङ्क्ते, चतुभुङ्क्ते । इह तु द्विस्तावान् प्रासादः द्विर्दशेति गम्यमानेऽपि वारे भवति । चकारः ``सुचो वा'' (2. 3. 10.) इत्यत्र विशेषणार्थः ॥110॥

न्या०स०–द्वित्रि0-गम्यमानेऽपीति धात्वर्थस्यायौगपद्येन वृत्तिर्वारः इह तु न धात्वर्थस्य वृत्तिरपि तु दशेति संख्यार्थस्येत्याशङ्का ।

एकात् सकृच्चास्य ॥ 7. 2. 111. ॥

एकशब्दाद्वारे वर्तमानात्तद्वत्यभिधेये सुच्प्रत्ययः सकृदिति चास्यादेशो भवति । कृत्वंसोऽपवादः । एकवारं भुङ्क्ते सकृद्भुक्ते ॥111॥

बहोर्धाऽऽसन्ने ॥ 7. 2. 112. ॥

बहुशब्दात्संख्यावाचिन आसन्ने अविदूरेऽविप्रकृष्टकाले वारे क्रियाप्रवृत्तौ तत्काले वाविप्रकृष्टे वर्तमानात्तद्वति धा प्रत्ययो भवति ।

बहव आसन्ना वारा अस्य बहुधा भुङ्क्ते, बहुधा पिबति । आसन्न इति किम् ? बहुकृत्वो मासस्य भुङ्क्ते । आसन्नवारेऽपि वारमात्रे द्योत्ये कृत्वस् प्रत्ययो भवत्येव । बहुकृत्वोऽह्नो भुङ्क्ते, आसन्नता तु प्रकरणादिना गम्यते । एके तु गणधा भुङ्क्ते तावद्धा भुङ्क्ते इत्यत्रापीच्छन्ति ॥112॥

दिक्शब्दाद् दिग्देश–कालेषु प्रथमा–पञ्चमी–सप्तम्याः ॥ 7. 2. 113. ॥

दिक्शब्दाद्दिशि प्रसिद्धाच्छब्दाद्दिशि देशे काले च वर्तमानात् प्रथमापञ्चमीसप्तम्यन्तात् स्वार्थे धा प्रत्ययो भवति । प्राची दिग् रमणीया प्राग्रमणीयम् । प्राङ् देशो रमणीयः प्राग्रमणीयम्, प्राङ् कालो रमणीयः प्राग्रमणीयम्, प्राच्या दिश आगतः प्रागागतः, प्राचो देशादागतः प्रागागतः, प्राचः कालादागतः प्रागागतः, प्राच्यां दिशि वसति प्राग्वसति, प्राचि देशे वसति प्राग्वसति, प्राचि काले वसति प्राग्वसति । ``लुबञ्चेः''–(7. 2. 123.) इति धाप्रत्ययस्य लुप् । लुपि

``ङ्यादेः'' (2. 4. 94.) इत्यादिना ङीलुक् । दिक्शब्दादिति किम् ? ऐन्द्री दिक् । दिग्देशकालेष्विति किम् ? प्राङ् वृक्षः । प्रथमापञ्चमीसप्तम्या इति किम् । प्राचीं दिशं पश्यति, प्राच्या दिशा प्रज्वलितम् । प्राच्यै दिशे देहि, प्राच्या दिशः स्वम् । दिग्देशकालेष्विति बहुवचनं प्रथमादिभिर्यथासंख्यनिवृत्त्यर्थम् ॥113॥

*न्या०स०–दिक्श०–*ननु दिग्देशकालेष्विति दिग्ग्रहणं किमर्थं, यो हि दिग्शब्दः स दिशि वर्त्तत एव ?

नैवं, न हि दिग्शब्दो दिश्येव वर्त्ततेऽपि तु देशादावपि, तत्र दिग्ग्रहणं विना देशकाल इत्युच्यमाने यदा दिक्शब्दो देशे काले वा वर्त्तते तदैव प्रत्ययः स्यात्, यदा तु दिशि तदा न स्यात्, ततो दिग्देशकालेषु त्रिष्वेव वर्त्तमाना दिक्शब्दा गृह्यन्ते, तेन केवलायां दिशि ककुभ्प्रभृतिभ्यो न भवति ।

प्राग्रमणीयमिति एषु क्रियाव्ययविशेषणे इत्यनेनाव्ययविशेषणत्वात् नपुंसकत्वम् ।

ऊर्ध्वाद्–रिष्टातौ–उपश्चास्य ॥ 7. 2. 114. ॥

ऊर्ध्वशब्दाद्दिग्देशकालेषु वर्तमानात् प्रथमापञ्चमीसप्तम्यन्तात् रि रिष्टात् इत्येतौ प्रत्ययौ धापवादौ भवतः, अस्य चोर्ध्वशब्दस्योपादेशो भवति । ऊर्ध्वा दिग्देशः कालो वा रमणीयः, उपरि रमणीयम् उपरिष्टात् रमणीयम्, एवम् उपर्यागतः, उपरिष्टादागतः, उपरि वसति उपरिष्टाद्वसति ॥114॥

पूर्वा–ऽवरा–ऽधरेभ्योऽसस्तातौ–पुरवधश्चैषाम् ॥ 7. 2. 115. ॥

पूर्व, अवर, अधर इत्येतेभ्यः प्रत्येकं दिग्देशकालवृत्तिभ्यः प्रथमापञ्चमी–सप्तम्यन्तेभ्योऽस अस्तात् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः, एषां च पूर्वावराधरशब्दानां यथासंख्यं पुर्, अव्, अध् इत्येते आदेशा भवन्ति । पूर्वा दिग्देशः कालो वा रमणीयः पुरो रमणीयम् पुरस्ताद्रमणीयम् । पुर आगतः पुरस्तादागतः, पुरो वसति पुरस्ताद्वसति, अवरा दिग्देशः कालो वा रमणीयः अवो रमणीयम्, अवस्ताद्रमणीयम्, अव आगतः । अवस्तादागतः, अवो वसति, अवस्ताद्वसति । अधरा दिग्देशः कालो वा रमणीयः अधो रमणीयम्, अधस्ताद्रमणीयम्, अध आगतः । अधस्तादागतः, अधो वसति, अधस्ताद्वसति ॥115॥

परा–ऽवरात्–स्तात् ॥ 7. 2. 116. ॥

परअवर इत्येताभ्यां दिग्देशकालेषु वर्तमानाभ्यां प्रथमापञ्चमीसप्तम्यन्ताभ्यां स्वार्थे स्तात्प्रत्ययो भवति । परा दिग्देशः कालो वा रमणीयः परस्ताद्रमणीयम्, परस्तादागतः । परस्तात् वसति, एवमवरस्ताद्रमणीयम्, अवरस्तादागतः, अवरस्ताद्वसति ।।116।।

दक्षिणोत्तराच्चाऽतस् ।। 7. 2. 117. ।।

दक्षिण उतर इत्येताभ्यां चकारात्परावराभ्यां च दिग्देशकालेषु वर्तमानाभ्याम् प्रथमापञ्चमीसप्तम्यन्ताभ्यां स्वार्थेऽतस् प्रत्ययो भवति । दक्षिणशब्दः काले न संभवतीति दिग्देशवृत्तिर्गृह्यते । दक्षिणा दिग्देशो वा रमणीयः दक्षिणतो रमणीयम्, दक्षिणत आगतः, दक्षिणतो वसति, उत्तरा दिग्देशः कालो वा रमणीयः उत्तरतो रमणीयम्, उत्तरत आगतः, उत्तरतो वसति, परतो रमणीयम्, परत आगतः, परतो वसति, अवरतो रमणीम्, अवरत आगतः, अवरतो वसति, एवं चावरशब्दस्य चातूरूप्यं भवति । अकारस्तसोऽस्य भेदार्थः, तेनातः``क्वेहामात्रतसस्त्यच्''–(6. 3. 16.) इति त्यच् न भवति परतो भवं पारतमित्यणेव ।।117।।

न्या०स०–दक्षि०–चातूरूप्यमिति अवः अवस्तात् अवरस्तात् अवरतः ।

अधरा–ऽपराच्चा–ऽऽत् ।। 7. 2. 118. ।।

अधर, अपर इत्येताभ्यां दिग्देशकालवृत्तिभ्यां प्रथमापञ्चमी–सप्तम्यन्ताभ्या–मात्प्रत्ययो भवति चकाराद्दक्षिणोत्तराभ्यां च । अधरा दिग्देशः कालो वा रमणीयः अधराद्रमणीयम्, अधरादागतः, अधराद्वसति । एवं चाधरशब्दस्य त्रैरूप्यम् । अपरा दिग्देशः कालो वा रमणीयः पश्चाद्रमणीयम्, पश्चादागतः, पश्चाद्वसति, दक्षिणपश्चाद्रमणीयम्, दक्षिणपश्चादागतः, दक्षिणपश्चाद्वसति । ``पचोऽपरस्य''–(7. 2. 124.) इत्यादिना पश्चादेशः । दक्षिणाद्रमणीयम्, दक्षिणादागतः, दक्षिणाद्वसति । उत्तराद्रमणीयम्, उत्तरादागतः, उत्तराद्वसति ।।118।।

*न्या०स०*अध०–त्रैरूप्यमिति अधः अधस्तात् अधरात् । पश्चाद्रमणीयमिति पश्चादेशोदन्तः कार्यः पश्चार्धमित्यादिसिद्ध्यर्थं ततः ``अवर्णेवर्णस्य'' (7. 4. 68.) ।

दक्षिणपश्चादिति दक्षिणा च सा अपरा च दक्षिणापरा ``सर्वादयोस्यादौ'' (3. 2. 61.) इति पुं भावे दक्षिणापरा दिग्रमणीया, ``पक्षोऽपरस्य'' (7. 2. 124.) इति सूचनात् तदन्तादपि प्रत्ययः ।

वा दक्षिणात्प्रथमा–सप्तम्या आः ।। 7. 2. 119. ।।

दक्षिणशब्दाद्दिग्देशवृत्तेः प्रथमान्तात्सप्तम्यन्ताच्च आः प्रत्ययो भवति वा । दक्षिणा रमणीयम्, दक्षिणा वसति, पक्षे अतसातौ । दक्षिणतो रमणीयम्, दक्षिणतो वसति, दक्षिणाद्रमणीयम्, दक्षिणाद्वसति । पञ्चम्यां सावकाशावतसातावाकारो बाधेतेति वाग्रहणम् । प्रथमासप्तम्या इति किम् ? दक्षिणत आगतः, दक्षिणादागतः ॥119॥

आ–ऽऽही दूरे ॥ 7. 2. 120. ॥

दिक्शब्दा अवध्यपेक्षाः । तत्रावधेर्दूरे दिशि देशे वा वर्तमानात् प्रथमासप्तम्यन्तात् दक्षिणशब्दादा आहि इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः । ग्रामाद् दूरा दक्षिणा दिग्देशो वा रमणीयः ग्रामाद्दक्षिणा रमणीयम्, दक्षिणाहि रमणीयम्, दक्षिणा वसति, दक्षिणाहि वसति । दूर इति किम् ? दक्षिणः दक्षिणात् दक्षिणा रमणीयम्, आहिर्न भवति । आकारस्तु पूर्वेण सामान्येन विधानाद्भवत्येव । यद्येवमिहाकारग्रहणं किमर्थम् ? विशेषविहितेनाहिना बाधो मा भूदित्येवमर्थम् उत्तरार्थं च । प्रथमासप्तम्या इत्येव ? दक्षिणत आगतः ॥120॥

*न्या०स०–आही०–*अवध्यपेक्षया इति यथायमस्मात् पूर्व इत्यादि ।

वोत्तरात् ॥ 7. 2. 121. ॥

उत्तरशब्दात्–प्रथमासप्तम्यन्तात् आ आहि इत्येतौ प्रत्ययौ वा भवतः, योगविभागाद्दूर इति नानुवर्तते । उत्तरा रमणीयम्, उत्तरा वसति, उत्तराहि रमणीयम्, उत्तराहि वसति, पक्षे अतसातौ, उत्तरतः, उत्तरात् । प्रथमासप्तम्या इत्येव ? उत्तरतः, उत्तरादागतः ॥121॥

अदूरे एनः ॥ 7. 2. 122. ॥

वोत्तरादिति नानुवर्तते, दिक्शब्दादिग्देशकालवृत्तेः प्रथमासप्तम्यन्तादवधेरदूरे वर्तमानादेनः प्रत्ययो भवति । अस्मात् पूर्वा अदूरा दिक् रमणीया देशः कालो वा पूर्वेणास्य रमणीयम्, पूर्वेणास्य वसति, अपरेणास्य रमणीयम्, अपरेणास्य वसति । एवं दक्षिणेन उत्तरेण अधरेण । अदूर इति किम् ? पुरो रमणीयम्, पुरो वसति । प्रथमासप्तम्या इत्येव ? पुरः आगतः । दिग्देशकालमात्रे द्योत्ये ये सामान्यप्रत्यया उक्ता अदूरे अपि सामान्यविवक्षायां ते भवन्त्येव प्रकरणादेश्चादूरता गम्यत इति नार्थो वाग्रहणेन, अन्ये तु दक्षिणोत्तराधरशब्देभ्य एव एनप्रत्ययमिच्छन्ति ॥122॥

न्या०स०–अदूरे०–नानुवर्त्तत इति ``द्वितीयाषष्ठ्यावेनेनानञ्चेः'' (3. 2. 117.) इत्यत्राञ्चेर्वर्जनात् ।

नार्थो वा ग्रहणेनेति एवं तर्हि ``आही दूरे'' (7. 2. 120.) इत्यत्र कथमुक्तं विशेषविहितेन आहिना बाधो माभूदित्येवमर्थमिति अनेनैव प्रकारेण सिद्धत्वात् ?

सत्यं, सोऽपि प्रकारोऽस्तीति ज्ञापनार्थम् ।

लुबञ्चेः ॥ 7. 2. 123. ॥

अञ्चत्यन्ताद्दिक्शब्दाद्दिग्देशकालेषु वर्तमानात्प्रथमा–पञ्चमीसप्तम्यन्ताद्यः प्रत्ययो विहितो धा एनो वा तस्य लुप् भवति । प्राची दिक् दूरादूरा वा रमणीया देशः कालो वा प्राग्रमणीयम्, प्रागागतः, प्राग्वसति । एवं प्रत्यक् अवाक् उदक् । लुपि च सत्यां स्त्रीप्रत्ययस्यापि लुप् भवति ॥123॥

पश्चोऽपरस्य दिक्पूर्वस्य चाऽऽति ॥ 7. 2. 124. ॥

अपरशब्दस्य केवलस्य दिक्पूर्वपदस्य च आति प्रत्यये परे पश्चादेशो भवति । अपरा दिग्देशः कालो वा रमणीयः पश्चाद्रमणीयम् । पश्चादागतः, पश्चाद्वसति । दिक्पूर्वात्, दक्षिणा च सा अपरा च दक्षिणापरा दिग्देशो वा रमणीयः दक्षिणपश्चाद्रमणीयम् । दक्षिणपश्चादागतः, दक्षिणपश्चाद्वसति, उत्तरपश्चाद्रमणीयम्, उत्तरपश्चादागतः, उत्तरपश्चाद्वसति ॥124॥

वोत्तरपदेऽर्धे ॥ 7. 2. 125. ॥

अपरशब्दस्य केवलस्य दिक्पूर्वपदस्य च अर्धशब्दे उत्तरपदे पश्चादेशो वा भवति । अपरमर्थं पश्चार्धम् अपरार्धम् दक्षिणापरस्या अर्धः दक्षिणपश्चार्धः दक्षिणापरार्धः, उत्तरपश्चार्ध, उत्तरापरार्धः, उत्तरपदे इति किम् ? अपरा अर्धे शोभते । असमासोऽयम् । पूर्वपदमुत्तरपदमिति हि समासे भवति ॥125॥

कृ–भ्वस्तिभ्यां कर्म–कर्तृभ्यां प्रागतत्तत्त्वे च्विः ॥ 7. 2. 126. ॥

भूश्च अस्तिश्च भ्वस्ति का च भ्वस्ति च कृभ्वास्तिनी ताभ्यांकृभ्वस्तिभ्याम्, द्विवचनं कर्मकर्तृभ्यामिति यथासंख्यार्थम् । करोतिकर्मणो भ्वस्तिकर्तुश्च प्राक् पूर्वमतस्य तत्त्वेऽभूततद्भावे गम्यमाने कृभ्वस्तिभ्यां च योगे च्विः प्रत्ययो भवति । द्रव्यस्य गुणक्रियाद्रव्यसंबन्धसमूहविकारयोगे प्रागतत्तत्त्वमुदाहार्यम् ।

शुक्लीकरोति पटम्, प्रागशुक्लं शुक्लं करोतीत्यर्थः, शुक्लीक्रियते पटः प्रागंशुक्लः शुक्लः क्रियत इत्यर्थः। शुक्लीकरणम्, शुक्लीभवति पटः। प्रागशुक्लः पट इदानीं शुक्लो भवतीत्यर्थः। शुक्लीभवनम्, शुक्लीस्यात्पटः, प्रागशुक्लः पट इदानीं शुक्लः स्यादित्यर्थः। एवं कारकीकरोति चैत्रम्, कारकीभवति कारकीस्याच्चैत्रः। दण्डीकरोति चैत्रम्, दण्डीभवति दण्डीस्यात् चैत्रः, राजपुरुषीकरोति चैत्रम्, राजपुरुषीभवति राजपुरुषीस्याच्चैत्रः। संधीकरोति गाः, संधीभवन्ति संधीस्युर्गावः, घटीकरोति मृदम्, घटीभवति घटी स्यान्मृत्, पटीकरोति तन्तून्, पटीभवन्ति पटीस्युस्तन्तवः, भस्मीकरोति काष्ठम्, भस्मीभवति काष्ठम्, भस्मीस्यात् काष्ठम्। कृभ्वस्तिभ्यामिति किम् ? अशुक्लं शुक्लं संपादयति, अशुक्लः शुक्लः संपद्यते। कर्मकर्तृभ्यामिति किम् ? प्रागदेवकुले इदानीं देवकुले करोति, प्रागदेवकुले इदानीं देवकुले भवति। कथं समीपीभवति, दूरीभवति, अभ्यासीभवति ? अत्रापि उपचारात्तत्स्थे द्रव्ये वर्तमानानां समीपादीनां कर्तृत्वम्। प्रागतत्तत्त्व इति किम् ? शुक्लं करोति। शुक्लो भवति। शुक्लः स्यात्। प्राग्ग्रहणं किम् ? अशुक्लं शुक्लं करोति। एककालमतत्तत्त्वे न भवति। भवति हि एको भावः कश्चिदेककालं शुक्लोऽशुक्लश्च देशभेदन चित्रपटीवत्। अभद्रं भद्रं करोति भद्राकरोति शिरः, अनिष्कुलं निष्कुलं करोति निष्कुलाकरोति दाडिममित्यत्र परत्वात् डाजेव ॥126॥

न्या०स०—कृभ्व०—प्रागतत्तत्वे इति, तस्य भावस्तत्त्वं, न स असः, प्राग् असः प्रागसः, ``अव्ययं प्रवृद्धादिभिः'' (3. 1. 48.) इति सः, प्रागतस्य तत्त्वं प्रागतत्तत्त्वं तस्मिन्।

दण्डीकरोतीति असत्पर इत्यधिकारस्य ``रात् सः'' (2. 1. 90.) इत्यवस्थितत्वात् ``दीर्घश्च्वि०''(4. 3. 108.) इति दीर्घः। कथमिति नन्वत्र प्रागतत्तत्वं नास्ति प्रकृतिविकाराभावात्, नह्यसमीपं भवति किं तर्हि असमीपस्थं समीपस्थं भवतीति समीपादिभ्यः च्विः प्रत्ययो वक्तव्य इत्याशङ्क्याह उपचारादिति समीपशब्दः समीपस्थे वस्तुनि वर्त्तते इत्यर्थः।

अरुर्मनश्चक्षुश्चेतो–रहो–रजसां लुक् च्वौ ॥ 7. 2. 127. ॥

अरुस्, मनस्, चक्षुस्, चेतस्, रहस्, रजस् इत्येतेषां च्वौ परेऽन्तस्य लुग्भवति। अनरुः अरुः करोति अरूकरोति, अरूभवति अरूस्यात्, महारूकरोति, महारूभवति, महारूस्यात्, मनीकरोति, मनीभवति मनीस्यात्, उन्मनीकरोति, उन्मनीभवति, उन्मनीस्यात्, चक्षूकरोति, चक्षुभवति चक्षुस्यात्, उच्चक्षूकरोति, उच्चक्षूभवति, उच्चक्षूस्यात्, चेतीकरोति चेतीभवति, चेतीस्यात्, विचेतीकरोति, विचेतीभवति, विचेतीस्यात्, रहीकरोति। रहीभवति, रहीस्यात्, विरहीकरोति, विरहीभवति, विरहीस्यात्, रजीकरोति, रजीभवति, रजीस्यात्,

विरजीकरोति, विरजीभवति, विरजीस्यात् । च्याविति किम् ? अरुः करोति । बहुवचनं तदन्तानामपि परिग्रहार्थम्, अन्यथा ग्रहणवता न तदन्तविधिरित्युपतिष्ठेत् ॥127॥

इसुसोर्बहुलम् ॥ 7. 2. 128. ॥

इस् उस् इत्येवमन्तस्य च्वौ परे बहुलमन्तस्य लुक् भवति ।

असर्पिः सर्पिः करोति सर्पीकरोति नवनीतम्, धनूभवति वंशः । न च भवति सर्पिर्भवति धनुर्भवति । बहुलग्रहणं प्रयोगानुसरणार्थम् ॥128॥

व्यञ्जनस्यान्त ईः ॥ 7. 2. 129. ॥

व्यञ्जनान्तस्य च्वौ परे बहुलमीकारोऽन्तो भवति ।

दृषदीभवति शिला, समिधीभवति काष्ठम् । न च भवति दृषद्भवति, समिद्भवति ॥129॥

*न्या०स०—व्यञ्ज०—*नन्वन्तग्रहणं किमर्थम् ? सत्यं, व्यञ्जनादीरिति कृते प्रकृतेः प्रत्ययत्वात् दरदोऽपत्यं स्त्री ``पुरुमगध'' (6. 1. 116.) इत्यणि ``द्रेरञणो'' (6. 1. 123.) इति लुपि अदरद् दरद् भवतीति च्वावनेन ईप्रत्यये ``जातिश्च णि'' (3. 2. 51.) इति पुंभावः स्यात्ततश्च दारदीति स्यात्, दरदीति चेष्यते ।

व्याप्तौ स्सात् ॥ 7. 2. 130. ॥

कृभ्वस्तिभ्यां कर्मकर्तृभ्यां प्रागतत्तत्त्वे इति वर्तते । एतस्मिन्विषये सकारादिः सात् प्रत्ययो भवति, व्याप्तौ प्रागतत्तत्त्वस्य चेद्व्याप्तिः सर्वात्मना द्रव्येणाभिसंबन्धो गम्यते । द्विसकारपाठः पत्वनिषेधार्थः । सर्वं काष्ठं प्रागनग्निमग्नि करोति अग्निसात्करोति काष्ठम्, अग्निसाद्भवति, अग्निसात् स्यात् । उदकसात्करोति लवणम्, उदकसाद्भवति, उदकसात् स्यात् ।

व्याप्ताविति किम् ? अग्नीकरोति काष्ठम्, अग्नीभवति अग्नीस्यात्काष्ठम् । सत्यामपि वस्तुनि व्याप्तौ प्रागतत्तत्त्वमात्रे च्विर्भवत्येवेति नार्थो वावचनेन । अग्नीकरोति, अग्नीभवति, अग्नीस्यात्काष्ठम्, उदकीकरोति, उदकीभवति उदकीस्याल्लवणम् । व्याप्तिस्तु प्रकरणादेर्गम्यते ॥130॥

जातेः संपदा च ॥ 7. 2. 131. ॥

कृभ्वस्तिभिः संपदा च योगे करोतिकर्मणो भ्वस्तिकर्तुः संपदिकर्तुश्च प्रागतत्तत्त्वेन जातेः

सामान्यस्य व्याप्तौ स्सात्प्रत्ययो भवति ।

अस्यां सेनायां सर्वं शस्त्रमग्निसात्करोति दैवम्, अस्यां सेनायां सर्वं शस्त्रमग्निसाद्भवति, अग्निसात् स्यात्, अस्यां सेनायां सर्वं शस्त्रमग्निसात्संपद्यते । वर्षासु सर्वं लवणमुदकसात्करोति मेघः, उदकसाद्भवति, उदकसात् स्यात्, उदकसात्संपद्यते । यथव ह्येकस्य द्रव्यस्य सर्वावयवाभिसंबन्धे प्रागतत्तत्त्वेन व्याप्तिर्भवति तथा जातेः सामान्यस्य सर्वव्यक्तिसंबन्धे भवति । एवं च व्याप्ताविति सामान्योपादानात् कृभ्वस्तियोगे पूर्वेणैव स्सात्सिद्धः संपद्यर्थं तु वचनम्, चकार उत्तरत्रोभयोः समुच्चयार्थः ॥131॥

तत्राऽधीने ॥ 7. 2. 132. ॥

कृभ्वस्तिभ्यां संपदा चेत्यनुवर्तते, कर्मकर्तृभ्यां प्रागतत्तत्त्वे इति च निवृत्तम् । तत्रेति सप्तम्यन्तादधीने आयत्तेऽर्थे कृभ्वस्तिसंपद्भिर्योगे स्सात्प्रत्ययो भवति ।

राजन्यधीनं करोति राजसात्करोति, राजस्वामिकं करोतीत्यर्थः, राजसाद्भवति, राजसात्स्यात्, राजसात्संपद्यते । आचार्यसात्करोति, आचार्यसाद्भवति, आचार्यसात् स्यात्, आचार्यसात्संपद्यते ॥132॥

*न्या०स०—तत्र०—*निवृत्तमिति तत्रेति भणनात् कर्म्मकर्तृभ्यामिति अधीने इत्यभिनवार्थोपादानाच्च प्रागतत्तत्व इति ।

देये त्रा च ॥ 7. 2. 133. ॥

तत्रेति सप्तन्यन्ताद्दयोपाधिकेऽधीनेऽर्थे कृभ्वस्तिसंपद्भिर्योगे त्राप्रत्ययो भवति । चकारो न स्सातोऽनुकर्षणार्थः तस्याधीनतामात्रविवक्षायां पूर्वेणैव सिद्धत्वात् । किंतु कृभ्वस्तिभ्यां संपदा चेत्यस्यानुकर्षणार्थः, तेनोत्तरत्र नानुवर्तते ।

देवेऽधीनं देयं करोति देवत्रा करोति द्रव्यम्, देवाय दातव्यमिति यत् स्थापितं तदिदानीं देवाय ददातीत्यर्थः, देवेऽधीनं देयं भवति देवत्रा भवति । देवत्रा स्यात्, देवत्रा संपद्यते, गुरुत्रा करोति, गुरुत्रा भवति, गुरुत्रा स्यात्, गुरुत्रा संपद्यते । देय इति किम् ? राजसाद्भवति राष्ट्रम् ॥133॥

सप्तमी–द्वितीयाद् देवादिभ्यः ॥ 7. 2. 134. ॥

सप्तम्यन्तेभ्यो द्वितीयान्तेभ्यश्च देवादिभ्यस्त्रा प्रत्ययो वा भवति स्वार्थे ।

देवेषु वसति देवत्रा वसति, देवेषु भवति देवत्रा भवति, देवेषु स्याद्देवत्रा स्यात्, देवान् करोति देवत्रा करोति, देवान् गच्छति देवत्रा गच्छति । एवं मनुष्यत्रा वसति, मनुष्यत्रा गच्छति, मर्त्यत्रा वसति मर्त्यत्रा गच्छति, पुरुषत्रा वसति, पुरुषत्रा गच्छति, पुरुत्रा वसति, पुरुत्रागच्छति, बहुत्रा वसति, बहुत्रा गच्छति । देवादयः शिष्टप्रयोगगम्याः ।।134।।

तीय–शम्ब–बीजात् कृगा कृषौ डाच् ।। 7. 2. 135. ।।

तीयप्रत्ययान्तात् शम्बबीज इत्येताभ्यां च करोतिना योगे कृषिविषये डाच् प्रत्ययो भवति ।

द्वितीयं वारं करोति क्षेत्रं द्वितीया करोति क्षेत्रम्, द्वितीयं वारं कृषतीत्यर्थः, तृतीयाकरोति क्षेत्रम्, तृतीयं वारं कृषतीत्यर्थः । शम्बाकरोति क्षेत्रम्, अनुलोमकृष्टं पुनस्तिर्यक् कृषतीत्यर्थः । अन्ये त्वाहुः शम्बसाधनः कृषिरिति शम्बेन कृषतीत्यर्थः ।

एके तु शम्बाकरोति कुलिवमित्युदाहरन्ति । लोहकं वा वर्ध्रकुण्डलिका वा शंबम्, तत् कुलिवस्य करोतीत्यर्थः । बीजाकरोति क्षेत्रम्, उप्ते पश्चाद्बीजैः सह कृषतीत्यर्थः । यदाप्येवं विग्रहः क्षेत्रस्य द्वितीयां कृषिं, कर्षं, कर्षणं करोति । शम्बं करोति क्षेत्रस्य कुलिवस्य वा बीजं करोति क्षेत्रस्येति तदापि द्वितीयाकरोति क्षेत्रमित्यादौ क्षेत्रात् द्वितीया भवति । द्वितीयाकरोतीत्यादयो हि मुण्डयतीत्यादिवत् क्रियाशब्दास्तेषां च क्षेत्रादि कर्म भवति । कृगेति किम् ? द्वितीयं वारं कृषति । कृषाविति किम् ? द्वितीयं पटं करोति । चकारो, ``डाच्यादौ''–(7. 2. 149.) इत्यत्र विशेषणार्थः ।।135।।

न्या०स०–तीय०–प्रत्ययान्तादिति ``द्वस्तीयः'' (7. 1. 165.) इत्यादिविहितात् यस्तु मुखतीय इत्यादौ तीयस्तदन्तादनर्थकत्वान्न भवति ।

शम्बसाधन इति शम्बो हलभेदः स साधनं कारकं यस्य, यदाप्येवं विग्रह इति ननु प्रथमं षष्ठी डाचि उत्पन्ने कथं द्वितीयेत्याशङ्का ।

संख्यादेर्गुणात् ।। 7. 2. 136. ।।

संख्याया आद्यवयवात्परो यो गुणशब्दस्तदन्तात् कृगा योगे कृषिविषये डाच् प्रत्ययो भवति ।

द्विगुणं कर्षणं करोति क्षेत्रस्य द्विगुणाकरोति क्षेत्रम्, त्रिगुणाकरोति क्षेत्रम् । क्षेत्रस्य द्विगुणं त्रिगुणं च विलेखनं करोतीत्यर्थः । कृषावित्येव । द्विगुणां रज्जुं करोति ।।136।।

समयाद्यापयानाम् ॥ 7. 2. 137. ॥

समयशब्दाद्यापनायां कालहरणे गम्यमाने कृगा योगे डाच् प्रत्ययो भवति। समयाकरोति तन्तुवायः। अद्य श्वस्ते पटं दास्यामीति कालक्षेपं करोति इत्यर्थः। यापनायामिति किम् ? समयं करोति ॥137॥

सपत्र–निष्पत्रादतिव्यथने ॥ 7. 2. 138. ॥

सपत्रनिष्पत्र इत्येताभ्यां कृगा योगेऽतिव्यथनेऽतिपीडने गम्यमाने डाच् प्रत्ययो भवति।

सपत्राकरोति मृगम्, पत्रं शरः सह पत्रमनेनेति सपत्रः, तं करोति शरमस्य शरीरे प्रवेशयतीत्यर्थः। निष्पत्राकरोति, निर्गतं पत्रमस्मादिति निष्पत्रः तं करोति शरमस्यापरपार्श्वेन निष्क्रमयतीत्यर्थः, सपत्राकरोति वृक्षं वायुः, निष्पत्राकरोति वृक्षं वायुः, अत्र पत्त्रशातनमेवातिव्यथनम्। सपत्त्रकरोतीत्यपि मङ्गलाभिप्रायेण वृक्षस्य निष्पत्त्राकरणमेवोच्यते। यथा दीपो नन्दतीति विध्वंसः। अतिव्यथन इति किम् ? सपत्रं करोति वृक्षं जलसेकः, निष्पत्रं करोति वृक्षतलं भूमिशोधकः ॥138॥

निष्कुलान्निष्कोषणे ॥ 7. 2. 139. ॥

निष्कुलशब्दात्कृगा योगे निष्कोषणेऽर्थे डाच् प्रत्ययो भवति।

निष्कृष्टं कुलमवयवसंघातोऽस्मादिति निष्कुलम्, अन्तरवयवानां, बहिर्निष्कासनं निष्कोषणम्, निष्कुलं करोति निष्कुलाकरोति दाडिमम् निष्कुष्णातीत्यर्थः। एवं निष्कुलाकरोति पशुं चण्डालः। निष्कोषण इति किम् ? निष्कुलं करोति शत्त्रुम् ॥139॥

प्रिय–सुखादानुकूल्ये ॥ 7. 2. 140. ॥

प्रियसुख इत्येताभ्यां कृगा योगे आनुकूल्ये गम्यमाने डाच् प्रत्ययो भवति।

प्रियाकरोति गुरुम्, सुखाकरोति गुरुम्। गुरोरानुकूल्यं करोति तमाराधयतीत्यर्थः। आनुकूल्य इति किम् ? प्रियं करोति सामवचनम्, सुखं करोत्यौषधपानम् ॥140॥

*न्या०स०–प्रिय०–*सामवचनमिति आनुकूल्यं हि चेतनधर्म्मः, तदत्र नास्ति एवमुत्तरेऽपि।

दुःखात् प्रातिकूल्ये ॥ 7. 2. 141. ॥

दुःखशब्दात् प्रातिकूल्ये गम्यमाने कृगा योगे डाच् प्रत्ययो भवति ।

दुःखाकरोति शत्रुम्, शत्रोः प्रातिकूल्यं करोति, प्रतिकूलमाचरति । अनभिमतानुष्ठानेन तं पीडयतीत्यर्थः । प्रातिकूल्य इति किम् ? दुःखं करोति रोगः ॥141॥

शूलात् पाके ॥ 7. 2. 142. ॥

शूलशब्दात्पाके गम्यमाने कृगा योगे डाच् प्रत्ययो भवति । शूलाकरोति मांसम्, शूले पचतीत्यर्थः । पाक इति किम् ? शूलं करोति कदन्नम् ॥142॥

सत्यादशपथे ॥ 7. 2. 143. ॥

सत्यशब्दाच्छपथादन्यत्र वर्तमानात् कृगा योगे डाच् प्रत्ययो भवति । सत्याकरोति वणिग् भाण्डम्, कार्षापणादिदानेन मयावश्यमेवैतत् क्रेतव्यमिति विक्रेतारं प्रत्याययति । अशपथ इति किम् ? सत्यं करोति । यदीदमेवं न स्यात्, इदं ये इष्टं माभूत्, अनिष्टं वा भवत्विति शपथं करोतीत्यर्थः ॥143॥

मद्र–भद्राद् वपने ॥ 7. 2. 144. ॥

मद्रभद्रशब्दाभ्यां वपने मुण्डने गम्यमाने कृगा योगे डाच् प्रत्ययो भवति ।

मद्रं वपनं करोति मद्राकरोति, भद्राकरोति नापितः । शिशोर्मङ्गल्यं केशच्छेदनं करोतीत्यर्थः । मद्रभद्रशब्दौ मङ्गल्यवचनौ । वपन इति किम् ? मद्रं करोति, भद्रं करोति साधुः ॥144॥

अव्यक्तानुकरणादनेकस्वरात् कृ–भ्वस्तिनाऽनितौ द्विश्च ॥ 7. 2. 145. ॥

यस्मिन् ध्वनावकारादयो वर्णा विशेषरूपेण नाभिव्यज्यन्ते सोऽव्यक्तः तस्यानुकरणमव्यक्तानुकरणम्, तस्मादनेकस्वरादनितिपरात् कृभूअस्ति इत्येतैर्धातुभिर्योगे डाच् प्रत्ययो वा भवति द्विश्चास्य प्रकृतिरुच्यते । प्रत्ययस्य द्विर्वचनानर्थक्यात् ।

पटत् करोति पटपटा करोति, पटपटा भवति, पटपटा स्यात्, दमत् करोति, दमदमाकरोति, दमदमाभवति, दमदमास्यात्, एवं मसत् करोति, मसमसा करोति, खरटत् करोति, खरटखरटा करोति । अव्यक्तवर्णस्यापि कथंचिद् ध्वनिमात्रसादृश्यात् व्यक्तवर्णमनुकरणं

भवति। अव्यक्तानुकरणादिति किम् ? दृषत्करोति। अत्र व्यक्तवर्णमनुकार्यम्। अनेकस्वरादिति किम् ? श्रत्करोति, खाट् करोति। कृभ्वस्तिनेति किम् ? पटज्जायते। अनिताविति किम् ? पटिति करोति ॥145॥

*न्या०स०–अव्यक्त०–*आनर्थक्यादिति यदि प्रत्ययस्य द्विर्भक्तिः क्रियते तथापि समानानामिति दीर्घत्वे एकस्यैव श्रुतिर्भवति । अव्यक्तवर्णस्यापीति अथ पटदित्यादि व्यक्तवर्णमव्यक्तवर्णस्य कथमनुकरणमनुकरणस्यानुकार्यसदृशत्वादन्यथातिप्रसङ्गः स्यादित्याह–कथंचिदिति, पटिति करोतीति न च परत्वात् ''इतावतो लुक्'' (7. 2. 146.) इति लुका भाव्यमिति वाच्यम्, कृभ्वस्तीनामभावे तस्य चरितार्थत्वात्।

इतावतो लुक् ॥ 7. 2. 146. ॥

अव्यक्तानुकरणस्यानेकस्वरस्य योऽत् इत्ययं शब्दस्तस्य इतिशब्दे परे लुग् भवति।

पटत् इति पटिति, झटत् इति झटिति, एवं छमत् छमिति, घटत् घटिति, असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे इति लुकि सति तृतीयत्वं न भवति। अव्यक्तानुकरणस्येत्येव, जगदिति। अनेकस्वरस्येत्येव, छत् इति छदिति। स्रत् इति स्रदिति। अत इति किम् ? मरुत् इति मरुदिति। शरद् इति शरदिति। इताविति किम् ? पटदत्र। कथं घटदिति गम्भीरमम्बुदैर्नदितं, चकदिति तडितापि कृतम् इति। दकारान्तावेतौ द्रष्टव्यौ ॥146॥

न द्वित्वे ॥ 7. 2. 147. ॥

अव्यक्तानुकरणस्यानेकस्वरस्य द्वित्वे द्विर्वचने कृते इतिशब्दे परे योऽत् शब्दस्तस्य लुग् न भवति। पटत्पटदिति, घटत्घटदित्ति, झटत्झटदिति। वीप्सायां द्विर्वचनम्। द्वित्वे इति किम् ? पटिति। कथं चटच्चटिति ? धगद्धगिति पटत्पटिति नात्र द्वित्वमपि तु समुदायानुकरणमिति भवति ॥147॥

तो वा ॥ 7. 2. 148. ॥

द्वित्वे सति अव्यक्तानुकरणस्यानेकस्वरस्य योऽच्छब्दस्तस्य संबन्धिनस्तकारस्येतौ परे वा लुग् भवति। पटत्पटेति करोति, पटत्पटदिति करोति, घटद्घटेति करोति, घटत्घटदिति करोति ॥148॥

डाच्यादौ ।। 7. 2. 149. ।।

अव्यक्तानुकरणस्यानेकस्वरस्याच्छब्दान्तस्य द्वित्वे सति आदौ पूर्वपदे योऽतस्तकारस्तस्य डाचि परे लुग्भवति । पटपटा करोति, दमदमा करोति । आदाविति किम् ? पतपत्ता करोति । डाच्यन्त्यस्वरादिलोपे मूलप्रकृतेस्तकारस्य लुग् न भवति ।।149।।

बह्वल्पार्थात्–कारकादिष्टा–ऽनिष्टे प्शस् ।। 7. 2. 150. ।।

बह्वर्थादल्पार्थाच्च कारकाभिधायिनो नाम्नः प्शस् प्रत्ययो वा भवति यथासंख्यमिष्टेऽनिष्टे च विषये ।

इष्टं प्राशित्रादि, अनिष्टं श्राद्धादि, ग्रामे बहवो ददति, बहुशो ददति, बहु धनं ददाति, बहुशो धनं ददाति, विवाहे बहून् कार्षापणान् ददाति, बहुशः कार्षापणान् ददाति, विवाहे बहुभिर्भुक्तमतिथिभिः बहुशो भुक्तमतिथिभिः । बहुभ्योऽतिथिभ्यो ददाति बहुशोऽतिथिभ्यो ददाति, बहुभ्यो ग्रामेभ्य आगच्छति बहुशो ग्रामेभ्य आगच्छति । बहुषु ग्रामेषु वसति, बहुशो ग्रामेषु वसति । एवं भूरिशः, प्रभूतराः, गणशः । अल्पार्थे, अल्प आगच्छति अल्पश आगच्छति । अल्पं घनं ददाति, अल्पशो धनं ददाति । श्राद्धे अल्पैर्भुक्तम् अल्पशो भुक्तम्, अल्पेभ्यो ददाति, अल्पशो ददाति, अल्पेभ्य आगतम्, अल्पेषु वसति, अल्पशो वसति, एवं स्तोकशः, कतिपयशः । बह्वल्पार्थादिति किम् ? गां ददाति, अश्वं ददाति । कारकादिति किम् ? बहूनां स्वामी । इष्टानिष्ट इति किम् ? बहु ददाति श्राद्धे, अल्पं ददाति प्राशित्रादौ । पकारः पित्कार्यार्थः ।।150।।

संख्यैकार्थाद् वीप्सायां शस् ।। 7. 2. 151. ।।

संख्यावाचिन एकत्वविशिष्टार्थवाचिनश्च कारकाभिधायिनो नाम्नो वीप्सायां द्योत्यायां शस् प्रत्ययो भवति । वीप्सायां द्विर्वचनस्य प्राप्तौ तदपवादोऽयम्, वाधिकारात्पक्षे द्विर्वचनमपि भवति ।

एकैकं ददाति-एकशो ददाति द्वौद्वौ द्विशः, एवं त्रिशः, तावच्छः, कतिशः, गणशः । एकैकेन दीयते एकशो दीयते । द्वाभ्यां द्वाभ्यां द्विशः, त्रिशः, तावच्छः, एवं कतिशः, गणशः । एकार्थ, माषं माषं देहि माषशो देहि, कार्षापणशः, पणशः, पादशः, पलशः, प्रस्थश, अर्धशः, पर्वशः, तिलशः संधशः पूगशः, वृन्दशः पङ्क्तिशः, वनशः प्रविशतिः, कूपीशः खनति, कुम्भीशः कलशीशो ददाति । क्रमश इति क्रमवतां भेदात् क्रमेणक्रमेणेति

वीप्सा भवति । संख्यैकार्थादिति किम ? माषौ माषौ ददाति । वीप्सायामिति किम् ? द्वौ ददाति माषं ददाति तानेकैकशः पृच्छेत एकैकशोऽपि निघ्नन्ति एकैकशो ददातीति वीप्सायां द्विरुक्तात्पूर्वेणाल्पार्थादिति प्शस् । वीप्सितवीप्सायां वानेनैव शस् । एकैकम् एकैकं पृच्छेदित्यर्थः । कारकादित्येव ? द्वयोर्द्वयोः स्वामी । माषस्य माषस्येष्टे ॥151॥

*न्या०स०—संख्यै०—*एकैकश इति ``प्लुप्चादावेकस्य स्यादेः'' (7. 4. 81.) इति द्विर्वचने आदिविभक्तेर्लुक् ।

संख्यादेः पादादिभ्यो दान–दण्डे चाऽकल्लुक् च ॥ 7. 2. 152. ॥

संख्यायाः प्रकृत्याद्यवयवात्परे ये पादादयस्तदन्तान्नाम्नो दानदण्डे चकाराद्वीप्सायां च विषयेऽकल् प्रत्ययो भवति, तत्संनियोगे च प्रकृतेरन्तस्य लुग्भवति ।

द्वौ द्वौ पादौ ददाति द्विपदिकां ददाति, त्रिपदिकां ददाति, द्वे शते व्यवसृजति, द्विशतिकां व्यवसृजति । द्विमोदकिकाम् त्रिमोदकिकाम् त्यजति, दण्डे द्वौपदौ दण्डितः द्विपदिकां दण्डितः, एवं त्रिपदिकाम् द्विशतिकाम् त्रिशतिकाम्, द्विमोदकिकाम्, त्रिमोदकिकाम्, वीप्सायां, द्वौ द्वौ पादौ भुङ्क्ते द्विपदिकां भुङ्क्ते, त्रिपदिकाम्, द्विशतिकाम्, त्रिशतिकाम्, द्विमोदकिकाम्, त्रिमोदकिकाम् । संख्यादेरिति किम् ? पादं ददाति, पादं दण्डितः, पादं पादं भुङ्क्त । पादादिभ्य इति किम् ? द्वौ द्वौ माषौ ददाति । दानदण्डे चेति किम् ? द्वौ पादौ भुङ्क्ते । चकारो वीप्साया अनुकर्षणार्थः । लकारः स्त्रीत्वार्थः । लुग्वचनम् अनिमित्तलुगर्थम्, तेन पादः पद्भावो भवति । परनिमित्तायां तु लुचि स्थानिवद्भावो न स्यात । पादादयः प्रयोगतोऽनुसर्तव्याः ॥152॥

*न्या०स०—संख्या०—*अनिमित्तलुगर्थमिति नन्वकलि ``अवर्णेवर्णस्य'' (7. 4. 68.) इति प्रकृत्यन्तस्य लुप् भविष्यति किमर्थं लुग्वचनमित्याशङ्का ।

तीयाट्टीकण् न विद्या चेत् ॥ 7. 2. 153. ॥

तीयप्रत्ययान्तात्स्वार्थे टीकण् प्रत्ययो वा भवति, न चेत्तीयान्तस्य विद्या विषयो भवति ।

द्वितीयम् द्वैतीयीकम्, तृतीयं तार्तीयीकम् । टकारो ङ्यर्थः । द्वैतीयीकी, तार्तीयीकी शाटी न विद्या चेदिति किम् ? द्वितीया विद्या, तृतीया विद्या, मुखतीयः पार्श्वतीय इति

तीयस्यानर्थकत्वान्न भवति ॥153॥

*न्या०स०–तीया०–*मुखतीय इत्यादि मुखे मुखतः आद्यादिभ्यस्तस् मुखतो भवः गहादिभ्य ईयः ``प्रायोऽव्ययस्य'' (7. 4. 65.) इत्यन्तलोपः, एवं पार्श्वतीयः ।

निष्फले तिलात् पिञ्ज–पेजौ ॥ 7. 2. 154. ॥

तिलशब्दान्निष्फलेर्थे वर्तमानात् पिञ्जपेज इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः । निष्फलस्तिलः तिलपिञ्जः, तिलपेजः ॥154॥

प्रायोऽतोर्द्वयसट्–मात्रट् ॥ 7. 2. 155. ॥

अनुप्रत्ययान्तात् स्वार्थे द्वयसट् मात्रट् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः प्रायः । यावदेव यावद्द्वयसम्, यावन्मात्रम्, तावदेव तावद्द्वयसम्, तावन्मात्रम्, एतावदेव एतावद्वयसम्, एतावन्मात्रम्, कियद्द्वयसम्, कियन्मात्रम् । प्रायोग्रहणं प्रयोगानुसरणार्थम् ॥155॥

*न्या०स०–प्रायो०–*यावद्द्वयसमिति स्त्रियां यावतीद्वयसी, सामान्यविवक्षायां प्रत्यये पश्चात् स्त्रीत्वे यावद्द्वयसीत्यपि ।

वर्णा–व्ययात्–स्वरूपे कारः ॥ 7. 2. 156. ॥

वर्णेभ्योऽव्ययेभ्यश्च स्वरूपार्थवृत्तिभ्यः स्वार्थे कारः प्रत्ययो भवति ।

अकारः, इकारः, ककारः। खकारः । ककारादिष्वकार उच्चारणार्थः । अव्यय, ओंकारः, स्वाहाकारः, स्वधाकारः, वषट्कारः, हन्तकारः, नमस्कारः, चकारः, इतिकारः, एवकारः, हुंकारः, पूत्कारः, सीत्कारः, सूत्कारः ।

ननु यथा हुंकृतिः, पूत्कृतिः, सूत्कृतम्, सीत्कृतमिति भवन्ति तथा कारशब्देन घञन्तेन समासे ओंकारादयो भविष्यन्ति ? सत्यम्, किंतु ओंकारमुच्चारयति वषट्कारमभिधत्ते हुकारं करोतीत्यादि न सिध्यति ।

स्वरूप इति किम् ? अः विष्णुः, इः कामः कः ब्रह्मा, खम् आकाशम्, ओं ब्रह्म, वषडिन्द्राय, स्वाहाग्नये, स्वधा पितृभ्य इत्यर्थपरतायां न भवति । प्रायोऽनुवृत्तेरन्यत्रापि भवति । मन एव मनस्कारः, अहमेवाहंकारः ॥156॥

*न्या०स०–वर्णा०–*नमस्कार इति कस्कादित्वात् सः न तु ``प्रत्यये'' (2. 3. 6.) इत्यनेन तत्रानव्ययस्येत्यधिकारात् ।

ओकारमुच्चारयतीति यद्यत्र कृ इत्यस्य कार इति निष्पद्यते तदा ओमिति करणस्य किमुच्चारणं भवतीति न संगच्छते । मनस्कार इति मनस् शब्दः स्वरादित्वात् अव्ययश्चित्ताभोगे वर्त्तते, कस्कादित्वात् सः ।

रादेफः ॥ 7. 2. 157. ॥

रशब्दादेफः प्रत्ययो वा भवति । रेफः, प्रायोवचनाद्रकार इत्यपि ॥157॥

नाम–रूप–भागाद् धेयः ॥ 7. 2. 158. ॥

नामन्, रूप, भाग इत्येतेभ्यः स्वार्थे धेयः प्रत्ययो वा भवति ।
नामैव नामधेयम्, रूपमेव रूपधेयम्, भाग एव भागधेयम् ॥158॥

मर्तादिभ्यो यः ॥ 7. 2. 159. ॥

मर्त इत्येवमादिभ्यः स्वार्थे यः प्रत्ययो वा भवति ।

मर्त एव मर्त्यः, सूर एव सूर्यः, एवं क्षेम्यः, यविष्यः, भाग्यम्, अपराध्यम्, रव्यम्, लव्यम् । मर्तादयः प्रयोगगम्याः ।159।

नवादीन–तन–त्नं च नू चास्य ॥ 7 . 2. 160. ॥

नवशब्दात्स्वार्थे ईन, तन, त्न चकाराद्यश्च प्रत्यया वा भवन्ति, तत्संनियोगे च नवशब्दस्य नू इत्ययमादेशो भवति । नवमेव नवीनम्, नूतनम्, नूत्नम्, नव्यम् ॥160॥

प्रात्-पुराणे नश्च ॥ 7. 2. 161. ॥

प्रशब्दात्पुराणेऽर्थे वर्तमानात् स्वार्थे नः प्रत्ययो भवति, चकारादीनतनत्नाश्च ।
प्रगतं कालेनेति प्रशब्देन पुराणमुच्यते, प्रणं, प्रीणं, प्रतनम्, प्रत्नम् ॥161॥

देवात् तल् ॥ 7. 2. 162. ॥

देवशब्दात् स्वार्थे तल् प्रत्ययो वा भवति ।

देव एव देवता, लित्करणं स्त्र्यर्थम् ।।162।।

होत्राया ईयः ।। 7. 2. 163. ।।

होत्राशब्दात्स्वार्थे ईयः प्रत्ययो वा भवति । होत्रैव होत्रीयम् ।।163।।

भेषजादिभ्यष्ट्यण् ।। 7. 2. 164. ।।

भेषज इत्येवमादिभ्यः स्वार्थे ट्यण् प्रत्ययो भवति वा ।

भेषजमेव भैषज्यम्, अनन्त एव आनन्त्यम्, आवसथ एव आवसथ्यम्, इतिह इत्येव ऐतिह्यम् । इतिहेति निपातसमुदाय उपदेशपारंपर्ये वर्तते । चत्वार एव वर्णाश्चातुर्वर्ण्यम्, चातुराश्रम्यम् । चत्वारो वेदाश्चतस्त्रो विद्या वा चातुर्वैद्यम्, एवं त्रैवैद्यम् । अनुशतिकादित्वादुभय-पदवृद्धिः । त्रैलोक्यम्, ऐकभाव्यम्, द्वैभाव्यम्, त्रैभाव्यम्, आन्यभाव्यम्, सार्ववैद्यम्, सार्वलौक्यम्, षाड्गुण्यम् । शीलमेव शैलीयम् आचार्यस्य । भैषज्यानन्त्यावसथ्यैतिह्यशब्दा यदि स्त्रियां स्तुस्तदा अजादिषु द्रष्टव्याः ।। भेषजादयः शिष्टप्रयोगगम्याः ।।164।।

न्या०स०—भेष०—चातुर्वैद्यमिति ''व्यञ्जनात् पञ्चमान्तस्थायाः सरूपे वा'' (1. 3. 47.) इति यलोपः, अथ भैषज्यादय आबन्ताः स्त्रियां दृश्यन्ते ते कथमित्याह—अजादिषवत्यादि अन्यथा ट्यणन्तत्वात् ङीः स्यात् ।

प्रज्ञादिभ्योऽण् ।। 7. 2. 165. ।।

प्रज्ञ इत्येवसादिभ्यः स्वार्थेऽण् प्रत्ययो वा भवति ।

प्रजानातीति प्रज्ञः प्रज्ञ एव प्राज्ञः, प्राज्ञी कन्या । प्रज्ञास्या अस्तीति णे प्राज्ञा कन्या । वणिगेव वाणिजः ।

प्रज्ञ, वणिज्, उशिज्, प्रत्यक्ष, विद्वस्, विदत्, विदन्त, द्विदत्, षोडत्, विद्या, मनस्, जुह्वत्, चिकीर्षत्, चिकीर्षति, वसु, मरुत्, (वसुमत्) सत्वस्, सन्वतु, सर्व, दशार्ह, क्रुञ्च, वयस्, रक्षस्, असुर, शत्रु, चोर, योध, चक्षुस्, पिशाच, अशनि, कर्षापण, देवता, बन्धु, अनुजा, वर, अनुषुक्, चतुष्प्रास्य, रक्षोघ्न, वियात, विकृत, विकृति, व्याकृत, वरिवस्कृत, अग्रायण, अग्रहायण, संतपन, मधुप, द्विधा, (ता) चण्डाल, गायत्री, उष्णिह्, अनुष्टुभ्, बृहती, पङक्ति, त्रिष्टुभ्, जगती, इति प्रज्ञादिराकृतिगणः । तेन आग्नीध्री आग्नीध्रा वा शाला साधारणी साधारणा वा भूमिरित्यादि सिद्धम् ।।165।।

श्रोत्रौषधि–कृष्णाच्छरीर–भेषज–मृगे ॥ 7. 2. 166. ॥

श्रोत्र, ओषधि, कृष्ण इत्येतेभ्यो यथासंख्यं शरीरे भेषजे मृगे च वर्तमानेभ्यः स्वार्थेऽण् प्रत्ययो वा भवति ।

श्रोत्राच्छरीरे, श्रोत्रमेव श्रौत्रं शरीरम्, श्रोत्रमेवान्यत् । ओषधेर्भेषजे ओषधिरेवौषधम् भेषजम् । ओषधिरेवान्यत् । कृष्णान्मृगे । कृष्ण एव कार्ष्णो मृगः, कृष्ण एवान्यः ॥166॥

कर्मणः संदिष्टे ॥ 7. 2. 167. ॥

संदिष्टेऽर्थे वर्तमानात्कर्मणः स्वार्थेऽण् प्रत्ययो भवति ।

अन्येनान्योन्यस्मै यदाह त्वयेदं कर्तव्यमिति तत्संदिष्टं कर्म । कर्मैव कार्मणं करोति, संदिष्टं कर्म करोतीत्यर्थः । वशीकरणमपि वृद्धपरंपरोपदेशात् क्रियते इति कार्मणमुच्यते । संदिष्ट इति किम् ? कर्म करोति । सत्यपि महावाधिकारे विशिष्टोऽर्थः प्रत्ययमन्तरेण न प्रतीयते इत्यस्मिन् विषये नित्य एव प्रत्ययः ॥167॥

वाच इकण् ॥ 7. 2. 168. ॥

संदिष्टेऽर्थे वर्तमानाद्वाच्शब्दात्स्वार्थे इकण् प्रत्ययो भवति ।

अन्येनान्योऽन्यस्मै यामाह सा संदिष्टा वाक् । वागेव वाचिकं कथयति, संदिष्टां वाचं कथयतीत्यर्थः । संदिष्ट इत्येव, चित्रा वाक् चैत्रस्य । अत्रापि पूर्ववन्नित्यो विधिः ॥168॥

विनयादिभ्यः ॥ 7. 2. 169. ॥

विनय इत्येवमादिभ्यः स्वार्थे इकण् प्रत्ययो वा भवति । विनय एव वैनयिकम्, समय एव सामयिकम् । विनय, समय, समाय, कथंचित्, अकस्मात्, उपचार, व्यवहार, समाचार, संप्रदाय, समुत्कर्ष, संगति, संग्राम, समूह, विशेष, अव्यय, अत्यय, अनुगादिन् इति विनयादिराकृतिगणः ॥169॥

उपायाद्ध्रस्वश्च ॥ 7. 2. 170. ॥

उपायशब्दात्स्वार्थे इकण् प्रत्ययो वा भवति तत्संनियोगे च ह्रस्वः । उपाय एव औपयिकम् ॥170॥

मृदस्तिकः ।। 7. 2. 171. ।।

मृच्छब्दात्स्वार्थे तिकः प्रत्ययो वा भवति । मृदेव मृत्तिका ।।171।।

स–स्नौ प्रशस्ते ।। 7. 2. 172. ।।

मृद् इत्येतस्मात् प्रशस्तेऽर्थे वर्तमानात् स स्न इत्येतौ प्रत्ययौ वा भवतः, रूपप्रत्यया-पवादः । प्रशस्ता मृत् मृत्सा मृत्स्ना, केचित्तु रूपमपीच्छन्ति प्रशस्ता मृत् मृद्रूपा ।।172।।

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानुशासनबृहद्वत्तौ सप्तमाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ।। 7 2. 172 ।।

उत्साहसाहसवता भवता नरेन्द्र,
धाराव्रतं किमपि तद् विषमं सिषेवे ।

यस्मात् फलं न खलु मालवमात्रमेव,
श्रीपर्वतोऽपि तव कन्दुककेलिपात्रम् ।।1।।

इत्याचार्य श्री हेमचन्द्रविरचितायां बृहद्वृत्तावचूर्णिकायां सप्तमस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ।

अथ तृतीयः पादः

प्रकृते मयट् ॥ 7. 3. 1. ॥

प्राचुर्येण प्राधान्येन वा कृतं प्रकृतम्, प्रकृतेऽर्थे वर्तमानान्नाम्नः स्वार्थे मयट् प्रत्ययो भवति ।

अन्नं प्रकृतम् अन्नमयम्, घृतमयम्, दधिमयम्, टकारो ङ्यर्थः– यवागूमयी । अतिवर्तन्तेऽपि स्वार्थिकाः प्रकृतिलिङ्गवचनानीति यवागूः प्रकृता यवागूमयम् । एवमुत्तरत्रापि । अपूपाः प्रकृताः आपूपिकम् अपूपमयम्, शष्कुल्यः प्रकृताः शाष्कुलिकम् शष्कुलीमयम् । प्रकृत इति किम् ? अन्नम् घृतम् ॥1॥

*न्या०स०–प्रकृते०–*अन्नमयमिति अन्नं प्रचुरं प्रधानं वेत्यर्थः । अतिवर्त्तन्ते इति इहान्नमयमित्यादिषु युक्तमन्नादेर्नपुंसकत्वात् प्रत्ययस्यापि तत्रैव वृत्तिरिति यवागूमयीत्यपि युक्तमेव प्रकृत्यर्थस्य स्त्रीत्वात् प्रत्ययस्य स्वार्थिकस्य तत्रैव स्त्रियां वृत्तेः, यवागूमयमिति त्वयुक्तं यवाग्वर्थस्य स्त्रीत्वात् स्वार्थिकस्य प्रत्ययस्यापि तत्तैव वृत्रैर्नपुंसकत्वायोगादित्याशङ्का ।

अस्मिन् ॥ 7. 3. 2. ॥

प्रकृतेऽर्थे वर्तमानान्नाम्नोऽस्मिन्निति सप्तम्यर्थे मयट् प्रत्ययो भवति ।

अन्नं प्रकृतमस्मिन्नन्नमयं भोजनम्, अपूपमयं पर्व, वटकमयी यात्रा, यवागूमयी इष्टिः ॥2॥

तयोः समूहवच्च बहुषु ॥ 7. 3. 3. ॥

तयोः 'प्रकृते' 'अस्मिन्' इत्येतयोर्विषययोर्बहुषु वर्तमानान्नाम्नः समूहवत्प्रत्ययो भवति चकारान्मयट् च ।

अपूपाः प्रकृताः आपूपिकम्, अपूपमयम्, मौदकिकम्, मोदकमयम्, शाष्कुलिकम्, शष्कुलीमयम् । 'कवचिहस्त्यचित्ताच्चेकण्' धेनुकम् धेनुमयम्, 'धेनोरनञः' । अपूपाः प्रकृता अस्मिन् आपूपिकम् अपूपमयं पर्व, मौदकिकी मोदकमयी पूजा, गणिकाः प्रकृता यस्यां यात्रायां गाणिक्या, गणिकामयी यात्रा । 'गणिकाया ण्यः; । अश्वीया अश्वमयी यात्रा ।

'वाश्वादीयः' ।।3।।

निन्द्ये पाशप् ।। 7. 3. 4. ।।

निन्द्येऽर्थे वर्तमानान्नाम्नः स्वार्थे पाशप् प्रत्ययो भवति ।

निन्द्यो वैयाकरणः वैयाकरणपाशः, छान्दसपाशः । निन्द्य इति किम् ? साधुर्वैयाकरणः । प्रत्यासत्तेः शब्दप्रवृत्तिनिमित्तकुत्सायामयमिष्यते, तेनेह न भवति । वैयाकरणश्चौरः । नह्यत्र चौर्येण वैयाकरणत्वं कुत्स्यते किं तर्हि शीलमिति । पकारः पुंवद्भावार्थः, कुत्सिता कुमारी कुमारपाशा, किशोरपाशा । अथेह वयोवचनत्वात्पुनर्ङीः कस्मान्न भवति । कुमारादयो वयोवचना, न कुमारपाशादयः । निन्दावचना हि ते इति न भवति ।।4।।

*न्या०स०–निन्द्ये०–*इति न भवतीति ननु पाशपः प्रत्ययस्य स्वार्थे उत्पन्नत्वात् कुमार-पाशादयोऽपि वयोवचना इति प्राप्नोति ?

सत्यं, यत्र केवलवयोवाचित्वं तत्रैव ङीः गौणमुख्ययोरिति न्यायात्, कुमारपाशादयस्तु निन्दाविशिष्टवयोवाचिन इति ।

प्रकृष्टे तमप् ।। 7. 3. 5. ।।

प्रकृष्टे प्रकर्षवत्यर्थे वर्तमानान्नाम्नस्तमप् प्रत्ययो भवति । प्रकर्षोऽतिशयः । स च गुणक्रिययोरेव न जातिद्रव्ययोः । सर्वे इमे शुक्लाः अयमेषां प्रकृष्टः शुक्लः शुक्लतमः, शुक्लतमौ, शुक्लतमाः, एवमाढ्यतमः, सुकुमारतमः, कारकतमः, साधकतमः, प्रकृष्टतमः । जातिद्रव्यवचनेभ्योऽपि गुणक्रियाप्रकर्षविवक्षायां भवति । गौरयं य सुसंहननः शकटं वहति । गोतमोऽयं यः सुलक्षणः शकटं सीरं च वहति । गोतमयं या समांसमां विजायते स्त्रीवत्सा च । द्रव्यान्तरसमवायिना च प्रकृष्टेन गुणेन कृत्वा प्रकृष्टे द्रव्ये तद्वतः प्रत्ययो भवति । अतिशयेन सूक्ष्माणि वस्त्राण्यस्य सूक्ष्मवस्त्रतमः । प्रकर्षप्रत्ययान्ताच्च प्रकर्षस्यापि प्रकर्षविवक्षायां प्रत्ययो भवति । यथा युधिष्ठिरः श्रेष्ठतमः कुरूणाम्, तरवन्तात्तु तरप् न भवति, अनभिधानात् । तथा यथा पूर्वपदातिशये पूर्वपदाद्बहुव्रीहेर्वा आतिशायिकः प्रत्ययो भवति सूक्ष्मतमवस्त्रः सूक्ष्मवस्त्रतमो वा न तथोत्तरपदातिशये बहुव्रीहेः बह्वाढ्यकतम इति किंतूत्तरपदादेव । बहव आढ्यतमा यत्र बह्वाढ्यतमकः । केचित्तु पूर्वपदातिशये बहुव्रीहेरेवातिशायिकमिच्छन्ति । द्वयोः प्रकर्षे तरपो विधानात् बहूनां प्रकर्षेऽयं विधिः ।

कथं तर्हि प्रधानमयं ग्रामः प्रधानतमोऽयं ग्रामे, आढ्यं नगरम् आढ्यतमोऽयं नगरे ।

एकस्मिन्नपि निर्दिष्टे समुदाये तदन्तर्गतावयवान्तरापेक्षया प्रकर्षे भविष्यति । प्रकृष्ट इति किम् ? महत्सर्षपं महान् हिमवानिति । शुक्लापेक्षया च कृष्णे माभूत् । अदूरविप्रकर्षे समानगुणक्रिययोश्च स्पर्धा भवति, नहि निष्कधनः शतनिष्कधनेन स्पर्धते । आढ्याभिरूपौ वा गन्तृपाचको वा । तथा च तन्निमित्तः प्रकर्षोऽपि नास्ति । कथं तर्हि शुक्लकृष्णयोः कृष्णो भास्वरतर इति । भास्वरत्वमेकजातीयम् तदपेक्षो भविष्यति । कथमन्धानां काणतमः, अन्धशब्दस्य काणपर्यायत्वात्—काणशब्दस्य चान्धपर्यायत्वाददोषः । कथमहिंसकः श्रेयान् पापीयान् प्राणिनां हन्तेत्यत्र तरबर्थे ईयस् । नैतयोः परस्परं स्पर्धा, किं तर्हि अन्यापेक्षा, पकारः पुंवद्भावार्थः । शुक्लतमा शाटी ॥5॥

*न्या०स०—प्रकृ०—*सुसंहनन इति सुसंबद्ध इति समांसमामिति अत्र ``कालाध्वभाव'' (2. 2. 23.) इत्याधारस्य कर्म्मत्वे द्वितीयान्तस्य वीप्सायां द्वित्वम् । स्त्रीवत्सा चेति स्त्री वत्सा यस्याः सा तथा, सवत्सेत्युच्यमाने सह वत्सेन वत्सया या वर्त्तते इति संशयः स्यात् तन्निरासाय स्त्रीवत्सेत्युक्तम् ।

द्रव्यान्तरेति देवदत्तरूपात् द्रव्यादन्यद्द्रव्यं वस्त्रादि तत्र समवायी यो गुणः सूक्ष्मत्वादिः तेन । तद्वत इति प्रकृष्टगुणवद् द्रव्यवतश्चैत्रादेः परमार्थवृत्त्याऽस्यैव प्रकर्ष इत्यर्थः ।

कुरूणामिति कुरोरपत्यानि ``दुनादि'' (6. 1. 118.) इति ञ्यः, ``बहुष्वस्त्रियाम्'' (6. 1. 124.) इति तस्य लुप् ।

तरबन्तात्त्वित्यादि द्वयोः शुक्लतरयोर्मध्ये प्रकृष्टः शुक्लतर इति विग्रहे सतीति ज्ञेयम् ।

तथेति अनभिधानादित्यर्थः । बह्वाढ्यकतम इति प्रयोगे बहुव्रीहिज्ञापनाय कच् दर्शित ।

केचित्त्वित्यादि तन्मते सूक्ष्मतमवस्त्र इति प्रयोगो न भवति । कथमिति यदि बहूनां प्रकर्षोऽयं विधिस्तर्हि प्रधानतमोऽयं ग्राम इत्यत्र ग्रामपुरुषयोर्द्वयोः प्रकर्षे न प्राप्नोतीति कथमर्थः उत्तरं तु सुगममेव । महान् हिमवानिति अत्र सर्षपापेक्षया हिमवतो महत्त्वात् महच्छब्दात्तरप् प्राप्नोति तर्ह्युत्तरसूत्रेऽयं विचारो युक्तस्तरप उत्तरेण विधानात् ?

सत्यं, प्रकर्षस्यात्र प्रस्तुतत्वात्तद्विचारप्रस्तावे उक्त इति न दोषः, विषमगुणयोः स्पर्धाया अभावात् प्रकर्षाभावे तमप् न प्राप्नोतीत्याह—कथमन्धानामिति,

कथमहिंसक इत्यादि द्वयोर्वाक्ययोः पृथक्प्राप्तयोः श्रेयः पापीयसोर्विषमगुणयोः परस्परापेक्षया प्रकर्षं प्रतिपद्यमान परः प्राह कथमित्यादि । अन्यापेक्षेति अन्यमहिंसकान्तरमपेक्षते, ``शीलिकामि'' (5. 1. 63.) इति णः ।

द्वयोर्विभज्ये च तरप् ॥ 7. 3. 6. ॥

द्वयोस्तद्गुणयोरर्थयोर्मध्ये यः प्रकृष्टस्तस्मिन् विभज्ये च विभक्तव्ये च प्रकृष्टेऽर्थे वर्तमानान्नाम्नस्तरप् प्रत्ययो भवति, तमपोऽपवादः ।

द्वाविमौ पटू अयमनयोः प्रकृष्टः पटुः पटुतरः, एवं सुकुमारतरः । पाचकतरः, गोतरो यः शकटं वहति सीरं च, गोतरा या समांसमां विजायते स्त्रीवत्सा च । दन्ताश्च औष्ठौ च दन्तौष्ठम् दन्तौष्ठस्य, दन्ताः स्निग्धतराः । पाणी च पादौ च पाणिपादम्, पाणिपादस्य पाणी सुकुमारतरौ । अत्र यद्यपि विग्रहे बहुत्वसंख्या प्रतीयते तथापि समाहारेऽवयवौ स्वार्थमात्रं दन्तत्वादिलक्षणम् अभेदैकत्वसंख्यायोग्युपाददात न संख्याभेदमिति द्वयोरेव प्रकर्षः ।

यदा पुनरितरेतरयोगस्तदा बह्वर्थप्रकर्ष इति तमबेव भवति । अस्माकं च देवदत्तस्य च देवदत्तोऽभिरूपतरः । अत्रास्माकमित्येकस्यैव ``अविशेषणे द्वौ चास्मदः'' (2. 2. 122.) इति बहुवद्भावः । परुद्भवान्पटुरासीत् पटुतर ऐषमः । अत्रैकस्यापि पर्यायार्थार्पणया द्वित्वमिति द्वयोरेव प्रकर्षः । विभज्ये, सांकाश्यकेभ्यः पाटलिपुत्रका आढ्यतराः अभिरूपतराः सुकुमारतराः, सांकाश्यकेभ्यः पाटलिपुत्रकेभ्यश्च माथुरा आढ्यतराः अभिरूपतराः सुकुमारतराः, सांकाश्यकादिषु पाटलिपुत्रकादीनामप्रवेशात् विभागः, विभज्यस्य च विशेषणमप्याढ्याद्यर्थः प्रकृष्टं विभज्यं भवति ततः प्रत्ययः । द्वयोर्विभज्ये चेति किम् ? गवां कृष्णा संपन्नक्षीरतमा, सांकाश्यकानां पाटलिपुत्रकाणां च पाटलिपुत्रका आढ्यतमा इत्यत्र राश्यपेक्षया द्वित्वेऽपि शब्देन बहुत्वोपादानात्तरप् न भवति । विभज्यग्रहणमद्वित्वार्थम् । प्रकृष्टे इत्येव, अयमनयोः पटुः, सांकाश्यकेभ्यः पाटलिपुत्रका आढ्याः । पकारः पुंवद्भावार्थः । शुक्लतरा शाटी ॥6॥

न्या०स०–द्वयोः०–तद्गुणयोरिति स विवक्षितः समानो गुणो ययोरिति विग्रहः । अभेदैकत्वसंख्येति न विद्यते भेदो यस्याः सा अभेदा, सा चासावेकत्वसंख्या च, यथौषधिरसाः सर्वे मधुन्याहितशक्तयः, अविभागेन वर्त्तन्ते तां संख्यां तादृशीं विदुः, चैत्रेण चैत्राभ्यां चैत्रैर्वा भूयत इत्यत्र या संख्या सा अभेदैकत्वसंख्येति । पर्यायार्थार्पणयेति पर्यायेषु पटुपटुतरादिषु अर्थस्य विशेषस्य चैत्रादेरर्प्पणा ढौकनम् । गवां कृष्णेति अत्र यथा द्वयोरर्थयोर्मध्ये प्रकृष्टत्वं नास्ति तथा विभज्योऽपि नास्ति, स हि भेदरूपमापन्नानां भवति, अत्र तु गोत्वेन सर्वा अपि कृष्णा गावोऽभिन्नाः ।

सांकाश्यकानां पाटलिपुत्रकाणां चेति प्रकर्षद्वारेण विभज्यद्वारेणापि न भवति, षष्ठ्यन्त-पदाभ्यां समुदायस्याभिन्नस्यैव प्रतिपादनात्, न त्वत्राप्यपायप्रतिपादिका पञ्चम्यस्ति, अपि तु

चकारेणाविभागः प्रतीयते ।

ननु द्वयोरित्युक्तेऽपि अत्र न भविष्यति किं विभज्यग्रहणेन ?

इत्याह–विभज्यग्रहणमित्यादि विभज्ये इत्यसति द्वयोरेव प्रकृष्टे स्यात्, ततश्चासत्यपि हि द्वित्वे विभज्ये यथा स्यादित्येवमर्थम् ।

क्वचित् स्वार्थे ॥ 7. 3. 7. ॥

क्वचित् स्वार्थेऽपि तरप् प्रत्ययो पवति । प्रकृष्टे सिद्ध एव । अभिन्नमेवाभिन्नतरकम्, उपपन्नमेवोपपन्नतरकम्, उच्चैरेवोच्चैस्तराम् । क्वचिद्ग्रहणं शिष्टप्रयोगानुसरणार्थम् ॥7॥

किं–त्याद्ये–ऽव्ययादसत्त्वे तयोरन्तस्याऽऽम् ॥ 7. 3. 8. ॥

किंशब्दात् त्याद्यन्तात् एकारान्तादव्ययेभ्यश्च परयोस्तमप्तरपोरन्तस्या–मित्ययमादेशो भवति असत्त्वे न चेतौ सत्वे द्रव्ये इदंतदितिपरामर्शयोग्ये प्रकृष्टे वर्तेते । इदमनयोरतिशयेन किं पचति किंतरां पचति, इदमेषामतिशयेन किं पचति किंतमां पचति त्यादि, द्वाविमौ पचतः अयमनयोरतिशयेन पचति पचतितराम्, सर्वे इमे पचन्ति, अयमेषां प्रकृष्टं पचति पचतितमाम्, अस्मादेव वचनात् त्याद्यन्तादपि द्व्यर्थप्रकर्षे तरप् वह्वर्थप्रकर्षे तमप् भवति । पूर्वाह्णेतरां भुङ्क्ते । पूर्वाह्णेतमाम्, भुङ्क्ते । अपराह्णेतराम् । अपराह्णेतमाम् । प्राह्णेतराम् प्राह्णेतमाम् प्रगेतराम्, प्रगेतमाम्, अग्रेतराम्, अग्रेतमाम् । एग्रहणसामर्थ्यात् काले सत्वेऽप्याम् भवति नान्यस्मिन्नेदन्ताभावात् । अग्रेशब्दोऽपि । कालवाची । अथवा विभक्त्यर्थो न द्रव्यम् । तत्प्रकर्षेऽत्र तरप् तमपौ । शोभनो हेशब्दो यस्य स सुहेतर इत्यत्रानभिधानान्न भवति । क्रियाशब्देभ्यश्च, जयतीति विचि जेः जेतर इत्यादि, अव्यय, नितराम्, सुतराम्, अतितराम् अतितमाम्, अतीवतराम्, नतराम्, उच्चैस्तराम् । उच्चैस्तमाम् ।

किंत्याद्येऽव्ययादिति किम् ? शीघ्रतरं गच्छति । असत्व इति किम् ? किंतरं दारु । उच्चैस्तरः उच्चैस्तमौ वृक्षः, उत्तरः, उत्तमः ॥8॥

न्या०स०–किंत्याद्ये०–अस्मादेवेति नामप्रस्तावात् ``त्यादेश्च प्रशस्ते रूपप्'' (7. 3. 10.) इति वचनाच्च नाम्न एव प्राप्नुत इति प्रश्नाशयः ।

अथवेति यद्यपि पूर्वाह्णोऽपराह्ण इति कालः सत्वमत्र नामार्थः तथापि विभक्त्यर्थो याऽधिकरणशक्तिर्न सा आधेयपरतन्त्रा इति तस्या असत्त्वात्तत्र प्रत्यय इति ।

गुणाङ्गाद्–वेष्टेयसू ॥ 7. 3. 9. ॥

तयोरिति सप्तम्या विपरिणम्यते, गुणोऽङ्गं प्रवृत्तिनिमित्तं यस्य स गुणाङ्गः । यः शब्दो गुणमभिधाय द्रव्ये वर्तते । तस्मात्तयोस्तमप्–तरपोर्विषये यथासंख्यमिष्ठ ईयसु इत्येतौ प्रत्ययौ वा भवतः । पक्षे यथाप्राप्तं तमप्तरपौ च । तमबर्थे इष्ठः । अयमेषामतिशयेन पटुः पटिष्ठः, पटुतमः, पटिष्ठौ, पटुतमौ, पटिष्ठाः, पटुतमाः, एवं लघिष्ठः, लघुतमः, गरिष्ठः गुरुतमः, म्रदिष्ठः, मृदुतमः तरबर्थे ईयसुः, अयमनयोरतिशयेन पटुः पटीयान्, पटुतरः, गरीयान्, गुरुतरः, लघीयान्, लघुतरः, म्रदीयान्, मृदुतरः, परुद्भवान् पटुरासीत् पटीयानैषमः, पटुतरः, माथुरेभ्यः पाटलिपुत्रकाः पटीयांसः पटुतराः । गुणग्रहणं किम् ? गोतमः, गोतरः, पाचकतमः, पाचकतरः, दन्तौष्ठस्य दन्ताः स्निग्धतराः, परुद्भवान्, विद्वानासीत् ऐषमो विद्वत्तर इति । अत्र जातिक्रियाङ्गत्वान्न भवति ।

अङ्गग्रहणं किम् ? शुक्लतमम्, शुक्लतरं रूपम् । अत्र हि गुण एव वृत्तिर्न तदुपसर्जने द्रव्य इति न भवति । ईयसोरुकार उदित्कार्यार्थः। पटीयसी ॥9॥

*न्या०स०–गुणा०–*तदुपसर्जन इति स गुण उपसर्जनं यत्र तत्र ।

त्यादेश्च प्रशस्ते रूपम् ॥ 7. 3. 10. ॥

त्याद्यन्तान्नाम्नश्च प्रशस्तेऽर्थे वर्तमानाद्रूपप् प्रत्ययो भवति । प्रशस्तं पचति पचतिरूपम्, पचतोरूपम्, पचन्तिरूपम् । त्याद्यन्तानां क्रियाप्रधानत्वात्तस्याश्च साध्यत्वेन लिङ्गसंख्याभ्यामयोगात् रूपबन्तस्यौत्सर्गिकमेकवचनं नपुंसकलिङ्गं च भवति । प्रशस्तो वैयाकरणो वैयाकरणरूपः, पण्डितरूपः । प्रकृते प्रवृत्तिनिमित्तस्य वैस्पष्ट्यम् परिपूर्णता प्रशस्तत्वम्, तेनात्रापि भवति । वृषल रूपोऽयमपि पलाण्डुना सुरां पिबेत् । दस्युरूपोऽयमप्यक्ष्णोरञ्जनं हरेत् । पटुतमरूपः, पटुतररूपः । पकारः पुंवद्भावार्थः । शोभनरूपा, दर्शनीयरूपा ॥10॥

अतमबादेरीषदसमाप्ते कल्पप्–देश्यप्–देशीयर् ॥ 7. 3. 11. ॥

त्यादेश्चेति वर्तते, संपूर्णता पदार्थानां समाप्तिः । सा किंचिदूना ईषदसमाप्तिः । तद्विशिष्टेऽर्थे वर्तमानात्त्याद्यन्तान्नाम्नश्च तमबाद्यन्तवर्जितात् कल्पप् देश्यप् देशीयर् इत्येते प्रत्यया भवन्ति । ईषदसमाप्तं पचति पचतिकल्पम्, पचतिदेश्यम्, पचतिदेशीयम्, पचतःकल्पम्, पचतोदेश्यम्, पचतोदेशीयम्, पचन्तिकल्पम्, पचन्तिदेश्यम्, पचन्तिदेशीयम्, पक्ष्यतिकल्पम् ।

अपाक्षीत्कल्पमित्यादि । पूर्ववन्नपुंसकत्वमेकवचनं च । इदमेव त्यादिग्रहणं ज्ञापकम् शेषस्तद्धितो नाम्न एव भवति ।

ईषदसमाप्तः पटुः पटुकल्पः, पटुदेश्यः, पटुदेशीयः, कारककल्पः, कारकदेश्यः, कारकदेशीयः, कृतकल्पं भुक्तदेश्यम्, पीतदेशीयम्, ईषदसमाप्तो गुडो गुडकल्पा द्राक्षा, गुडदेश्या, गुडदेशीया, पयस्कल्पा यवागूः, चन्द्रकल्पं मुखम्, तैलकल्पा प्रसन्ना । गुडादिधर्माणां माधुर्यादीनां द्राक्षादिष्वीषदसमाप्तत्वात् गुडादित्वेनेषदसमाप्ता द्राक्षादय एवमुच्यन्ते । कल्पबाद्यन्तमुपमेये वर्तमानमुपमेयलिङ्गसंख्यम् । बहुप्रत्ययपूर्वं तु प्रकृतिलिङ्गसंख्यम् ।

स्वभावाच्छब्दशक्तिरेषा यदुत स्वार्थिकाः केचित् प्रकृतिलिङ्गान्यतिवर्तन्ते यथा कुटीरः, शुण्डारः, शमीरुः, शमीरः, दैवतम्, औपयिकम्, औषधम् वाचिकमिति । केचित्तु नातिवर्तन्ते यावकः, मणिकः, वृहतिका, मृत्तिका, कासूतरी, गोणीतरी व्यावक्रोशी, व्यावहासीति । अतमवादेरिति किम् । यदा प्रकर्षादिविशिष्टस्येषदसमाप्तिविवक्षा भवति तदा तमबादिभ्यः कल्पबादयः प्राप्नुवन्त्यतस्ते मा भूवन् । यदा त्वीषदसमाप्तस्य प्रकर्षादयो विवक्ष्यन्ते तदा कल्पबाद्यन्तेभ्यस्तमबादयो भवन्त्येव । पटुकल्पतमः पटुकल्पतरः, पटुदेश्यतमः, पटुदेश्यतरः पटुकल्परूपः, पटुदेश्यरूपः । पकारौ पुंवद्भावार्थौ । दर्शनीयकल्पा, दर्शनीयदेश्या । केचिद्देश्यं पितं नेच्छन्ति तन्मते दर्शनीयादेश्येत्येव भवति । देशीयरिति रेफो ``रिति'' (3. 2. 58.) इत्यत्र विशेषणार्थः । स्त्रौघ्नदेशीया । पञ्चमदेशीया ॥11॥

*न्या०स०—अतम०—*पचतः कल्पमिति ``प्रत्यये'' (2. 3. 6.) इत्यनेन सो न भवति अव्यय- पर्युदासेन नाम्नो ग्रहणात्, अव्ययं नाम तद्वर्जनेनान्यदपि नाम गृह्यते । स्त्रौघ्नदेशीयेति ईषदसमाप्ता स्त्रोघ्नी पञ्चमी वा, अनयोः ``तद्धितः स्वरवृद्धिः'' (3. 2. 55.) इति ``तद्धिताक-कोपान्त्य'' (3. 2. 54.) इत्याभ्यां निषिद्धोऽपि ``रिति'' (3. 2. 58.) इत्यनेन पुंवद्भावः ।

नाम्नः प्राग् बहुर्वा ॥ 7. 3. 12. ॥

ईषदसमाप्तेऽर्थे वर्त्तमानान्नाम्नो बहुप्रत्ययो वा भवति स च प्राक् पुरस्तादेव न परस्तात् । ईषदसमाप्तः पटुः बहुपटुः, बहुमृदुः, बहुभुक्तम्, बहुपीतम्, बहुगुडो द्राक्षा, बहुतैलं प्रसन्ना, बहुपयो यवागूः, बहुचन्द्रो मुखम् । नामग्रहणं त्याद्यन्तनिवृत्त्यर्थम् । त्याद्यन्तेषु सावकाशाः कल्पबादयो बहुना मा बाधिषतेति वावचनम् । तेन पक्षे तेऽपि भवन्ति ॥12॥

न तमबादिः कपोऽच्छिन्नादिभ्यः॥ 7. 3. 13. ॥

छिन्नादीन् वर्जयित्वान्यस्माद्यः कप् प्रत्ययस्तदन्तात्तमबादिः प्रत्ययो न भवति ।

अयमेषां प्रकृष्टः पटुकः, अयमनयोः प्रकृष्टः पटुकः । प्रकर्षादिमतः कुत्सितत्वादिविवक्षायां तमबाद्यन्तेभ्यः कप् भवत्येव । अयमेषामतिशयेन पटुः कुत्सितः पटुतमकः, अयमनयोः, पटुतरकः, पटुरूपकः पटुकल्पकः पटुदेश्यकः, पटुदेशीयकः । कब् इति किम् ? कुटीरतमः । पकारः किम् ? लोहितकतमो मणिः । लोहितकतममक्षि कोपेन । अच्छिन्नादिभ्य इति किम् ? कुत्सितोऽल्पोऽज्ञातो वा छिन्नः छिन्नकः । अयमेषामतिशयेन छिन्नकः छिन्नकतमः, छिन्नकतरः, छिन्नकरूपः, छिन्नककल्पः । छिन्नादयः प्रयोगगम्याः ॥13॥

अनत्यन्ते ॥ 7. 3. 14. ॥

अनत्यन्तेऽर्थे यः कप् तदन्तात्तमबादिर्न भवति, छिन्नाद्यर्थं वचनम् । अनत्यन्तं छिन्नं छिन्नकम्, अनत्यन्तं भिन्नं भिन्नकम्, इदमेषां प्रकृष्टं छिन्नकम्, प्रकृष्टं भिन्नकम्, इदमनयोः प्रकृष्टं छिन्नकम् प्रकृष्टं भिन्नकम्, यदा तु प्रकर्षवतोऽनत्यन्तविशिष्टविवक्षा तदा तमबाद्यन्तात् ``क्तात्तमबादेश्चानत्यन्ते'' (7. 3. 56.) इति कब् भवत्येव । छिन्नतमकम्, छिन्नतरकम्, भिन्नतमकम्, भिन्नतरकम् ॥14॥

यावादिभ्यः कः ॥ 7. 3. 15. ॥

याव इत्येवमादिभ्यः स्वार्थे कः प्रत्ययो भवति । याव एव यावकः, मणिरेव मणिकः, अविरेव अविकः ।

याव, मणि, अवि, अस्थि, लात्र, पात्र, पीत, स्तब्ध, ज्ञात, अज्ञात, पुण्य, नित्य, सत्वत् दशार्ह, वयस्, चन्द्र, जानु, भूत, भिक्षु ईति यावादिराकृतिगणः । तेनाभिन्नतरकम् बहुतरकमित्यादि सिद्धम् ॥15॥

कुमारीक्रीडनेयसोः ॥ 7. 3. 16. ॥

कुमारीणां यानि क्रीडनानि तद्वाचिभ्य ईयसुप्रत्ययान्तेभ्यश्च स्वार्थे कः प्रत्ययो भवति । कन्दुरेव कन्दुकः, उत्कण्टकः, गिरिकः, समुद्गकः, दोलिका, भ्रमरकः, शृङ्गकम् । ईयसु, श्रेयानेव श्रेयस्कः, ज्यायस्कः, भूयस्कः ॥16॥

न्या०स०—कुमा०—दोलिकेति दोलैव ``इच्चापुंसो नि'' (2. 4. 107.) इति वा इत्वम् । ज्यायस्क इति द्वयोर्मध्ये प्रकृष्टो वृद्धः प्रशस्यो वा ईयसुः ``वृद्धस्य च ज्यः'' (7. 4. 35.)

``ज्यायान्'' (7. 4. 36.) इति ईकारस्य आकारः, ज्यायानेव ``प्रत्यये'' (2. 3. 6.) इति सूत्रेण सः। भूयस्क इति द्वयोर्मध्ये प्रकृष्टो बहुः ईयसि ``भूर्लुक् चेवर्णस्य'' (7. 4. 41.) भूरादेश ईलोपश्च ।

लोहितान्मणौ ॥ 7. 3. 17. ॥

लोहितशब्दान्मणौ वर्तमानात् स्वार्थे कः प्रत्ययो वा भवति । लोहित एव लोहितको मणिः, लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणाल्लोहिन्येव लोहिनिका मणिः, लोहितैव लोहितिका मणिः, मणेर्विशेषणमेतदित्येके । नामधेयमित्यन्ये । वाधिकारान्न भवत्यपि । लोहितो मणिः । मणाविति किम् ? लोहिता गौः ॥17॥

रक्ता–ऽनित्यवर्णयोः ॥ 7. 3. 18. ॥

रक्ते द्रव्यान्तरेण लाक्षादिना वर्णान्तरमापादितेऽनित्ये च वर्णे, वर्तमानाल्लोहितशब्दात्कः प्रत्ययो वा भवति ।

रक्त लोहित एव लोहितकः पटः, लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणात् लोहितिका शाटी, लोहितिका पटी, अनित्यवर्णे, लोहितकमक्ष्णो रूपं कोपेन, लोहितकमक्षि कोपेन, लोहिनिका लोहितिका कन्या कोपेन, वाधिकारान्न भवत्यपि । लोहिता लोहिनी वा कोपेन । नित्योऽपि रक्तो वर्णोऽस्ति यथा कृमिरागादिरक्त पट इति रक्तग्रहणम् । अनित्यग्रहणं किम् । लोहित इन्द्रगोपकः । सत्येवाश्रयद्रव्येऽपयन्निहानित्य उच्यते । अन्यथा रक्तग्रहणस्यानर्थक्यात् । वर्णग्रहणं द्रव्यनिवृत्त्यर्थम्, असति वर्णग्रहणे स्त्रीणामार्तवे द्रव्ये स्यात् । तद्धि सत्येवाश्रये स्त्रियां कदाचिन्न भवति लोहितशब्दवाच्यं च ॥18॥

*न्या०स०–रक्ता०–*नित्योपीत्यादि–ननु रक्ते वस्तुनि अनित्य एव वर्णो भवति यथा हरिद्रादौ, तत्रानित्यवर्णे इत्येव प्रत्ययः सिध्यति किमर्थं रक्तग्रहणमित्याशङ्का ? सत्येवेति इन्द्रगोपकाभावे लोहितत्वनिवृत्तावपि नानित्यत्वमिति ।

कालात् ॥ 7. 3. 19. ॥

कालशब्दात्कज्जलादिना रक्ते अनित्यवर्णे चार्थे वर्तमानात्कः प्रत्ययो वा भवति ।

रक्त, काल एव कालकः पटः, अनित्यवर्णे, कालकं मुखं वैलक्ष्येण । वाधिकारान्न भवत्यपि । कालः पटः, कालं मुखम् ॥19॥

शीतोष्णादृतौ ॥ 7. 3. 20. ॥

शीतोष्णशब्दाभ्यामृतौ वर्तमानाभ्यां कः प्रत्ययो वा भवति । शीत एव शीतक ऋतुः, उष्णक ऋतुः । ऋताविति किम् ? शीतो वायुः, उष्णः स्पर्शः ॥20॥

लून–वियातात्–पशौ ॥ 7. 3. 21. ॥

लूनवियातशब्दाभ्यां पशौ वर्तमानाभ्यां स्वार्थे कः प्रत्ययो वा भवति । लून एव लूनकः, वियातकः पशुः । पशाविति किम् ? लूनो यवः, वियातो बटुः । विहानशब्दादपीच्छन्त्येके । विहानकः पशुः, विहान एवान्यत्र ॥21॥

स्नाताद् वेदसमाप्तौ ॥ 7. 3. 22. ॥

स्नातशब्दाद्वेदसमाप्तौ गम्यमानायां कः प्रत्ययो भवति । वेदं समाप्य स्नातः स्नातकः । वेदसमाप्ताविति किम् ? तीर्थे स्नातः ॥22॥

तनु–पुत्रा–ऽणु–बृहती–शून्यात् सूत्र–कृत्रिम–निपुणा-ऽऽच्छादनरिक्ते ॥ 7. 3. 23. ॥

तनुपुत्राणु–बृहतीशून्य इत्येतेभ्यो यथासंख्यं सूत्रकृत्रिमनिपुणाच्छादनरिक्त इत्येतेष्वर्थेषु वर्तमानेभ्यः स्वार्थे कः प्रत्ययो भवति । तनोः सूत्रे, तनु सूत्रं तनुकम् भङ्गादिमयं कल्पादि च । सूत्र इति किम् ? तनुर्वंशः । पुत्रात् कृत्रिमे, कृत्रिमस्तक्षादिव्यापारनिष्पादितः । कृत्रिमः पुत्रः पुत्रकः । कृत्रिम इति किम् । औरसः पुत्रः । अणोर्निपुणे, निपुणो निष्णातोऽणुः अणुकः । निपुण इति किम् । अणुर्व्रीहिः । बृहत्या आच्छादने, बृहतिका आच्छादनविशेषः। प्रत्ययमन्तरेणार्थानवगमात् नित्य एवायं विधिः । आच्छादन इति किम् ? बृहती छन्दः, बृहती ओषधिः, शून्याद्रिक्ते, रिक्तो धनप्रज्ञादिना, शून्य एव शून्यकः रिक्तश्चेत् । रिक्त इति किम् ? शुने हितं शून्यम् । अन्ये तु सूत्रादयोऽर्थाः प्रत्ययमन्तरेण न प्रतीयन्ते इति तद्विषये तन्वादिभ्यो नित्य एव प्रत्ययविधिरिति मन्यते, एवं पूर्वसूत्रेऽपि ॥23॥

*न्या०स०–तनु०–*नित्य एवायमिति आच्छादनरूपस्यार्थस्यानवगमात् ।

भागेऽष्टमाञ्ञः ॥ 7. 3. 24. ॥

अष्टमशब्दाद्भागेंऽशे वर्तमानात्स्वार्थे ञः प्रत्ययो वा भवति । अष्टम एवाष्टमो भागः ।

भाग इति किम् ? अष्टमो जिनः चन्द्रप्रभः ॥24॥

षष्ठात् ॥ 7. 3. 25. ॥

षष्ठशब्दाद्भागे वर्तमामात्स्वार्थे ञः प्रत्ययो वा भवति । षष्ठ एव षाष्ठो भागः । भाग इति किम् ? षष्ठो जिनः पद्मप्रभः । योगविभाग उत्तरार्थः ॥25॥

माने कश्च ॥ 7. 3. 26. ॥

मीयते येन तन्मानम् । तस्मिन् माने भागे वर्तमानात् षष्ठशब्दात्कश्च–काराञश्च प्रत्ययौ वा भवतः । षष्ठ एव षष्ठकः, षाष्ठो भागः मानं चेत् । मान इति किम् ? षष्ठ एव षाष्ठो भागोन्यः ॥26॥

एकादाकिन् चासहाये ॥ 7. 3. 27. ॥

एकशब्दाद–सहायार्थवाचिन आकिन् प्रत्ययो भवति चकारात्कश्च । एक एव एकाकी एककः । असहाय इति किम् ? एके आचार्याः, एको द्वौ बहवः ॥27॥

प्राग् नित्यात्–कप् ॥ 7. 3. 28. ॥

नित्यशब्दसंकीर्तनात् प्राग्येऽर्थास्तेषु द्योत्येषु कप् प्रत्ययोऽधिकृतो वेदितव्यः । कुत्सितोऽल्पोऽज्ञातो वा अश्वः अश्वकः, गर्दभकः, पकारः पुंवद्भावार्थः । कुत्सिता दरद् दारदिका, प्राग्नित्यादित्यवध्यर्थम् । अन्यथापवादबाधितो नोत्तरत्रानुवर्तेत । परतोऽपि चानुवर्तते ॥28॥

न्या०स०–प्राग्नि०–दारदिकेति दरदां राज्ञी ``पुरुमगध'' (6. 1. 116.) इत्यण्, ``द्रेरञणो'' (6. 1. 123.) इति लुप्, ततोऽनेन कपि ``क्यङ्मानि'' (3. 2. 50.) इत्यनेन अण्लोपनिवृत्तिरूपे पुंवद्भावे ``आत्'' (2. 4. 18.) इत्याप् ``अस्यायत्तत्'' (2. 4. 111.) इत्वम्, यदा त्वपत्ये अण् तदा गोत्रं च चरणैः सहेति जातित्वे ``स्वाङ्गान् ङीर्जातिश्च'' (3. 2. 56.) इति पुंवन्निषेधः स्यात् ।

त्यादि–सर्वादेः स्वरेष्वन्त्यात्–पूर्वोऽक् ॥ 7. 3. 29. ॥

त्याद्यन्तस्य सर्वादीनां च स्वरेषु स्वराणां मध्ये योऽन्त्यस्वरस्तस्मात् पूर्वोऽक् प्रत्ययो

भवति, प्राग्नित्यात् कपोऽपवादः । कुत्सितमल्पमज्ञातं वा पचति पचतकि । पचतकः, पचन्तकि । सर्वादि, सर्वके, विश्वके, सर्वकस्मै, विश्वकस्मै, यकत्पिता, तकत्पिता, त्वकत्पिता, मकत्पिता, परमसर्वके, परमविश्वके । तदन्तस्यापि सर्वादित्वमस्तीत्यत्राप्यक् । स्वरेष्वन्त्यादिति किम् ? त्याद्यन्तात्सर्वादेश्च पूर्वं माभूत् । पूर्व इति किम् ? परो माभूत् ॥29॥

न्या०स०–त्यादि०–यकत्पितेत्यादिषु बहुव्रीहिवर्जं समासः कार्यः, बहुव्रीहौ तु "ऋन्नित्यदितः" (7. 3. 171.) कच् स्यात् ।

युष्मदस्मदोऽसोभादिस्यादेः ॥ 7. 3. 30. ॥

युष्मदस्मदित्येतयोः सकाराद्योकारादिभकारादि–वर्जितस्याद्यन्तयो स्वरेष्वन्त्यात्पूर्वोऽक् प्रत्ययो भवति । युष्मदस्मदोः स्वरेष्वन्त्यात्पूर्वस्यापवादः । त्वयका, मयका, त्वयकि, मयकि, युष्माककम्, अस्माककम्, परमत्वयका, परममयका, युष्मदस्मद इति किम् ? तकया, यकया, सर्वकेण, विश्वकेन, इमकेन, अमुकेन, इमकैः, अमुकैः, भवकन्तौ, भवकन्तः । केचिद्भवच्छब्दस्यापि स्याद्यन्तस्यान्त्य–स्वरात्पूर्वमकमिच्छन्ति । तन्मते, भवतका भवतके भवतकः भवतकीत्यपि भवति । असोभादिस्यादेरिति किम् ? युष्मकासु, अस्मकासु, युवकयोः, आवकयोः, युवकाभ्याम्, आवकाभ्याम्, युष्मकाभिः, अस्मकाभिः ॥30॥

अव्ययस्य को द् च ॥ 7. 3. 31. ॥

प्राङ्नित्याद्यऽर्थास्तेषु द्योत्येषु अव्ययस्य स्वरेष्वन्त्यात्स्वरात्पूर्वमक् प्रत्ययो भवति तत्संनियोगे यत्ककारान्तमव्ययं तस्य दकारोऽन्तादेशो भवति, कपोऽपवादः । कुत्सितमल्पमज्ञातं वा उच्चैः उच्चकैः, नीचैस्, नीचकैः, धिक् धकित्, हिरुक् हिरकुद, पृथक् पृथकद् । चकारोऽन्वाचये तेन सर्वस्याव्ययस्याक् भवति । ककारान्तस्य त्वक् दान्तादेशश्च । योगविभागस्त्यादेर्दादेशाभावार्यः । शक्लृंट् शक्तौ । यङ लुप् दिव्, अशाशक् । अकि, अशाशकक् ॥31॥

तूष्णीकाम् ॥ 7. 3. 32. ॥

तूष्णीकामिति तूष्णीमो मकारात्पूर्वं का इत्यागमो निपात्यते प्राङ्नित्यात्, अकोऽपवादः । कुत्सितमल्पमज्ञातं वा तूष्णीं तूष्णीकाम् आस्ते । तूष्णीकां तिष्ठति ॥32॥

कुत्सिता–ऽल्पा–ऽज्ञाते ।। 7. 3. 33. ।।

कुत्सितं निन्दितम्, अल्पं महत्प्रतियोगि, अज्ञातं प्रकृत्युपात्तधर्म–व्यतिरेकेण केनचित् स्वत्वादिना धर्मेणानिश्चितम्, सर्वथा त्वज्ञाते प्रयोगायोगात् । कुत्सिताल्पा–ज्ञातोपाधिकेऽर्थे वर्तमानाद्यथायोगं कबादयः प्रत्यया भवन्ति ।

कुत्सितोऽल्पोऽज्ञातो वाश्वः अश्वकः, गर्दभकः, घृतकम्, तैलकम्, पचतकि, भिन्धकि, सर्वके, विश्वके, उच्चकैः, नीचकैः, तूष्णीकाम् । कथं कुत्सितकः, अल्पकः, अज्ञातकः । कुत्सादीनां भेदोपपत्तेः कुत्सितादिभ्योऽपि कुत्सितादौ प्रत्ययो भवति प्रकृष्टतर इत्यादौ प्रकर्षभेदे तरवादिवत् ।

राधकः, पूर्णकः, शूद्रक इत्यादौ सत्यामपि संज्ञायां कुत्सायोगात् कुत्सित इत्येव कप् । व्याकरणकेन नाम त्वं गर्वितः याज्ञिक्यकेन नाम त्वं विकत्थसे इत्यादौ अवक्षेपणमपि कुत्सितमेव । नह्यकुत्सितेनावक्षिप्यते ।।33।।

*न्या०स०–कुत्सि०–*कथमिति कुत्सितादेः प्रकृत्यैव गतार्थत्वात् प्रत्ययस्यार्थाभावान्न तदर्थद्योती प्रत्ययोऽत्र युक्त इत्याशङ्का । कुत्सायोगादिति तेनान्यैरिव संज्ञायां कप् न विधातव्यः, यथा

अज्ञाते कुत्सिते चैव, संज्ञायामनुकम्पने ।
तद्युक्तनीतावप्यल्पे, वाच्ये ह्रस्वे च कः स्मृतः ।।1।।

अवक्षेपणमपीति व्याकरणं कुत्सनं वैयाकरणस्तु कुत्सित इति व्याकरणात् कथं प्रत्यय इत्याशङ्का ।

अनुकम्पा–त द्युक्तनीत्योः ।। 7. 3. 34. ।।

अनुकम्पा कारुण्येन परस्यानुग्रहः । तया अनुकम्पया युक्ता नीतिस्तद्युक्तनीतिः, नीतिः सामादिप्रयोगः, तत्रानुकम्पायां सामोपप्रदाने एव न भेददण्डौ तयोः अनुकम्पाया अयोगात् । अनुकम्पायां तद्युक्तायां नीतौ च गम्य मानायां यथायोगं कबादयः प्रत्यया भवन्ति । अनुकम्पा तन्नीतिश्च प्रयोक्तृधर्मौ वेदितव्यौ ।

पुत्रकः, वत्सकः, बालकः, बुभुक्षितकः, ज्वरितकः, शनकैः, तूष्णीकाम्, स्वपितकि, स्वपिषकि, जल्पतकि, एहकि । अनुकम्पमान एवं प्रयुङ्क्ते पुत्रक एहकि उत्सङ्गके उपविश कदर्मकेनासि दिग्धकः कण्टकस्ते लग्नकः, वत्सक तूष्णीकां तिष्ठ ओदनं भोक्ष्यसे हन्त ते

गुडका हन्त ते धानका अद्धकि । अत्रोपविश असि तिष्ठ ओदनं भोक्ष्यसे हन्त ते इत्येतेष्वनभिधानान्न भवति, यत्र त्वभिधानं तत्र भवति । नक त्वकं पुत्रक पश्यसकि, असकौ काकको वृक्षके उच्चकैः प्रणिलीयते । अनुकम्पायां प्रत्यासत्तेरनुकम्प्यमानादेव स्यात् नान्यस्मात् उत्सङ्गादेस्ततोऽपि यथा स्यादिति तद्युक्तनीतिग्रहणम् ।।34।।

*न्या०स०–अनु०–*गुडका इति गुडेन मिश्रा धाना इति विग्रहे ``ते लुग् वा'' (3. 2. 108.) इति धानाशब्दस्य लुकि अनेन कप् । धानका इति अत्र गुडशब्दलोपे कपि ``इच्चापुंसोऽनि०'' (2. 4. 107.) इति नवा इद्ध्रस्वौ ।

अजातेर्नृनाम्नो बहुस्वरादियेकेलं वा ।। 7. 3. 35. ।।

तद्युक्तनीताविति न वर्तते अनुकम्प्यादेव प्रत्ययविधानात्, नृनाम्नो मनुष्यनामधेयाद्बहुस्वरादनुकम्पायां गम्यमानायां इय इक इल इत्येते प्रत्यया भवन्ति वा अजातेः न चेन्मनुष्यनाम जातिशब्दो भवति । अनुकम्पितो देवदत्तः देवियः, देविकः, देविलः । वावचनात्कबपि । देवदत्तकः, जिनियः, जिनिकः, जिनिलः । जिनदत्तकः । अजातेरिति किम् । महिपकः । वराहकः । शरभकः । सूकरकः । गर्दभकः । एते जातिशब्दा मनुष्यनामानि च । अजातेरिति प्रायिको निषेध इत्यन्ये । व्याघ्रिलः सिंहिल इति हि दृश्यते, तन्मते बहुस्वरादित्यपि प्रायिकम् । नृनाम्न इति किम् ? सुसीमकः, सीमा स्फटा । नृग्रहणं किम् ? अनुकम्पितो देवदत्तो हस्ती देवदत्तकः । नामग्रहणं किम् ? मद्रबाहुकः । विशेषणमेतन्न नाम । बहुस्वरादिति किम् ? रामकः, गुप्तकः ।।35।।

*न्या०स०–अजा०–*तद्युक्तनीताविति न वर्त्तते इति नृनाम्न इत्युक्ते नृनाम्नो हि अनुकम्पैव घटते न तत्युक्तनीतिः ।

व्याघ्रिल इत्यादि अत्र व्याघ्रसिंहइत्येवंविधा द्विस्वरैव प्रकृतिर्न तु व्याघ्रदत्तसिंहदत्तेत्यनेकस्वरा द्विस्वरयोरेवानयोर्जातिवाचित्वात् बहुस्वरादित्यपि प्रायिकमित्यस्यासंगतार्थत्वापत्तेश्च ।

देवदत्तो हस्तीति कस्यचित् हस्तिनो देवदत्त इति नाम ।

वोपादेरडा–ऽकौ च ।। 7. 3. 36. ।।

उपपूर्वादजातिरूपान्मनुष्य–नामधेयाद्बहुस्वरादनु–कम्पायां गम्यमानायां अड अक चकारात् इय इक इल इत्येते प्रत्यया वा भवन्ति । अनुकम्पित उपेन्द्रदत्तः उपडः, उपकः, उपियः,

उपिकः, उपिलः । वावचनात्पक्षे कबपि । उपेन्द्रदत्तकः ॥36॥

न्या०स०–वोपा०–उपड इति ``आतो नेन्द्र'' (7. 4. 29.) इति ज्ञापकादकृतसंधेरेव ``द्वितीयात्स्वरादूर्ध्वम्'' (7. 3. 41.) इति इन्द्रदत्तेत्यस्य लुक् ।

ऋवर्णोवर्णात्–स्वरादेरादेर्लुक् प्रकृत्या च ॥ 7. 3. 37. ॥

ऋवर्णान्तादुवर्णान्ताच्च परस्यानुकम्पायां विहितस्य स्वरादेः प्रत्ययस्यादेर्लुग् भवति तच्च ऋवर्णोवर्णान्तं लुकि सति प्रकृत्या तिष्ठति । न विकारमापद्यत इत्यर्थः । अनुकम्पितो मातृदत्तः मातृयः, मातृकः, मातृलः । अनुकम्पितः पितृदत्तः पितृयः, पितृकः, पितृलः । अनुकम्पितो वायुदत्तः वायुयः, वायुकः, वायुलः । अनुकम्पितो भानुदत्तः भानुयः, भानुकः, भानुलः, प्रकृतिवद्भावात् रेफावादेशौ न भवतः । ऋवर्णोवर्णादिति किम् ? अनुकम्पितो देवदत्तो देवियः, देविकः, देविलः । अनुकम्पितो वागाशीः, वाचियः, वाचिकः वाचिलः । स्वरादेरिति किम् ? मद्रबाहुकः । आदेरिति किम् ? सर्वस्य माभूत् ॥37॥

न्या०स०–ऋवर्णो०–रेफावादेशाविति ``ऋतो रस्तद्धिते'' (1. 2. 26.) इति अपदान्ते वर्त्तमानस्य ``अस्वयं भुवोऽव्'' (7. 4. 70.) इति च ।

मद्रबाहुक इति मण्डूकप्लूतिन्यायेनाधिकारानुवृत्तिरिति नृनामेति पदं न संबध्यते, ततोऽत्र विशेषणशब्दत्वेन नृनामत्वाभावेऽपि व्यावृत्तेर्न द्वयङ्गविकलता, यदा तु नृनामेत्यत्रापि संबध्यते तदेदमपि नृनाम विवक्ष्यते, ततः ``अजातेर्नृनाम्नः'' (7. 3. 35.) इत्यनेन इयादौ प्रत्यये विकल्पेन सति मद्रियः मद्रबाहुक इत्यादीन्यपि भवन्ति ।

लुक्युत्तरपदस्य कप्न् ॥ 7. 3. 38. ॥

नृनाम्नो यदुत्तरपदं तस्य ते लुग्वेति लुकि सति ततः कप्न् प्रत्ययो भवति अनुकम्पायां गम्यमानायाम्, कबादीनामपवादः । देवदत्तो देवः । अत्र ``ते लुग्वा'' (3. 2. 108.) इत्युत्तरप-दलोपः । अनुकम्पितो देवः देवकः, एवमनुकम्पितो यज्ञः यज्ञकः, पकारः पुंवद्भावार्थः । नकारः ``इच्चापुंसोऽनित्क्याप्परे'' (2. 4. 106.) इत्यत्र पर्युदासार्थः । अनुकम्पिता देवी देवका । अत्र कप्नि सति पित्त्वात्पुंवद्भावे नित्त्वादाप्परेऽपि ककारे इत्वं न भवति ।

उत्तरपदस्येति किम् ? देवदत्ता दत्ता, अत्र ``ते लुग्वा'' (3. 2. 108.) इति पूर्वपदस्य लुक् । अनुकम्पिता दत्ता दत्तिका, पूर्वेण कप् ॥38॥

लुक् चाजिनान्तात् ।। 7. 3. 39. ।।

अजिनशब्दान्तान्मनुष्य–नाम्नोऽनुकम्पायां गम्यमानायां कप्न् प्रत्ययो भवति तत्संनियोगे लुक् चोत्तरपदस्य । व्याघ्राजिनो व्याघ्रमहाजिनो वा नाम मनुष्यः सोऽनुकम्पितो व्याघ्रकः, एवं सिंहकः, शरभकः, वृककः, कृष्णकः, उलकः, अनुकम्पिता व्याघ्राजिना व्याघ्रमहाजिना वा व्याघ्रकाः, सिंहकाः । ``आतो नेन्द्रवरुणस्य'' (7. 4. 29.) इत्यत्र ज्ञापनादकृत-संधेरेवोत्तरपदस्य लुक् ।।39।।

न्या०स०–लुक्चा०–पूर्वोत्तरपदस्य लुकि कप्नि देवकः लुगभावे तु कपि देवदत्तकः एवं च रूपद्वयं स्यादिति, अत्र हि अजिनान्तादेव कप्नि नित्यं लुकि व्याघ्रक एवेति, अयमत्र भावः अजिनान्तस्यानुकम्पायां कप्न सन्नियोग एव लुक्, तेन व्याघ्रजिनक इति न भवति ।

षड्वर्जैकस्वरपूर्वपदस्य स्वरे ।।। 7. 3. 40. ।।

षट्छब्दवर्जितमेकस्वरं पूर्वपदं यस्य तत्संबन्धिन उत्तरपदस्यानुकम्पायां विहिते स्वरादौ प्रत्यये लुग् भवति । उत्तरसूत्रस्यापवादः । अनुकम्पितो वागाशीः वाग्दत्तः वागाशीर्दत्तो वा वाचियः, वाचिकः, वाचिलः । एवं त्वचियः, त्वचिकः, त्वचिलः, स्त्रुचियः, स्त्रुचिकः, स्त्रुचिलः । षड्वर्जेकस्वरपूर्वपदस्येति किम् ? उपेन्द्रेण दत्तः उपेन्द्रदत्तः, सोऽनुकम्पितः उपडः, उपकः, उपियः, उपिकः, उपिलः । उत्तरेण लुक् । षड्वर्जेति किम् ? अनुकम्पितः षडङ्गुलिः, षडियः, षडिकः, षडिलः । अत्रोत्तरेण द्वितीयस्वरादूर्ध्वं लोपः । तथा चावर्णे-वर्णस्येत्यल्लुचः स्थानिवद्भावात्पदत्वस्यानिवृत्तेस्तृतीयत्व न निवर्तते । षड्वर्जनादेव च पदत्वे संधिविधावपि अल्लुकः स्थानित्वनिषेधो न भवति । स्वर इति किम् ? वागाशीकः वागाशी-र्दत्तकः ।।40।।

न्या०स०–षड्व०–वाचिय इति नन्वत्र एकस्वरादूर्ध्वं लोपे सति ``चजः कगम्'' (2. 1. 86.) इति कथं न भवति, यतोऽन्तर्वर्त्तिविभक्तिमाश्रित्य पदसंज्ञाऽस्ति ? उच्यते, यदि प्रत्यये परभावभाजि अन्तवर्त्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदसंज्ञा स्यात्तर्हि सित्येवेति नियमान्न भवति पदत्वं, अथेत्थं भणिष्यन्ति सित्येवेति नियमस्तदा प्रवर्त्तते, यदा वागाशीर्दत्त एवंविधस्य प्राप्नोति किंचित्, यतः ``प्रत्ययः प्रकृत्यादेः'' (7. 4. 115.) इति ?

नैवं, यतः षड्वर्जनात् पूर्वपदस्यापि पदसंज्ञायां कर्त्तव्यायां सित्येवेति नियमः प्रवर्त्तते,

यतोऽत्र षडिक इत्यादिसिद्ध्यर्थं षट् वर्जनं क्रियते, तच्च तदभावेऽपि सेत्स्यति, यतोऽनेन सूत्रणाङ्गुलिलोपेऽपि ``प्रत्ययः प्रकृत्यादेः'' (7. 4. 115.) इति परिभाषया पदत्वस्यानिवृत्तेः, यद् वाऽवयवसमुदाययोरभेदोपचारात् समुदायस्य विभक्तिरवयवात् द्रष्टव्या ततः सित्येवेति नियमः प्रवर्त्तते ।

द्वितीयात् स्वरादूर्ध्वम् ॥ 7. 3. 41. ॥

अनुकम्पायां विहिते स्वरादौ प्रत्यये परतः प्रकृतेर्द्वितीयात्स्वरादूर्ध्वं शब्दस्वरूपस्य लुग् भवति । अनुकम्पितो देवदत्तो देवियः, देविकः, देविलः । अनुकम्पित, उपेन्द्रदत्त, उपडः, उपकः, उपियः, उपिकः, उपिलः, अनुकम्पितः पितृदत्तः, पितृयः, पितृकः, पितृलः, एवं वायुयः, वायुकः, वायुलः, ऊर्ध्वग्रहणं सर्वलोपार्थम् ॥41॥

*न्या०स०–द्विती०–*उपड इति अकृतसंधेरेव लुबित्युत्तरेणाप्राप्तिः, तृतीयत्वं च पूर्ववन्न भवति ।

संध्यक्षरात्तेन ॥ 7. 3. 42. ॥

अनुकम्पायां विहिते स्वरादौ प्रत्यये परतः प्रकृतेर्द्वितीयात्संध्यक्षर–रूपात्स्वरादूर्ध्वं शब्दरूपस्य तेन द्वितीयेन संध्यक्षरेण सह लुग् भवति । अनुकम्पितः कुबेरदत्तः कुबियः, कुबिकः, कुबिलः । अनुकम्पितः कहोडः, कहियः, कहिकः, कहिलः । अनुकम्पितो लहोडः–लहियः, लहिकः, लहिलः । अनुकम्पितः कपोतरोमा-कपियः, कपिकः, कपिलः । अनुकम्पितोऽमोघः अमोघदत्तः, अमोघजिह्वो वा अमियः, अमिकः, अमिलः । सन्ध्यक्षरादिति किम् ? अनुकम्पितो गुरुदत्तः गुरुयः, गुरुकः, गुरुलः ॥42॥

शेवलाद्यादेस्तृतीयात् ॥ 7. 3. 43. ॥

शेवलादिपूर्वपदस्य मनुष्यनाम्नोऽनुकम्पायां विहिते स्वरादौ प्रत्यये परे तृतीयात्स्वरादूर्ध्वं लुग्भवति, द्वितीयात्स्वरादूर्ध्वमित्यस्यापवादः । अनुकम्पितः शेवलदत्तः, शेवलियः, शेवलिकः, शेवलिलः एवं सुपरिदत्तः, सुपरियः, सुपरिकः, सुपरिलः । विशालदत्तः, विशालियः, विशालिकः । विशालिलः, वरुणदत्तः वरुणियः, वरुणिकः, वरुणिलः । अर्यमदत्तः अर्यमियः, अर्यमिकः, अर्यमिलः । अत्राप्यकृतसंधेरेव लोपः शेवलेन्द्रदत्तोऽनुकम्पितः शेवलिक इति यथा स्यात् शेवलयिक इति माभूत्, सुपर्याशीर्दत्तोऽनुकम्पितः सुपरिक इति यथा स्यात्

सुपर्पिक इति मा भूत् । शेवल, सुपरि, विलाश, वरुण, अर्यमन् इति शेवलादिः । केचित्तु विशाखिलः, कुमारिल इत्यत्रापीच्छन्ति ।।43।।

न्या०स०–शेव०–सुपरिदत्त इति सुष्ठु पिपर्त्ति सुपरीति पूर्वं पदं नोपसर्गद्वयम् ।

क्वचित् तुर्यात् ।। 7. 3. 44. ।।

अनुकम्पायां विहिते स्वरादौ प्रत्यये परे क्वचिल्लक्ष्यानुसारेण तुर्याच्चतुर्थात्स्वादूर्ध्वं लुग्भवति । अनुकम्पितो बृहस्पतिदत्तो, बृहस्पतिशर्मा वा बृहस्पतियः बृहस्पतिकः, बृहस्पतिलः, एवं प्रजापतियः, प्रजापतिकः, प्रजापतिलः ।। अकृतसन्धेरित्येक पूर्ववत् प्रजापत्याशीर्दत्तोऽनुकम्पितः प्रजापतिक इति यथा स्यात् प्रजापत्यिक इति मा भूत् । क्वचिद्ग्रहणादिह न भवति । अनुकम्पितः, उपेन्द्रदत्तः, उपडः, उपकः, उपियः उपिलः ।।44।।

पूर्वपदस्य वा ।। 7. 3. 45. ।।

अनुकम्पायां विहिते स्वरादौ प्रत्यये परे पूर्वपदस्य लुग् वा भवति । अनुकम्पितो देवदत्तः, दत्तियः, दत्तिकः, दत्तिलः । वावचनाद्यथाप्राप्तम् । देवियः, देविकः, देविलः "द्वितीयात्स्वरा-दूर्ध्वम्" (7. 3. 41.) इति लुक् ।।45।।

न्या०स०–पूर्व०–दत्तिय इति "ते लुग् वा" (3. 2. 108.) इति पूर्वं लुकि बहुस्वरत्वा भावादियादिर्न स्यादिति वचनम् ।

ह्रस्वे ।। 7. 3. 46. ।।

दीर्घप्रतियोगि ह्रस्वम्, ह्रस्वेऽर्थे वर्तमानाच्छब्दरूपाद्यथायोगं कबादयः प्रत्यया भवन्ति । ह्रस्वः पटः पटकः, शाटकः, ह्रस्वं पचति पचतकि, ह्रस्वकालयोगात्क्रिया ह्रस्वेत्युच्यते । ह्रस्वाः सर्वे सर्वके, विश्वके, उच्चकैः, नीचकैः, तूष्णीकाम् । संज्ञायामपि ह्रस्वत्वयोगात्कप्, स ह्रस्व इत्येव सिद्धः । वंशकः, वेणुकः, नडकः (नरकः), ललकः, वरकः ।।46।।

न्या०स०–ह्रस्वे०–दीर्घप्रतियोगि ह्रस्वमिति लोहादिकं ह्रस्वं च महच्च संभवतीति महत्प्रतियोगिनि "अल्पे" (3. 2. 136.) इति न सिध्यति । सिद्ध इति ये हि संज्ञायां कप् प्रत्ययं विदधति तेऽपि ह्रस्वत्वोपाधिकायां संज्ञायामिति व्याख्यान्तीति संज्ञायामप्येनैव कप् सिद्ध इत्यर्थः ।

कुटी–शुण्डाद् रः ॥ 7. 3. 47. ॥

कुटीशुण्डा इत्येताभ्यां ह्रस्वेऽर्थे वर्तमानाभ्यां रः प्रत्ययो भवति, कपोऽपवादः । ह्रस्वा कुटी कुटीरः, शुण्डारः । केचित्तु कुटीस्थाने कुदीं पठन्ति । कुदीरः ॥47॥

शम्या रु–रौ ॥ 7. 3. 48. ॥

शमीशब्दात् ह्रस्वेऽर्थे वर्तमानात् रुर इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः । ह्रस्वा शमी शमीरुः, शमीरः ॥48॥

कुत्वा डुपः ॥ 7. 3. 49. ॥

कुतूशब्दाद्ध्रस्वेऽर्थे वर्तमानात्स्वार्थे डुपः प्रत्ययो भवति । ह्रस्वा कुतूः कुतुपः, कुतूरिति चर्ममयं तैलाद्यावपनमुच्यते ॥49॥

कासू–गोणीभ्यां तरट् ॥ 7. 3. 50. ॥

कासूगोणी इत्येताभ्यां ह्रस्वेऽर्थे वर्तमानाभ्यां तरट् प्रत्ययो भवति । ह्रस्वा कासूः कासूतरी, गोणीतरी । पुंलिङ्गमपि दृश्यते इत्येके । कासूतरः, गोणीतरः, कासूः शक्तिर्नामायुवम् । गोणी धान्यावपनम् । टकारो ङ्यर्थः ॥50॥

वत्सोक्षा–ऽश्वर्षमाद्ध्रासे पित् ॥ 7. 3. 51. ॥

वत्स, उक्षन्, अश्व, ऋषभ इत्येतेभ्यः शब्दप्रवृत्ति–निमित्तस्य स्वार्थस्य ह्रासे गम्यमाने तरट् प्रत्ययो भवति स च पित् ।

ह्रसितो वत्सः वत्सतरः । वत्सः प्रथमवयस्को गौः तस्य ह्रासो द्वितीयवयःप्राप्तिः, ह्रसित उक्षा उक्षतरः, उक्षा द्वितीयवयास्तरुणस्तस्य ह्रासस्तृतीयवयःप्राप्ति । ह्रस्तितोऽश्वोऽश्वतरः । अश्वेनाश्वायां जातोऽश्वस्तस्य ह्रासो गर्दभपितृकता, आशुगमनाद्वाश्वस्तस्य ह्रासो गमने मन्दता, सर्वथाश्वतरशब्दो जातिशब्दः, ह्रसित ऋषभः ऋषभतरः, ऋषभोऽनड्वान् बलीयान् तस्य ह्रासो भारवहने मन्दशक्तिता, प्रत्यासत्तेः शब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य ह्रासे भवति । इह माभूत् कृशो वत्सो वत्सतर इति । पित्करणं पुंवद्भावार्थम् । ह्रसिता वत्सा वत्सतरी, ह्रसिताश्वा अश्वतरी ॥51॥

वैकाद् द्वयोर्निर्धार्ये डतरः ॥ 7. 3. 52. ॥

समुदायादेकदेशो जातिगुणक्रिया–संज्ञाद्रव्यैर्निष्कृष्य बुद्ध्या पृथक्क्रियमाणो निर्धार्यः। एकशब्दात् द्वयोर्मध्ये निर्धार्येऽर्थे वर्तमानात् डतरः प्रत्ययो वा भवति। एकतरो भवतोः कठः पटुर्गन्ता देवदत्तो दण्डी वा। वावचनम् अगर्थम्। एकको भवतोः कठः पटुर्वा, महावाधिकारान्न भवत्यपि। एको भवतोः पटुः। द्वयोरिति किम् ? एकोऽस्मिन् ग्रामे प्रधानम्। निर्धार्य इति किम् ? एकोऽनयोर्ग्रामयोः स्वामी ॥52॥

न्या०स०—वैकाद्०—अगर्थमिति महावाधिकारेणैव सिद्धे किमर्थं वावचनमित्याशङ्का।

यत्–तत्–किमन्यात् ॥ 7. 3. 53. ॥

यद्, तद्, किम्, अन्य इत्येतेभ्यो द्वयोरेकस्मिन् निर्धार्येऽर्थे वर्तमानेभ्यो डतरः प्रत्ययो भवति। यतरो भवतोः कठः पटुर्गन्ता देवदत्तो दण्डी वा ततर आगच्छतु। कतरो भवतोः कठः पटुर्गन्ता देवदत्तो दण्डी वा, अन्यतरो भवतोः कठः पटुर्गन्ता देवदत्तो दण्डी वा। महावाधिकारात्प्रत्ययो ना भवत्यपि। यो भवतोः पटुः स आगच्छतु। को भवतोः पटुः, अन्यो भवतोः पटुः, द्वयोरित्येव ? योऽस्मिन् ग्रामे प्रधानं स आगच्छतु। निर्धार्य इत्येव ? योऽनयोर्ग्रामयोः स्वामी स आगच्छतु ॥53॥

बहूनां प्रश्ने डतमश्च वा ॥ 7. 3. 54. ॥

यद्, तद्, किम्, अन्य इत्येतेभ्यो बहूनां मध्ये निर्धार्येऽर्थे वर्तमानेभ्यः प्रश्नविषये डतमः प्रत्ययो वा भवति चकाराड्डतरश्च। यतमो यतरो वा भवतां कठस्ततमस्ततरो वा आगच्छतु, कतमः कतरो वा भवतां कठः, प्रमाणान्तरात् प्रतिपत्तौ बहूनामप्रयोगेऽपि भवति। यथा बहुष्वासीनेषु कश्चित्कंचित्पृच्छति कतमो देवदत्तः कतरो देवदत्तः। अन्यतमोऽन्यतरो वा भवतां कठः। शुचिवल्कवीतवपुरन्यत–मस्तिमिरच्छिदामिव गिरौ भवतः। वृद्धस्तु व्याधितो वा राजा मातृवन्धुकुल्यगुणवत्सामन्ता–नामन्यतमेन क्षेत्रे बीजमुत्पादयेत्। वावचनमगर्थम्। यको भवतां कठः सक आगच्छतु, अन्यक एषां कालापः। किमस्तु साकः कादेश उक्तः। महावाधिकारात् प्रत्ययो न भवत्यपि। यो भवतां कठः स आगच्छतु। बहूनामिति किम् ? योऽस्मिन् ग्रामे कठः स आगच्छतु। प्रश्न इति किम् ? क्षेपे माभूत्। को भवतां कठः कुत्सित इत्यर्थः। प्रश्नग्रहणं किमो विशेषणं नान्यस्यासंभवात्। अन्ये त्वाहुः यत्तत्किंभ्यो जातावेव

डतमः; डतरस्तु बहूनां निर्धार्ये किम एव न यत्तद्भ्याम्, सच जातावेव, अन्यशब्दादपि बहुविषये डतम एव न तु डतरः, डतरडतमौ च निर्धार्ये अन्यशब्दान्नित्यावेव नाक्, नापि केवलस्य प्रयोगः, एके त्वविशेषेणेत्यत्राभिधान–मनुसर्तव्यम् ॥54॥

वैकात् ॥ 7. 3. 55. ॥

एकशब्दात् बहूनामेकस्मिन् निर्धार्येऽर्थे वर्तमानात् डतमः प्रत्ययो वा भवति। एकतमो भवतां कठः पटुर्गन्ता देवदत्तो दण्डी वा। वावचनादक्, एककः। महावाधिकारान्न भवत्यपि। एको भवतां कठः। पृथग्योगो डतरनिवृत्त्यर्थः ॥55॥

क्तात् तमबादेश्चानत्यन्ते ॥ 7. 3. 56. ॥

क्तान्तात्केवलात्तमबाद्यन्ताच्चा–नत्यन्तेऽर्थे वर्तमानात् कप् प्रत्ययो भवति। क्रियायाः स्वेनाश्रयेण साकल्येनानभि–संबन्धोऽनत्यन्तता। अनत्यन्तं भिन्नं भिन्नकम्, अनत्यन्तं छिन्नं छिन्नकम्, अनत्यन्तं भिन्ना भिन्निका घटी, छिन्निका रज्जुः, तमबाद्यन्तात् क्तात्, अनत्यन्तं भिन्नतमं भिन्नतमकम्, एवं भिन्नतरकम् भिन्नकल्पम्, भिन्नकल्पकम् छिन्नतमकम्, छिन्नतरकम्, छिन्नक्ल्पम्, तमबाद्यन्तेषु क्तान्तता नास्तीति तमबादिग्रहणम्। असमासस्तमबा-देरित्यत्रा–पिक्तादित्यस्य सबन्धार्थः, तेनेह न भवति। अनत्यन्तं शुक्लतमम् ॥56॥

न सामिवचने ॥ 7. 3. 57. ॥

सामि अर्धः, सामिवचने उपपदे अनत्यन्तेऽर्थे वर्तमानात् क्तान्तात्केवलात्तम–बाद्यन्ताच्च कप् प्रत्ययो न भवति। सामि अनत्यन्तं भिन्नम्, एवं कृतं भुक्तं पीतम्। भिन्नतमम्, भिन्नतरम्। वचनग्रहणं पर्यायार्थम्। अर्धमनत्यन्तं भिन्नम्। नेममनत्यन्तं भिन्नम्। एवं शकलं खण्डमित्यादि। अन्ये तु समास एवोदाहरन्ति। सामिकृतम् अर्धकृतमिति। ननु साम्यादिभिरेवानत्यन्तताया अभिहितत्वादुक्तार्थत्वेन कप् न प्राप्नोतीति व्यर्थः प्रतिषेधः। उच्यते साम्यादिभिः समुदायविषयक्रियाया एवानत्यन्तता प्रतीयते न स्वविषये। तत्रानत्यन्तविवक्षायां कप् प्राप्नोतीति प्रतिषेधवचनम् ॥57॥

नित्यं ञ–ञिनोऽण् ॥ 7. 3. 58. ॥

ञञिन् इत्येतत्प्रत्ययान्तात्स्वार्थे नित्यमण् प्रत्ययो भवति। नित्यग्रहणान्महाविभाषा निवृत्ता। व्यावक्रोशी, व्यावलेखी, व्यावहासी वर्तते। ञिन्, सांकोटिनम्, सांराविणम्,

सांमार्जिनम् ।।58।।

विसारिणो मत्स्ये ।। 7. 3. 59. ।।

विसारिन् शब्दान्मत्स्ये वर्तमानात्स्वार्थेऽण् प्रत्ययो भवति । विसरतीति विसारी, ग्रहादित्वाण्णिन् । मत्स्यश्चेत् वैसारिणः । मत्स्य इति किम् ? विसारी देवदत्तः ।।59।।

पूगादमुख्यकाञ्ञ्यो द्रिः ।। 7. 3. 60. ।।

नानाजातीया अनियतवृत्तयोऽर्थकामप्रधानाः संघाः पूगाः । पूगवाचिनो नाम्नः स्वार्थे ञ्यः प्रत्ययो भवति सच द्रिसंज्ञः न चेत्पूगवाचि नाम ``सोऽस्य मुख्यः'' (7. 1. 190.) इति विहितकप्प्रत्ययान्तं भवति । लौहध्वजाः पूगाः, लौहध्वज्यः, लौहध्वज्यौ, लौहध्वजाः, शैब्यः, शैब्यौ, शिबयः, वातक्यः, वातक्यौ, वातकाः । द्रित्वात् बहुष्वस्त्रियां लुप् । अमुख्यकादिति किम् ? देवदत्तो मुख्योऽस्य देवदत्तकः, इन्द्राग्निलुप्तकः पूगः ।।60।।

व्रातादस्त्रियाम् ।। 7. 3. 61. ।।

नानाजातीया अनियतवृत्तयः शरीरायासजीविनः संघा व्राताः । व्रातवाचिनोऽस्त्रियां वर्तमानात् स्वार्थे ञ्यः प्रत्ययो भवति स च द्रिसंज्ञः । कापोतपाक्यः, कापोतपाक्यौ, कपोतपाकाः, व्रैहिमत्यः, व्रैहिमत्यौ, व्रीहिमताः । अस्त्रियामिति किम् ? कपोतपाका, व्रीहिमता स्त्री ।।61।।

शस्त्रजीविसंघाञ्ञ्यड् वा ।। 7. 3. 62. ।।

शस्त्रजीविनां यः संघस्तद्वाचिनः स्वार्थे ञ्यट प्रत्ययो भवति स च द्रिसंज्ञः । शबराः शस्त्रजीविसंघः । शाबर्यः, शाबर्यौ, शबराः, पौलिन्द्यः, पौलिन्द्यौ, पुलिन्दाः । कुन्तेरपत्यं बहवो माणवकाः कुन्तयः, ते शस्त्रजीविसंघः कौन्त्यः, कौन्त्यौ, कुन्तयः । पक्षे शबरः । पुलिन्दः । शस्त्रजीविग्रहणं किम् ? मल्लाः संघः, मल्लः, मल्लौ, मल्लाः, शयण्डः, शयण्डौ, शयण्डाः । संघादिति किम् ? सम्राट्, वागुरः, वागुरौ, वागुराः । नैते श्रेणिबद्धा इति न संघः । टकारो ङ्यर्थः । शाबरी, पौलिन्दी, कौन्ती ।।62।।

न्या०स०–शस्त्र० कुन्तय इति एततसूत्रायातस्यापि ञ्यटो ``बहुष्वस्त्रियाम्'' (6. 1. 124.) इति लुप्, शयण्ड इति शयण्डा योद्धृविशेषा येषां लोके चउकडिया इति प्रसिद्धिः । कौन्तीति कुन्तेरपत्यं बहवो माणवकास्ते शस्त्रजीविसंघः स्त्रीत्वविशिष्टो विवक्षितः, ``दुनादि'' (6. 1. 118.)

इति ञ्यः, ``कुन्त्यवन्तेः स्त्रियाम्'' (6. 1. 121.) इति लुप्, ``नुर्जातेः'' (2. 4. 72.) ङीः ततः ``शस्त्रजीविसंघाञ्ञ्यट्'' (7. 3. 62.) वा ``अवर्णेऽवर्णस्य'' (7. 4. 68.) ``अणञेये'' (2. 4. 20.) इति ङी, ``व्यञ्जनात्तद्धितस्य'' (2. 4. 88.) इति यलुप् ।

वाहीकेष्वब्राह्मण–राजन्येभ्यः ।। 7. 3. 63. ।।

वाहीकेषु यः शस्त्रजीविसंघो ब्राह्मणराजन्यवर्जितस्तद्वाचिनः स्वार्थे ञ्यट् प्रत्ययो नित्यं भवति स च द्रिसंज्ञः । कुण्डीविशाः शस्त्रजीविसंघः, कौण्डीविश्यः, कौण्डीविश्यौ, कुण्डीविशाः क्षौद्रक्यः, क्षौद्रक्यौ, क्षुद्रकाः, मालव्यः, मालव्यौ, मालवाः। वाहीकेष्विति किम् ? शबराः शस्त्रजीविसंघः । शबरः, शबरौ, पुलिन्दः, पुलिन्दौ । अब्राह्मणराजन्येभ्य इति किम् ? गौपालिः, गौपाली, शालङ्कायनः, शालङ्कायनौ, राजन्यः, राजन्यौ, काम्बव्यः, काम्बव्यौ । स्त्रियां राजन्या काम्बव्या । ञ्यटि तु ङीः स्यात् । ब्राह्मणप्रतिषेधे ब्राह्मणविशेषप्रतिषेधः । न हि ब्राह्मणशब्दवाच्यो वाहीकेषु शस्त्रजीविसंघोऽस्ति । राजन्ये तु स्वरूपस्य विशेषस्य च प्रतिषेधः । तदर्थमेव बहुवचनम् । शस्त्रजीविसंघादित्येव । मल्लः, शयण्डः, सम्राट्, वागुरः ।।63।।

वृकाट्टेण्यण् ।। 7. 3. 64. ।।

वृकशब्दाच्छस्त्रजीविसंघ–वाचिनः स्वार्थे टेण्यण् प्रत्ययो भवति स च द्रिः । वार्केण्यः, वार्केण्यौ, वृकाः । टकारो ङ्यर्थः । वार्केणी स्त्री, शस्त्रजीवि–संघादित्येव । कामक्रोधौ मनुष्याणां खादितारौ वृकाविव । वाहीकत्वे नित्यमवाहीकत्वे तु विकल्पेन ञ्यटि प्राप्ते वचनम् । एवमुत्तरसूत्रत्रयमपि ।।64।।

यौधेयादेरञ् ।। 7. 3. 65. ।।

यौधेयादिभ्यः शस्त्रजीविसंघवाचिभ्यौऽञ् प्रत्ययो भवति स च द्रिः । युधाया अपत्यं बहवः कुमारास्ते शस्त्रजीविसंघः यौधेयः, यौधेयौ, यौधेयाः, एवं शौभ्रेयः, शौक्रेयः धार्त्तेयः, धार्त्तेयः, ज्यावनेयः । अञ्वचनं ``संघघोषाङ्कलक्षणेञ्यञिञः'' (6. 3. 171.) इत्यणर्थम्, तेन यौधेयस्य संघादियौधेय इति भवति । ननु यौधेयादयः संघवचनाः कथं गोत्रं भवन्ति ? उच्यते, भर्गाद्यन्तर्गणो यौधेयादिस्तत्र येऽपत्यप्रत्ययान्तास्ते गोत्रं भवन्ति औपगवादिवत् । अपत्यं हि गोत्रम्, अपत्यप्रत्ययान्ताच्च स्वार्थिकोऽप्यपत्यग्रहणेन गृह्यते । अत्र चेदमेव अञ्वचनं लिङ्गम् ।।65।।

न्या०स०—यौधे०—अञ्वचनमिति अथ यौधेयादिभ्योऽञ्वचनं किमर्थम् ? यौधेयादिषु ये तावदेयणन्तास्तेष्वञ् भावाभावयोरविशेषः, यतः तदेव हि रूपं स एव चार्थः प्रत्ययस्य स्वार्थिकत्वात्, त्रिगर्त्तभरतोशीनरेषु तु रूपभेदाऽस्ति तान् पर्श्वादौ प्रक्षिप्य तेभ्योऽण् विधेयो न हि त्रैगर्त्तः त्रैगर्तौ त्रिगर्त्ता इत्यादावणञोर्विशेषोऽस्ति, अथ यौधेयादिभ्यः शस्त्रजीविसंघवाचिभ्यो वाहीकत्वावाहीकत्वाभ्यां नित्यो विकल्पितो वा ञ्यट् प्राप्नोतीत्यञ् विधेयस्तर्हि तानपि पर्श्वादिषु प्रक्षिप्य तेभ्योऽप्यण् विधेय इत्याशङ्का ।

पर्श्वादेरण् ॥ 7. 3. 66. ॥

पर्शु इत्येवमादिभ्यः शस्त्रजीविसंघवाचिभ्यः स्वार्थेऽण् प्रत्ययो भवति स च द्रिः । पर्शोरपत्यं बहवो माणवका पर्शवः । द्विस्वरत्वादण् लुप् । ते शस्त्रजीविसंघः, पार्शवः, पार्शवौ, पर्शवः, राक्षसः, राक्षसौ, रक्षांसि । स्त्रियां तु ``द्रेरञणोऽप्राच्यभर्गादेः'' (6. 1. 123.) इति लुप् । पर्शूः । अणो लुपि ``उतोऽप्राणिनश्च—'' (2. 4. 73.) इत्यादिनोङ् ।

पर्शु, रक्षस्, असुर, वह्लिक, वयस्, (वचस्) वसु मरुत्, सत्वन्, सत्वन्तु दशार्ह पिशाच अशनि, कार्षापण इति पर्श्वादिः ॥66॥

न्या०स०—पर्श्वा०—लुबिति स्त्रियामेकत्वेऽपि लुप् भवतीत्यर्थः ।

दामन्यादेरीयः ॥ 7. 3. 67. ॥

दामन्यादिभ्यः शस्त्रजीविसंघेभ्यः स्वार्थे ईयः प्रत्ययो भवति स च द्रिः । दमनस्यापत्यं बहवः कुमारास्ते शस्त्रजीविसंघः, दामनीयः, दामनीयौ, दामनयः, औलपीयः, औलपीयौ, औलपयः ।

दामनि, औलपि, औपलि, वैजवापि, औदकि, आच्युतन्ति, काकन्दि काकन्दकि, ककुन्दि, ककुन्दकि, शाक्रन्तपि, (शत्रुन्तपि) सार्वसेनि, बिन्दु, तुलभा, मौञ्जायन, ओदमेघि, औपबिन्दि सावित्रीपुत्र, कौण्ठोपरथ, कौण्डोपरथ, कौण्ठारथ, दाण्डकि, क्रौष्टकि, जालमानि, जारमाणि, ब्रह्मगुप्त, ब्राह्मगुप्त, जानकि इति दामन्यादिः । 67 ।

श्रुमच्छमीवच्छिखावच्छालाव-
दूर्णावद्–विदभृदभिजितो गोत्रेऽणो यञ् ॥ 7. 3. 68. ॥

शस्त्रजीविसंघादिति निवृत्तम्, श्रुमच्छमीवच्छि–खावच्छालावदूर्णावद्विदभृदभिजि-दित्येतेभ्यो गोत्रे योऽण् तदन्तेभ्यः स्वार्थे यञ् प्रत्ययो भवति स च द्रिः। श्रुमतोऽपत्यमण् तदन्ताद्यञ् । श्रौमत्यः, श्रौमत्यौ, श्रौमताः । श्रीमच्छब्दादपि केचिदिच्छन्ति । श्रैमत्यः, श्रैमत्यौ, श्रैमताः, शामीवत्यः, शामीवत्यौ, शामीवताः, शैखावत्यः, शैखावत्यौ, शैखावताः, शालावत्यौः, शालावत्यो, शालावताः, और्णावत्यः और्णावत्यौः, और्णावताः, वैदभृत्यः, वैदभृत्यौ, वैदभृताः, आभिजित्यः, आभिजित्यौ, आभिजिताः। गोत्रग्रहणं किम् ? श्रुमत इदं श्रौमतम्, आभिजितो मुहूर्तः। आभिजितः स्थालीपाकः, अपत्यप्रत्ययान्तात्स्वार्थिकोऽपत्य एव वर्तते इति तदाश्रयः प्रत्ययो भवति। श्रौमत्यस्यापत्यं युवा श्रौमत्यायनः, आभिजित्यायनः। अत्र ``यञिञः'' (6. 1. 64.) इत्यायनण् । श्रौमत्यस्यायं श्रौमतकः, आभिजितकः, अत्र ``गोत्राददण्ड''– (6. 3. 168.) इत्यादिनाऽकञ् । श्रौमतानां समूहः श्रौमतकम्, आभिजितकम् । ``अत्र गोत्रोक्ष''– (6. 2. 12.) इत्यादिनाऽकञ् । श्रौमत्यस्य संघादि श्रौमतम् आभिजितम् । अत्र ``संघघोषाङ्क लक्षणेऽञ्यञिञः'' (6. 3. 171.) इत्यण् ।।68।।

समासान्तः ।। 7. 3. 69. ।।

अधिकारोऽयमापादपरिसमाप्तेः, अतः परं ये प्रत्ययास्ते समासस्यान्ता अवयवा भवन्ति तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते प्रयोजनं बहुव्रीह्यव्ययीभावद्विगुद्वन्द्व–संज्ञाः। सुजम्भे सुजम्भानौ स्त्रियौ । अत्रानो वहुव्रीहिग्रहणेन ग्रहणात् डाप्ङीविकल्पः सिद्धः । उपधुरम् उपशरदम्, अत्रातोऽव्ययीभावग्रहणेन ग्रहणाद्विभक्तीनामम्भावः । द्विधुरी, त्रिधुरी । अत्र द्विगुग्रहणेन ग्रहणान्ङीः । वाग्दृषदिनी स्रक्त्वचिनी । अत्र द्वन्द्वग्रहणेन ग्रहणादिन् ।।69।।

*न्या०स०–समा०–*द्वंद्वसंज्ञा इति उपलक्षणं चेदं कर्म्मधारयादिसंज्ञा अपि भवति ।

न किमः क्षेपे ।। 7. 3. 70. ।।

निन्दायां यः किंशब्दस्तस्मात् परे य ऋगादयो यानुपादाय समासान्तो विधास्यते तदन्ताद्वक्ष्यमाणः समासान्तो न भवति । किधूर्या न तथा गुर्वी, किंराजा यो न रक्षति, स किंसखा योऽभिद्रुह्यति, किंगौर्यो न वहति, का कुत्सिता धूरस्य किंधूः शकटम्, के कुत्सिते अक्षिणी अस्य किमक्षिर्ब्राह्मणः ।

किम इति किम् ? कुराजः । दुःसखः । क्षेपे इति किम् ? केषां राजा किंराजः, किंसखः, किंगवः ।।70।।

नञ्तत्पुरुषात् ।। 7. 3. 71. ।।

नञ्तत्पुरुषाद्वक्ष्यमाणः समासान्तो न भवति । न ऋक् अनृक्, अराजा, असखा, अपन्थाः । अपथमिति पथशब्दस्य यथा कुपथम् । तत्पुरुषादिति किम् ? न विद्यते धूरस्य अधुरं शकटम्, अपथोऽयमुद्देशः । राज्ञामभावोऽराजं वर्तते ।।71।।

*न्या०स०–नञ्०–*कुपथमिति यद्यत्र पथिन्शब्दः स्यात्तदा ``काक्षपथोः'' (3. 2. 134.) प्रवर्त्तेत ।

पूजास्वतेः प्राक् टात् ।। 7. 3. 72. ।।

पूजायां यौ स्वती ताभ्यां परे य ऋगादयस्तदन्तात्समासात् ``बहुव्रीहेः काष्ठे टः'' (7. 3. 125.) इति टप्रत्ययात्प्राक् यः समासान्तो वक्ष्यते स न भवति । शोभना धूः सुधूः, अतिधूः, सुराजा, अतिराजा, सुधूः शकटम्, अतिधूः शकटम्, सुसखा, अतिसखा, सुगौः, अतिगौः । पूजाग्रहणं किम् ? अतिक्रान्तो राजानमतिराजः, अतिसखः, अतिगवः । स्वतेरिति किम् ? परमधुरा, परमराजः, परमसखः, परमगवः । प्राक्टादिति किम् ? स्वङ्गुलं काष्ठम् अत्यङ्गुलं काष्ठम्, सुसक्थः, अतिसक्थः, स्वक्षः, अत्यक्षः ।।72।।

बहोर्डे ।। 7. 3. 73. ।।

डे डविषये डप्रसङ्गो यत्र ततो बह्वन्तात्समासान्तो ङः कच् च न भवति । आसन्ना बहवो येषां ते आसन्नबहवः, उपबहवः । बहोरिति किम् ? द्वित्राः, उपदशाः । ड इति किम् ? प्रिया बहवोऽस्य प्रियबहुकः ।।73।।

*न्या०स०–बहो०–*आसन्नबहव इति ``आसन्नदूर'' (3. 1. 20.) इति सः, ``बहुगणं भेदे'' (1. 1. 40.) इति संख्यावद्भावात् ``प्रमाणीसंख्याड्डः'' (7. 3. 128.) इति ड प्रत्ययः प्राप्नोति, तस्मिन् निषिद्धे ``शेषाद् वा'' (7. 2. 175.) इति कच्च प्राप्नोति, उभयस्यापि सामान्येनाऽयं प्रतिषेध इत्युभयमपि न भवति ।

उपबहव इति ``अव्ययम्'' (3. 1. 21.) इति समासः ।

प्रियबहूक इति ``एकार्थं चाऽनेकं च'' (3. 1. 22.) इति सामान्यसमासः, ततः ``प्रमाणीसंख्याड् डः'' (7. 3. 128.) इत्यत्र प्रतिपदोक्तबहुव्रीहेर्ग्रहणात् बहोर्वैपुल्यार्थत्वेन वा संख्यात्वा- भावे ङः समासान्तो न भवति किंतु कच् ।

इज् युद्धे ।। 7. 3. 74. ।।

युद्धे यः समासो विहितस्तस्मादिच् समासान्तो भवति । केशाकेशि, दण्डादण्डि, मुसलामुसलि, मुष्टामुष्टि, अस्यसि । चकारः ``इच्यस्वरे दीर्घ आच्च'' (3. 2. 72.) इत्यत्र विशेषणार्थः ।।74।।

न्या०स०—इच् युद्धे—विशेषणार्थ इति अथ तत्राऽपि इरित्येव क्रियताम् ? न, तथा सति ``दृतिनाथात् पशाविः'' (5. 1. 97.) इत्यस्मिन्नपीकारे दीर्घप्रसङ्गः ।

द्विदण्ड्यादिः ।। 7. 3. 75. ।।

द्विदण्डि इत्येवमादयः समासा इजन्ताः साधवो भवन्ति । द्वौ दण्डावस्मिन् प्रहरणे द्विदण्डि प्रहरति । एवं द्विमुसलि, उभादन्ति उभयादन्ति, उभाबाहु, उभयाबाहु । उभौ हस्तावस्मिन्पाने उभाहस्ति पिबति । एवमुभयाहस्ति । उभापाणि उभयापाणि, उभाञ्जलि, उभयाञ्जलि, उभौ कर्णावस्मिन् श्रवणे उभाकर्णि श्रृणोति, एवमुभयाकर्णि । अन्ते वासोऽस्मिन्स्थानेऽन्तेवासि तिष्ठति । अन्तेवासी गुरोरिति ताच्छीलिकान्तोऽन्य एव शब्दः । संहितानि पुच्छान्यस्मिन् सरणे संहितपुच्छि धावन्ति । एकः पादोऽस्मिन् गमने एकपदि गच्छति, समानौ पादावस्मिन्सपदि गच्छति । आच्यपादौ आच्यपादे शेते । एवं प्रोह्यपादे हस्तिनं वाहयति, निकुच्य कर्णौ निकुच्यकर्णि धावति ।

तिष्ठद्ग्वादित्वादव्ययीभावः । उभाबाहु उभयाबाह्वित्यत्र निपातनादिज्लुपि स्थानिवद्भावादिजन्तत्वेना—व्ययीभावसंज्ञा । विभक्त्यलुक् पादस्य पद्भावः समानस्य सभावश्चेत्यादि सर्वं निपातनात् सिद्धम् । क्रियाविशेषणाच्चान्यत्र न भवति । द्वौ दण्डावस्यां शालायां । द्विदण्डा, द्विमुसला ।।75।।

न्या०स०—द्विद०—उभयापाणीति उभस्य उभयोऽद्वित्वे इत्यनुपदकारसूत्रं ततः उभयः पाणिः उभयो वा पाणयो यस्मिन्नित्येकत्वे बहुत्वे एव वाक्यं कार्यं, एवमन्यत्राऽपि ।

ऋक्—पूःपथ्यपोऽत् ।। 7. 3. 76. ।।

ऋच्, पुर्, पथिन्, अप् इत्येतदन्तात्समासादत् अकारः समासान्तो भवति । ऋचोऽर्धम् अर्धर्चः, ऋचः समीपमुपर्चम्, सप्तर्चं सूक्तम्, उच्चारितर्चः । पुर्, श्रियाः पूः श्रीश्चासौ

पूश्चेति वा श्रीपुरम्, पिष्टपुरम्, त्रिपुरम्, स्फीतपुरो देशः । पथिन्, जलपथः, स्थलपथः, उपपथम्, प्रतिपथम्, विशालपथं नगरम्, अप्, द्विर्गता आपोऽस्मिन् द्वीपम्, समीपम्, प्रतीपम् बह्वपं तडागम्, पुरपथशब्दाभ्यां सिद्धे पुर् पथिन् इत्येतयोरुपादानमेतद्विषये प्रयोगनिवृत्त्यर्थम् ॥76॥

*न्या०स०—ऋक्पू:०—*त्रिपुरमिति तिसृणां पुरां समाहारः, उत्तरपदस्यादन्तत्वाभावात् स्त्रीत्वाभावः, किंतु अन्यस्तु सर्वो नपुंसकः प्रयोगनिवृत्त्यर्थमिति समासान्तविषये व्यञ्जनान्तयोः प्रयोगो न भवतीत्यर्थः ।

धुरोऽनक्षस्य ॥ 7. 3. 77. ॥

धुरन्तात्समासादत् समासान्तो भवति सा चेद्धूः अक्षसंबन्धिनी न भवति । राज्यधुरा, रणधुरा द्विधुरी, त्रिधुरी, उपधुरम् महाधुरं शकटम् । अनक्षस्येति किम् ? अक्षधूः दृढधूरक्षः ॥77॥

*न्या०स०—धुरो०—*अक्षसंबन्धिनी नेति शब्दद्वारकमेतन्नार्थद्वारकम्, तेन महाधुरं शकटमिति सिद्धम् ।

द्विधुरीत्यादि द्वयोः धुरोः समाहारः, तिसृणां धुरां समाहारः, अभ्यस्तु सर्वो नपुंसक इति वचने सत्यपि तद्बहुलमिति स्त्रीत्वे ``द्विगोः'' (2. 4. 22.) इति ङीः ।

संख्या—पाण्डूदक्—कृष्णाद्भूमेः 7. 3. 78. ॥

संख्यावाचिभ्यः पाण्डु उदच् कृष्ण इत्येतेभ्यश्च नामभ्यः परो यो भूमिशब्दस्त-दन्तात्समासादत्—समासान्तो भवति । द्वयोर्भूम्योः समाहारो द्विभूमम्, त्रिभूमम् द्वे भूमी अस्य द्विभूमः त्रिभूमः प्रासादः पाण्डुर्भूमिः पाण्डुभूमम् पाण्डुभूमो देशः, उदीची भूमिः उदग्भूमम्, उदग्भूमो देशः, कृष्णा भूमिः कृष्णभूमम्, कृष्णभूमो देशः । भूमोऽसंख्यात एकार्थ इति पाण्डुभूमादेर्नपुंसकत्वम् । संख्यादिभ्य इति किम् ? सर्वभूमिः ॥78

उपसर्गादध्वनः ॥ 7. 3. 79. ॥

उपसर्गात् धातुयोगे यः प्रादिरुपसर्गसंज्ञां लभते तस्मात्परादध्वनोऽत् समासान्तो भवति । प्रगतमध्वानं प्राध्वं शकटम्, प्राध्वो रथः, उपकान्त—मध्वानमुपाध्वम् निरध्वम्, अत्यध्वम् ॥79॥

समवा–न्धात् तमसः ॥ 7. 3. 80. ॥

सम् अव अन्ध इत्येतेभ्यः परो यस्तमस्शब्दस्तदन्तात्समासादत् समासान्तो भवति । संततं तमः संततं तमसा संततं तमोऽस्मिन्निति वा संतमसम् । अवहीनं तमोऽवहीनं तमसा अवहीनं तमोऽस्मिन्निति वा अवतमसम् । अन्धं करोतीत्यन्धम्, अन्धं च तत्तमश्च अन्धं तमोऽस्मिन्निति वा अन्धतमसम्, अन्धश्च तमश्चेति अन्धतमसम् अन्धतमसे वा ॥80॥

न्या०स०–सम०–अन्धं करोतीति अन्धण् इत्येतस्याचि ततः करोत्यर्थे णिचि ततोऽचि सामानाधिकरण्यम् ।

तप्ता–ऽन्ववाद्रहसः ॥ 7. 3. 81. ॥

रह इति अप्रकाश्यं विजनं वा । तप्त, अनु, अव इत्येतत्पूर्वो यो रहःशब्दस्तदन्तान्तादत्स-मासादत्समासान्तो भवति । तप्तं तप्ताय इवानधिगम्यं रहः तप्तरहसम्, तप्तं रहोऽस्येति तप्तरहसः, अनुगतं रहोऽनुगतं रहसा वा अनुरहसम्, अनुगतं रहोऽस्येति अनुरहसः । अवहीनं रहोऽवहीनं रहसा वा अवरहसम्, अवहीनं रहोऽस्येत्यवरहसः ॥81॥

प्रत्यन्ववात्–साम–लोम्नः ॥ 7. 3. 82. ॥

प्रति अनु अव इत्येतेभ्यः परौ यौ सामन्लोमन्शब्दौ तदन्तात्समासादत्–समासान्तो भवति । प्रतिगतं साम प्रतिसामम्, प्रतिगतं सामास्य प्रतिसामः, एवमनुसामम् अनुसामः, अवसामम् अवसामः, प्रतिलोमम् प्रतिलोमः, अनुलोमम् अनुलोमः, अवलोमम्, अवलोमः । अव्ययीभावे तु परत्वाद्विकल्पः ।

साम साम प्रति साम्नोऽभिमुखं वा प्रतिसाम, प्रतिसामम् । साम सामानु साम्नः समीपं साम्ना तुल्यायामं वा अनुसाम, अनुसामम् एवं प्रतिलोम, प्रतिलोमम्, अनुलोम, अनुलोमम् । प्रत्यन्ववादिति किम् ? निःषाम वचनम् । निर्लोमा पुरुषः । सामलोम्न इति किम् ? प्रतिकर्म ॥82॥

न्या०स०–प्रत्य०–विलोमेनेति तु पृषोदरादित्वात् लोम्न ऋद्ध्यभावो वा विलोमं ``नपुंसकाद् वा'' (7. 3. 89.) इति समासान्ते तद्योगात् ।

ब्रह्म–हस्ति–राज–पल्याद्वर्चसः ।।। 7. 3. 83. ।।

ब्रह्मन्, हस्तिन्, राजन्, पल्य इत्येतेभ्यः परो यो वर्चस्शब्दस्तदन्तात्–समासादत्स-मासान्तो भवति । वर्चस्तेजो बलं वा, ब्रह्मणो वर्चः ब्रह्मवर्चसम्, एवं हस्तिवर्चसम् । राजवर्चसम् । पल्यवर्चसम् । पल्यं कटकृतं पवालवर्तिकृतं वा धान्यभाजनम् । हस्तिविधा वा। ब्रह्मादिभ्य इति किम् ? नृपाः सोमार्कवर्चसः । कथं त्विषिमान् राजवर्चस्वीति । समासान्तविधेरनित्यत्वात् । एतच्च ``ऋक्पूःपथ्यपोऽत्''–(7. 3. 76.) इति निर्देशात्सिद्धम् ।।83।।

प्रतेरुरसः सप्तम्याः ।। 7. 3. 84. ।।

प्रतिशब्दात्परो य उरस्शब्दः सप्तम्यन्तस्तदन्तात्समासादत्–समासान्तो भवति । उरसि वर्तते प्रत्युरसम्, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । उरसि प्रतिष्ठितं प्रत्युरसम्, ``प्रात्यव''– (3. 1. 47.) इत्यादिना तत्पुरुषः । सप्तम्या इति किम् ? प्रतिगतसुरः उरः प्रति वा प्रत्युरः ।।84।।

अक्ष्णोऽप्राण्यङ्गे ।। 7. 3. 85. ।।

अक्षिशब्दान्तात्समासादत्समासान्तो भवति अप्राण्यङ्ग न चेत् सोऽक्षिशब्दः प्राण्यङ्गे वर्तते । लवणस्याक्षि लवणमक्षीवेति वा लवणाक्षम् । पुष्कराक्षम्, गवाक्षः, रुद्राक्षम्, महिषाक्षो गुग्गुलः । कचराक्षमश्वानां मुखप्रच्छादनं बहुच्छिद्रकम् । अप्राण्यङ्ग इति किम् ? अजाक्षि, उपाक्षि, वामाक्षि ।।85।।

सं–कटाभ्याम् ।। 7. 3. 86. ।।

संकट इत्येतत्पूर्वादक्षिशब्दादत्समासान्तो भवति । संगतमक्ष्णा समीपमक्ष्णो वा समक्षम् । कटस्याक्षि कटाक्षः । प्राण्यङ्गार्थं वचनम् ।।86।।

प्रति–परो–ऽनोरव्ययीभावात् ।। 7. 3. 87. ।।

प्रति परस् अनु इत्येतत्पूर्वो योऽक्षिशब्दस्त–दन्तादव्ययीभावसमासादत्समासान्तो भवति । अक्षिणी प्रति प्रत्यक्षम्, परसमानार्थः परस्शब्दोऽव्ययम्, अक्ष्णोः परं परोक्षम्, अत्ययेऽव्ययी-भावः । अक्ष्णः समीपमन्वक्षम् । कथं प्रत्यक्षोऽर्थः परोक्षः काल इत्यादेरव्ययीभावस्य सत्ववचनता । अभ्रादेराकृति–गणत्वादप्रत्ययेन भविष्यति ।। अक्षशब्देनेन्द्रियपर्यायेण सिद्धे प्रत्यादिभ्यः परस्याक्षिशब्दस्याव्ययीभावे प्रयोगो मा भूदिति वचनम् ।।87।।

अनः ॥ 7. 3. 88. ॥

अन्नन्ताद–व्ययीभावादत्समासान्तो भवति । उपराजम्, उपतक्षम्, अध्यात्मम्, प्रत्यात्मम् ॥88॥

नपुंसकाद्वा ॥ 7. 3. 89. ॥

अन्नन्तं यन्तपुंसकं तदन्तादव्ययीभावादत्समासान्तो वा भवति । उपचर्मम्, उपचर्म, प्रतिकर्मम् प्रतिकर्म, प्रतिसाम, प्रतिसामम्, अनुलोम, अनुलोमम्, प्रतिलोम, प्रतिलोमम्, । पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पः ॥89॥

गिरि–नदी–पौर्णमास्याग्रहायण्य–पञ्चमवर्ग्याद्वा ॥ 7. 3. 90. ॥

गिरि नदी पौर्णमासी आग्रहायणी इत्येतच्छब्दान्तात्पञ्चमरहिता ये वर्ग्यास्तदन्ताच्चाव्ययी-भावात्समासादत्समामान्तो भवति वा । गिरेरन्तः अन्तर्गिरम् अन्तर्गिरि, गिरेः समीपमुपगिरम्, उपगिरि, एवमुपनदम् उपनन्दि, उपपौर्णमासम् उपपौर्णमासि, उपाग्रहायणम्, उपाग्रहायणि, अपञ्चमवर्ग्य, उपस्त्रुचम् उपस्त्रुक्, अधिस्त्रजम्, अधिस्त्रक्, उपैडविडम्, उपैडविड्, प्रतिमरुतम्, प्रतिमरुत्, उपदृषदम्, उपदृषद्, उपसमिधम्, उपसमित्, उपककुभम्, उपककुब् ॥90॥

न्या०स०–गिरिनदी०–उपैडबिडमिति इडविडोऽपत्यं स्त्री ``राष्ट्रक्षत्रिय'' (6. 1. 114.) इत्यञ् ``द्रेरञणः'' (6. 1. 123.) इति लुप्, अनेनात् विषये ``जातिश्च णि'' (3. 2. 51.) इति पुंवद्भावेऽनः प्रत्यावृत्तिः ततो वर्गान्तत्वाभावादत् न भवति, पुंवद्भाव एव चाऽस्य फलम् ।

संख्याया नदी–गोदावरीभ्याम् ॥ 7. 3. 91. ॥

संख्यावाचिनः परौ यौ नदीगोदावरीशब्दौ तदन्ताद–व्ययीभावसमासादत्–समासान्तो भवति । पञ्च नद्यः पञ्चनदम्, सप्तनदम्, द्विगोदावरम्, त्रिगोदावरम् । संख्याया इति किम् ? उपनदि । अव्ययीभावादित्येव ? एकनदी । इह नदीग्रहणं नित्यार्थम् ॥91॥

शरदादेः ॥ 7. 3. 92. ॥

शरदाद्यन्ताद–व्ययीभावसमासादत् समासान्तो भवति । शरदः समीपमुपशरदम्, प्रतिशरदम्, उपत्यदम्, प्रतित्यदम् ।

शरद्, त्यद्, तद्, यद्, कियत्, हिरुक्, हिमवत्, उपसद्, सदस्, अदस्, अनस्, मनस्, विपाश्, दिश्, दृश्, विश्, उपानह्, अनडुह्, चतुर् दिव् । अत्रापञ्चमवर्ग्यान्तपाठो नित्यार्थः । अव्ययीभावादित्येव । परमशरद् ।।92।।

न्या०स०—शरदा०—विपाशिति पाशं पाशाद् वा विमोचयति णिच् वसिष्टं विपाशितवती ``विशिविपाशिभ्याम्'' 950 (उणादि) इति वा क्विप् ।

जराया जरस् च ।। 7. 3. 93. ।।

जराशब्दान्ताद–व्ययीभावसमासादत्–समासान्तो भवति तत्संनियोगे च जराशब्दस्य जरसादेशः ।। उपजरसम् । प्रतिजरसम् ।।93।।

सरजसोपशुना–ऽनुगवम् ।। 7. 3. 94. ।।

सरजस, उपशुन, अनुगव इत्येतेऽव्ययीभावा अदन्ता निपात्यन्ते । सह रजसा सरजसमभ्यवहरति । साकल्येऽव्ययीभावः, शुनः समीपे उपशुन तिष्ठति । अत्र निपातनाद्व-स्योत्वम् । गामन्वायतमनुगवम् । ``दैर्घ्येऽनुः'' (3. 1. 34.) इत्यव्ययीभावः, दैर्घ्यादन्यत्र न भवति । गवां पश्चादनुगु यानम् ।।94।।

जात–महद्–वृद्धादुक्ष्णः कर्मधारयात् ।। 7. 3. 95. ।।

जातमहद्वृद्ध इत्येतेभ्यः परो य उक्षन्शब्दस्त–दन्तात्कर्मधारयादत्–समासान्तो भवति । जातश्चासावुक्षा च जातोक्षः, महोक्षः, वृद्धोक्षः । जातादिभ्य इति किम् ? परमोक्षा, उत्तमोक्षा । उक्ष्ण इति किम् ? महाश्मश्रु । कर्मधारयादिति किम् ? जातस्योक्षा जातोक्षा, महदुक्षा, वृद्धोक्षा ।।95।।

स्त्रियाः पुंसो द्वन्द्वाच्च ।। 7. 3. 96. ।।

स्त्रीशब्दात्परो यः पुम्स्शब्दस्तदन्ताद्–द्वन्द्वात्कर्मधारयाच्चात् समासान्तो भवति । स्त्री च पुमांश्च स्त्रीपुंस स्त्रीपुंसौ स्त्रीपुंसाः । कर्मधारयात् स्त्री चासौ पुमांश्च स्त्रीपुंसः शिखण्डौ, स्त्रीपुंसं विद्धि राक्षसम् । द्वन्द्वाच्चेति किम् ? स्त्रियाः पुमान् स्त्रीपुमान् ।।96।।

ऋक्सामर्ग्यजुष–धेन्वनडुह–वाङ्मनसा–ऽहोरात्र–रात्रिंदिव–नक्तंदिवाऽहर्दिवोर्वष्ठीव–पदष्ठीवाऽक्षिभ्रुव–दारगवम् ।। 7. 3. 97. ।।

ऋक्सामादयो द्वन्द्वा अत्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । ऋक् च साम च ऋक्सामे । ऋक् च यजुश्च ऋग्यजुषमधीयानान् । धेनुश्च अनड्वांश्च धेन्वनडुहौ, धेग्वनडुहाः । असमाहारार्थं धेन्वनडुहग्रहणम् । समाहारे तूत्तरेणैव सिद्धम् । वाक् च मनश्च वाङ्मनसे, अहश्च रात्रिश्च अहोरात्रः, पुण्याविमावहोरात्रौ, रात्रिश्च दिवा च रात्रिंदिवम्, रात्रिंदिवानि पश्यति । निपातनात्पूर्वपदस्य मोऽन्तः, नक्तं च दिवा च नक्तंदिवम्, अत्रापि, मोऽन्तः । अहश्च दिवा च अहर्दिवम् । पर्याययोरपि वीप्सायां द्वन्द्वो निपातनात् । अहरहरित्यर्थः । रात्रिपर्यायोऽत्रान्यतर इत्येके । अहर्निशमित्यर्थः, ऊरू च अष्ठीवन्तौ च ऊर्वष्ठीवम् । निपातनादन्त्यस्वरादिलोपः, पादौ चाष्ठीवन्तौ च पदष्ठीवम् । अत्र पद्भावश्च । अक्षिणी च भ्रुवौ च अक्षिभ्रुवम् । दाराश्च गावश्च दारगवम्, अत्र भ्रूशब्दस्य निपातनादुवादेशोऽक्षिदारशब्दयोश्च पूर्वनिपातः । द्वन्द्वादित्येव ? ऋक् साम यस्य ऋक्सामा मुग्धः । ऋग्यजुर्यस्य स ऋग्यजुः, धेनोरनड्वान् धेन्वनऽवान् ।।67।।

*न्या०स०–ऋक्साम०–*ननु चाहर्दिवशब्दौ तुल्यार्थौ तयोश्चोक्तार्थानामप्रयोग इति वा ``समानाम्'' (3. 1. 118.) इत्येकशेषारम्भाद् वा द्वंद्वो नोपपद्यत इत्याह–पर्याययोरपीत्यादि । पूर्वनिपात इति ``लघ्वक्षर'' (3. 1. 160.) इत्यादिना अल्पस्वरत्वेन भ्रू-गोशब्दयोः पूर्वनिपाते प्राप्ते ।

चवर्ग–द–ष–हः समाहारे ।। 7. 3. 98. ।।

चवर्गदकारषकारह–कारान्ताद्द्वन्द्वात्–समाहारेर्थे वर्तमानादत्समासान्तो भवति । वाक् च त्वक् च वाक्त्वचम्, वाक् च समुच्च वाक्समुच्छम्, श्रीस्त्रजम् । द्, समिद्दृषदम्, संपद्विपदम् ष, वाक्त्विषम् । बाग्विप्रुषम् ह, छत्रोपानहम्, गोगोदुहम् । समासान्तत्वेन प्रत्ययस्य द्वन्द्वावयवत्वात् छत्रोपानहिनीति द्वन्द्वलक्षणो मत्वर्थीय इन् भवति । चवर्गदषह इति किम् दृषत्समित् । यकृन्मेदः । समाहारे इति किम् ? प्रावृट्शरद्भ्याम्, अश्वानडुद्भ्याम् द्वन्द्वा- दित्येव ? पञ्च वाचः समाहृताः पञ्चवाक् ।।98।।

*न्या०स०–चवर्ग०–*वाक्समुच्छमिति उच्छैत् विवास इत्यस्य क्विप् ``अनुनासिके च'' (4. 1. 108.) इति शत्वस्यानित्यत्वात् समुच्छेर्विचि वा । गोगोदुहमिति अत्र गोशब्दः किरणा-

दिपर्यायस्ततः समाहारो भवति, अन्यथा तु गवि वर्त्तमानस्य स्वैरिति व्यावृत्तिविषयत्वान्न स्यात् समाहारः, एवं दारगवमित्यत्रापि, यद्वा गोधुक् वत्सा गां दोग्धीति व्युत्पत्त्या ।

दिगोरनह्नोऽट् ॥ 7. 3. 99. ॥

अन्नन्तादहन्शब्दान्ताच्च द्विगोः समाहारे वर्तमानादट् समासान्तो भवति । पञ्च तक्षाणः समाहृताः पञ्चतक्षी, पञ्चतक्षम्, दशोक्षी, दशोक्षम्, शतराजी, शतराजम्, द्व्यहः, त्र्यहः । द्विगोरिति किम् ? समाहृतास्तक्षाणः संतक्षाणः, समाहृतान्यहानि समह्नाः । ``सर्वांशसंख्या-व्ययात्'' (7. 3. 118.) इत्यट् । समाहार इत्येव ? द्वाभ्यामुक्षभ्यां क्रीतः द्व्युक्षा, त्र्युक्षा, द्वयोरह्नोर्भवः द्व्यह्नः त्र्यह्नः । अन्नन्तत्वेनैव सिद्धेऽह्न इदमड्विधानं समाहारे ``सर्वांशसंख्या-व्ययात्'' (7. 3. 118.) इति परस्याप्यटो बाधनार्थम् । तस्मिन् हि सत्यह्नादेशः स्यात् ॥99॥

द्वि–त्रेरायुषः ॥ 7. 3. 100. ॥

द्वित्रि इत्येताभ्यां परो य आयुष्शब्दस्तदन्तात् द्विगोः समाहारे वर्तमानादट् समासान्तो भवति । द्वयोरायुषोः समाहारो द्व्यायुषम्, त्र्यायुषम् । द्वित्रेरिति किम् ? चतुरायुः । समाहारे इत्येव ? द्व्यायुःप्रियः त्र्यायुःप्रियः ॥100॥

वाऽञ्जलेरलुकः ॥ 7. 3. 101. ॥

द्वित्रिभ्यां परो योऽञ्जलिशब्दस्तदन्तात् द्विगोरट् समासान्तो वा भवति न चेत्स द्विगुस्तद्धितलुगन्तो भवति । द्वयोरञ्जल्योः समाहारः द्व्यञ्जलम्, द्व्यञ्जलि, त्र्यञ्जलम्, त्र्यञ्जलि । द्वाभ्यामञ्जलिभ्यामागतं द्व्यञ्जलमयम्, द्व्यञ्जलिमयम्, द्व्यञ्जलरूप्यम्, द्व्यञ्जलिरूप्यम्, त्र्यञ्जलमयम्, त्र्यञ्जलिमयम्, त्र्यञ्जलरूप्यम्, त्र्यञ्जलिरूप्यम् । द्वावञ्जली प्रियौ यस्य द्व्यञ्जल-प्रियः द्व्यञ्जलिप्रियः, त्र्यञ्जलप्रियः त्र्यञ्जलिप्रियः अलुक इति किम् ? द्वाभ्यामञ्जलिभ्यां क्रीतः द्वयञ्जलिर्घटः, त्र्यञ्जलिर्घटः । द्विगोरित्येव ? द्वयोरञ्जलिः द्व्यञ्जलिः, त्र्यञ्जलिः । द्वावञ्जली अस्य द्व्यञ्जलिकः, त्र्यञ्जलिकः । नित्योऽयं विधिरित्येके ॥101॥

*न्या०स०–वाञ्ज०–*द्विगोरिति अत्र समाहारो नानुवर्त्तते अपेक्षात इति वचनात्, समाहारे लुक् न संभवतीति अलुक इति वचनादेवेति न वाच्यं समाहारादपि तद्धितलोपसंभवात् यथा द्वयञ्जलेन क्रीत इकणो लुपि समासान्तनिवृत्तौ द्वयञ्जलिर्घट इत्यत्र, अलुक इत्यस्य चरितार्थत्वात् ।

खार्या वा ॥ 7. 3. 102. ॥

पृथग्योगाद्द्वित्रेरिति निवृत्तम्, खारीशब्दान्तात् द्विगोरलुकोऽट् समासान्तो वा भवति । द्विखारम् । पक्षे ``क्लीबे'' (2. 4. 96.) इति ह्रस्वत्वे द्विखारि । केचिदत्र पुंस्त्वमपीच्छन्ति, तन्मते ``गोश्चान्ते''–(2. 4. 95.) इत्यादिना ह्रस्वत्वे द्विखारिः । स्त्रीत्वमप्यन्ये । तन्मते पूर्ववदह्रस्वत्वे ``इतोऽक्त्यर्थात्'' (2. 4. 32.) इति ङ्यां च द्विखारी । एवं पञ्चखारम् पञ्चखारी, द्विखारमयम्, द्विखारीमयम्, पञ्चखाररूप्यम्, पञ्चखारीरूप्यम्, द्विखारप्रियः, द्विखारीप्रियः, पञ्चखारधनः, पञ्चखारीधनः । द्विगोरित्येव ? उपखारि, अधिखारि । अलुक इत्यस्य प्रत्युदाहरणं नास्ति विशेषाभावात् । यतस्तद्धितलुक्यङभावेऽपि ``ङ्यादेः''–(2. 4. 94.) इत्यादिना ङीलुकि पुन्नपुंसकयोः द्विखारः द्विखारम्, स्त्रियां तु ``परिमाणात्तद्धितलुकि''–(2. 3. 23.) इत्यादिना ङीप्रत्यये द्विखारीति भवति । एतच्च त्रैरूप्यमट्यपि भवति । इदन्तात् ङ्यां खारीत्येके । तदा तु अस्त्येव विशेषः ॥102॥

न्या०स०–खार्या०–पुंस्त्वमपीच्छन्तीति स्थिते तु अन्यस्तु सर्वो नपुंसक इति क्लीबत्वमेव ।

द्विखार इति भवेदमर्थादावण् क्रीते त्वर्थे ``खारीकाकणीभ्यः कच्'' (6. 4. 149.) प्राप्नोति तस्य च विधानसामर्थात् लुप् न भवति ``द्विगोरनपत्ये'' (6. 1. 24.) इत्यणो लुप् । द्विखारीति द्वे खार्यौ मानमस्याः स्यात्, ``मात्रट्'' (7. 1. 145.) इति मात्रट् ``द्विगोः संशये च'' (7. 1. 144.) इति लुप् ``परिमाणात्'' (2. 4. 23.) इति ङीः ।

इदन्तात् ङ्यामिति स्वमते तु खारडिति निपातने टानुबन्धात् टिद्द्वारेण ङीः। अस्त्येव विशेष इति यतस्तद्धितलुकि इदन्ता प्रकृतिरवतिष्ठते ।

वाऽर्धाच्च ॥ 7. 3. 103. ॥

अर्धशब्दात्परो यः खारीशब्दस्तदन्ताच्च समासादलुकोऽट् समासान्तो वा भवति । ``समेंऽशेऽर्ध नवा'' (3. 1. 54.) इत्यर्धशब्दे यः प्रतिपदं समास उक्तस्तत्रायं विधिः, अर्धं खार्याः अर्धखारम् अर्धखारी । विधानसामर्थ्यादडन्तस्य न स्त्रियां वृत्तिः । चकारो द्विगोरनुकर्षणार्थः । तेनोत्तरत्र द्वयमप्यनुवर्तते ॥103॥

न्या०स०–वार्धा०–प्रतिपदमिति लक्षणप्रतिपदोक्तयोः इति न्यायात्, तत्रायं विधिरिति न बहुव्रीह्यादौ । द्वयमपीति इह तु प्रयोजनम् ।

नावः ॥ 7. 3. 104. ॥

अर्धशब्दात्परो यो नौशब्दस्तदन्तात्–समासात् द्विगोश्च नौशब्दान्तादलुकोऽट् समासान्तो भवति । अर्ध नावः अर्धनावम् अर्धनावी, द्विगोः, द्विनावम्, पञ्चनावम्, द्विनावमयम्, पञ्चनावमयम्, द्विनावरूप्यम्, पञ्चनावरूप्यम्, द्विनावप्रियः, द्विनावधनः । अलुक इत्येव ? द्वाभ्यां नौभ्यां क्रीतः द्विनौः, पञ्चनौः । द्विगोरित्येव ? द्वयोर्नौः द्विनौः, अर्धादित्येव ? राजनौः, परमनौः । टकारो ङ्यर्थः । अर्धनावम् अर्धनावीति हि स्त्रीनपुंसकयोर्दृश्यते ॥104॥

न्या०स०–नावः०–अर्धनावमित्यादि अर्धपूर्वपदो नाव इति स्त्रीक्लीबत्वे भवतः ।

गोस्तत्पुरुषात् ॥ 7. 3. 105. ॥

गोशब्दान्तात्तत्–पुरुषादलुकोऽट् समासान्तो भवति । राज्ञो गौ राजगवः, राजगवी, पुंगवः, स्त्रीगवी, अतिगवः, अतिगवी, पञ्चगवम्, दशगवम्, पञ्चगवमयम्, पञ्चगवरूप्यम्, पञ्चगवधनः, दशगवधनः, दशगवप्रियः । तत्पुरुषादिति किम् ? चित्रगुः। अलुक इत्येव । पञ्चभिर्गोभिः क्रीतः पञ्चगुः ॥105॥

राजन्–सखेः ॥ 7. 3. 106. ॥

अलुक इति निवृत्तम् पृथग्योगात् । राजन् सखि इत्येतदन्तात्तत्पुरुषादट् समासान्तो भवति । देवानां राजा देवराजः, महांश्चासौ राजा च महाराजः, अतिक्रान्तो राजानमतिराजः, अतिराजी । पञ्चानां राज्ञां समाहारः पञ्चराजी, दशराजी । पञ्चभी राजभिः क्रीतः पञ्चराजः, पञ्चराजी, पञ्चराजप्रियः । सखि,–राजसखः, महासखः, अतिसखः, अतिसखी, पञ्चसखम्, दशसखम्, पञ्चसखः, पञ्चसखी, पञ्चसखप्रियः, राजन्निति नान्तनिर्देशादनकारान्तान्न भवति । मद्राणां राज्ञी मद्रराज्ञी, विद्याराज्ञी, महाराज्ञी । सखीशब्दात्त्वटि सत्यसति वा न रूपभेदः ॥106॥

न्या०स०–राजन्०–नान्तनिर्देशादिति नामग्रहणे इति न्यायात् अटि सति ``जातिश्च णि'' (3. 2. 51.) इति पुंवद्भावे मद्रराजीति प्राप्नोतीत्याशङ्का । न रूपभेद इति सखीशब्दस्य ईकारान्त-स्यापि पञ्चानां सखीनां समाहार इति ``क्लीबे'' (2. 4. 97.) इति ह्रस्वत्वे इदन्तादेवाट् भवति, तथा च पञ्चसखमिति, तथा सखीमतिक्रान्त इति कृते सखीशब्दादडभावेऽपि ``गोश्चान्त'' (2. 4. 96.)

इति कृते सखिद्वारेणाट् प्राप्नोत्येव, तथा पञ्चानां सखी इत्यपि कृते अटि अडभावेऽपि तत्पुरुषस्योत्तरपद–प्रधानत्वात् पञ्चसखीत्येव रूपम्, एवमन्यदपि रूपभेदाहेतुकमभ्यूह्यम् ।

राष्ट्राख्याद्–ब्रह्मणः ॥ 7. 3. 107. ॥

राष्ट्रवाचिनः परो यो ब्रह्मन्शब्दस्तदन्तात्–तत्पुरुषादट् समासान्तो भवति । सुराष्ट्रे ब्रह्मा सुराष्ट्रब्रह्मः, यः सुराष्ट्रेषु वसति स सौराष्ट्रिको ब्राह्मण इत्यर्थः ॥ एवमवन्तिब्रह्मः, काशिब्रह्मः ।

राष्ट्राख्यादिति किम् । देवब्रह्मा नारदः । आख्यग्रहणं राष्ट्रवाच्यर्थम् ॥107॥

कु–महद्भ्यां वा ॥ 7. 3. 108. ॥

कु महदित्येताभ्यां परो यो ब्रह्मन्शब्दस्तदन्तात्–तत्पुरुषाद्वाट् समासान्तो भवति । पापो ब्रह्मा कुब्रह्मा कुब्रह्मः, महान् ब्रह्मा महाब्रह्मः महाब्रह्मा, पापो महांश्च ब्राह्मण एवमुच्यते ॥108॥

ग्राम–कौटात्–तक्ष्णः ॥ 7. 3. 109. ॥

ग्रामकौट इत्येताभ्यां परो यस्तक्षन्शब्दस्त–दन्तात्तत्पुरुषादट् समासान्तो भवति । ग्रामस्य तक्षा ग्रामतक्षः, ग्रामसाधारण इत्यर्थः । कुटी शाला तस्यां भवः कौटः कौटस्तक्षा कौटतक्षः, स्वापणशालायां यः कर्म करोति स्वतन्त्रो न कस्यचित्प्रतिबद्ध इत्यर्थः । ग्रामकौटादिति किम् ? राजतक्षा । तत्पुरुषादित्येव । ग्रामश्च तक्षा च ग्रामतक्षाणौ । कौटस्तक्षास्य कौटतक्षा ॥109॥

गोष्ठा–ऽतेः शुनः ॥ 7. 3. 110. ॥

गोष्ठ अति इत्येताभ्यां परो यः श्वन्शब्दस्तदन्तात्तत्पुरुषादट् समासान्तो भवति गोष्ठे श्वा गोष्ठश्वः, अतिक्रान्तः श्वानम् अतिश्वो वराहः अतिजवन इत्यर्थः । अतिश्वः सेवकः । सुष्ठु स्वामिभक्त इत्यर्थः । अतिश्वी सेवा । अतिनीचेत्यर्थः ॥110॥

प्राणिन उपमानात् ॥ 7. 3. 111. ॥

प्राणिवाचिन उपमानात्परो यः श्वन्शब्दस्त–दन्तात्तत्पुरुषादट् समासान्तो भवति । व्याघ्र इव व्याघ्रः स चासौ श्वा च व्याघ्रश्वः, ``उपमेयं व्याघ्राद्यैः साम्यानुक्तौ'' (3. 1. 102.) इति समासः । अत एव वचनात् श्वन्शब्दस्य परनिपातः । मयूरव्यंसकादित्वाद्वा समासः ।

एवं सिंहश्व:, वृकश्व: । प्राणिन उपमानादिति पूर्वपदविज्ञानादिह न भवति । वानर: श्वेव वानरश्वा ।

प्राणिन इति किम् ? फलकमिव श्वा फलकश्वा । उपमानग्रहणं किम् ? देवदत्तश्वा । प्राणी उपमानभूतो य: श्वाशब्द: तदन्तात्तत्पुरुषादिच्छन्त्येके । व्याघ्र: श्वेव व्याघ्रश्व: । एवं सिंहश्व:, वृकश्व:, पुरुषश्व: तन्मते वानरश्वेत्यत्र समासान्त–विधेरनित्यत्वान्न भवति ।।111।।

न्या०स०–प्राणि०–परनिपात इति प्रथमोक्तत्वेन उपमेयस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते ।

अप्राणिनि ।। 7. 3. 112. ।।

पूर्वसूत्रे उपमानादिति पूर्वपदस्य विशेषणम् इह तु शुन:, अप्राणिनि वर्तते य उपमानवाची श्वन्शब्दस्तदन्तात्तत्पुरुषादट् समासान्तो भवति । श्वेव श्वा आकर्षश्वासौ श्वा च आकर्षश्व: । एवं फलकश्व:, शकटश्व: । अप्राणिनीति किम् ? वानर: श्वेव वानरश्वा । उपमानादित्येव ? आकर्षे श्वा आकर्षश्वा । कुक्कुरवच्छारेऽपि श्वन्शब्दो रूढो नोपमानम् । तत्राप्युपमानादेव वर्तत इत्येके, तन्मते आकर्षश्व इत्येव भवति । केचित्तूपमानादिति नापेक्षन्ते तत्मते आकर्षे श्वा आकर्षश्व: शकटश्व इत्येव भवति । अन्ये तूपमानाद–प्राणिनीति एकमेव योगमारभन्ते, तन्मते व्याघ्रश्व इत्यादि न भवति ।।112।।

न्या०स०–अप्रा०–एकमेव योगमिति ते हि अस्यैव सूत्रस्य विषयमाद्रियन्ते, न तु पूर्वस्य ``प्राणिन उपमानात्'' (7. 3. 111.) इत्यस्य ।

पूर्वोत्तर–मृगाच्च सक्थ्न: ।। 7. 3. 113. ।।

पूर्वोत्तरमृग इत्येतेभ्य उपमानवाचिनश्च शब्दात्परो य: सक्थिशब्दस्तदन्तात्–तत्पुरुषादट् समासान्तो भवति । पूर्वं सक्थि सक्थ्न: पूर्वं वा पूर्वसक्थम्, एवमुत्तरसक्थम्, मृगस्य सक्थि मृगसक्थम्, उपमानात्, फलकमिव फलकम्, फलकं च तत् सक्थि च फलकसक्थम्, व्याघ्रश्वादिवत्समास: । पूर्वशब्दान्नेच्छन्त्येके कुक्कुटादपीच्छन्त्यन्ये । कुक्कुटसक्थम् ।।113।।

न्या०स०–पूर्वोत्तर, व्याघ्रश्वादिवदिति वचनसामर्थ्यान्मयूर–व्यंसकादित्वाद् वेत्यर्थ:, एतच्च ``प्राणिन उपमानात्'' (7. 3. 111.) इत्यत्र दर्शितमस्ति ।

उरसोऽग्रे ।। 7. 3. 114. ।।

अग्र मुखं प्रधानं वा तत्र वर्तमानो य उरस्शब्दस्तदन्तात्तत्पुरुषादट् समासान्तो भवति। अश्वाश्च ते उरश्च अश्वोरसं दृश्यते, सेनाया अश्वा मुखमित्यर्थः, अश्वानामुरः अश्वोरसं वर्जयेत्। अश्वानां मुखमग्रदेशमित्यर्थः॥ अश्वानामुरः अश्वोरसम् अश्वानां प्रधानमित्यर्थः। एवं हस्त्युरसम्, रथोरसम्। अग्र इति किम् ? अश्वोरस्यावर्तः ॥114॥

सरो–ऽनो–ऽश्मा–ऽयसो जाति–नाम्नोः ॥ 7. 3. 115. ॥

सरस्, अनस्, अश्मन्, अयस् इत्येतदन्तात्तत्पुरुषादट् समासान्तो भवति जातावभिधेयायां नाम्नि च विषये। इदं च यथासभवं विशेषणम्। जातसरसम्, मण्डूकसरसम्, एवंनाम्नी सरसी। मण्डूकसरसमिति जातिरित्येके। उपानसमिति अन्नविशेषस्य संज्ञा जातिर्वा। महानसं पाकस्थानस्य संज्ञा। राज्ञ उपस्थितमित्येके। गोनसं जातिः, स्थूलाश्मः अमृताश्मः कनकाश्मः। अश्मजातिविशेषा एते। पिण्डाश्मः संज्ञा जातिर्वा। कालायसम्, लोहितायसम् तीक्ष्णायसम्। अयो जातिविशेषा एते। लोहितायसमिति नामेत्येके। जातिनाम्नोरिति किम् ? परमसरः, सदनः, सदश्मा। कथं बिन्दुसरः बकसर इति। नैषा संज्ञा, रूढ्या ह्यत्र संज्ञाविज्ञानं शूर्पनखीवत् ॥115॥

*न्या०स०–सरो०–*यथासंभवमिति क्वापि जातौ क्वापि नाम्नि चेत्यर्थः। महानसमिति अन इवानः महच्च तदनश्च।

गोनसमिति गवामन इव गोनसमहिजातिः, बाहुलकान्नपुंसकः।

अह्नः ॥ 7. 3. 116. ॥

अहन्शब्दान्तात्तत्पुरुषादट् समासान्तो भवति। परमाहः, उत्तमाहः, एकाहम्, पुण्याहम्, सुदिनाहम् ॥116॥

संख्यातादह्नश्च वा ॥ 7. 3. 117. ॥

संख्यातशब्दात्परो योऽहन्शब्दस्तदन्तात्तत्पुरुषादट् समासान्तो भवति तस्य चाहन्शब्दस्याह्नादेशो वा भवति। संख्यातमहः संख्याताह्नः संख्याताहः। अह्नादेशार्थं वचनम्, अट् तु पूर्वेणैव सिद्धः। चकार उत्तरत्राह्नादेशस्याट्–संनियोगशिष्टत्वार्थः। अन्यथा ह्यटोऽपवादोऽह्नादेशो विज्ञायेत, तथा च स्त्रियां ङीर्न स्यात् ॥117॥

न्या०स०—संख्या०—अह्नादेश इति ``अतोऽह्नस्य'' (2. 3. 73.) इति ``संख्या-सायवेः'' (1. 4. 50.) इति च ज्ञापकान्न प्रत्ययशङ्का ।

सर्वां–ऽशसंख्या–ऽव्ययात् ।। 7. 3. 118. ।।

सर्वशब्दादंश एकदेशस्तद्वाचिभ्यः संख्यावाचिभ्यो–ऽव्ययेभ्यश्च परो योऽहन्–शब्दस्तदन्तात् तत्पुरुषादट् समासान्तो भवति तस्य चाहन्शब्दस्य नित्यमह्नादेशो भवति । सर्वमहः सर्वाह्णः, अंश, पूर्वाह्णः, अपराह्णः, मध्याह्नः, सायाह्नः । संख्या, द्वयोरह्नोर्भवः द्व्यह्नः पटः, छ्यह्नीः अष्टका, एवं त्र्यह्नः, त्र्यह्नी, द्वे अहनी प्रिये यस्य स द्व्यह्नप्रियः, त्र्यह्नप्रियः, द्वे अहनी जातस्य द्व्यह्नजातः, त्र्यह्नजातः, अव्यय, अत्यह्नः, अत्यह्नी कथा, निरह्नः, निरह्नी वेला, व्यह्नः, व्यह्नी ।।118।।

संख्यातैक–पुण्य–वर्षा–दीर्घाच्च रात्रेरत् ।। 7. 3. 119. ।।

संख्यात, एक, पुण्य, वर्षा, दीर्घ इत्येतेभ्यश्चकारात्–सर्वांशादिभ्यश्च परो यो रात्रिशब्दस्त-दन्तात्तत्पुरुषादत् समासान्तो भवति । संख्याता रात्रिः संख्यातरात्रः, एकरात्रः, पुण्यरात्रः, वर्षाणां रात्रिः वर्षारात्रः, दीर्घरात्रः सर्वरात्रः अंश, पूर्वरात्रः, अपररात्रः, अर्धरात्रः, द्वितीयरात्रः । संख्या, द्वयो रात्र्योः समाहारः द्विरात्रः, त्रिरात्रः । द्वयो रात्र्योर्भवः द्विरात्रः, द्विरात्रा, त्रिरात्रः त्रिरात्रा, द्विरात्रप्रियः, त्रिरात्रप्रियः, द्विरात्रजातः, त्रिरात्रजातः, अव्यय,– अतिरात्रः, अतिरात्रा, नीरात्रः, नीरात्रा । एकग्रहणं संख्याग्रहणेनानेनैकस्या–ग्रहणार्थम् । तेन पूर्वसूत्रे संख्याशब्देनैकस्याग्रहणम् । एकमहः एकाहम् । अटि प्रकृतेऽत्विधानं स्त्रियां ङ्यभावार्थम् ।।119।।

पुरुषायुष–द्विस्ताव–त्रिस्तावम् ।। 7. 3. 120. ।।

एतेऽत्प्रत्ययान्तास्तत्पुरुषा निपात्यन्ते । पुरुषस्यायुः पुरुषायुषम्, द्विस्तावती द्विस्तावा, त्रिस्तावा वेदिः, वेद्यामनयोः प्रयोगः । अतीशब्दलोपो निपातनात् । प्रकृतौ यावती वेदिस्तावती द्विगुणा त्रिगुणा वा कस्यांचिद्विकृतौ भवति । प्रकृतिविकृती यागविशेषौ । अन्यत्रापि दृश्यते । द्विस्तावोऽग्निः, त्रिस्तावोऽग्निः ।।120।।

श्वसो वसीयसः ।। 7. 3. 121. ।।

श्वसः परो यो वसीयस्शब्दस्तदन्तात् तत्पुरुषादत्समासान्तो भवति । वसुमच्छब्दादीयसौ

मतोरन्त्यस्वरादेश्च लोपे वसीयः, शोभनं वसीयः श्वोवसीयसं कल्याणम् ॥121॥

निसश्च श्रेयसः ॥ 7. 3. 122. ॥

निस्शब्दात् श्वस्शब्दाच्च परो यः श्रेयस्शब्दस्तदन्तात् तत्पुरुषादत् समासान्तो भवति। निश्चितं श्रेयः निःश्रेयसं निर्वाणम्। शोभनं श्रेयः श्वःश्रेयसम् ॥122॥

नञव्ययात्–संख्याया डः ॥ 7. 3. 123. ॥

नञोऽव्ययाच्च परो यः संख्याशब्दस्तदन्तात् तत्पुरुषात् डः समासान्तो भवति। न दश अदशाः, अनवाः। न्यूना दश न्यूना नव इत्यर्थः। नञ्पूर्वोऽयं वैकल्ये दृश्यते। अव्यय, निर्गतस्त्रिंशतोऽङ्गुलिभ्यः निस्त्रिंशः खड्गः, निस्त्रिंश इव क्रूरकर्मा निस्त्रिंशः खलः। त्रिंशतो निर्गतानि निस्त्रिंशानि वर्षाणि, निस्त्रिंशान्यहानि, निश्चत्वारिंशानि, निष्पञ्चाशानि। नञव्ययादिति किम्? गोत्रिंशत्। नञ्ग्रहणं ``नञ्तत्पुरुषात्'' (7. 3. 71.) इति प्रतिषेधे प्राप्ते प्रतिप्रसवार्थम्। संख्याया इति किम्? निःशकृत्। तत्पुरुषादित्येव। न विद्यन्ते त्रयो यस्य सोऽत्रिः। शोभनास्त्रयो यस्य सुत्रिः निर्गतास्त्रिंशदस्य निस्त्रिंशत्। डित्वमन्त्यस्वरादिलोपार्थम् ॥123॥

*न्या०स०–नञ्०–*नञ्ग्रहणमिति अव्ययद्वारेणापि सिद्धे।

संख्या–व्ययादङ्गुलेः ॥ 7. 3. 124. ॥

संख्याया अव्ययाच्च परो योऽङ्गुलिशब्दस्तदन्तात्–तत्पुरुषात् डः समासान्तो भवति। द्वयोरङ्गुल्योः समाहारः द्व्यङ्गुलम्, त्र्यङ्गुलम्। द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य मात्रट् तस्य लुप्, ततः समासान्तः। द्व्यङ्गुबम्, त्र्यङ्गुलम्, द्व्यङ्गुलप्रियः, त्र्यङ्गुलप्रियः, अव्यय,– निरङ्गुलम् अत्यङ्गुलम्, तत्पुरुषादित्येव? उपाङ्गुलि, पञ्चाङ्गुलिर्हस्तः। अनङ्गुलिः पुरुषः। कथमात्माङ्गुलं प्रमाणाङ्गुलम् उत्सेधाङ्गुलमिति? अङ्गुलशब्दः प्रमाणवाची प्रकृत्यन्तरम्। यथा 'स्वेनाङ्गुलप्रमाणेनाङ्गुलानां शतं पुमान्' । हस्तोऽङ्गुल– विंशत्येति ॥124॥

बहुव्रीहेः काष्ठे टः ॥ 7. 3. 125. ॥

अङ्गुल्यन्ताद्बहुव्रीहेः काष्ठे वर्तमानात् टः समासान्तो भवति। द्वे अङ्गुली यस्य द्व्यङ्गुलम्। त्र्यङ्गुलं, चतुरङ्गुलम्, पञ्चाङ्गुलम्। अङ्गुलिसदृशावयवं धान्यकण्टकादीनां विक्षेपणकाष्ठमेवमुच्यते। बहुव्रीहेरिति किम्? उपाङ्गुलि, अत्यङ्गुला यष्टिः। काष्ठ इति

किम् ? पञ्चाङ्गुलिर्हस्तः । अङ्गुलेरिति निर्देशादङ्गुलीशब्दान्तान्न भवति । द्वावङ्गुलीसदृशाववयवौ यस्य तत् द्व्यङ्गुलीकम् दारु । ``न कचि'' (2. 4. 104.) इति ह्रस्वाभावः, टकारो ङ्यर्थः । दीर्घाङ्गुली । तीक्ष्णाङ्गुली यष्टिः ॥125॥

सक्त्थ्यक्ष्णः स्वाङ्गे ॥ 7. 3. 126. ॥

स्वाङ्गवाची यः सक्थिशब्दोऽक्षिशब्दश्च तदन्ताद्बहुव्रीहेष्टः समासान्तो भवति । दीर्घं सक्थि यस्य दीर्घसक्थः, दीर्घसक्थी, गौरसक्थः, गौरसक्थी, विशालाक्षः, विशालाक्षी, कमलाक्षः, कमलाक्षी, स्वक्षः, स्वक्षी । सक्थ्यक्ष्ण इति किम् ? सुबाहुः, दीर्घजानुः । स्वाङ्गः इति किम् ? दीर्घसक्थि शकटम्, स्थूलास्थिरिक्षुः । बहुव्रीहेरित्येव ? परमसक्थि, सदक्षि ॥126॥

*न्या०स०–सक्थ्य०–*स्थूलाक्षिरिक्षुरिति समासान्तविधेरनित्यत्वात् ``अक्ष्णोऽप्राण्यङ्गे'' (7. 3. 85.) इत्यनेनापि न भवति ।

द्वित्रेर्मूर्ध्नो वा ॥ 7. 3. 127. ॥

द्वि, त्रि इत्येताभ्यां परो यो मूर्धन्शब्दस्तदन्ताद्बहुव्रीहेष्टः समासान्तो वा भवति । द्विमूर्धः, द्विमूर्धा, त्रिमूर्धः, त्रिमूर्धा, द्विमूर्धी स्त्री । बहुव्रीहेरित्येव । द्वयोर्मूर्धा द्विमूर्धा ॥127॥

प्रमाणी–संख्याड्डः ॥ 7. 3. 128. ॥

प्रमाणीशब्दान्तात्–संख्यावाचिशब्दान्ताच्च बहुव्रीहेर्डः समासान्तो भवति । स्त्री प्रमाणी येषां ते स्त्रीप्रमाणाः कुटुम्बिनः, भार्याप्रमाणाः श्रेणयः, कल्याणी प्रमाण्यस्य कल्याणप्रमाणः । संख्या, द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः, पञ्चषाः, द्विदशाः, त्रिदशाः, आसन्नदशाः, अदूरदशाः, अधिकदशाः, उपदशाः, उपगणाः । प्रमाणशब्देन सिद्धे प्रमाणीशब्दान्तात्–कजभावार्थं वचनम् । संख्यान्तस्य प्रतिपदोक्तस्य बहुव्रीहेर्ग्रहणादिह न भवति । अत्रिः । सुत्रिः, प्रियपञ्चानः, प्रियषषः । बहुव्रीहेरित्येव । द्वादश, त्रयोदश ॥128॥

*न्या०स०–प्रमा०–*अत्रिरिति तत्र संख्यावाचिना नाम्ना संख्येयेऽन्यपदार्थ इति व्याख्यानात् ``अव्ययम्'' (3. 1. 21.) इति न समासः, अत्र तूत्तरपदं संख्येयवाचि ।

प्रियषष इति स्त्रीत्वेऽपि ``ङ्याप:'' (2. 4. 99.) इति ह्रस्वः, अन्यथा षष उपादानानु-

पादानयोरविशेष इति लिङ्गानुशासने ष्णान्ता संख्येत्यत्रानुपपन्नं स्यात् ।

सुप्रात–सुश्व–सुदिव–शारिकुक्ष–चतुरस्रैणी-पदा–ऽजपद–प्रोष्ठपद–भद्रपदम् ॥ 7. 3. 129. ॥

सुप्रातादयो बहुव्रीहयो डप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । शोभनं कर्म प्रातरस्य सुप्रातः, शोभनं कर्म श्वोऽस्य सुश्वः । शोभनं कर्म दिवास्य सुदिवः, शारेरिव कुक्षिरस्य शारिकुक्षः, चतस्रोऽश्रयो यस्य चतुरश्रः, एण्या इव पादावस्य एणीपदः, एवमजपदः, प्रोष्ठो गौस्तस्येव पादावस्य प्रोष्ठपदः, भद्रौ पादावस्य भद्रपदः । निपातनात्पद्भावो विषयव्यवस्था च भवति ॥129॥

पूरणीभ्यस्तत्प्राधान्येऽप् ॥ 7. 3. 130. ॥

पूरणप्रत्ययान्तः स्त्रीलिङ्गशब्दः पूरणी तदन्ताद्बहुव्रीहेरप् समासान्तो भवति तत्प्राधान्ये तस्याः पूरण्याः प्राधान्ये, समासेनाभिधीयमानो ह्यर्थः प्रधानं भवति । कल्याणी पञ्चमी रात्रिर्यासां रात्रीणां ताः कल्याणीपञ्चमा रात्रयः । अत्र रात्रयः समासार्थः । तासु पञ्चम्यपि रात्रित्वेनानुप्रविष्टेति प्रधानम् । एवं कल्याणीदशमाः, कल्याणीतुर्याः । कल्याणीतुरीयाः, कल्याणीद्वितीयाः, कल्याणीतृतीयाः । पूरणीभ्य इति किम् ? द्वितीया भार्या कल्याणी यासां भार्याणां ता द्वितीयाकल्याणीकाः । स्त्रीत्वनिर्देशः किम्? ? कल्याणपञ्चमका दिवसाः, कल्याणद्वितीयकान्यहानि । बहुवचनं व्याप्त्यर्थम्, तेन कल्याणीपञ्चमा रात्रय इत्यत्र ``ऋन्नित्यदितः'' (7. 3. 171.) इति परोऽपि कच् न भवति । तत्प्राधान्य इति किम् ? कल्याणपञ्चमीकः पक्षः । पकारो ``नाप्प्रियादौ'' (3. 2. 53.) इति पर्युदासार्थः ॥130॥

नञ्सु–व्युप–त्रेश्चतुरः ॥ 7. 3. 131. ॥

नञ् सु वि उप त्रि इत्येतेभ्यः परो यश्चतुःशब्दस्तदन्तात् बहुव्रीहेरप् समासान्तो भवति । अविद्यमानानि अदृश्यानि वा चत्वारि यस्य सोऽचतुरः । सुदृश्यानि शोभनानि वा चत्वारि यस्य सुचतुरः, विसदृशानि विगतानि वा चत्वारि यस्य विचतुरः, चत्वारः समीपे येषां संख्येयानां ते उपचतुराः, त्रयो वा चत्वारो वा त्रिचतुराः । समासान्तविधेर–नित्यत्वादिह न भवति । त्रयश्चत्वारो यस्य स त्रिचत्वा उन्मुग्धः, उपगताश्चत्वारो येन स उपचत्वाः ॥131॥

न्या०स०–नञ् सु०–अत्र सामान्यो बहुव्रीहिः, प्रतिपदोक्तग्रहणे तु ``एकार्थं चानेकं

च'' (3. 1. 22.) इति चकारेण विधीयमाने बहुव्रीहौ अचतुर इत्यादयो न स्युः ।

अन्तर्बहिर्भ्यां लोम्नः ॥ 7. 3. 132. ॥

अन्तर् बहिस् इत्येताभ्यां परो यो लोमन्शब्दस्तदन्ताद्बहुव्रीहेरप् समासान्तो भवति । अन्तर्लोमान्यस्य अन्तर्लोमः, बहिर्लोमः प्रावारः ॥132॥

भान्नेतुः ॥ 7. 3. 133. ॥

भान्नक्षत्रवाचिनः परो यो नेतृशब्दस्तदन्तद्बहुव्रीहेरप् समासान्तो भवति । मृगो नेता आसां मृगनेत्रा रात्रयः, पुष्यनेत्राः । भादिति किम् ? देवदत्तनेतृकः । नेत्रशब्देनैव सिद्धे नेतृशब्दात्कच् मा भूदिति वचनम् ॥133॥

नाभेर्नाम्नि ॥ 7. 3. 134. ॥

नाभ्यन्ताद्–बहुव्रीहेरप् समासान्तो भवति नाम्नि अबन्तेन चेत् संज्ञा गम्यते । पद्मनाभः, ऊर्णनाभः, हेमनाभः, वज्रनाभः, हिरण्यनाभः । नाम्नीति किम् ? विकसितवारिजनाभिः । अधोनाभं प्रहतवानिति अव्ययीभावेऽपि तिष्ठद्गावादिषु तथापाठात् सिद्धम् ॥134॥

नञ्–बहोर्ऋचो माणव–चरणे ॥ 7. 3. 135. ॥

नञ् बहु इत्येताभ्यां परो य ऋच्शब्दस्तदन्ताद्–बहुव्रीहेरप् समासान्तो भवति यथासंख्यं माणवे चरणे च वाच्ये । न विद्यन्ते ऋचोऽस्य अनृचो माणवः । बह्वृचश्चरणः । माणवचरण इति किम् ? अनृक्कं साम । बह्वृक्कं सूक्तम् । ''ऋक्पूःपथ्यपोऽत्'' (7. 3. 76.) इत्येव सिद्धे नियमार्थं वचनम् ॥135॥

*न्या०स०–नञ्बहो०–*नियमार्थमिति उभयथापि नियमः ।

नञ्–सु–दुर्भ्यः सक्ति–सक्थि–हलेर्वा ॥ 7. 3. 136. ॥

नञ् सु दुर् इत्येतेभ्यः परे ये सक्तिसक्थिहलिशब्दास्तदन्ताद्–बहुव्रीहेरप् समासान्तो भवति वा । सञ्जनं सक्तिः, अविद्यमाना सक्तिरस्य असक्तः, असक्तिः, सुसक्तः, सुक्तिः, दुःसक्तः, दुःसक्तिः, असक्थः, असक्थिः, सुसक्थः, सुसक्थिः, दुःसक्थः, दुःसक्थिः,

अहलः, अहलिः, सुहलः, सुहलिः, दुर्हलः, दुर्हलिः । नञ्सुदुर्भ्य इति किम् ? गौरसक्थी स्त्री । दीर्घसक्थि शकटम्, बहुहलिः पुरुषः । हलसक्तशब्दाभ्यां सिद्धे कजभावार्थं वचनम्, तेन न विद्यते हलमस्य अहलक इत्यादि न भवति । सक्तिशब्दान्—नेच्छन्त्यन्ये । वचनभेदो यथासंख्यनिवृत्त्यर्थः ॥136॥

न्या०स०—नञ्सु, कजभावार्थमिति अत्राहल इति साध्यं तच्च हलशब्दस्यापि सिध्यति इति सिद्धौ सत्यां यत् हलिशब्दोपादानं तज्ज्ञापयति हलादपि कच् न भवति,हलिं प्रति तु विचाराशङ्कापि न तेन हल्यन्ताद् वैकल्पिकः कज् भवति ।

प्रजाया अस् ॥ 7. 3. 137. ॥

नञादिभ्यः परो यः प्रजाशब्दस्तदन्ताद्—बहुव्रीहेरस् समासान्तो भवति । अविद्यमानाः प्रजा अस्य अप्रजाः, अप्रजसौ, अप्रजसः, एवं सुप्रजसौ, दुष्प्रजसौ ॥137॥

मन्दा—ऽल्पाच्च मेधायाः ॥ 7. 3. 138. ॥

मन्द अल्प इत्येताभ्यां नञादिभ्यश्च परो यो मेधाशब्दस्तदन्ताद्—बहुव्रीहेरस् समासान्तो भवति । मन्दा मेधास्य मन्दमेधाः, मन्दमेधसौ, मन्दमेधसः । एवमल्पमेधाः, अमेधाः, सुमेधाः, दुर्मेधाः ॥138॥

जातेरीयः सामान्यवति ॥ 7. 3. 139. ॥

जातिशब्दान्ताद्—बहुव्रीहेरीयः समासान्तो भवति सामान्यवति सामान्या- श्रयेऽन्यपदार्थे वाच्ये । ब्राह्मणो जातिरस्य ब्राह्मणजातीयः, अत्र ब्राह्मणशब्देन ब्राह्मणस्था जातिरुच्यते । एवं क्षत्रियजातीयः, सुजातीयः, दुर्जातीयः नानाजातीयः, किंजातीयः । सामान्यवतीति किम् ? बहुजातिर्ग्रामः । अत्र ग्रामो न सामान्यवान् किन्तु तत्स्थाः पुरुषाः । अजातीय इत्यत्र तु सामान्यवानेवान्यपदार्थः । प्रतिषेधस्तु नञर्थः । सामान्यग्रहणं किम् ? दुर्जातेः सूतपुत्रस्य । अत्र जातिशब्दो जन्मपर्याय इति न सामान्यवानन्यपदार्थः । कथं पितृस्थानीयः, गुरुस्थानीयः? स्थानीयं दुर्गमितिवत् स्थीयतेऽस्मिन्निति स्थानीय इत्यधिकरणप्रधानेन स्थानीयशब्देन भविष्यति । पितेव स्थानीयः पितृस्थानीयः ॥136॥

न्या०स०–जाते०–यदि सामान्यवतीदं विधानं कथं अजातीय इति ? अत्र हि सामान्यं प्रतिषिध्यते न विद्यते जातिरस्येति, न च तस्मिन् प्रतिषिध्यमाने तद्बोधनार्थः संभवतीत्याह– अजातीय इत्यादि अयमर्थः, सामान्यवतीति सामान्यमात्र–संबन्धिन्यन्य–पदार्थे वाच्ये प्रत्ययो, न तु विधीयमानसामान्य–संबन्धिनीति ।

भृतिप्रत्ययान्मासादिकः ॥ 7. 3. 140. ॥

भृतौ वर्तमानाद्यः प्रत्ययो विहितस्तदन्तात्परो यो मासशब्दस्तदन्ताद्–बहुव्राहेरिकः समासान्तो भवति । पञ्च भृतिरस्य पञ्चकः, पञ्चको मासोऽस्य पञ्चकमासिकः, सप्तकमासिकः, विंशकमासिकः, त्रिंशकमासिकः, शत्यमासिकः, शतिकमासिकः कर्मकरः । भृतिप्रत्ययादिति किम् ? सुमासः । भृतिग्रहणं किम् ? वर्षासु भवो वार्षिकः, वार्षिको मासोऽस्य वार्षिक-मासकः । प्रत्ययग्रहणं किम् ? भृतिमासोऽस्य भृतिमासकः । मासादिति किम् ? पञ्चको दिवसोऽस्य पञ्चकदिवसकः ॥140॥

द्विपदाद्धर्मादन् ? ॥ 7. 3. 141. ॥

धर्मशब्दान्ताद्–द्विपदाद्बहुव्राहेरन् समासान्तो भवति । साधूनामिव धर्मोऽस्य साधुधर्मा, क्षत्रियधर्मा, अनन्तधर्मा, विनाशधर्मा । साक्षात्कृतो धर्मो येषां ते (एतैः) साक्षात्कृतधर्माणः । विकल्पमिच्छन्त्येके । कल्याणधर्मा, कल्याणधर्मकः, तद्धर्मा, तद्धर्मकः, विपरीतधर्मा, विपरीतधर्मकः । द्विपदादिति किम् ? परमः स्वो धर्मोऽस्य परमस्वधर्मः । इह कस्मान्न भवति परमः स्वधर्मोऽस्य परमस्वधर्मः । प्रत्यासत्तेर्द्विपदस्य बहुव्रीहेर्यदि धर्म एवोत्तरपदं भवति तदा स्यादितीह न भवति ॥141॥

सु–हस्ति–तृण–सोमाज्जम्भात् ॥ 7. 3. 142. ॥

सु हरित तृण सोम इत्येतेभ्यः परो यो जम्भशब्दस्तदन्ताद्–ब्रहुव्रीहेरन् समासान्तो भवति, जम्भशब्दोऽभ्यवहार्यवचनो दंष्ट्रावचनो वा । शोभनो जम्भो जम्भा वा अस्य सुजम्भा, हरितजम्भा, तृणजम्भा, सोमजम्भा । दंष्ट्रापक्षे तृणमिव जम्भोऽस्य तृणजम्भा । एवं सोमजम्भा । स्वादिभ्य इति किम् ? चारुजम्भः, पतितजम्भः ॥142॥

न्या०स०–सुहरि०–जम्भो, जम्भा वेति उभयत्रापि वैयाकरणमते पुंस्त्रीलिङ्गः ।

दक्षिणेर्मा व्याधयोगे ॥ 7. 3. 143. ॥

दक्षिणेर्मेति बहुव्रीहिरन्नन्तो निपात्यते व्याधेन योगे सति । ईर्मं बहु व्रणं वा । दक्षिणमङ्गमीर्ममस्य दक्षिणेऽङ्गं ईर्ममस्येति वा दक्षिणेर्मा मृगः । व्यद्धुकामस्य व्याधस्य दक्षिणं भागं बहूकृत्य व्यधनानुकूलं स्थितो व्याधेन वा दक्षिणभागे कृतव्रण एवमुच्यते । व्याधयोग इति किम् ? दक्षिणेर्मं शकटम् । दक्षिणेर्मः पशुः ॥143॥

सु–पूत्युत्–सुरभेर्गन्धादिद्–गुणे ॥ 7. 3. 144. ॥

सुपूतिउत्सुरभि इत्येतेभ्यः परो यो गन्धशब्दो गुणे वर्तते तदन्ताद्–बहुव्रीहेरित् समासान्तो भवति । शोभनो गन्धो गुणोऽस्य सुगन्धि चन्दनम्, पूतिगन्धि करञ्जम्, उद्गन्धि कमलम्, सुरभिगन्धि केसरम् । उत्तरत्रागन्तोर्वा–वचनादिह स्वाभाविकाद्भवति । स्वादिभ्य इति किम् । तीव्रगन्धं हिङ्गु, उग्रगन्धा वचा । गन्धादिति किम् ? सुरसः । गुण इति किम् ? शोभना गन्धाः कुष्ठादयोऽस्य सुगन्ध आपणिकः । इदिति तकार उच्चारणार्थः ॥144॥

वाऽऽगन्तौ ॥ 7. 3. 145. ॥

स्वादिभ्यः पर आगन्तौ आहार्ये गुणे वर्तते यो गन्धशब्दस्तदन्ताद्–बहुव्रीहेरित् समासान्तो वा भवति । सुगन्धि सुगन्धं वा शरीरम्, पूतिगन्धि पूतिगन्धं वा जलम्, उद्गन्धिः उद्गन्धो वा आपणः, सुरभिगन्धिः सुरभिगन्धो वा पवनः ॥145॥

वाऽल्पे ॥ 7. 3. 146. ॥

अल्पेऽर्थे यो गन्धशब्दस्तदन्ताद्–बहुव्रीहेरित्समासान्तो वा भवति । सूपस्य गन्धो मात्रास्मिन् सूपगन्धि सूपगन्धं भोजनम् । अल्पसूपमित्यर्थः । माल्यगन्धिः माल्यगन्धः उत्सवः, एवं दधिगन्धि दधिगन्धं भोजनम् । असामानाधिकरण्येऽपि उष्ट्रमुखादित्वाद्–बहुव्रीहिः ॥146॥

वोपमानात् ॥ 7. 3. 147. ॥

उपमानात्परो यो गन्धशब्दस्तदन्ताद्–बहुव्रीहेरित्समासान्तो वा भवति । उत्पलस्येव गन्धोऽस्य उत्पलगन्धि उत्पलगन्धं वा मुखम्, करीषगन्धि करीषगन्धं वा शरीरम् ॥147॥

पात् पादस्याऽहस्त्यादेः ॥ 7. 3. 148. ॥

हस्त्यादिवर्जितादुपमानात्परस्य पादशब्दस्य बहुव्रीहौ पादित्ययमादेशः समासान्तो भवति । व्याघ्रस्येव पादावस्य व्याघ्रपात्, सिंहपाद्, ऋक्षपाद् । अहस्त्यादेरिति किम् ? हस्तिन इव

पादावस्य हस्तिपादः, अश्वपाद्ः ।

हस्तिन्, अश्व, कटोल, कटोलक, कण्डोल, कण्डोलक, गण्डोल, गण्डोलक, गडोल, गडोलक, गण्ड, महेला, दासी, गणिका, कुसूल, कपोत, जाल, अज इति हस्त्यादिः ॥148॥

कुम्भपद्यादिः ॥ 7. 3. 149. ॥

कुम्भपद्यादयः शब्दाः कृतपात्समासान्ता ङ्यन्ता एव बहुव्रीहयो निपात्यन्ते । कुम्भाविव पादावस्याः कुम्भपदी, जालपदी, एकपदी, शतपदी, स्थूणापदी, सूत्रपदी, मुनिपदी, शितिपदी, आर्द्रपदी, गोधापदी, कलशीपदी, दासीपदी, विष्णुपदी, कृष्णपदी, कुणिपदी, गुणपदी, द्रोण (णी) पदी, सकृत्पदी, सूकरपदी, शुचिपदी, सूचीपदी, विपदी, अपदी, निष्पदी, अष्टापदी, अशीतिपदी, इति कुम्भपद्यादिः । येऽत्रोपमानपूर्वास्तेषां पूर्वेण संख्यादीनां चोत्तरेण सिद्धे यदिह वचनं तेन ``वा पादः'' (2. 4. 6.) इति ङीविकल्पो न भवति । कथमेकपादिति ? केचिदिहैकपदीशब्दं न पठन्ति ॥149॥

*न्या०स०–कुम्भ०–*अष्टापदीति संज्ञायां ``नाम्नि'' (3. 2. 75.) इत्यसंज्ञायां तु निपातनाद् दीर्घः ।

सु–संख्यात् ॥ 7. 3. 150. ॥

सुपूर्वस्य संख्यापूर्वस्य च पादशब्दस्य बहुव्रीहौ पादित्ययमादेशः समासान्तो भवति । शोभनौ पादावस्य सुपाद्, द्विपाद्, त्रिपात्, चतुष्पात् । स्त्रियां तु ``वा पादः''–(2. 4. 6.) इति पक्षे ङीः । सुपदी सुपात्, द्विपदी द्विपात् ॥150॥

वयसि दन्तस्य दतृः ॥ 7. 3. 151. ॥

सुपूर्वस्य संख्यापूर्वस्य च दन्तशब्दस्य बहुव्रीहौ वयसि गम्यमाने दतृ इत्ययमादेशः समासान्तो भवति । शोभनाः सुजाताः समस्ता वा दन्ता अस्य सुदन् कुमारः, सुदती कुमारी । द्वौ दन्तावस्य द्विदन् बालः, त्रिदन्, चतुर्दन्, षड् दन्ता अस्य षोडन्, ``एकादशषोडशषोडत्''–(3. 2. 91.) इत्यादिन षष उत्वं दस्य च डः । वयसीति किम् ? सुदन्तो दाक्षिणात्यः, द्विदन्तः कुञ्जरः, ऋकारो ङ्याद्यर्थः ॥151॥

स्त्रियां नाम्नि ।। 7. 3. 152. ।।

बहुव्रीहौ स्त्रियां स्त्रीलिङ्गे नाम्नि विषये दन्तशब्दस्य दत्रादेशः समासान्तो भवति । अय इव दन्ता अस्या अयोदती, फालदती, परशुदती । एवंनामा काचित् । स्त्रियामिति किम् ? वज्रदन्तः, नागदन्तः । नाम्नीति किम् ? समदन्ती, स्निग्धदन्ती । असमास उत्तरत्र नाम्नीत्येतावतोऽनुवृत्त्यर्थः ।।152।।

श्यावा–ऽरोकाद्वा ।। 7. 3. 153. ।।

श्याव अरोक इत्येताभ्यां परो यो दन्तशब्दस्तस्य बहुव्रीहौ दत्रादेशः समासान्तो वा भवति नाम्नि संज्ञायां विषये । श्यावाः कपिशा दन्ता अस्य श्यावदन्, श्यावदन्तः । अरोका निर्दीप्तयो निश्छिद्रा वा दन्ता अस्य अरोकदन्, अरोकदन्तः । नाम्नीत्येव, श्यावदन्तः, अरोकदन्तः ।।153।।

वाऽग्रान्त–शुद्ध–शुभ्र–वृष–वराहा–हि–मूषिक–शिखरात् ।। 7. 3. 154. ।।

अग्रान्तेभ्यः शुद्ध, शुभ्र, वृष, वराह, अहि, मूषिक, शिखर इत्येतेभ्यश्च परो यो दन्तशब्दस्तस्य बहुव्रीहौ दत्रादेशः समासान्तो वा भवति । कुड्मलाग्रमिव दन्ता अस्य कुड्मलाग्रदन्, कुड्मलाग्रदन्तः, शिखराग्रा दन्ता अस्य शिखराग्रदन्, शिखराग्रदन्तः, शुद्धा दन्ता अस्य शुद्धदन्, शुद्धदन्तः, शुभ्रदन्, शुभ्रदन्तः, वृषस्येव दन्ता अस्य वृषदन्, वृषदन्तः, एवं वराहदन्, वराहदन्तः, अहिदन्, अहिदन्तः, मूषिकदन्, मूषिकदन्तः, शिखरदन्, शिखरदन्तः । योगविभागान्नम्नीति निवृत्तम् ।।154।।

सं–प्राज्जानोर्ज्ञु–ज्ञौ ।। 7. 3. 155. ।।

संप्र इत्येताभ्यां परस्य जानुशब्दस्य बहुव्रीहौ ज्ञु ज्ञ इत्येतावादेशौ समासान्तौ भवतः । संगते जानुनी अस्य संज्ञुः, संज्ञः । प्रगते प्रवृद्धे प्रणते प्रकृष्टे वा जानुनी अस्य प्रज्ञुः प्रज्ञः । संप्रादिति किम् ? विजानुः । वचनभेदाद्यथासंख्याभावः ।।155।।

वोर्ध्वात् ।। 7. 3. 156. ।।

ऊर्ध्वशब्दात्परो यो जानुशब्दस्तस्य बहुव्रीहौ ज्ञुज्ञ इत्येतावादेशौ समासान्तौ वा भवतः । ऊर्ध्वे जानुनी अस्य ऊर्ध्वज्ञुः, ऊर्ध्वज्ञः, ऊर्ध्वजानुः ।।156।।

सुहृद्–दुर्हृन्मित्रा–ऽमित्रे ।। 7. 3. 157. ।।

सुहृद्, दुर्हृदिति सुपूर्वस्य दुष्पूर्वस्य च हृदयशब्दस्य बहुव्रीहौ यथासंख्यं मित्रे सख्यौ अमित्रे शत्रौ चामिधेये हृदित्ययमादेशः समासान्तो निपात्यते शोभनं हृदयं यस्य सुहृन्मित्रम्, दुर्हृदमित्रः । मित्रामित्र इति किम् ? सुहृदयो मुनिः, दुर्हृदयो व्याधः ।।157।।

धनुषो धन्वन् ।। 7. 3. 158. ।।

धनुःशब्दस्य बहुव्रीहौ धन्वन् इत्ययमादेशः समासान्तो भवति । शार्ङ्गं धनुरस्य शार्ङ्गधन्वा, पिनाकधन्वा । अजकावधन्वा, गाण्डीवधन्वा । कथं गाण्डीवधनुषः खेभ्यो निश्चचार हुताशनः इति ? संज्ञात्वविवक्षायामुत्तरेण विकल्पो भविष्यति ।।158।।

वा नाम्नि ।। 7. 3. 159. ।।

धनुस्शब्दस्य बहुव्रीहौ धन्वन्नित्ययमादेशः समासान्तो वा भवति नाम्नि संज्ञायां विषये । शतधन्वा, शतधनुः, पुष्पधन्वा, पुष्पधनुः ।।159।।

खर–खुरान्नासिकाया नस् ।। 7. 3. 160. ।।

खर, खुर इत्येताभ्यां परस्य नासिकाशब्दस्य बहुव्रीहौ नस् इत्ययमादेशः समासान्तो भवति नाम्नि । खरा खरस्येव वा नासिका अस्य खरणाः, खरणसौ । खुर इव नासिकास्य खुरणाः, खुरणसौ । ``पूर्वपदस्थान्नाम्न्यगः'' (2. 6. 65.) इति णत्वम् । नाम्नीत्येव ? खरनासिकः, खुरनासिकः ।।160।।

अस्थूलाच्च नसः ।। 7. 3. 161. ।।

स्थूलशब्दवर्जितात्–पूर्वपदात्खरखुरशब्दाभ्यां च परस्य नासिकाशब्दस्य बहुव्रीहौ नस इत्ययमादेशः समासान्तो भवति नाम्नि । द्रुरिव नासिकास्य द्रुणसः, वार्धीव नासिकास्य वार्धीणसः । ``तद्धितः स्वर''–(3. 2. 55.) इत्यादिना पुंवद्भावाभावः । गोरिव नासिकास्य गोनसः, कुम्भीनसः, खरणसः, खुरणसः । अस्थूलादिति किम् ? स्थूलनासिकः । नाम्नीत्येव । तुङ्गा नासिकास्य तुङ्गनासिकः । कथं गोनासः ? यद्यस्ति नासाशब्देन भविष्यति । चकारः पूर्वेणास्य बाधानिवृत्त्यर्थः ।।161।।

*न्या०स०—अस्थू०—*वार्ध्रीणस इति वर्ध्रस्येयं रज्जुरिति रज्जुविशेषणेन वार्ध्रीशब्दः परतः स्त्रीति पुंभावप्राप्तिः, तद्वन्निरस्थिर्नासा अस्य ।

उपसर्गात् ॥ 7. 3. 162. ॥

धातुयोगे यः प्रादिरुपसर्गसंज्ञो भवति तस्मात्परस्य नासिकाशब्दस्य बहुव्रीहौ नस इत्ययमादेशः समासान्तो भवति । प्रगता प्रवृद्धा वा नासिका अस्य प्रणसं मुखम्, ``नसस्य'' (2. 3. 66.) इति णः । उन्नता उद्गता वा नासिकास्य उन्नसं मुखम्, असंज्ञार्थं वचनम् ॥162॥

वेः खु–ख–ग्रम् ॥ 7. 3. 163. ॥

विशब्दादुपसर्गात्परस्य नासिकाशब्दस्य बहुव्रीहौ खुरव्रग्र इत्येते आदेशाः समासान्ता भवन्ति । विगता नासिकास्य विखुः, विखः, विग्रः । उपसर्गादित्येव । वेः पक्षिण इव नासिकास्य विनासिकः ॥163॥

जायाया जानिः ॥ 7. 3. 164. ॥

जायाशब्दस्य बहुव्रीहौ जानिरित्ययमादेशः समासान्तो भवति । युवतिर्जाया अस्य युवजानिः, प्रियजानिः, शोभनजानिः, वधूजानिः अनन्यजानिः ॥164॥

व्युदः काकुदस्य लुक् ॥ 7. 3. 165. ॥

वि उद् इत्येताभ्यां परस्य काकुदशब्दस्य बहुव्रीहौ लुक् समासान्तो भवति । विगतं काकुदं ताल्वस्य विकाकुत्, उत्काकुत् ॥165॥

पूर्णाद्वा ॥ 7. 3. 166. ॥

पूर्णशब्दात्परस्य काकुदशब्दस्य बहुव्रीहौ लुक् समासान्तो वा भवति । पूर्णं काकुदमस्य पूर्णकाकुत्, पूर्णकाकुदः । पूर्णादिति किम् ? रक्तकाकुदः ॥166॥

ककुदस्याऽवस्थायाम् ॥ 7. 3. 167. ॥

अवस्था वयः, ककुदशब्दस्य बहुव्रीहाववस्थायां गम्यमानायां लुक् समासान्तो भवति । न संजातं ककुदमस्य असंजातककुद्बालः, पूर्णककुद् युवा, स्थूलककुद्बलवान्, यष्टिककुद्,

नातिस्थूलो नातिकृशः, सन्नककुद् कृशः, पन्नककुद्वृद्धः । अवस्थायामिति किम् ? श्वेतककुदः । ककुच्छब्देनैव सिद्धे ककुदशब्दस्यास्मिन्विषये प्रयोगनिवृत्त्यर्थं वचनम् ।।167।।

त्रिककुद्गिरौ ।। 7. 3. 168. ।।

गिरौ पर्वतेऽभिधेय ककुदशब्दस्य त्रिशब्दात्परस्य बहुव्रीहौ ककुदादेशः समासान्तो निपात्यते । त्रीणि ककुदानि ककुदाकाराणि शिखराण्यस्य त्रिककुत्पर्वतः । त्रेर्गिराविति सिद्धे निपातनं गिरिविशेषप्रतिपत्त्यर्थम्, तेनान्यस्मिन् त्रिककुद इत्येव भवति ।।168।।

स्त्रियामूधसो न् ।। 7. 3. 169. ।।

स्त्रियां वर्तमानस्य ऊधस्शब्दस्य बहुव्रीहौ नकारादेशः समासान्तो भवति । कुण्डमिवोधोऽस्याः कुण्डोध्नी, घटोध्नी, पीवरमूधोऽस्याः पीवरोध्नी, महोध्नी गौः । स्त्रियामिति किम् ? महोधाः पर्जन्यः । बहुवीहेरित्येव ? ऊधः प्राप्ता प्राप्तोधा गौः ।।169।।

इनः कच् ।। 7. 3. 170. ।।

इन्नन्ताद्बहुव्रीहेः स्त्रियां वर्तमानात्कच् प्रत्ययः समासान्तो भवति । बहवो दण्डिनोऽस्यां बहुदण्डिका, बहुच्छत्त्रिका सेना । बहुरासभराविका शाला । अनिनस्मन्–ग्रहणान्यर्थवतानर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति । बहुस्वामिका बहुवाग्मिका पुरी । स्त्रियासित्येव । बहुदन्डी बदहुण्डिको राजा । चकारो ``न कचि'' (2. 4. 104.) इति विशेषणार्थः ।।170।।

ऋन्नित्यदितः ।। 7. 3. 171. ।।

ऋकारान्तान्नित्यं दिदादेशो यस्मात्तदन्ताच्च बहुव्रीहेः कच् समासान्तो भवति । ऋत्, बहुकर्तृकः, बहुहर्तृकः । नित्यदित्, बहुकुमारीकः, बहुब्रह्मबन्धूको ग्रामः । नित्यग्रहणं किम् ? पृथुश्रीः पृथुश्रीकः, लम्बभ्रूः, लम्बभ्रूकः । पूर्वत्र स्त्रियां विधिरिति योगविभागः । केचिन्नित्यदितां ङ्यूङन्तानामेव कचमिच्छन्ति । तन्मते बहुतन्त्रीः बहुतन्त्रीक इति ``शेषाद्वा'' (7. 3. 175.) इति विकल्पः ।।171।।

दध्युरःसर्पिर्मधूपानच्छाले: ।। 7. 3. 172. ।।

दधि, उरस्, सर्पिस्, मधु, उपानह्, शालि इत्येतदन्ताद्बहुव्रीहेः कच् समासान्तो

भवति। प्रियदधिकः, प्रियोरस्कः, प्रियसर्पिष्कः, प्रियमधुकः, प्रियोपानत्कः प्रियशालिकः ॥172॥

पुमनडुन्नौ–पयो–लक्ष्म्या एकत्वे ॥ 7. 3. 173. ॥

एकत्वविषये पुम्स् अनडुह् नौ पयस् लक्ष्मी शब्दास्तदन्ताद्बुहुव्रीहेः कच् समासान्तो भवति। प्रियः पुमानस्य प्रियपुंस्कः, प्रियानडुत्कः, प्रियनौकः, प्रियपयस्कः, प्रियलक्ष्मीकः एकत्व इति किम् ? द्विपुमान् द्विपुंस्कः, बह्वनड्वान्, बह्वनडुत्कः, बहुनौः, बहुनौकः, बहुपयाः, बहुपयस्कः, बहुलक्ष्मीः, बहूलक्ष्मीकः। ''शेषाद्वा'' (7. 3. 175.) इति विकल्पः। केचिल्लक्ष्मीशब्दात् द्वित्वबहुत्वयोरपि नित्यं कचमिच्छन्ति। अपरे तुल्ययोगेऽपि। सलक्ष्मीको विनाशितः ॥173॥

*न्या०स०–पुम०–*तुल्योगेऽपीति स्वमते तु ''सहातुल्ययोगे'' (7. 3. 178.) इति निषेधात् कन्न भवति।

नञोऽर्थात् ॥ 7. 3. 174. ॥

नञः परो योऽर्थशब्दस्तदन्ताद्बहुव्रीहेः कच् समासान्तो भवति। न विद्यतेऽर्थो यस्यानर्थकं वचः। नञ इति किम् ? अपार्थम्, अपार्थकम् ॥174॥

शेषाद्वा ॥ 7. 3. 175. ॥

यस्माद्बुहुव्रीहेः समासान्तः प्रत्यय आदेशो वा न विहितस्तस्माच्छेषात् कच् प्रत्ययः समासान्तो वा भवति। बह्व्यः खट्वा अस्मिन् बहुखट्वकः, बहुखट्वः, बहुमालकः, बहुमालः, बहुवीणकः, बहुवीणः। शेषादिति किम् ? प्रियपथः, प्रियधुरः, व्याघ्रपाद्, सिंहपाद्। असति शेषग्रहणे पक्षे परत्वात् कच् स्यात् ॥175॥

न नाम्नि ॥ 7. 3. 176. ॥

नाम्नि संज्ञायां विषये कच् समासान्तो न भवति। बहुदेवदत्तः, विश्वदेवदत्तः, बहुविष्णुमित्रः, विश्वविष्णुमित्रः। एवंनामानो ग्रामाः ॥ विश्वदेवः, विश्वयशाः। एवंनामानौ पुरुषौ, पद्मश्रीः एवंनामा स्त्री। श्वेताश्वतरिः स्त्री पुरुषो वा ॥176॥

ईयसोः ॥ 7. 3. 177. ॥

ईयस्वन्तात्—समासात्कच् समासान्तो न भवति। बहुश्रेयान्, बहुप्रेयान्। लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणात् बहुश्रेयसी, बहुप्रेयसी ॥177॥

सहात्तुल्ययोगे ॥ 7. 3. 178. ॥

तुल्ययोगे यः सहशब्दः सामर्थ्यात्तदादेर्बहुव्रीहेः कच् समासान्तो न भवति। तुल्ययोगो वर्तिपदार्थस्य पुत्रादेर्वृत्त्यर्थेन पित्रादिना सह क्रियागुणजातिद्रव्यैः साधारणः संबन्धः। सपुत्र आगतः, सपुत्रः स्थूलः, सपुत्रो ब्राह्मणः, सपुत्रो गोमान्। सहादिति किम्? श्वेताश्वको देवदत्त आगतः। तुल्ययोग इति किम्? सह विद्यमानानि लोमान्यस्य सलोमकः। सपक्षकः, सकर्मकः ॥178॥

न्या०स०—सहा०—वर्तिपदार्थस्येति वर्तन्ते पूर्वपदोत्तरपदान्यस्मिन् ''विदिवृत्तेर्वाहः'' 610 (उणादि) वर्त्तिः समासस्तस्य पदानि तेषामर्थः।

भ्रातुः स्तुतौ ॥ 7. 3. 179. ॥

भ्रात्रन्तात्समासात्कच् समासान्तो न भवति स्तुतौ भ्रातुः समासार्थस्य वा प्रशंसायां गम्यमानायाम्। शोभनो भ्रातास्य सुभ्राता, कल्याणभ्राता, प्रियभ्राता, बहुभ्राता। भ्रातुरिति किम्? सुमातृकः। स्तुताविति किम्? मूर्खभ्रातृकः ॥179॥

नाडी—तन्त्रीभ्यां स्वाङ्गे ॥ 7. 3. 180. ॥

स्वाङ्गे यौ नाडीतन्त्रीशब्दौ तदन्तात्समासात्—कच् समासान्तो न भवति। बह्व्यो नाड्यो यस्मिन् बहुनाडिः कायः, बहुतन्त्रीर्ग्रीवा, तन्त्रीर्धमनिः। ङ्याद्यन्ताभावाद्ध्रस्वो न भवति। स्वाङ्ग इति किम्? बहुनाडीकः स्तम्बः, बहुतन्त्रीका वीणा। अन्ये त्वाहुर्न पारिभाषिकं स्वाङ्गमिह गृह्यते किंतु स्वमात्मीयमङ्गं स्वाङ्गम्। आत्मा चेह अन्यपदार्थः तस्याङ्गमवयवस्त-स्मिन्निति। तेषां बहुनाडिः स्तम्बः बहुन्त्रीर्वीणा। प्रत्युदाहरणं तु बहुनाडीकः कुविन्दः बहुतन्त्रीको नटः ॥180॥

न्या०स०—नाडी०—आत्मा चेहेति ननु स्वमात्मीयमङ्ग स्वाङ्गमित्युक्तं ततश्च कोऽसावा-त्मेत्याह-अस्येति।

निष्प्रवाणिः ॥ 7. 3. 181. ॥

निष्प्रवाणिरिति कजभावो निपात्यते । प्रोयतेऽस्यामिति प्रवाणी तन्तुवायशलाका सा निर्गतास्मादिति निष्प्रवाणिः कम्बलः, निष्प्रवाणिः पटः, तन्त्रादचिरोद्धृत इत्यर्थः । ``गोश्चान्ते ह्रस्वः'' (2. 4. 95.) इत्यादिना ह्रस्वः । ऊयते अस्यामिति वानिः, प्रभृता वानिः प्रवाणिः, सा निर्गता तन्तुभ्योऽस्येति निष्प्रवाणिः सदश इत्येके । निर्गतः प्रवाण्या निष्प्रवाणिरिति तत्पुरुषेण सिद्धे बहुव्रीहौ कच् मा भूदिति वचनम् ॥181॥

सुभ्रवादिभ्यः ॥ 7. 3. 182. ॥

सुभ्रू इत्येवमादिभ्यः कच् समासान्तो न भवति । सुभ्रूः, लेखाभ्रूः, शलाकाभ्रूः, कोमलोरूः, संहितोरूः, वरोरूः, पीवरोरूः । जातिवचनत्वादूङन्ता एते । एवं हि आमन्त्र्ये सौ ह्रस्वो भवति । हे सुभ्र, हे वरोरु । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् । तेन करभोरूः संहितोरूः इत्यादयोऽपि भवन्ति ॥182॥

न्या०स०—सुभ्र्वा०—सुभ्रूरिति शोभनं भ्रू भ्रमणं यस्या अत्र ऊङः प्राक् ``शेषाद्–वा'' (6. 3. 175.) इति कचि प्राप्ते प्रतिषेधः, न च ऊङ्यप्यानीते नित्यदिद्द्वारेण कच्प्रसङ्गः तत्रोत्तरपदस्थस्यैव नित्यदित्त्वग्रहणात् ।

ननु ``उतोऽप्राणिनश्च'' (2. 4. 73.) इत्यत्र उङ् इत्येव विधीयतां किं दीर्घनिर्दिशेन ?

सत्यं, ऊङ् ऊकारान्त एव भवति, न तद्विषये प्रत्ययान्तरम् । एवं तर्हि दीर्घनिर्देशादेव कच् न भविष्यति किं निषेधकरणेन ? सत्यं, शोभने भ्रुवौ यस्याः सा सुभ्रूरिति ``शेषाद्वा'' (7. 3. 175.) इति पक्षेऽपि कच् न भवति इति प्रतिषेधकरणं सार्थकम्, सुभ्रु इत्येवमादिभ्य इति तु विवरणं विशेषव्याख्यानानपेक्षया कृतम् ।

इत्याचार्य० सप्तमस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ।

इत्याचार्य श्री हेमचन्द्रविरचितायां सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानुशासनबृहद्वृत्तौ सप्तमस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ 7. 3. ॥

अयमवनिपतीन्दो ! मालवेन्द्रावरोध,
स्तनकलशपवित्रां पत्रवल्लीं लुनातु ॥
कथमखिलमहीभृन्मौलिमाणिक्यभेदे,
घटयति पटिमानं भग्नधारस्तवासिः ? ॥1॥

अथ चतुर्थः पादः

वृद्धिः स्वरेष्वादेष्णिति तद्धिते ॥ 7. 4. 1. ॥

ञिति णिति च तद्धिते प्रत्यये परे पूर्वो यः प्रकृतिभागस्तस्य स्वरेषु स्वराणां मध्ये य आदिः स्वरस्तस्य वृद्धिरादेशो भवति । ञिति, दाक्षिः । प्लाक्षिः, कार्णिः, नैवाकविः, चौलिः, णिति, कापटवः, भार्गवः, शैवः, औपगवः । श्रीर्देवता अस्य श्रायः स्थालीपाकः, एवं ह्रायः । स्वरेष्विति व्यञ्जनापेक्षाव्युदासार्थम्, तेन व्यञ्जनादेरपि भवति । ञ्णितीति किम् शङ्कव्यं दारु । तद्धित इति किम् ? चिकीर्षकः ॥1॥

केकय–मित्रयु–प्रलयस्य यादेरिय्–च ॥ 7. 4. 2. ॥

केकय–मित्रयु–प्रलय इत्येतेषां ञ्णिति तद्धिते परे स्वेरष्वादेः स्वरस्य वृद्धिर्यादेश्च शब्दरूपस्य इयादेशो भवति । केकयस्यापत्यं कैकेयः । ``राष्ट्क्षत्रियात्''–(6.1.114.) इत्यादिनाञ् । मित्रयोर्भावः मैत्रेयिकया श्लाघते । ``गोत्रचरण''–(7. 1. 75.) इत्यादिना–कञ् । प्रलयादागतं प्रालेयं हिमम् । ``तत आगते'' (6. 3. 148.) इत्यण् । ञ्णितीत्येव । केकयत्वम् ॥2॥

देविका–शिंशपा–दीर्घसत्र–श्रेयसस्तत्प्राप्तावाः ॥ 7. 4. 3. ॥

देविकाशिंशपादीर्घसत्रश्रेयस् इत्येतेषां स्वरेष्वादेः स्वरस्य ञ्णिति तद्धिते निमित्ते तत्प्राप्तौ वृद्धिप्रसङ्गे आकार आदेशो भवति । देविकायां भवं दाविकमुदकम्, देविकाकूले भवा दाविकाकूलाः शालयः पूर्वदेविका नाम प्राच्यग्रामस्तत्र भवः पूर्वदाविकः । अत्र ``प्राग्ग्रामाणाम्'' (7. 4. 17.) इत्युत्तरपदवृद्धिप्राप्तिः । शिंशपाया विकारः शांशपः स्तम्भः, शिंशपास्थले भवाः शांशपास्थलाः शालयः, पूर्वशिंशपा नाम प्राच्यग्रामस्तत्र भवः पूर्वशांशपः, दीर्घसत्रे भवं दार्घसत्रम्, श्रेयोऽधिकृत्य कृतं श्रायसं द्वादशाङ्गम् । तत्प्राप्ताविति किमर्थम् ? सुदेविकायां भवः सौदेविक इत्यत्र निषेधार्थम् पूर्वोत्तरपदानामपि यथा स्यादित्येवमर्थं च, अन्यथा हि केवलानामेव स्यात् ॥3॥
अर्हं । न्या० स० देवि0–केवलानामेवेति ग्रहणवतेति न्यायात् ।

वहीनरस्यैत् ॥ 7. 4. 4. ॥

वहीनरशब्दस्य ञ्णिति तद्धिते परे स्वरेष्वादेः स्वरस्य ऐकार आदेशो भवति । वहीनरस्यापत्यं

वैहीनरिः, वहीनरस्येदं वैहीनरम्, विहीनरस्य वृद्ध्या सिध्यति, वहीनरस्य वाहीनरिर्माभूदिति वचनम् ॥4॥

य्वः पदान्तात्—प्रागैदौत् ॥ 7. 4. 5. ॥

ञ्णिति तद्धिते इवर्णोवर्णयोस्तत्प्राप्तौ वृद्धिप्रसङ्गे तयोरेव स्थाने यौ यकारवकारौ पदान्तौ ताभ्यां प्राक् यथासंख्यम् ऐत् औत् इत्येतावागमौ भवतः। यकारात्प्रागैकारः, वकारात्प्रागौकार इत्यर्थः। व्याकरणं वेत्त्यवधीते वा वैयाकरणः, नैयायिकः, नैयासिकः, व्यसने भवं वैयसनम्, स्वागमं वेत्त्यधीते वा सौवागमिकः, स्वश्वस्यापत्यं सौवश्विः, स्वश्वस्यायं सौवश्वः, पूर्वत्र्यलिन्दो नाम प्राग्ग्रामः तत्र भवः पूर्वत्रैयलिन्दः, परत्वान्नित्यत्वाच्च वृद्धेः प्रागेव सर्वत्र अनेनैदौतौ। य्व इति किम्? सौपर्णेयः। पदान्तादिति किम्? यत इमे याताश्छात्राः। यत इतीणः शत्रन्तस्य रूपम्। तत्प्राप्तावित्येव? दाध्यश्विः माध्वश्विः। अत्रेदुतोरनादित्वाद्—वृद्धिप्राप्ति-र्नास्ति। द्वाभ्यामशीतिभ्यां निवृत्तो द्वाभ्यामशीतिभ्यामधीष्टो भृतो वा द्वे अशीती भूतो भावी वा द्व्याशीतिकः, त्र्याशीतिकः, अत्रापि ``मानसंवत्सरस्याशाणकुलिजस्यानाम्नि'' (7. 4. 19.) इत्युत्तरपदवृद्धौ यकारस्थानिम इकारस्य वृद्धिप्रसङ्गो नास्तीति। प्राप्तिश्चाकृते यत्ववत्वे इति वेदितव्यम्। कृते हीवर्णोवर्णयोरभावान्नास्ति प्राप्तिः। वृद्ध्यपवादश्चैदौदागमः, तेन तद्धितस्य स्वरवृद्धि- हेतुत्वाभावात् पुंवद्भावप्रतिषेधो न भवति। वैयाकरणभार्यः, शौवश्वभार्यः ॥5॥

न्या०स०—य्वः प०—ननु वैयाकरणः सौवश्विरित्यादिषु व्याकरणादि—शब्दसाधनकाल एव यत्ववत्व—भावादिवर्णोवर्णयोः कथं वृद्धिप्राप्तिः?, सत्यं, ``आतो नेन्द्रवरुणस्य'' (7. 4. 29.) इत्यत्र ज्ञापयिष्यन्ते, पूर्वोत्तरपदकार्ये कृते ततः संधिकार्यमिति वृद्धिरूपे पूर्वपदकार्ये कृते यत्वमिति वृद्धिप्राप्तिः। तत्प्राप्तौ च सत्यामेतत्सूत्र—सामर्थ्यात् वृद्धिं बाधित्वा यत्ववत्वे भवतः, तत ऐदौ—तो। परत्वान्नित्यत्वाच्चेति ``वृद्धिः स्वर'' (7. 4. 1.) इति सूत्रापेक्षया हेतुद्वयमपि दृश्यम् ``य्वः पदान्तात्'' (7. 4. 5.) इत्यस्य परत्वात् तथा यकारवकाराभ्यामग्रेतन—स्वरस्य ``वृद्धिः स्वरे'' (7. 4. 1.) इत्यनेन वृद्धिर्भवतु मा वा तथापि ``य्वः पदान्तात्'' (7. 4. 5.) इति ऐदौदागमेन भाव्यमेव, प्रथमं तु ऐदौदागमात् वृद्ध्या न भाव्यं, तद्बाधकत्वादैदौदागमस्येति कृताकृत- प्रसङ्गित्वेन नित्यत्वमप्यस्ति, पूर्वत्रैयलिन्द इत्यादौ तु यत्वे कृते अलिन्दशब्द—संबन्धि-नोऽस्य ``प्राग्ग्रामाणाम्'' (7. 4. 17.) इति वृद्धौ चिकीर्षितायां नित्यत्वादित्येक एव हेतुर्द्रष्टव्यः।

अनेनैदौताविति एतच्च ``आतो नेन्द्रवरुणस्य'' (7. 4. 29.) इत्यत्र यत्पूर्वं सन्धिकार्यं न भवतीति ज्ञापितं तस्यानाश्रयणेन ज्ञापकज्ञापितत्वात् तस्य ज्ञापकस्य समाश्रयणे वा पूर्वं

यत्ववत्वाभावे ऐदौतः प्राप्तेरभावात् पूर्वमिवर्णोवर्णयोर्वृद्धौ तत आयावादेशे च य्वः प्रागैदौति आत ऐत्वौत्वे तान्येव रूपाण्यतः पूर्वं वृद्धिरेव, न यत्ववत्वे इत्याग्रहो न कार्यं इति ।

याता इति नन्वत्र वृद्धिप्राप्त्यभावात् द्वयङ्गविकलता प्राप्नोति ? सत्यं, यत इमे इति वाक्यकाले यद्यपि कृतयत्वस्येणो रूपं तथापि इ अत् ङस् अण् इत्येव द्रष्टव्यं यतः अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गापि लुप् बाधते इति न्यायेनान्तरङ्गस्यापि ``ह्विणोरप्विति'' (4. 3. 15.) विधीयमानस्य यत्वस्य ``ऐकार्थ्ये'' (3. 2. 8.) इति विधीयमानया ङस्प्रत्ययस्य लुपा बाधितत्वात्, ततो ङसो लुपि ञ्णित्प्रत्ययमाश्रित्य वृद्धिप्राप्तिः, ततोऽन्तरङ्गाद्वृद्धिं बाधित्वा यत्वमजनिष्ट, एतच्च वैयाकरण इत्यादिष्वपि ज्ञेयं, तथाहि वि आकरण अम् अण् इति स्थितौ अन्तरङ्गमपि यत्वं बाधित्वा तेनैव न्यायेन प्रथमममो लुप् ततो वृद्धिप्राप्तावन्तरङ्गत्वात् यत्वमिति ।

द्वयाशीतिक इत्यादि एषु ``निर्वृत्ते'' (6. 4. 20.) इत्यादिभिरिकण्, अत्राशीतिशब्दो दिव-सार्द्धमासमासादेः कालस्य संख्यां ब्रूते इति काले वर्त्तमानत्वादशीति–शब्दात् ``कालात्-परिजय्य'' (6. 4. 104.) इति कालाधिकारविहितस्तेन `हस्ताद्यः' इति तृतीयान्ताधिकारे ``निर्वृत्ते'' (6. 4. 20.) इत्यादिसूत्रैर्निर्वृत्ताद्यर्थ इकण् ।

प्राप्तिश्चाकृते इति वैयाकरण इत्यादिषु य्वोः स्थानिनोरिवर्णोवर्णयोर्वृद्धिप्रसङ्ग इत्यर्थः ।

द्वारादेः ॥ 7. 4. 6. ॥

द्वार इत्येवमादीनां यौ यकारवकारौ तयोः समीपस्य स्वरेष्वादेः स्वरस्य तत्प्राप्तौ वृद्धिप्रसङ्गे ताभ्यामेव प्राक् ऐत् औत् इत्येतावागमौ भवतः ञ्णिति तद्धिते परे । द्वारे नियुक्तः दौवारिकः, स्वरमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः सौवरः, स्वर्भवः सौवः, ``प्रायोऽव्ययस्य''–(7. 4. 65.) इत्यन्त्य–स्वरादिलोपः । स्वस्तीत्याह सौवस्तिकः, अव्युत्पन्नोऽयम् । सुपूर्वस्य तु पूर्वेणैव सिद्धम् । स्वादुमृदोऽपत्यं सौवादुमृदः, व्यल्कसे भवो वैयल्कसः, विपूर्वस्य तु पूर्वेणैव सिद्धम् । श्वो भवः शौवस्तिकः, ``श्वसस्तादिः''–(6. 3. 83.) इति तिकण् । शुन इदं शौवनं मांसम् । स्फ्यकृतस्यापत्यं स्फैयकृतः । ऋष्यण् । स्वस्येदं सौवम्, स्वाध्यायेन जयति सौवाध्यायिकः । ``तेन जित''– (6. 4. 2.) इत्यादिनेकण् । स्वग्रामे भवः सौवग्रामिकः, अध्यात्मादित्वादिकण् । ``श्वादेरिति'' (7. 4. 10.) इति प्रतिषेधात् द्वारादिपूर्वाणामपि भवति । द्वारपालस्यापत्यं दौवारपालिः, ``अत इञ्''– (6. 1. 31.) । द्वारपाल्या अपत्यं दौवारपालिकः, रेवत्यादित्वादिकण्, स्वराध्याये भवः सौवराध्यायः, स्वर्गमनमाह सौवर्गमनिकः । प्रभूतादित्वादिकण्– श्वादंष्ट्रायां भवः शौवादंष्ट्रो मणिः, शौवभस्त्रः । य्वोः समीपस्य वृद्धिप्राप्ताविति विज्ञानात् वैयल्कस इत्यत्र वकारात्प्रागौकारो न भवति । स्वपाठेनैव सिद्धे स्वाध्यायस्वग्रामपाठात् स्वापतेयं

स्वाजन्यमित्यादौ न भवति ।

द्वार, स्वर, स्वर्, स्वस्ति, स्वादुमृद्, व्यल्कस, श्वस्, श्वन्, स्फ्यकृत, स्व, स्वाध्याय, स्वग्राम इति द्वारादिः ।।6।।

न्या०स०–द्वारा०–सौच इति अत्र भवे अण्, अथ स्वर्शब्दस्याव्ययत्वात् ``सायंचिरम्'' (6. 3. 88.) इत्यनेन कथं न तनट् ?

सत्यं, ``वर्षाकालेभ्यः'' (6. 3. 80.) इत्यतः कालाधिकारात् ।

वैयल्कस इति अत्र यकारस्वरस्य वृद्धिप्राप्तिरिति यात्प्रागैकारः, न तु वात् प्रागौकारः, वकारसमीपे स्वरस्यैवाभावेन वृद्धिप्राप्तिर्नास्तीति ।

विपूर्वस्येति0 विगतो अर्कः, व्यर्क स्यति ``आतो डः'' (5. 1. 76.) इति डः ऋफिडादि- त्वादस्य लः ।

शौवनमिति संकोच एवान्त्यस्वरादिलोपविधानादत्र मांसे वाच्ये न भवति । श्वादेरितीति० श्वन्शब्दोऽपि द्वारादिस्तत्र तदादेः कार्यप्रतिषेधात् तत्प्राप्तिर्विज्ञायत इत्यर्थः । शौवादंष्ट्र इति०–अत्र यद्यपि श्वादंष्ट्रायां भव इति वाक्ये श्वन्शब्दस्यात्वं दृश्यते, तथापि ``शुनः'' (3. 2. 90.) इत्यस्मिन्नात्वविधायके सूत्रे बहुलाधिकारादणि प्रत्यय एव सत्यात्वं भवति, अन्यथा प्रथममात्वे कृते ``दोरीयः'' (6. 3. 32.) इतीयः स्यात् ।

शौवभस्त्र इति० श्वेव भस्त्रा यस्य बाहुलकात् ``शुनः'' (3. 2. 90.) इति न दीर्घः ।

न्यग्रोधस्य केवलस्य ।। 7. 4. 7. ।।

न्यग्रोधशब्दस्य केवलस्य यो यकारस्तस्य स्थानी अव्युत्पत्तिपक्षे तु समीपो यः स्वरेष्वादिः स्वरस्तस्य तत्प्राप्तौ वृद्धिप्राप्तौ तस्मादेव यकारात् प्राक् ऐकार आगमो भवति ञ्णिति तद्धिते परे । न्यग्रोधस्य विकारो नैयग्रोधो दण्डः, नैयग्रोधः कषायः । केवलस्येति किम् ? न्यग्रोधमूले भवा न्याग्रोधमूलाः शालयः, न्यग्रोधाः सन्त्यस्मिन् ऋश्यादित्वाच्चातुरर्थिकः कः–न्यग्रोधकम्, तत्र भवो न्याग्रोधकः । इदमपि द्वारादीनां तदादिविधेर्ज्ञापकम् । न्यग्रोहतीति न्यग्रोध इति व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम् । केवलस्यैवेति । अव्युत्पत्तिपक्षे तु विध्यर्थं वचनम् ।।7।।

न्या०स०–न्यग्रोधस्य०–इदमपीति न केवलं ``श्वादेः'' (7. 4. 10.) इति निषेधः, किंतु केवलग्रहणमपीत्यर्थः । नन्वेतत्सूत्रमपि किमर्थं कृतम् ? इत्याह–न्यग्रोहतीत्यादि- अयमर्थः, यदा व्युत्पत्तिपक्ष आश्रीयते तदा न्यक्शब्दसाधनकाले या निशब्दात् प्रथमा, तदपेक्षया

निसंबन्धिन इकारस्य पदान्तत्वात् तत्स्थानप्रादुर्भावात् यस्यापि पदान्तत्वे ``ख्वः पदान्तात्'' (7. 4. 5.) इत्यनेनैवै दागमे सिद्धे सतीदं सूत्रं नियमार्थम् । अव्युत्पत्तिपक्षे तु यस्यापदान्तत्वात् ``ख्वः पदान्तात्'' (7. 4. 5.) इति न सिध्यतीति विध्यर्थमिदम् ।

न्यङ्कोर्वा ॥ 7. 4. 8. ॥

न्यङ्कुशब्दस्य तद्धिते ञ्णिति परे यकारात्प्रागैकारो वा भवति । न्यङ्कोरिदं नैयङ्कवम्, न्याङ्कवम् ॥8॥

*न्या०स०—न्यङ्को०—*न्यञ्चतीति ``नेरञ्चेरुः'' 724 (उणादि) ``न्यङ्कूद्ग'' (4. 1. 112.) इति कः, व्युत्पत्तिपक्षे पूर्वेण प्राप्ते विभाषा, अव्युत्पत्तिपक्षे त्वप्राप्ते ।

न–ञ–स्वङ्गादेः ॥ 7. 4. 9. ॥

ञप्रत्ययान्तस्य स्वङ्गादेश्च ञ्णिति तद्धिते परे ख्वः प्रागैकारौकारौ न भवतः । ञ, व्यावक्रोशी, व्यावलेखी, व्यावचर्ची, व्यावहासी, व्यात्युक्षी । ``व्यतिहारेऽनीहादिभ्यो ञः''– (5. 3. 116.) इति ञः । ततो ``नित्यं ञञिनोऽण्''– (7. 3. 58.) इत्यण् । स्वङ्गादि, स्वङ्गस्यापत्यं स्वाङ्गिः, व्याङ्गिः, व्याडिः, स्वागतमित्याह स्वागतिकः, स्वध्वरेण चरति स्वाध्वरिकः, व्यवहारेण चरति व्यावहारिकः, । व्यायामः प्रयोजनमस्याः व्यायामिकी विद्या ॥

स्वङ्ग, व्यङ्ग, व्यड, स्वागत, स्वध्वर, व्यवहार, व्यायाम इति स्वङ्गादिः ॥9॥

श्वादेरिति ॥ 7. 4. 10. ॥

श्वन्शब्द आदिरवयवो यस्य तस्य श्वादेर्नाम्न इति इकारादौ ञ्णिति तद्धिते प्रत्यये परे वः प्रागौकारो न भवति । श्वभस्त्रस्यापत्यं श्वाभस्त्रिः, श्वाशीर्षिः, श्वदंष्ट्रिः, श्वगणेन चरति श्वागणिकः, श्वायूथिकः आदिग्रहणं किम् ? श्वभिश्चरति शौविकः । इतीति किम् ? श्वहानस्येदं शौवहानम्, शौवभस्त्रम्, श्वादंष्ट्रायाः विकारः शौवादंष्ट्रो मणिः ॥10॥

इञः ॥ 7. 4. 11. ॥

श्वादेरिञ्प्रत्ययान्तस्य ञ्णिति तद्धिते परे वकारात्प्रागौकारो न भवति । श्वाभस्त्रेरिदं श्वाभस्त्रम्, श्वाकर्णेः श्वाकर्णम् । इकारादौ निमित्त उच्यमानः पूर्वेण प्रतिषेध इञन्तस्य प्रत्ययान्तरे न प्राप्नोतीति वचनम् ॥11॥

न्या०स०—इञ:०—श्वाकर्णेरिति वाक्ये पूर्वेण औन्निषेधः ।

पदस्यानिति वा ॥ 7. 4. 12. ॥

पदशब्दान्तस्य श्वादेः शब्दस्य इकारादिवर्जिते ञ्णिति तद्धिते परे वकारात्प्रागौकारो वा भवति । शुन इव पदमस्य श्वापदम्, तस्य विकारः श्वापदं, शौवापदम् । अनितीति किम् ? श्वापदेन चरति श्वापदिकः । श्वन्शब्दस्य द्वारादिषु पाठात् तत्र तदादिविधेर्ज्ञापितत्वान्नित्यमौकारागमे प्राप्ते विकल्पः ॥12॥

न्या०स०—पद—श्वापदशब्दो बाहुलकात् पुंनपुंसकः ।

प्रोष्ठ—भद्राज्जाते ॥ 7. 4. 13. ॥

वृद्धिरित्यनुवर्तते, प्रोष्ठशब्दाद् भद्रशब्दाच्च परस्य पदशब्दस्योत्तरपदस्य स्वरेष्वादेः स्वरस्य स्थाने जातेऽर्थे विहिते ञ्णिति तद्धिते परे वृद्धिर्भवति । प्रोष्ठपदासु जातः प्रोष्ठपादः, भद्रपादो माणवकः । जात इति किम् ? प्रोष्ठपदासु भवः प्रोष्ठपदो मेघः, ऊर्ध्वमोहूर्तिक इति ``सप्तमी चोर्ध्वमौहूर्तिके'' (5. 4. 30.) इति निपातनात्, गुरुलाघवमिति गुरोर्लाघवं गुरुश्च गुरुत्वं लाघवं चेति वा, संहतपारार्थ्यमिति संहते पारार्थ्यमिति सिद्धमतो नार्थ उत्तरपदवृद्धिविधानेन ॥13॥

न्या०स०—प्रोष्ठ०—प्रकृतिर्हरीतक्यादिरिति वचनात् कालेऽपि प्रोष्ठपदादयः स्त्रीलिङ्गाः ।

अंशादृतोः ॥ 7. 4. 14. ॥

अंशवाचिनः शब्दात्परस्य ऋतुवाचिन उत्तरपदस्य स्वरेष्वादेः स्वरस्य स्थाने ञ्णिति तद्धिते परे वृद्धिर्भवति । पूर्वासु वर्षासु भवः पूर्ववार्षिकः, अपरवार्षिकः । ``वर्षाकालेभ्यः'' (6. 3. 79.) इतीकण् । पूर्वशारदः, अपरशारदः पूर्वनैदाघः, अपरनैदाघः, पूर्वहैमनः, अपरहैमनः । ऋत्वण् । अंशादिति किम् ? पूर्वासु ऋत्वन्तरैर्व्यवहितासु वर्षासु भवः पौर्ववर्षिकः, सुवर्षासु भवः सौवर्षिकः । ऋतोरिति किम् ? पूर्वपिप्पल्या इदं पौर्वपिप्पलम्, आर्धपिप्पलम् ॥14॥

न्या०स०—अंशा०—पूर्वासु वर्षास्विति अर्थकथनमिदं यावता ``पूर्वापरप्रथम'' (3. 1. 103.) इत्यनेन कर्मधारये पूर्ववर्षासु भवः पूर्वं भागान्तरं वर्षाणां वा इति कार्यं, अन्यथांशवाचकत्वेन

पूर्वस्यादिग्वाचित्वाभावात्, ``दिगाधिकम्'' (3. 1. 98.) इति न स्यात्, एवं पूर्वशारद इत्यादावपि यथा पूर्वं भागान्तरं शरदः पूर्वं भागान्तरं निदाघस्य तत्र भवः ।

ऋत्वन्तरैर्व्यवहितास्विति अत्र हि पूर्वशब्दो न वर्षाणामेकदेशं ब्रूते किंतु व्यवहितत्वमिति न पूर्वशब्दोंऽशवचनः ।

सु–सर्वाऽर्द्धाद्–राष्ट्रस् ॥ 7. 4. 15. ॥

सु, सर्व, अर्ध इत्येतेभ्यः परस्य राष्ट्रवाचिन उत्तरपदस्य ञ्णिति तद्धिते परे स्वरेष्वादेः स्वरस्य वृद्धिर्भवति । सुपञ्चालेषु भवः सुपाञ्चालकः, सर्वपाञ्चालकः, अर्धपाञ्चालकः, सुमागधकः, सर्वमागधकः अर्धमागधकः । ``बहुविषयेभ्यः'' (6. 3. 45.) इत्यकञ् । राष्ट्रस्येति किम् ? सुगन्धाः पण्यमस्य सौगन्धिकः, अर्धपिप्पल्यां भव आर्धपिप्पलः ॥15॥

*न्या०स०–सुस०–*सुपाञ्चालक इति उत्सादौ पञ्चलशब्दो ब्राह्मणवाच्येव गृह्यत इति केचित्, तन्मतेन नात्राञ् किंत्वकञेव ।

बहुविषयेभ्य इति ``सुसर्वार्द्धदिक्शब्देभ्यो जनपदस्य'' (7. 4. 15.) इति ज्ञापकात्तदन्तस्यापि भवति ।

अमद्रस्य दिशः ॥ 7. 4. 16. ॥

दिग्वाचिनः परस्य राष्ट्रवाचिनो मद्रशब्दवर्जितस्य ञ्णिति तद्धिते परे स्वरेष्वादेः स्वरस्य वृद्धिर्भवति । पूर्वपाञ्चालकः, अपरपाञ्चालकः, दक्षिणपाञ्चालकः, उत्तरपाञ्चालकः । अमद्रस्येति किम् ? पौर्वमद्रः, दिश इति किम् ? पूर्वं पञ्चालानां पूर्वपञ्चालाः, अंशिसमासः, तेषु भवः पौर्वपञ्चालकः । अवयववृत्तेरपि पूर्वशब्दस्य दिशि दृष्टत्वेन दिक्शब्दत्वात्तदन्तविधौ सति ``बहुविषयेभ्यः'' (6. 3. 45.) इत्यकञ् । एके त्वस्य दिक्शब्दत्वं नेच्छन्ति, तन्मते तदन्तविध्यभावेऽणेव । पौर्वपञ्चालः ॥16॥

*न्या०स०–अम०–*पूर्वं पञ्चालानामिति अत्र पूर्वशब्दस्य दिग्शब्दत्वाभावात् ``सुसर्वार्धदिक्शब्देभ्यो जनपदस्य'' (7. 4. 15.) इति न्यायेन दिक्शब्दात् परतो जनपदस्य तदन्तविधिर्विधीयमानो न प्राप्नोतीति कथं ``बहुविषयेभ्यः'' (6. 3. 45.) इत्यकञ् ?

इत्याह-अवयववृत्तेरपीत्यादि तत्र हि दिक्शब्देभ्य इत्युक्तं न तु दिग्वाचिन इति ।

प्राग्ग्रामाणाम् ॥ 7. 4. 17. ॥

प्राग्देशग्रामवाचिनां योऽवयवो दिग्वाची ततः परस्यावयवस्य दिशः परेषां च प्राग्ग्रामवाचिनां ञ्णिति तद्धिते परे स्वरेष्वादेः स्वरस्य वृद्धिर्भवति । पूर्वकृष्णमृत्तिका नाम प्राक्षु ग्रामः तत्र भवः पूर्वकार्ष्णमृत्तिकः, एवमपरकार्ष्णमृत्तिकः, पूर्वेषुकामशमी नाम प्राग्ग्रामस्तत्र भवः पूर्वैषुकामशमः, एवमपरैषुकामशमः, बहुवचनाद् ग्रामग्रहणेन नगरमपि गृह्यते । पूर्वस्मिन्–कन्यकुब्जे भवः पूर्वकान्यकुब्जः, अपरकान्यकुब्जः, एवं पूर्वपाटलिपुत्रकः, अपरपाटलिपुत्रकः । प्राग्ग्रहणं किम् ? देवदत्तं नाम वाहीकग्रामः पूर्वस्मिन्देवदत्ते भवः पौर्वदेवदत्तः, आपरदेवदत्तः ॥17॥

न्या०स०–प्राग्०–अत्र सूत्रार्थद्वयं तत्रावयवस्येत्यन्तः प्रथमः सूत्रार्थः, दिशः परेषामित्यादिस्तु द्वितीयः, तत्र 'प्रथमसूत्रार्थापेक्षयापरमैषुकामशम इत्यन्तानि यतः पूर्वकृष्णमृत्तिकादीनि अखण्डानि प्राग्ग्रामनामानि, एषु सर्वेषु भवेऽण् । द्वितीयसूत्रार्थापेक्षया पूर्वकान्यकुब्ज इत्यादीनि, एषु सर्वेषु भवेऽण् ।

पूर्वपाटलिपुत्रक इत्यत्र ``संज्ञा दुर्वा'' (6. 1. 6.) इति वा दुसंज्ञायां ``रोपान्त्यादकञ्'' (6. 3. 42.) दुसंज्ञाया अभावे त्वणन्तात्स्वार्थे कः ।

संख्या–ऽधिकाभ्यां वर्षस्याऽभाविनि ॥ 7. 4. 18. ॥

संख्यावाचिनोऽधिकशब्दाच्च परस्य वर्षशब्दस्य ञ्णिति तद्धिते परे स्वरेष्वादेः स्वरस्य वृद्धिर्भवति अभाविनि न चेत्स तद्धितो भावीत्यस्मिन्नर्थे विहितो भवति । द्वाभ्यां वर्षाभ्यां निवृत्तः द्वाभ्यां वर्षाभ्यां भृतोऽधीष्टो वा द्वे वर्षे भूतो वा द्विवार्षिकः, त्रिवार्षिकः, अधिकवार्षिकः । अभाविनीति किम् ? द्वे वर्षे भावि द्वैवार्षिकं त्रैवर्षिकम् धान्यम्, द्वाभ्यां वर्षाभ्यां भृतोऽधीष्टो वा कर्म करिष्यति द्विवार्षिको मनुष्य इति, अधीष्टभृतयोः प्रत्ययो न–भाविनीति प्रतिषेधो न भवति । गम्यते ह्यत्र भविष्यत्ता न तु प्रत्ययार्थः ।18।

न्या०स०–संख्या०–ननु द्विवार्षिक इत्यादौ ``निर्वृत्ते'' (6. 4. 20.) इत्यादिभिरिकण् न प्राप्नोति, तत्र ``कालात् परिजय्य'' (6. 4. 104.) इत्यतः कालादिति अधिकारात्, अत्र तु वर्षशब्द एव कालवाची, न तु द्विवर्षेत्यादिरिति ?

सत्यं, ``संख्यादेश्चार्हदलुचः'' (6. 4. 80.) इत्यनेन संख्यादेरपि कालवाचिनो भवतीति, तर्हि अधिक वार्षिक इत्यत्र कथं न ह्यधिकशब्दः संख्यावाचीति ?

सत्यं, अभाविनीतिव्यावृत्तिसामर्थ्यात्, अभाविनीति व्यावृत्तद्वैवर्षिक इत्यादिषु चरितार्थत्वमिति चेत्, तर्हि अभाविनीव्यावृत्तेर्व्यक्तया प्रवृत्तेरिकण् भविष्यतीति ।

मान–संवत्सरस्याशाण–कुलिजस्याऽनाम्नि ॥ 7. 4. 19. ॥

मीयते परिच्छिद्यते येन तन्मानम् परिमाणादि । संख्याया अधिकशब्दाच्च परस्य शाणकुलिज–शब्दवर्जितस्य मानवाचिनः संवत्सरशब्दस्य च ञ्णिति तद्धिते परे स्वरेष्वादेः स्वरस्य वृद्धिर्भवति अनाम्नि असंज्ञायां विषये । संख्याधिकाभ्यां मानसंवत्सरस्य वचनभेदान्न यथासंख्यम् । द्वौ कुडवो प्रयोजनमस्य द्विकौडविकः, त्रिकौडविकः । अधिककौडविकः । द्वाभ्यां सुवर्णाभ्यां क्रीतं द्विसौवर्णिकं त्रिसौवर्णिकम् । अधिकसौवर्णिकम्, द्वाभ्यां षष्टिभ्यां निर्वृत्तो द्वाभ्यां षष्टिभ्यां भृतोऽधीष्टो वा द्वे षष्टी भूतो भावी वा द्विषाष्टिकः, त्रिषाष्टिकः, अधिकषाष्टिकः, द्विसाप्ततिकः, अधिकसाप्ततिकः, द्विषष्ट्यादिशब्दाः संख्येये काले वर्तन्त इति कालाधिकारविहितं प्रत्ययमुत्पादयन्ति । द्वाभ्यां नवतिभ्यां क्रीतमिति ``मूल्यैः क्रीते'' (6. 4. 150.) इतीकण् । तस्य ``अनाम्न्यद्विः प्लुप्'' (6. 4. 141.) इति लुपि द्विनवति द्रव्यम् तेन द्वौ च नवतिश्च द्विनवतिस्तया वा क्रीतं द्विनावतिकम्, एवं त्रिनावतिकम्, संवत्सर, संवत्सर, द्वाभ्यां संवत्सराभ्यां निर्वृत्तो द्वाभ्यां संवत्सराभ्यां भृतोऽधीष्टो वा द्वौ संवत्सरौ भूतो भावी वा द्विसांवत्सरिकः, त्रिसांवत्सरिकः, संवत्सरग्रहणात् कालो मानग्रहणेन न गृह्यते तेन द्वैसमिकः, त्रैसमिकः, द्वैरात्रिकः, त्रैरात्रिकः । अशाणकुलिजस्येति किम् ? द्वाभ्यां शाणाभ्यां क्रीतं द्वैशाणं, त्रैशाणम्, द्वे कुलिजे पचति संभवत्यवहरति च द्वैकुलिजिकः । त्रैकुलिजिकः । अनाम्नीति किम् ? पञ्च लोहिन्यः परिमाणमस्य पाञ्चलोहितिकम्, पाञ्चकलायिकम् । तद्धितान्तमिदं परिमाणविशेषस्य नाम ॥19॥

*न्या०स०–मान०–*द्विसौवर्गिकमित्यादि अत्र तु ``सुवर्णकार्षापणात्'' (6. 4. 143.) इत्येनेनेकणो वा लुप् भवति ।

द्विषष्ट्यादिशब्दा इति द्वे षष्टी सप्तती वा दिवसानां मासानामर्धमासानां वेति विवक्षया कालवृत्तित्वम् ।

कालाधिकारविहितमिति ``कालात् परिजय्य'' (6. 4. 104.) इत्यस्मिन् कालाधिकारे विहितं ``निर्वृत्ते'' (6. 4. 105.) इत्यादिभिः प्रत्ययमिकरूपम् ।

कालो मानग्रहणेनेति मीयते अनेनेति व्युत्पत्या मानग्रहणेन कालस्यापि ग्रहणप्रसङ्गे सतीत्यर्थ द्वैरात्रिक इत्यादि अत्र ``संख्यातै'' (6. 3. 119.) इत्यत्, तत इकण् । द्वैशाणमिति

``द्वित्र्यादेर्याण् च'' (6. 4. 147.) इत्यण् तस्य च विधानसामर्थात् ``अनाम्न्यद्विः प्लुप्'' (6. 4. 141.) इति लुबभावः ।

द्वैकुलिजिक इति अत्र ``संभव'' (6. 4. 162.) इति इकण्, ``कुलिजाद् वा'' (6. 4. 165.) इति वा लुप् ।

पाश्वलोहितिकमिति अत्र ``मानम्'' (6. 4. 169.) इतीकण् ``जातिश्च णि'' (3. 2. 51.) इति पुंवद्भावः ।

पाश्वकलायिकमिति कलायो धान्यविशेषो मालविकप्रसिद्धः, तत्कणानां पश्वानां यावत् परिमाणं भवति, तावन्मात्रस्य परिमाणविशेषस्येदं नाम, अत्र एव ``अनाम्न्यद्विः प्लुप्'' (6. 4. 141.) इति लुबपि न भवति ।

अर्धात्–परिमाण स्याऽनतो वा त्वादेः ।। 7. 4. 20. ।।

अर्धशब्दात्परस्य परिमाणवाचिनः कुडवादेः शब्दरूपस्य ञ्णिति तद्धिते परे स्वरेष्वादेः स्वरस्यानतोऽकाररहितस्य वृद्धिर्भवति वा त्वादेः परिमाणात्पूर्वस्य त्वर्धशब्दस्य वा भवति । अर्धकुडवेन क्रीतम् अर्धकौडविकम्, आर्धकौडविकम्, अर्धमौष्टिकम्, आर्धमौष्टिकम्, अर्धद्रौणिकम् आर्धद्रौणिकम् । परिमाणस्येति किम् ? अर्धक्रोशः प्रयोजनमत्य आर्धक्रो (क्रौ) शिकम् । अनत इति किम् ? अर्धप्रस्थिकम्, आर्धप्रस्थिकम्, अर्धकंसिकम्, आर्धकंसिकम्, अर्धचमसिकम् । आर्धचमसिकम् आदिविकल्प उत्तरवृद्ध्यनपेक्ष इति भवत्येव । अतः प्रतिषेधादाकारस्य वृद्धिर्भवत्येव । अर्धखार्यां भवः अर्धखारीकः । पुनरत्र विशेषः सत्यामसत्यां वा वृद्धौ । उच्यते, अर्धखारी भार्यास्य अर्धखारीभार्य इति । यद्यत्र वृद्धिप्रतिषेधः स्यात् अयं तद्धितो न वृद्धिहेतुरिति पुंवद्भावप्रतिषेधो न स्यात्, यथार्धप्रस्थे भवार्धप्रस्थी सा भार्यास्य अर्धप्रस्थभार्य इति ।।20।।

न्या०स० अर्द्ध०—अर्द्धकंसिकमितिअर्द्धकंसशब्दात् क्रीतेऽर्थे इकण् न भवति, ``अर्द्धात्पल-कंसकर्षात्'' (6. 4. 134.) इतीकटा बाधितत्वात्ततः प्रयोजनेऽर्थे इकण् दृश्यः । अर्द्धप्रस्थभार्य इति अत्रानत इति भणनान्नोत्तरपदवृद्धिः, पूर्वपदस्यापि `वा त्वादेः' इति वचनान्न भवति, ततस्तद्धितस्य स्वरवृद्धिहेतुत्वाभावान्न पुंवन्निषेधः ।

प्राद्–वाहणस्यैये ।। 7. 4. 21. ।।

वा त्वादेरिति वर्तते, प्रशब्दात्परस्य वाहणशब्दस्य एये ञ्णिति तद्धिते परे स्वरेष्वादेः

स्वरस्व वृद्धिर्भवति आदेः पूर्वस्य तु प्रशब्दस्य वा भवति । प्रवाहयतीति प्रवाहणः प्रवाहणस्यापत्यं प्रवाहणेयः, प्रावाहणेयः, शुभ्रादित्वादेयण् । अत्राप्युत्तरपदवृद्धेः पूर्वोक्तमेव प्रयोजनम्, तेन प्रवाहणेयी भार्या यस्य प्रवाहणेयीभार्य इति पुंवद्भावप्रतिषेधो भवति ॥21॥

एयस्य ॥ 7. 4. 22. ॥

एयप्रत्ययान्तावयवात्प्रशब्दात्परस्य वाहणशब्दस्य ञ्णिति तद्धिते परे स्वरेष्वादेः स्वरस्य वृद्धिर्भवति आदेस्तु प्रशब्दस्य वा भवति । प्रवाहेणयस्यापत्यं युवा प्रवाहणेयः प्रावाहणेयिः । प्रवाहणेयस्येदं संघादि तस्य भावो वा प्रवाहणेयकम् । प्रावाहणेयकम् । बाह्यतद्धितनिमित्ता वृद्धिरेवाश्रयेण विकल्पेनाशक्या बाधितुमिति सूत्रारम्भः ॥22॥

*न्या०स०–एय०–*प्रवाहणेयिरिति अत्र ब्राह्मणत्वात् ``अब्राह्मणात्'' (6. 1. 141.) इत्यनेन इञो न लुप् ।

बाह्यतद्धितेति-बाह्यस्तद्धित एयव्यतिरिक्तस्तन्निमित्ता वृद्धिः ``वृद्धिः स्वर'' (6. 4. 1.) इत्यनेन नित्यं प्राप्ता एयाश्रयेण विकल्पेन ``प्राद्वाहणस्य'' (6. 4. 21.) इति विहितेनेति योजना ।

नञः क्षेत्रज्ञेश्वर–कुशल–चपल–निपुण–शुचेः ॥ 7. 4. 23. ॥

नञः परेषां क्षेत्रज्ञ, ईश्वर, कुशल, चपल, निपुण, शुचि इत्येतेषां प्रकृत्यवयवानां णिति तद्धिते परे स्वरेष्वादेः स्वरस्य वृद्धिर्भवति आदेस्तु नञो वा । अक्षेत्रज्ञस्येदं अक्षैत्रज्ञम्, आक्षैत्रज्ञम् । अक्षेत्रज्ञस्य भावः कर्म वा अक्षैत्रज्ञ्यम् आक्षैत्रज्ञ्यम्, राजादित्वात् ट्यण् । एवमनैश्वरम्, आनैश्वरम्, अनैश्वर्यम्, आनैश्वर्यम् । अकुशलस्येदम् अकौशलम् आकौशलम्, एवमचापलम्, आचापलम्, अनैपुणम् । आनैपुणम् । न शुचिरशुचिस्तस्यैदम् अशौचम्, आशौचम्, न विद्यते शुचिरस्येति वा अशुचिस्तस्य भावः कर्म वा अशौचम्, आशौचम् । क्षेत्रज्ञकुशलचपलनिपुणानां नञ्पूर्वाणामपि युवादिपाठादणमिच्छन्त्येके । आयथातंथ्यमिति समासात्प्रत्ययः । अयाथातथ्यमिति प्रत्ययान्तेन समासः । एवम् आयथापुर्यम् अयाथापुर्यम् यथा आचतुर्यम् अचातुर्यम् इति । यथातथा यथापुरा इत्यखण्डमव्ययं वा ``नाम नाम्ना''– (3. 1. 18.) इति वा समासो ``यथाऽथा'' (3. 1. 41.) इति अव्ययीभावो वा अकारान्तः ॥23॥

*न्या०स०–नञः०–*अक्षेत्रज्ञमिति ``नञ्तत्पुरुषादबुधादेः'' (7. 1. 57.) इत्यनेन ट्यण् न बाध्यते, क्षेत्रज्ञेश्वरयोर्बुधादिपाठात् ।

न विद्यते शुचिरस्येति वेति पूर्वप्रयोगापेक्षया वा न तु वाक्यापेक्षया नञ्तत्पुरुषे हि ``नञ्तत्पुरुषात्'' (6. 3. 71.) इति त्वतलावेव स्यातामतो बहुव्रीहिरेव कार्यः ।

अव्ययीभावो वेति तथेत्यस्य योग्यत्वं पुरेत्यस्य योग्यत्वं तथेत्यस्य पुरेत्यस्य चानतिक्रम इति वा यथातथं, यथापुरम् । अकारान्त इति अव्ययीभावस्य नपुंसकत्वे ``क्लीबे'' (2. 4. 97.) इत्यनेन ह्रस्वः ।

जङ्गल–धेनु–वलजस्योत्तरपदस्य तु वा ॥ 7. 4. 24. ॥

आदेरित्यनुवर्तते । वेति तु निवृत्तम् । उत्तरपदस्य चेत्यकरणात् । जङ्गल, धेनु, वलज इत्येतदुत्तरपदानां शब्दशनामादेः पूर्वपदस्य ञ्णिति तद्धिते परे स्वरेष्वादेः स्वरस्य नित्यं वृद्धिर्भवति । उत्तरपदस्य पुनर्वा भवति । कुरुजङ्गलेषु भवः कौरुजङ्गलः, कौरुजाङ्गलः, वैश्वधेनवः वैश्वधैनवः, सौवर्णवलजः सौवर्णवालजः ॥24॥

न्या०स०–जङ्गल०–वैश्वधैंनब इत्यत्र ``उत्सादेरञ्'' (6. 1. 19.) शेषेषु ``भवे'' (6. 3. 123.) अण् ।

हृद्–भग–सिन्धोः ॥ 7. 4. 25. ॥

आदेरुत्तरपदस्येति च द्वयमनुवर्तते, हृद्भगसिन्धु इत्येवमन्तानां शब्दानां ञ्णिति तद्धिते परे आदेः पूर्वपदस्योत्तर–पदस्य च स्वरेष्वादेः स्वरस्थ वृद्धिर्भवति ।

सुहृदः सुहृदयस्य वा इदं भावः कर्म वा ``तस्येदम्'' (6. 3. 159.) इत्यणि युवाद्यणि वा सौहार्दम्, एवं दौहार्दम् । सुहृदो भावः कर्म वा राजादित्वात् ट्यणि सौहार्द्यम्, दौहार्द्यम् । बहुलाधिकारात् मित्रामित्रार्थयोः सुहृद्दुर्हृच्छब्दयोः सौहृदम् दौर्हृदमित्यपि भवति । सुभगस्य भावः सौभाग्यम्, दौर्भाग्यम्, सुभगाया अपत्यं सौभागिनेयः, दौर्भागिणेयः, एकपदत्वाण्णत्वम् । सक्तुप्रधानाः सिन्धवः सक्तुसिन्धवः, तेषु भवः साक्तुसैन्धवः, पानसैन्धवः, लावणसैन्धवः, माहासैन्धवः, सौरसैन्धवः । कच्छादित्वादण् । तत्र तदन्तविधेरपीष्टत्वात् ॥25॥

न्या०स०–हृद् भग०–सुहृदस्य वेति मित्रार्थत्वाभावान्न ``सुहृद्दुर्हृत्'' (7. 3. 157.) इत्यनेन सुहृदादेशः, तथा चाणि सति ``हृदयस्य'' (3. 2. 94.) इति हृदादेशः । सौहार्द्यमिति अयं सुहृद्शब्दस्यैव प्रयोगः सुहृदयशब्दस्य तु ट्यणि सौहृदय्यमित्येव भवति, ``हृदयस्य हृल्लास'' (3. 2. 94.) इत्यत्र निरनुबन्धग्रहणे इति न्यायान्निरनुबन्धस्यैव यस्य ग्रहणेन ट्यणि हृदादेशाभावात् ।

बहुलाधिकारादिति ``इसुसोर्बहुलम्'' (7. 2. 128.) इत्यतोऽनुवृत्तात् ।

मित्रामित्रार्थयोरिति ननु सुहृद्दुर्हृच्छब्दयो–र्मित्रार्थयोरिति विशेषणं क्रिमर्थं मित्रामित्रार्थयोरेव सुहृद्दुर्हृद्रूप–समासान्तविधानेना–व्यभिचारात् ?

सत्यं, सुहृदयदुर्हृदयशब्दयोः क्रूराक्रूरार्थयोर्यदा ``तस्येदम्'' (6. 3. 160.) इत्यणि ``हृदयस्य हृल्लास'' (3. 2. 94.) इत्यनेन हृदादेशस्तदापि सुहृद्दुर्हृच्छब्दौ स्त इति तद्व्यवच्छेदार्थं मित्रामित्रार्थ–योरित्युक्तम् ।

तत्र तदन्तविधेरिति न केवलं सिन्धु इत्यस्य केवलस्य कच्छादौ पाठात् केवलात् अत्ययः किंतु सिन्ध्वन्तेति पाठात् तदन्तादपीत्यर्थः ।

प्राचां नगरस्य ।। 7. 4. 26. ।।

प्राचां देशे वर्तमानस्य नगरान्तस्य शब्दस्य ञ्णिति तद्धिते परे आदेः पूर्वपदस्योत्तरपदस्य च स्वरेष्वादेः स्वरस्य वृद्धिर्भवति । सुह्मनगरे भवः सौह्मनागरः, पौण्डनागरः, वाजु (व्रांज) नागरः, वैराटनागरः, गैरिनागरः । प्राचामिति किम् ? उदीचां माडनागरः ।।26।।

न्या०स०–प्राचां०–पुण्डामडाश्च पुरुषविशेषाः ।

अनुशतिकादीनाम् ।। 7. 4. 27. ।।

अनुशतिक इत्येवमादीनां शब्दानां ञ्णिति तद्धिते परे पूर्वपदस्योत्तर–पदस्य च स्वरेष्वादेः स्वरस्य वृद्धिर्भवति । अनुशतिकस्येदमानुशातिकम्, अनुशतिकस्यापत्यमानुशातिकिः, अनुहोडेन चरति आनुहौडिकः ।

अनुशतिक, अनुहोड, अनुसंवत्सर, अनुसंवरण, अनुरहत्, अगारवेणु, असिहत्या, अश्वि (स्य) हत्य, अस्यहेति, अस्यहेतु, अनिषाद, अधेनु, कृरुरुत, कुरुपञ्चाल, अधिदेव, अधिभूत, इहलोक, परलोक, सर्वलोक, सर्वपुरुष, सर्वभूमि, वध्योग, प्रयोग, अभिगम, परस्त्री, पुष्करसद्, उदकशुद्ध, सूत्रनड, चतुर्विद्या, शातकुम्भ, सुखशयन इत्यनुशतिकादिः । आकृतिगणोऽयम्, तेन राजपौरुष्यादयष्ट्यणन्ता अत्रैव पठ्यन्ते । राजपौरुष्यम् पारिमाण्डल्यम्, प्रातिभाव्यम्, सार्ववैद्यम् । प्रत्ययान्तरे त्वादेरेव वृद्धिः । राजपुरुषस्यापत्यं राजपुरुषायणिः ।।27।।

न्या०स०–अनु०–पारिमाण्डल्यमिति परिमण्डलमणूनां परिमाणं तद्योगात् परमाणवोऽपि परिमण्डलास्तेषां भावः ।

प्रातिभाव्यमिति प्रतिभुवो भावः ट्यणि उभयपदवृद्धौ ``य्यक्ये'' (1. 2. 25.) इत्यावादेशः, ``अस्वयंभुवोऽव्'' (6. 4. 70.) इति कृते पश्चादुभयपदवृद्धिर्वा ।

सार्ववैद्यमिति सर्वे वेदाः सर्वा विद्या वा भेषजादिभ्यष्ट्यणि ``अवर्णेवर्णस्य'' (6. 4. 68.) यदा विद्या तदा ``व्यञ्जनात् पञ्चम'' (1. 3. 47.) इति यस्य लुक् ।

राजपुरुषायणिरिति अत्र ``अवृद्धात्'' (6. 1. 110.) इत्यायनिञ् ।

देवतानामात्वादौ ॥ 7. 4. 28. ॥

देवतार्थानां शब्दानामात्वादौ विषये ञ्णिति तद्धिते परे आदेः पूर्वपदस्योत्तर–पदस्य च स्वरेष्वादेः स्वरस्य वृद्धिर्भवति । अग्निश्च विष्णुश्च देवता अस्य आग्नावैष्णवं सूक्तम्, ऐन्द्रापौष्णं हविः, आग्निमारुतं कर्म, आग्निवारुणी–मनड्वाहीमालभेत । आत्वादाविति किम् ? स्कन्दविशाखयोरिदं स्कन्दविशाखम्, ब्राह्मप्रजापत्यम् । ``वेदसहश्रुतावायुदेवतानाम्'' (3. 2. 41.) इत्यत आरभ्य ``उषासोषसः'' (3. 2. 46.) इति यावदात्वादयः ॥28॥

न्या०स०–देवता०–विशाखः स्कन्दमित्रम् । ब्राह्मप्रजापत्यमिति अत्र पत्यवयवयोगात् प्रजाप्रतिशब्दोऽपि पतिरिति ``अनिदम्य'' (6. 1. 15.) इति ञ्यः, भावे ``पतिराजन्त'' (7. 1. 60.) इति ट्यण् वा ।

आतो नेन्द्र–वरुणस्य ॥ 7. 4. 29. ॥

आकारान्तात्–पूर्वपदात्परस्य इन्द्रशब्दस्य वरुणशब्दस्य चोत्तरपदस्य स्वरेष्वादेः स्वरस्य वृद्धिर्न भवति । अग्निश्च इन्द्रश्च अग्नेन्द्रौ, तौ देवता अस्य आग्नेन्द्रम् सूक्तम्, सौमेन्द्रं हविः, ऐन्द्रावरुणम्, मैत्रावरुणम् । आत इति किम् । आग्निवारुणम् । उत्तरपदस्येत्येव ? ऐन्द्राग्नम् एकादशकपालं पुरोडाशं निर्वपेत् । ननु चेन्द्रशब्दस्य द्वौ स्वरौ तत्राद्यः संधिकार्येण ह्रियतेऽपरो ``ऽवर्णेवर्णस्य'' (7. 4. 68.) इत्यतोऽस्वर एवेन्द्रशब्दस्तस्य किं वृद्धिप्रतिषेधेन ? सत्यम्, किन्त्वनेनैतज्ज्ञाप्यते । बहिरङ्गमपि पूर्वं पूर्वोत्तरपदयोः कार्यं भवति पश्चात्सन्धिकार्यम्, तेन पूर्वेषुकामशम इत्यादि सिद्धं भवति ॥29॥

न्या०स०–आतो०–आग्नेन्द्रं सूक्तमिति नन्वग्निश्चेन्द्रश्चाग्नेन्द्रौ तौ देवते अस्येति विग्रहे आकारो न प्राप्नोति, यतः अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गापि लुप् बाधते इति इः कथं न स्यात् यथा आग्निवारुणमिति व्यावृत्त्युदाहरणे, अथ सूत्रसामर्थ्यादाकारो भविष्यतीति इति चेत्, न,

सूत्रमन्यत्रापि चरितार्थं यथा सौमेन्द्रं हविरिति, अथ ``इर्वृद्धिमति'' (3. 2. 43.) इति इः प्राप्नोति, न यतोऽग्निशब्दस्य प्रत्ययादि ``ई:षोम'' (3. 2. 42.) इति सूत्रादग्नेरित्यनुवृत्तेः ?

उच्यते, ``आतो नेन्द्र'' (7. 4. 29.) इति सूत्रं व्यक्तौ प्रावर्त्तिष्ट तत एतत्सूत्रादाकारो भवत्येव ।

आग्निवारुणमिति अग्निश्च वरुणश्च देवताऽस्येति विग्रहेऽणि सति ``ऐकार्थ्ये'' (3. 2. 8.) इत्यनेन विभक्तिलोपः ``ईः षोमवरुणेऽग्नेः'' (3. 2. 42.) इत्यन्तरङ्गमीत्वं च ततो अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गापि लुप् बाधते इति न्यायात् लुबेव प्रवर्त्तते, ततो विभक्तिलोपे सति ईत्वं ``देवतानामात्वादौ'' (7. 4. 28.) इत्युभयपदवृद्धिश्च प्राप्नोति, द्वयोः प्राप्तौ परत्वादुभयपदवृद्धिः क्रियते, तस्यां च सत्यां विशेष विहितत्वात् ``इर्वृद्धिमत्यविष्णौ'' (3. 2. 43.) इति इकार एव ।

एकादशकपालमिति एकादशसु कपालेषु संस्कृतं ``संस्कृते भक्ष्ये'' (6. 2. 140.) इत्यण् ``द्विगोः'' (7. 1. 144.) इति लुप् ।

पूर्वैषुकामशम इत्यादीति अत्र भवेऽण् ``प्राग्ग्रामाणाम्'' (7. 4. 17.) इत्युत्तरपदवृद्धिः, अत्र यदि पूर्वं संधिः स्यात्तदा इकारस्य पूर्वपदत्वात् षुसंबन्धिन उकारस्य वृद्धिः स्यात् ।

सारवैक्ष्वाक–मैत्रेय–भ्रौणहत्य–धैवत्य–हिरण्मयम् ।। 7. 4. 30. ।।

सारवादयः शब्दा अणादिप्रत्ययान्ताः कृताय्लोपादयो निपात्यन्ते । सरय्वां भवं सारवमुदकम्, सरयूशब्दस्याणि प्रत्ययेऽयित्यस्य लोपः। इक्ष्वाकोरपत्य–मैक्ष्वाकः । ``राष्ट्रक्षत्रियात्''– (6. 1. 114.) इत्यादिनाञ् । इक्ष्वाकोरिदमैक्ष्वाकम्, इक्ष्वाकुशब्दस्य अञि अणि चोकारलोपः । मित्रयोरपत्यं मैत्रेयः, मित्रयुशब्दस्य गृष्ट्यादित्वादेयञि युलोपः । अथ मित्रयुशब्दो विदादिषु किं न पठ्यते । तथा च ``केकयमित्रयुप्रलय''–(7. 4. 2.) इत्यादिनेयादेशेनैव सिध्यतीति नेदं निपातनमारब्धव्यं भवति । यस्कादिषु च मित्रयुशब्दो बहुषु लुबर्थं न पठितव्यो भवति ``यञञः'' (6. 1. 126.) इत्यादिनैव सिद्धत्वात् । उच्यते, अञि सति मित्रयूणां संघो मैत्रेयकमित्यत्राकञं बाधित्वाण् स्यादिति विदादिषु न पठ्यते । भ्रूणघ्नो भावः कर्म वा भ्रौणहत्यम्, धीव्नो भावः कर्म वा धैवत्यम् । अत्र ट्यणि नकारस्थ तकारः । हिरण्यस्य विकारो हिरण्मयम्, अत्र मयटि यशब्दलोपः ।।30।।

वाऽन्तमा–ऽन्तितमा–ऽन्तितो–ऽन्तिया–ऽन्तिषत् ।। 7. 4. 31. ।।

अन्तमादयः शब्दास्तमबादि–प्रत्ययान्ताः कृततिकादिलोपादयो वा निपात्यन्ते । अयमेषामतिशयेनान्तिकः अन्तमः पक्षे अन्तिकतमः, अत्रान्तिकशब्दस्य तमप्रत्यये तिकशब्दलोपो

'नोऽप्रशानो-ऽनुस्वारानु-नासिकौ च पूर्वस्याधुट्परे' इति सकाराभावश्च निपात्यते । अयमेषामतिशये-नान्तिकः अन्तितमः । अत्र कशब्दस्य लोपः, पक्षे अन्तिकतमः । अन्तिकादागच्छति अन्तित आगच्छति, अत्रापादानलक्षणे तसौ कशब्दस्य लोपः । पक्षेऽन्तिकत आगच्छति, अन्तिके साधुः अन्तियः, अत्र यप्रत्यये कशब्दस्य लोपः इकारस्य च लोपाभावः । पक्षे अन्तिक्यः । अन्तिके सीदति अन्तिषद्, अत्र सदिति क्विबन्ते कलोपः सस्य षत्वं च । पक्षे अन्तिकसत् ।।31।।

न्या०स०—वान्त०-सकाराभावश्चेति ``नाम सिदय्व्यञ्जने'' (1. 1. 21.) इति पदत्वात् सकारः प्राप्तः ।

विन्-मतोर्णीष्ठेयसौ लुप् ।। 7. 4. 32. ।।

विन्मतु इत्येतयोः प्रत्यययोर्णि इष्ठ इयसु इत्येतेषु प्रत्ययेषु परेषु लुब् भवति । स्रग्विणमाचष्टे स्रजयति, अयमेषां स्रग्विणामतिशयेन स्रग्बी स्रजिष्ठः । अयमनयोः स्रग्विणोरतिशयेन स्रग्वी स्रजीयान्, त्वग्वन्तमाचष्टे त्वचयति, अयमेषामतिशयेन त्वग्वान् त्वचिष्ठः, अयमनयोरतिशयेन त्वग्वान् त्वचीयान्, कुमुद्वन्तमाचष्टे कुमुदयति, कुमुदिष्ठः, कुमुदीयान् । अत एव वचनादगुणाङ्गादपीष्ठेयसू । निर्दिश्यमानत्वात् प्रत्ययमात्रस्य लुप् ।।32।।

न्या०स०—विन्म०—स्रजिष्ठ इति अत्रान्तवर्त्तिविभक्त्यपेक्षया यथा विन्नन्तस्य इष्ठप्रत्यये प्राप्तस्य पदत्वस्य सित्येवेति नियमेन निषेधस्तथा विन्लोपेऽपि, न च ``प्रत्ययः प्रकृत्यादेः'' (7. 4. 115.) इति विन्नन्तादिष्ठप्रत्ययो विहितोऽतस्तस्यैव नियमेन परत्वाभावो, न तु विन्लोपे पाश्चात्यस्येति यतः ``प्रत्ययः प्रकृत्यादेः'' (7. 4. 115.) इति परिभाषायाः ``षड्वर्जैक०'' (7. 3. 40.) इत्यत्र षड्वर्जनेनानित्यत्वज्ञापनात्, एवं त्वचिष्ठ इत्यादिष्वपि दृश्यम् ।

अल्प-यूनोः कन् वा ।। 7. 4. 33. ।।

अल्प युवन् इत्येतयोर्णि इष्ठ ईयसु इत्येतेषु परेषु कन् इत्ययमादेशो वा भवति । कनयति, कनिष्ठः, कनीयान्, पक्षे-अल्पयति, अल्पिष्ठः, अल्पीयान्, यवयति, यविष्ठः यवीयान् ।।33।।

न्या०स०—अल्प०-अत्रापि अगुणाङ्गादपि इष्ठेयसू वचनसामर्थ्याद् भवतः, अन्यथा ``स्थूल-दूर'' (7.4.42.) इत्यनेनान्तस्थादेरवयवस्य लुबपि न स्यात् तयोरभावात् एवमुत्तरेष्वपि दृश्यम् ।

प्रशस्यस्य श्रः ॥ 7. 4. 34. ॥

प्रशस्यशब्दस्य णीष्ठेयसुषु परतः श्र इत्ययमादेशो भवति । श्रयति श्रेष्ठः, श्रेयान् ॥34॥

वृद्धस्य च ज्यः ॥ 7. 4. 35. ॥

वृद्धशब्दस्य प्रशस्यशब्दस्य च णीष्ठेयसुषु परतो ज्य इत्यादशो भवति । ज्ययति, ज्येष्ठः ॥35॥

ज्यायान् ॥ 7. 4. 36. ॥

ज्यायानिति पूर्वसूत्रेण विहिताज्ज्या–देशात्परस्येयसोरीकारस्य आकारादेशो निपात्यते । अयमनयोरतिशयेन प्रशस्यो वृद्धो वा ज्यायान्, ज्यायसी ॥36॥

*न्या०स०–ज्याया०–*आकारादेश इति अत्राकारस्यापि निपातने ज्यायानिति सिध्यति ``लुगस्यादेत्यपदे'' (2.1.113.) इत्यस्याकारकरणादेवाप्रवृत्तेः प्रक्रियानिरासार्थं त्वाकारकरणम् ।

बाढा–ऽन्तिकयोः साध–नेदौ ॥ 7. 4. 37. ॥

बाढ अन्तिक इत्येतयोर्णीष्ठेयसुषु परतो यथासंख्यं साधनेद इत्येतावादेशौ भवतः । साधयति, साधिष्ठः, साधीयान्, नेदयति, नेदिष्ठः, नेदीयान् ॥37॥

*न्या०स०–बाढा०–*साधनेद इति अदन्तावेताविति समानलोपित्वाद–ससाधदियत्र ङपरे णौ सन्वदादिकार्याभावः ।

प्रिय–स्थिर–स्फिरोरु–गुरु–बहुल–तृप्र–दीर्घ–वृद्ध–वृन्दारकस्येमनि च प्रा–स्था–स्फा–वर–गर–बंह–त्रप–द्राघ–वर्ष–वृन्दम् ॥ 7. 4. 38. ॥

प्रियादीनां यथा संभवमिमनि णीष्ठेयसुषु च यथासंख्यं प्रा इत्यादय आदेशा भवन्ति । प्रियस्य प्रा,–प्रेमा, प्रापयति, प्रेष्ठः, प्रेयान् । स्थिरस्य स्था, स्थेमा, स्थापयति, स्थेष्ठः, स्थेयान् । स्फिरस्य स्फा,—स्फापयति, स्फेष्ठः, स्फेयान् । उरोर्वर्,-वरिमा, वरयति, वरिष्ठः, वरीयान् । गुरोर्गर्,–गरिमा, गरयति, गरिष्ठः, गरोयान् । बहुलस्य बंह,–बंहिमा, बंहयति, बंहिष्ठः, बंहीयान् । तृप्रस्य त्रप्-त्रपिमा, त्रपयति, त्रपिष्ठः, त्रपीयान् । दीर्घस्य द्राघ्–द्राघिमा,

द्राघयति, द्राघिष्ठः, द्राघीयान् । वृद्धस्य वर्ष-वर्षिमा, वर्षयति, वर्षिष्ठः, वर्षीयान् । वृन्दारकस्य वृन्द्-वृन्दिमा, वृन्दयति, वृन्दिष्ठः, वृन्दीयान् । स्फिरशब्दस्या–वर्णत्वादपृथ्वादित्वाद–दृढादित्वाच्च नेमन्-प्रत्ययः । वरादीनामकार उच्चारणार्थः, कश्चित्तु करोत्यर्थे णौ प्राद्यादेशं नेच्छति, तन्मते प्रिययति, स्थिरयतीत्यादि ॥38॥

न्या०स०–प्रिय०–स्थेमेति अत्र बहुवचनसामर्थ्यात् ``वर्णदृढादिभ्यः'' (7. 1. 59.) इतीमन्, शेषेषु ``पृथ्वादेरिमन् वा'' (7. 1. 58) वृन्दारकात् ``वर्णदृढादिभ्यः ष्ट्यण् च वा'' (7. 1. 59.) इत्यनेनेमन् ।

पृथु–मृदु–भृश–कृश–दृढ–परिवृढस्य ऋतो रः ॥ 7. 3. 39. ॥

पृथ्वादीनामृकारस्येमनि णीष्ठेयसुषु च परेषु रशब्द आदेशो भवति । प्रथिमा, प्रथयति, प्रथिष्ठः, प्रथीयान्, म्रदिमा, म्रदयति, म्रदिष्ठः, म्रदीयान्, भ्रशिमा, भ्रशयति, भ्रशिष्ठः, भ्रशीयान्, क्रशिमा, क्रशयति, क्रशिष्टः, क्रशीयान्, द्रढिमा, द्रढयति, द्रढिष्ठः, द्रढीयान्, परिव्रढिमा, परिव्रढयति, परिव्रढीष्ठः, परिव्रढीयान् । केचित्तु वृढशब्दस्यापीच्छन्ति । व्रढिमा, व्रढयति, व्रढिष्ठः, व्रढीयान् । पृथ्वादीनामिति किम् ? ऋजिमा, ऋजयति, ऋजिष्ठः, ऋजीयान्, कृष्णिमा, कृष्णयति, कृष्णिष्ठः, कृष्णीयान् । अनृचीयान् स्वृचीयान् । ऋत इति किम् ? सर्वस्य मा भूत् ॥39॥

न्या०स०–पृथु०–अनृचीयानित्यादि न विद्यन्ते ऋचोऽस्य ``नञ् बहोः'' (7. 3. 135.) इत्यप्, शोभना ऋग् यस्य स्वृच्, आभ्यामप्यगुणाङ्गत्वेऽपि ``विन्मतोः'' (7. 4. 32.) इति ज्ञापकस्य सर्वोद्दिष्टत्वादीयस् ।

बहोर्णीष्ठे भूय् ॥ 7. 4. 40. ॥

बहुशब्दस्य णीष्ठयोः परयोर्भूय इत्ययमादेशो भवति, भूभावापवादः । भूययति, भूयिष्ठः । बहोराख्यानं भूयनम् । णौ केचिद्विकल्पमाहुः । भूययति, भूयनम् । पक्षे बहयति, बहनम् । बहोर्णौ भाविति कश्चित् । भावयति ॥40॥

न्या०स०–बहो०–बहोराख्यानमिति णिचोऽनटश्चैकमेवेदं वाक्यं, यद् वा बहुमाचष्टे णिच् भूय्यत इत्यनट् ।

भूर्लुक् चेवर्णस्य ॥ 7. 4. 41. ॥

बहुशब्दस्य ईयसाविमनि च परे भू इत्ययमादेशो भवति अनयोश्चेवर्णस्य लुग्भवति । भूयान्, भूयांसौ, भूयांसः, भूमा । भू ऊ इति ऊकारप्रश्लेषादवादेशो न भवति । इवर्णस्येति किम् ? सर्वस्य माभूत् ॥41॥

न्या०स०–भूर्लू०–``प्रियस्थिर'' (7. 4. 38.) इत्यतः सूत्रादिमन्णिइष्ठईय–सवश्चत्वारोऽनुवर्त्तन्ते तेषु च णीष्ठयोः पूर्वसूत्राघ्रातत्वात् पारिशेषादि–मनीयसोरेवायं विधिरित्याह–ईयसाविमनि चेति । ऊकारप्रश्लेषादिति न च भू इत्यादेशविधानादत्र न भविष्यति इति यतो भूमेत्यत्र पदत्वादपदे उक्तः ``अस्वयंभुवेषु'' (7. 4. 70.) इति अव् न भविष्यतीति, अत्र भू आदेशस्य चरितार्थत्वात्, भूयानित्यादावव् स्यादिति भूश्चासावूश्चेति प्रश्लेषव्याख्यानम् ।

स्थूल–दूर–युव–ह्रस्व–क्षिप्र–क्षुद्रस्यान्तस्था–देर्गुणश्च नामिनः॥7. 4. 42.॥

स्थूलादीनां यथासंभवमिमनि णीष्ठेयसुषु च परेष्वन्तस्थादेरवयवस्य लुग् नामिनश्च गुणो भवति । स्थूल–स्थवयति, स्थविष्ठः, स्थवीयान् । दूर–दवयति, दविष्ठः, दवीयान् । युवन्-यवयति, यविष्ठः, यवीयान् । ह्रस्व-ह्रसिमा, ह्रसयति, ह्रसिष्ठः, ह्रसीयान् । क्षिप्र-क्षेपिमा, क्षेपयति, क्षेपिष्ठः, क्षेपीयान् । क्षुद्र-क्षोदिमा, क्षोदयति, क्षोदिष्ठः, क्षोदीयान् । ह्रस्वादिभ्यः पृथ्वादित्वादिमन् । उत्तरेणान्त्य–स्वरस्याने–नार्थादन्तस्थाया लोपे सिद्धे अन्तस्थादेरिति किमर्थम् ? येन नाप्राप्तिन्याये–नान्त्यस्वरादिलोपं बाधित्वानेनान्तस्थाया एव लोपो मा भूदित्येवमर्थम् । नामिन इति किम् ? ह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां सकारपकारदकाराणां माभूत्, केचित्तु स्थूलदूरयूनां करोत्यर्थे णौ नेच्छन्ति । स्थूलं करोति स्थूलयति, दूरयति, युवयति ॥42॥

*न्या०स०–स्थूल०–*अन्तस्थादेरिति किमर्थमिति अन्त्यस्वरस्य तावत् ``त्रन्त्यस्वरादेः'' (7. 4. 43.) इत्यनेन लुपि सत्यामन्तस्था–मात्रमेवावशिष्यते, ततश्चात्रादिग्रहणं निरर्थकं किंतु अन्तस्था देरित्यनी–यान्तस्थाया इति कर्तुमुचितमिति प्रश्नाशयः ।

दकाराणां माभूदिति सर्वमुखस्थानम–वर्णमित्येकदेशेन प्रत्यासत्त्या सकारदकार–योरर्कारस्य त्वोत्वं स्यात् ।

त्रन्त्यस्वरादेः ॥ 7. 4. 43. ॥

तृप्रत्ययस्यान्त्य–स्वरादेश्चा–वयवस्येमनि णीष्ठेयसुषु च परेषु लुग्भवति। कर्तृमन्तमाचष्टे करयति, करिष्ठः, करीयान्, कर्तारमाचष्टे करयति। मातयति भ्रातयतीत्यत्र अनर्थकत्वात् तृशब्दस्य न भवति। पटिमा, पटयति, पटिष्ठः, पटीयान्। लघिमा, लघयति, लघिष्ठः, लघीयान्। विमनसो भावो विमनिमा, सन्मनसो भावः सन्मनिमा, दृढादित्वादिमन्। विन्मतोर्लुपि अनेकस्वरस्यान्त्य–स्वरादेर्लुचं च विकल्पेनेच्छन्त्येके, लुगभावपक्षे णौ गुणं चेच्छन्ति॥ पयस्विनमाचष्टे पययति, पयसयति, पयिष्ठः, पयसिष्ठः, पयीयान्, पयसीयान्। वसुमन्तमाचष्टे वसयति, वसवयति, वसिष्ठः, वसविष्ठः, वसीयान्, वसवीयान्॥43॥

*न्या०स०–त्रन्त्य०–*अनर्थकत्वादिति अनर्थकत्वं चास्याव्युत्पन्नत्वात्, तृप्रत्ययश्च वर्णानुपूर्वीविज्ञानार्थः।

नैकस्वरस्य ॥ 4. 4. 44. ॥

एकस्वरस्य शब्दरूपस्य योऽन्त्यस्वरादिर–वयवस्तस्येमनि णीष्ठेयसुषु च परेषु लुग्न भदति। स्रग्विणमाचष्टे स्रजयति, स्रजिष्ठः, स्रजीयान्। स्रुग्वन्तमाचष्टे स्रुचयति, स्रुचिष्ठः, स्रुचीयान्। एकस्वरस्येति किम् ? वसुमन्तमाचष्टे वसयति, वसिष्ठः, वसीयान्। इमनि चेत्येव। अस्यापत्यम् इः। ज्ञो देवतास्य ज्ञः, श्रिये हितः श्रीयः, योगविभागात् ``अवर्णेवर्णस्य'' (7. 4. 68.) इति लोपस्यापि प्रतिषधः। श्रेष्ठः, श्रेयान्॥44॥

*न्या०स०–*नैक०–योगविभागादिति अन्यथा त्रन्त्यस्वरादेरनेक–स्वरस्येत्येव कुर्यात्।

दण्डि–हस्तिनोरायने ॥ 7. 4. 45. ॥

दण्डिन्, हस्तिन् इत्येतयोरायने प्रत्ययेऽन्त्यस्वरादेर्लुग् न भवति। ``नोपदस्य–'' (7. 4. 61.) इति प्राप्तौ प्रतिषेधः। दण्डिनोऽपत्यं दाण्डिनायनः, हास्तिनायनः, नडाद्यायनण्। आयन इति किम् ? दण्डिनां समूहो दाण्डम्, हास्तिकम्॥45॥

*न्या०स०–दण्डि०–*दाण्डम्, हास्तिकम्–``श्वादिभ्योऽञ्'' (6. 2. 26.) ``कवचि'' (6. 2. 14.) इतीकण्, ``नोपदस्य'' (7. 4. 61.) इत्यन्तलोपः।

वाशिन आयनौ ॥ 7. 4. 46. ॥

वाशिन्शब्दस्याय–निप्रत्यये परेऽन्त्यस्वरादेर्लुग् न भवति । वाशिनोऽपत्यं वाशिनायनिः । ``अवृद्धाद्दोर्नवा'' (6. 1. 110.) इत्यायनिञ् ।।46।।

एये जिह्माशिनः ।। 7. 4. 47. ।।

जिह्माशिन्शब्दस्य एये प्रत्यये परेऽन्त्यस्वरादेर्लुग् न भवति । जिह्माशिनोऽपत्यं जैह्माशिनेयः, शुभ्रादित्वादेयण् ।।47।।

ईनेऽध्वा–ऽऽत्मनोः ।। 7. 4. 48. ।।

अध्वन् आत्मन् इत्येतयोरीनप्रत्यये परेऽन्त्यस्वरादेर्लुग् न भवति । अध्वानमलंगामी अध्वनीनः, ``अध्वानं येनौ'' (7. 1. 103.) इतीनः । आत्मने हित आत्मनीनः, ``भोगोत्तरपदा-त्मभ्यामीनः'' (7. 1. 40.) इतीनः । ईन इति किम् ? प्राध्वम्, अध्यात्मम् ।।48।।

इकण्यथर्वणः ।। 7. 4. 49. ।।

अथर्वन्शब्दस्येकणि प्रत्यये परेऽन्त्यस्वरादेर्लुग् न भवति अथर्वाणं वेत्त्यधीते वा आथर्वणिकः, न्यायादित्वादिकण् ।।49।।

यूनोऽके ।। 7. 4. 50. ।।

युवन्शब्दस्याके प्रत्ययेपरेऽन्त्यस्वरादेर्लुग् न भवति । यूनो भावः यौवनिका, चौरादित्वादकञ् । अक इति किम् ? युवा प्रयोजनमस्य यौविकम् ।।50।।

*न्या०स०–यूनो०–*यौवनिकेति चौराद्यमनोज्ञाद्यकञिति स्त्रीक्लीबत्वम् ।

अनोऽट्ये ये ।। 7. 4. 51. ।।

अन् इत्येतदन्तस्य ट्यवर्जिते ये प्रत्यये परेऽन्त्यस्वरादेर्लुग्न भवति । सामनि साधुः सामन्यः, एवं वेमन्यः, मूर्धनि भवः मूर्धन्यः, तक्ष्णोऽपत्यं ताक्षण्यः, कुर्वादित्वात् ञ्यः । अट्य इति वचनात् सानुबन्धेऽपि प्रतिषेधः । अन इति किम् ? छत्रिषु साधुः छत्त्यः, अट्य इति किम् ? राज्ञो भावः कर्म वा राज्यम्, दौरात्म्यम् । य इति किम् । परमराजः, द्विमूर्धः ।।51।।

अणि ।। 7. 4. 52. ।।

अन् इत्येतदन्तस्याणि तद्धिते परेऽन्त्यस्वरादेर्लुग्न भवति । सुत्वनोऽपत्यं सौत्वनः, याज्वनः, साम देवतास्य सामनः, वैमनः, संदिष्टं कर्म कार्मणम्, पर्वणि भवः पार्वणः अणीति किम् ? कर्म शीलमस्य कार्मः, छत्रादित्वादञ् । कर्मणे शक्तं कार्मुकम्, ``योगकर्मभ्यां योकञौ'' (6. 4. 95.) इत्युकञ्, योगविभाग उत्तरार्थः ।।52।।

संयोगादिनः ।। 7. 4. 53. ।।

संयोगात्परो य इन् तदन्तस्याणि परेऽन्त्यस्वरादेर्लुग् न भवति । शङ्खिनोऽपत्यं शाङ्खिनः, चाक्रिणः, वाज्रिणः, स्राग्विणः, माद्रिणः, भाद्रिणः । संयोगादिति किम् ? मेधाविनोऽपत्यं मैधावः, मायावः । अणीत्येव ? प्राकारमर्दिनोऽपत्यं प्राकारमर्दिः, वाह्वादित्वादिञ् । अनपत्ये उत्तरेण सिद्धत्वाद–पत्यार्थोऽयमारम्भः ।।53।।

गाथि–विदथि–केशि–पणि–गणिनः ।। 7. 4. 54. ।।

गाथिन्, विदथिन्, केशिन्, पणिन्, गणिन् इत्येतेषामिन्नन्तानामणि परेऽन्त्यस्वरादेर्लुग्न भवति । गाथिनोऽपत्यं गाथिनः, वैदथिनः, कैशिनः, पाणिनः, गाणिनः ।।54।।

अनपत्ये ।। 7. 4. 55. ।।

इन्नन्तस्यापत्यादन्यत्रार्थे योऽण् तस्मिन् परेऽन्त्यस्वरादेर्लुग् न भवति । सांकूटिनं वर्तते, सांकोटिनम्, सांराविणम्, सांमार्जिनम् गर्भिणीनां समूहो गार्भिणम् । भिक्षादित्वादण् । गुणिन इदं गौणिनम्, स्त्रग्विण इदं स्त्राग्विणम् अनपत्ये इति किम् ? मेधाविनोऽपत्यं मैधावः । अणीत्येव ? गर्भिणां समूहो गार्भम्, दण्डिनां दाण्डम्, चक्रिणां चाक्रम् । ``श्वादिभ्योऽञ्'' (6. 2. 26.) इत्यञ् ।।55।।

*न्या०स०–अन०–*गार्भिणमिति ``जातिश्च'' (3. 2. 51.) इति पुंवत्, अन्यथा ``स्वरस्य'' (7. 4. 110.) इति स्थानित्वात् प्राप्तिरेव न ।

उक्ष्णो लुक् ।। 7. 4. 56. ।।

उक्षन्शब्दस्यानपत्येऽणि परेऽन्त्यस्वरादेर्लुग् भवति । उक्ष्ण इदमौक्षं पदम् । अनपत्य इत्येव ? उक्ष्णोऽपत्यमौक्ष्णः ।।56।।

ब्रह्मणः ॥ 7. 4. 57. ॥

ब्रह्मन्शब्दस्यानपत्येऽणि परेऽन्त्यस्वरादेर्लुग् भवति । ब्रह्मण इदं ब्राह्ममस्त्रम्, ब्राह्मो मन्त्रः, योगविभाग उत्तरार्थः ॥57॥

जातौ ॥ 7. 4. 58. ॥

ब्रह्मन्शब्दस्य जाताविभधेयायामनपत्ये एवाणि परेऽन्त्यस्वरादेर्लुग् भवति । ब्रह्मण इयं ब्राह्मी ओषधिः, पूर्वेण सिद्धे जातावनपत्ये एवेति नियमार्थं वचनम्, तेनोत्तर–सूत्रेणापत्ये लुग् न भवति । ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मणः, जाताविति किम् ? ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मो नारदः ॥58॥

*न्या०स०–जातौ०–*नियमार्थमिति व्यक्तिवाचिनस्तु ब्रह्मणोऽपत्येऽणि ब्राह्म इति भवत्युत्तरेण लोपात्, सूत्राकरणे तु ब्राह्मण इति न स्यात् ।

अवर्मणो मनोऽपत्ये ॥ 7. 4. 59. ॥

वर्मन्शब्दवर्जितस्य मन्नन्तस्यापत्यार्थ–विहितेऽणि परेऽन्त्यस्वरादेर्लुग् भवति । सुषाम्नोऽपत्यं सौषामः, माद्रसामः, भाद्रसामः । अवर्मण इति किम् ? चक्रवर्मणोऽपत्यं चाक्रवर्मणः । मन इति किम् ? सुत्वनोऽपत्यं सौत्वनः, याज्वनः । अपत्य इति किम् ? चर्मणा छन्नश्चार्मणो रथः ॥59॥

*न्या०स०–अवर्म०–*चाक्रवर्म्मण इति अत्र व्यावृत्तौ सर्वत्र ``नोपदस्य'' (7. 4. 61.) इत्यनेनापि नान्त्यस्वरादिलोपः ``अणि'' (7. 4. 52.) इत्यनेन निषेधात् ।

हितनाम्नो वा ॥ 7. 4. 60. ॥

हितनामन्शब्दस्या–पत्येऽणि परेऽन्त्यस्वरादेर्लुग् भवति वा। हितनाम्नोऽपत्यं हैतनामनः, हैतनामः । अपत्य इति किम् ? हैतनामनः ॥60॥

नोऽपदस्य तद्धिते ॥ 7. 4. 61. ॥

नकारान्तानामपद–संज्ञकानां तद्धिते परेऽन्त्यस्वरादेर्लुग् भवति । मेधाविनोऽपत्यं मैधावः, मायावः, औडुलोमिः, शारलोमिः, आग्निशर्मिः । द्वयोरह्नोः समाहारो द्व्यहः, त्र्यहः ।

हस्तिनां समूहो हास्तिकम् । न इति किम् ? वैद्युतं तेजः । अपदस्येति किम् ? मेधाविरूप्यम् मेधाविमयम् । तद्धित इति किम् ? हस्तिना, हस्तिने ॥61॥

कलापि–कुथुमि–तैतलि–जाजलि–लाङ्गलि–शिखण्डि–शिलालि–सब्रह्म–चारि–पीठसर्पि–सूकरसद्म–सुपर्वणः ॥ 7. 4. 62. ॥

कलाप्यादीनां नकारान्तानामपदसंज्ञकानां तद्धिते परेऽन्त्यस्वरादेर्लुग् भवति । अत्र ये इन्नन्तास्तेषामनपत्य इति शिखण्डि–पीठसर्पिणोर–पत्येऽपि ``संयोगादिनः'' (7. 4. 53.) इति ``सूकरसद्मसुपर्वणोस्त्वणि'' (7. 4. 52.) इति निषेधे प्राप्ते लुग्वचनम् । कलापिना प्रोक्तं वेदमधीयते कालापाः, कौथुमाः ।

तैतली, जाजली, लाङ्गली, चाचार्याः । तत्कृतो ग्रन्थोऽप्युपचारात् तच्छब्देनोच्यते । तमधीयते तैतलाः, जाजलाः, लाङ्गलाः, शिखण्डिन इमेऽपत्यानि वा शैखण्डाः, शिलालिनः शैलालाः, सब्रह्मचारिणः साब्रह्मचारा, पीठसर्पिणः पैठसर्पाः, सूकरसद्मनः सौकरसद्मा, सुपर्वणः सौपर्वाः ॥62॥

वाऽश्मनो विकारे ॥ 7. 4. 63. ॥

अश्मन्शब्दस्यापदस्य विकारे विहिते तद्धिते परेऽन्त्यस्वरादेर्लुग्वा भवति । अश्मनो विकारः आश्मः, आश्मनो वा । विकार इति किम् ? आश्मनो मन्त्रः, नित्यमिच्छन्त्येके ॥63॥

चर्म–शुनः कोश–संकोचे ॥ 7. 4. 64. ॥

चर्मन्, श्वन् इत्येतयोरपद–भूतयोर्यथासंख्यं कोशे संकोचे चार्थे तद्धिते परेऽन्त्यस्वरादेर्लुग् भवति । चर्मणो विकारः कोशश्चार्मः । कोशादन्यत्र चार्मणः । शुनोऽयं शौवः संकोचः, संकोचादन्यत्र शौवनः । कथं शुनो विकारोऽवयवो वा शौवं मासम् शौवं पुच्छमिति ? हैमादित्वादञि ``नोऽपदस्य''–(7. 4. 61.) इत्येव भविष्यति ॥64॥

प्रायोऽव्ययस्य ॥ 7. 4. 65. ॥

अव्ययस्यापदसंज्ञकस्य तद्धिते परेऽन्त्यस्वरादेः प्रायो लुग् भवति । स्वर्भवः सौवः, बहिर्जातो बाह्यः, बाहीकः, सायंप्रातिकः, पौनःपुनिकः । ``वर्षाकालेभ्यः'' (6. 3. 79.) इतीकण् । अनभिधानाद–व्ययलक्षणस्तनट् न भवति । पौनःपुन्यम्, उपरिष्टादागतः औपरिष्टः,

परत आगतः पारतः, एकैकश्यम् । प्रायोग्रहणं प्रयोगानुसरणार्थम्, तेनेह न भवति । आरातीयः, शाश्वतिकः, शाश्वतः, पार्थक्यम् । अपदस्येत्येव । कंयुः, शंयुः, अहंयुः ॥65॥

न्या०स०–प्रायो०–सायंप्रातिक इत्यादि अथाव्ययसमुदायोऽव्यय–ग्रहणेन गृह्यते इति ``सायंचिरम्'', (6. 3. 88.) इति सायंप्रातरादिभ्यस्तनट् कस्मान्न भवति ? इत्याह-अनभिधानादि-यादि, एकैकश्यमिति एकमेकं ददाति, एकशब्दस्यामन्तस्य वीप्सायां द्वित्वं ``प्लुप्चादावेक'' (7. 4. 81.) इत्यमो लुपि ``बह्वल्पार्थात्'' (7. 3. 150.) इति कारके प्शस्, एकैकशो भावः ट्यण् ।

आरातीय इत्यादि–``दोरीयः'' (6. 3. 32.) ``वर्षाकालेभ्यः'' (6. 3. 80.) इतीकण् ``भर्तुसंध्यादेरण्'' (6. 3. 89.) ।

अनीना–ऽट्यह्नोऽतः ॥ 7. 4. 66. ॥

ईन-अत्-अट्वर्जिते तद्धिते परेऽपदस्याह्नो योऽकारस्तस्य लुग् भवति । अह्नां समूहः आह्नम्, अह्ना निर्वृत्तम् आह्निकम्, अनीनादटीति किम् । द्वाभ्यामहोभ्यां निर्वृत्तः द्वाभ्यामहोभ्यां भृतोऽधीष्टो द्वे अहनी भूतो भावी वा द्व्यहीनः, त्र्यहीणः, ``रात्र्यहः''–(6. 4. 110.) इत्यादिनेनः । अति, अन्वहम्, प्रत्यहम् । अटि,–द्वयोरह्नोः समाहारः द्व्यहः, त्र्यहः उत्तमाहः, परमाहः, पुण्याहम्, सुदिनाहम् ॥66॥

न्या०स०–अनी०–द्वयहीन इति ``सर्वांशसंख्या'' (7. 3. 118.) इति विहितमटं परमपि समासान्तं बाधित्वानवकाशत्वात् ``रात्र्यहः संवत्सर'' (6. 4. 110.) इतीन एव अन्वहमित्यादि अहरहरनु, अहरहः प्रति ``योग्यता'' (3. 1. 40.) इति वीप्सायामव्ययीभावे ``नपुंसकाद् वा'' (7. 3. 89.) इत्यत् । यदा तु अनुगतं प्रतिगतमहः तदा ``अह्नः'' (7. 3. 116.) इत्यटं बाधित्वाऽव्ययद्वारेण ``सर्वांश'' (7. 3. 118.) इत्यट् अह्नादेशश्च स्यात् । द्व्यहः, त्र्यहः, ``द्विगोरनह्नोऽट्'' (7. 3. 99.) ।

विंशतेस्तेर्डिति ॥ 7. 4. 67. ॥

विंशतिशब्दस्यापदसंज्ञकस्य यस्तिशब्दस्तस्य डिति तद्धिते परे लुग् भवति । विंशत्या क्रीतः विंशकः, विंशतिरधिकास्मिन् शते विंश शतम्, एकविंशम्, विंशतेः पूरणः विंशः, एकविंशः, आसन्ना विंशतिरेषामासन्नविंशाः । विंशतेरिति किम् ? एकसप्ततेः पूरणः एकसप्ततः, एकाशीतः । तद्धित इत्येव । विंशतौ ॥67॥

अवर्णेवर्णस्य ॥ 7. 4. 68. ॥

अवर्णान्तस्येवर्णान्तस्य चापदस्य तद्धिते परे लुग्भवति। निर्दिश्यमानत्वाद–वर्णेवर्णयोरेव। दक्ष, दाक्षिः, प्लक्ष, प्लाक्षिः, चूडा, चौडिः, बलाका,–बालाकिः, इवर्ण, नाभि, नाभेयः। संकृतिः, सांकृत्यः, दुली, दौलेयः, रोहिणी,–रौहिणेयः, वत्सं प्रीणातीति वत्सप्रीः तस्या अपत्यं वात्सप्रेयः। अत्र ``चतुष्पाद्भ्य ऐयञ्'' (6. 1. 83.)। परत्वाच्चेयादेशो बाध्यते। श्रायं हविरित्यादिषु तु विशेषविहितत्वात् ``वृद्धिः स्वरे'' (7. 4. 1.) इत्यादिना वृद्धिरेव। अपदस्येत्येव। शुक्लतमः, ऊर्णायुः, शुचितरः। तद्धित इत्येव। वृक्षे, अग्न्योः ॥68॥

अकद्रू–पाण्ड्वोरुवर्णस्यैये ॥ 7. 4. 69. ॥

कद्रूपाण्डुशब्द–वर्जितस्य उवर्णान्तस्य एये तद्धिते परे लुग् भवति। कमण्डल्वा अपत्यं कामण्डलेयः, मद्रबाह्वा माद्रबाहेयः, शितिबाह्वाः शैतिबाहेयः, जम्ब्वा जाम्बेयः, लेखाभ्रुवः लैखाभ्रेयः। अत्र परत्वादुवादेशो बाध्यते। अकद्रूपाण्ड्वोरिति किम् ? काद्रवेयः, पाण्डवेयः। उवर्णस्येति किम् ? वैमात्रयः। एय इति किम् ? माण्डव्यः ॥69॥

अस्वयम्भुवोऽव् ॥ 7. 4. 70. ॥

स्वयंभूशब्दवर्जितस्या–पदसंज्ञकस्योवर्णान्तस्य तद्धिते परे अव् इत्ययमादेशो भवति। उपगोरपत्यमौपगवः, कापटवः, बाभ्रव्यः, माण्डव्यः। शङ्कव्यं दारू, पिचव्यः कर्पासः, बाहविः, औपबिन्दविः (औपबाहविः) अस्वयंभुव इति किम् ? स्वायंभुवः ॥70॥

ऋवर्णोवर्ण–दोसिसुसशश्वदकस्मात्त इकस्येतो लुक् ॥ 7. 4. 71. ॥

ऋवर्णान्तादुवर्णान्ताद्दोस्–शब्दादिसन्तादुसन्ताच्छश्वद–कस्माद्विवर्जितात्तकारान्ताच्च परस्येकप्रत्ययस्य संबन्धिन इत इकारस्य लुग्भवति। मातुरागतं मातृकम्, पैतृकम्। ``ऋत इकण्'' (6. 3. 151.)। उवर्ण, निषादकर्षा भवः नैषादकर्षुकः, शाबरजम्बुकः, ``उवर्णादिकण्'' (6. 3. 38.)। दोस्, दोर्भ्यां तरति दौष्कः, इस्, सर्पिः पण्यमस्य सार्पिष्कः, बार्हिष्कः। उस्, धनुः प्रहरणमस्य धानुष्कः, याजुष्कः, उदश्विता संस्कृत ओदन औदश्वित्कः, शकृता संसृष्टः शाकृत्कः। याकृत्कः। शश्वदकस्मात् प्रतिषेधः किम् ? शश्वद्भवं शाश्वतिकम्, ``वर्षाकालेभ्यः'' (6. 3. 79.) इतीकण्-आकस्मिकम्, अध्यात्मादित्वादिकण्। प्रत्यययोरिसुसोर्ग्र-हणादिह न भवति। आशिषा चरति आशिषिकः वसेः क्विप् उस्, उषा चरति औषिकः, मथितं पण्यमस्य माथितिक इत्यत्रापि तान्ततवस्य लाक्षणिकत्वात् न भवति ॥71॥

असकृत्–संभ्रमे ॥ 7. 4. 72. ॥

भयादिभिश्चित्–तव्याक्षेपात् प्रयोक्तुस्त्वरणं संभ्रमः । तस्मिन्द्यौत्ये यत् प्रवर्तते पदं वाक्यं वा तदसकृदनेकवारं प्रयुज्यते ।

अहिरहिः, बुध्यस्व बुध्यस्व, अहिरहिरहिः, बुध्यस्व बुध्यस्व बुध्यस्व, हस्त्यागच्छति हस्त्यागच्छति, लघु पलायध्वं लघु पलायध्वम् । संभ्रमादौ पदं वाक्यं वा वर्तते न पदावयव इति नासौ असकृद्द्विर्वा भवति । तच्च पदं वाक्यं वा परिनिष्पन्नं सत्तत्र वर्तते नापरिनिष्पन्नमिति कृतेषु यत्वादिकार्येषु तदसकृद्द्विर्वा भवति नाकृतेषु । तेन द्रोग्धा द्रोग्धा, द्रोढा द्रोढेत्येव भवति न तु द्रोग्धा द्रोढा द्रोढा द्रोग्धा । एवं माषवापाणि माषवापाणि, मातुःष्वसा मातुःष्वसा, ह्रीणो ह्रीणः । कृतद्विर्वचनानामपि रूपार्थयोरभेदेन स्थानिवद्भावेन चैकपदत्वात् कौतस्कुतः पौनःपुन्यम् पौनपुनिकः इत्यादिषु तद्धितः सिद्धो भवति ॥72॥

*न्या०स०–अस०–*असकृद्द्विर्वेति अनेनासकृत् वक्ष्यमाणैस्तु द्विः । कौतस्कुत इति कस्कादौ कौतस्कुतेति पाठादागतेऽर्थे अणेव, न तु ``क्वेहामात्र'' (6. 3. 16.) इति त्यच् ।

भृशा–ऽऽभीक्ष्ण्या–ऽविच्छेदे द्विः प्राक्–तमबादेः ॥ 7. 4. 73. ॥

क्रियायाः साकल्यमवयवक्रियाणां कात्स्न्यं भृशार्थः । पौनःपुन्यमाभीक्ष्ण्यम्, सातत्यं क्रियान्तरैर–व्यवधानम–विच्छेदः । एतेषु द्योत्येषु यत्पदं वाक्यं वा वर्तते तत्तमबादिप्रत्ययेभ्यः प्रागेव द्विरुच्यते । भृशे, लुनीहि लुनीहीत्येवायं लुनाति, अधीष्वाधीष्वेत्येवायमधीते, आभीक्ष्ण्ये, भोजं भोजं व्रजति, भुक्त्वा भुक्त्वा व्रजति अविच्छेदे, पचति पचति, अधीते अधीते, ब्रह्मचर्यं चरति चरति, प्रपचति प्रपचति, सत्करोति सत्करोति, अलंकरोति अलंकरोति । भृशादयश्च क्रियाधर्मा इति क्रियापदमेवात्र संबध्यते । क्रियाविशेषणस्यापि क्रियात्वेनाध्यवसाय त् भृशादियोगे द्विर्वचनं भवति । यथा पुनःपुनः पचति, भूयो भूयः पठति, वारंवारं भुङ्क्ते, मुहुर्मुहुः पिबति, शनैः शनैर्गच्छति, मन्दं मन्दं तुदति, स्तोकं स्तोकं चलति, पृथक्पृथगभिधत्ते । यदा तु क्रियारूपता न विवक्ष्यते तदा ``नवा गुणः सदृशे रित्'' (7. 4. 86.) इति सादृश्ये द्विर्वचनं भवति । मन्दं मन्दं तुदति, द स्तोकं स्तोकम् अस्तमयति इति । एतेष्विति किम् लुनीहि, भुक्त्वा व्रजति, पचति । भृशाभीक्ष्ण्ययोर्यङिति यङन्तमुक्तार्थत्वान्न द्विरुच्यते । यदा तु भृशार्थे यङ् तदाभीक्ष्ण्यार्थाभिव्यक्तये द्विर्वचनम् पापच्यते पापच्यत इति । यदा तु तत्प्रतिपादनाय पञ्चमी विधीयते तदा तस्या द्विर्वचनसहायाया एवाभीक्ष्ण्यप्रतिपादने सामर्थ्यं क्त्वाणमोरिवेति

द्विर्वचनमपि भवति पापच्यस्व पापच्यस्वेति । प्राक्तमबादेरिति किम् ? पचतिपचतितमाम्, पचतिपचतितराम् । अत्र तमबादेरातिशायिकात्पूर्वमेव द्विर्वचनम् पश्चात्तमबादिः, अन्यथा ह्यनियमः स्यात् ।।73।।

*न्या०स०—भृशाभीक्ष्ण्या०—*आभीक्ष्ण्यं विच्छेदेनापि स्थित्वा स्थित्वा क्रियाकरणे संभवति, अविच्छेदश्च निरन्तरक्रियाकरणे संभवति इत्यनयोर्भेदः ।

क्रियाविशेषणस्येति यदि क्रियापदमेवात्र संबध्यते तर्हि पुनः पुनः पचतीत्यत्र कथं क्रियाविशेषणस्य द्विर्वचनम् ? इत्याशङ्का, अस्तमयतीति 'इंण्क् गतौ' अयनमयः अस्तमयोऽस्तमयः, स इवाचरति क्विपि रूपमिदं इं दुं इत्यस्य वा ।

द्विर्वचनमिति यदा तु आभीक्ष्ण्ये यङ् तदा भृशार्थस्यावयवक्रियासाकल्यरूपस्य मध्यपातित्वेन गतार्थत्वाद् विचारो न कृतः ।

नानावधारणे ।। 7. 4. 74. ।।

नानाभूतानां भेदेनेयत्तापरिच्छेदो नानावधारणम् । तस्मिन्यच्छब्दरूपं वर्तते तद्द्विरुच्यते, योगविभागात्—प्राक्तमबादेरिति नानुवर्तते । अस्मात्कार्षापणादिह—भवद्भ्यां माषं माषं देहि, प्रत्येकं माषमात्रं देहि नाधिकमित्यर्थः । द्वौ द्वौ देहि, त्रीन् त्रीन् देहि, एषु कार्षापणसंबन्धिनो माषा न साकल्येन दित्सिताः किं तर्हि प्रत्येकं माषमात्रमेव द्वावेव त्रय एव वेति न वीप्सास्ति । नानाग्रहणं किम् अस्मात्कार्षापणादिह—भवद्भ्यां माषंदेहि । एकमेवेत्यर्थः । अवधारण इति किम् । अस्मात्कार्षापणादिह—भवद्भ्यां माषं द्वौ त्रीन्वा देहि ।।74।।

*न्या०स०—नाना०—*भूतानामित्यादि नानाशब्दो नानाभूते माषादौ वर्त्तते, तस्यावधारणमेकत्वादि नानावधारणमिति न वीप्साऽस्तीति, इह सत्यपि नानावधारणे वीप्सास्त्येव, द्वावपि हि तौ माषौ प्रत्येकं दानेन वीप्स्येते, ततो वीप्सायामेव द्विर्वचनं भविष्यति किमर्थमिदम् ? इत्याह-एषु कार्षापणसंबन्धिन इत्यादि वीप्सा हि द्विरुच्यमानस्य यावन्तोऽर्थ—भेदास्तावतां प्रत्येकं क्रियादिना व्याप्तुमिच्छा सा न द्वयोस्त्रयाणां वा संबन्धे भवति, अपि तु सर्वेषामेव, अत्र च कार्षापणो नामानेकमाष—समुदायरूपस्तत्र तत्संबन्धिनो माषाः सर्व एव न दातुमिष्टाः किन्तु द्वावेव, वीप्सायां तु सर्वं ददात्येव ।

आधिक्या—ऽऽनुपूर्व्ये ।। 7. 4. 75. ।।

आधिक्यं प्रकर्षः, आनुपूर्व्यं क्रमानुल्लङ्घनम् । एतयोर्यच्छब्दरूपं वर्तते तद्द्विरुच्यते । आधिक्ये, नमो नमः, अधिकं नम इत्यर्थः । कन्या दर्शनीया, कन्या दर्शनीया, अहोदर्शनीया अहोदर्शनीया, मह्यं रोचते मह्यं रोचते, एष तवाञ्जलिरेष तवाञ्जलिः, मह्यं रोचतेतराम् मह्यं रोचतेतराम्, अत्र प्रागातिशायिकः पश्चाद्द्वित्वम्, आनुपूर्व्ये, मूले मूले स्थूलाः, अग्रे अग्रे सूक्ष्माः, ज्येष्ठं ज्येष्ठमनुप्रवेशय, कनिष्ठं कनिष्ठमासय, मूलाद्यानुपूर्व्येणैषां स्थौल्पादय इत्यर्थः । अग्रमूलमध्यानि त्रयो भागाः तत्रैकमेव मुख्यमग्रं मूलं च । अन्येषां तु भागानामपेक्षा–कृतोऽग्रमूलव्यपदेशः । अधःसन्निविष्टमपेक्ष्याग्रव्यपदेशः, उपरिसंनिविष्टमपेक्ष्य मूलव्यपदेशः। न चैकरूपं भागानां स्थौल्यं सौक्ष्म्यं वा किं तर्हि यथामूलमुपचीयते स्थौल्यम् यथाग्रं च सौक्ष्म्योपचय इति वीप्सा नास्ति, एवं ज्येष्ठत्वकनिष्ठत्वयोरपि आपेक्षिकत्वाद्वीप्सा नास्तीति वचनम् ।।75।।

न्या०स०–आधि०–अग्रेअग्रे इति विरामविवक्षणात् 'न सन्धिः' (1.3.52.) इति संधिनिषेधः ।

वीप्सा नास्तीति साकल्येन व्याप्त्यभावात् । आपेक्षिकत्वादिति साकल्यं नास्ति, न हि ये वृद्धास्ते वृद्धा एव, ये च कनिष्ठास्ते कनिष्ठा एवेति ।

डतर–डतमौ समानां स्त्रीभावप्रश्ने ।। 7. 4. 76. ।।

समानां केनचिद्गुणेन तुल्यतया संप्रधारितानां स्त्रीलिङ्गस्य भावस्य प्रश्ने यद्वर्तते डतरान्तं डतमान्तं च शब्दरूपं तद्द्विरुच्यते, उभाविमावाढ्यौ कतरा कतरा अनयोराढ्यता किं दैवकृता उत पौरुषकृतेत्यर्थः, कतमा कतमा अनयोराढ्यता किं साधनसंबन्धकृता उतान्यसंबन्धकृता आहोस्विदुभयसंबन्ध–कृतेत्यर्थः । एवं सर्व इमे आढ्याः कतरा कतरा एषामाढ्यता । कतमा कतमा एषामाढ्यता । सर्व इमे आढ्याः यतरा यतरा एषां विभूतिः ततरा ततरा कथ्यताम् । यतमा यतमा एषां संपत्, ततमा ततमा कथ्यताम् । डतरडतमाविति किम् ? उभाविमावाढ्यौ कानयोराढ्यता। समानामिति किम् ? आढ्योऽयं कतरास्याढ्यता कतमास्याढ्यता । स्त्रीग्रहणं किम् ? उभाविमावाढ्यौ कतरदनयोराढ्यत्वम् । कतमोऽनयोर्विभवः । भावग्रहणं किम् ? उभाविमौ लक्ष्मीवन्तौ कतरानयोर्लक्ष्मीः । कतमानयोर्लक्ष्मीः । लक्ष्यतेऽनया पुण्यकर्मेति लक्ष्मीः, इयं स्त्री भवति न भाव इति । प्रश्न इति किम् ? उभाविमावाढ्यौ यतरानयोशढ्यता ततरा श्रूयताम् । केचिड्डतरडतमाभ्यां स्त्रीलिङ्गाच्चान्यत्रापीच्छन्ति । उभाविमावाढ्यौ कीदृशी कीदृशी अनयोराढ्यता । कतरत्कतरदनयोराढ्यत्वम्, कतमः कतमोऽनयोर्विभवः । कतरानयौराढ्यतेत्यादौ प्राप्ते स्वार्थिकं द्विर्वचनम् ।।76।।

पूर्व–प्रथमावन्यतोऽतिशये ।। 7. 4. 77. ।।

पूर्वशब्दः प्रथमशब्दश्चान्यतोऽतिशये तदर्थस्य प्रकर्षे द्योत्ये द्विरुच्यते, आतिशायिकापवादः । पूर्वं पूर्वं पुष्यन्ति, प्रथमं प्रथमं पच्यन्ते, अन्येभ्यः पूर्वतरं पुष्यन्ति, प्रथमतरं पच्यन्त इत्यर्थः । अन्यत इति किम् ? पूर्वतरं पुष्यन्ति, प्रथमतरं पच्यन्ते । अत्र स्वव्यापारापेक्षातिशयो गम्यते न तावदिमे किशलयिता यावत्पुष्पिताः, न तावदिमे पुष्पिता यावत्पक्वा इति । अतिशय इति किम् ? पूर्वं, प्रथमम् । अन्येऽतिशयमात्रेऽपि द्विर्वचनमिच्छन्ति तमप्तरबर्थं च विकल्पम् ।।77।।

*न्या०स०–पूर्व०–*तदर्थस्येति प्रकर्षो ह्यर्थस्य भवति तद्धर्मत्वात्, ततश्च द्विर्वचनभाजोः पूर्वप्रथमशब्दयोरेव प्रत्यासत्तेर्विज्ञायत इति । न तावदिमे इति क्रमो हि किशलयानन्तरं पुष्पं तत्त्यागे न प्रथममेव पुष्पमेवं पुष्परित्यागे न फलमिति ।

प्रोपोत्सम्–पादपूरणे ।। 7. 4. 78. ।।

प्र, उप, उत्, सम् इत्येतान्युपसर्गरूपाणि द्विरुच्यन्ते तेन चेत् पादः पूर्यते ।।

प्रप्रशान्तकषायाग्नेरुपोपप्लववर्जितम् ।। उदुज्ज्वलं तपो यस्य संसंश्रयत तं जिनम् ।।1।। पादपूरण इति किम् ? प्रणम्य सच्छासनवर्धमानम् । इदं छन्दसीति कश्चित् ।।78।।

सामीप्येऽधोऽध्युपरि ।। 7. 4. 79. ।।

अधस्, अधि, उपरि इत्येतानि शब्दरूपाणि द्विरुच्यन्ते सामीप्ये विवक्षिते । सामीप्यं देशकृता कालकृता वा प्रत्यासत्तिः । अधोऽधो ग्रामम्, अध्यधि ग्रामम्, उपर्युपरि ग्रामम्, उपर्युपरि दुःखानि, सामीप्य इति किम् ? अधः पन्नगाः, अधि ब्रह्मदत्ते पञ्चालाः, उपरि चन्द्रमाः, कथमुपरि शिरसो घट इति ? अत्रौत्तराधर्यमात्रं विवक्षितम् न सदपि सामीप्यमिति न भवति । यथायथमिति मकारान्तमव्ययं यथास्वमित्यर्थे आश्रीयते इति यथास्वे यथायथमिति नारभ्यते ।।79।।

वीप्सायाम् ।। 7. 4. 80. ।।

पृथक्संख्यायुक्तानां बहूनां सजातीयानामर्थानां साकल्येन प्रत्येकं क्रियया गुणेन द्रव्येण जात्या वा युगपत्प्रयोक्तुर्व्याप्तुमिच्छा वीप्सा, तस्यां यद्वर्तते शब्दरूपं तद्द्विरुच्यते । वीप्सा च स्याद्यन्तेष्वेव भवतीति तेषामेव द्विर्ववचनम् । वृक्षं वृक्षं सिञ्चति, ग्रामो ग्रामो रमणीयः, गृहे

गृहे अश्वाः, योद्धा योद्धा क्षत्रियः, तथा रूपं रूपं पश्यति, शुक्लं शुक्लमानयति, क्रियां क्रियामारभते। उपचरितभेदस्यापि भवति। खिन्नः खिन्नो विश्राम्यति, क्षीणः क्षीणः पयः पिबति। व्यापकधर्मस्यापि व्याप्येनाभेदोपचाराद्–भेदे सति व्यापकान्तरापेक्षायां वीप्सा भवति। स एवान्योऽन्यः संपद्यते। नवो नवो भवति जायमान इति। आढ्यतरमाढयतरमानय। अत्र द्विर्वचनात्प्रागातिशायिकः।

वीप्सायामिति किम् ? वृक्षं सिञ्चति। जात्येकशेषेतरेतरयोगक्र-माभिधानेषु सत्यामपि व्याप्तौ यथोक्तलक्षणवीप्साया अभावान्न भवति। तथाहि–संपन्नो यवः संपन्ना यवा इति जातेरेकत्वात् बह्वर्थाभिधानं नास्ति। अस्मिन्वने वृक्षाः शोभना इति एकशेषे साकल्येन व्याप्तिर्नास्ति। तथाहि–कतिपयेष्वपि वृक्षेषु शोभनेष्वयं प्रयोगो भवति। एवमितरेतरयोगेऽपि। अस्मिन्वने धवखदिरपलाशाः शोभना इति न वीप्सा, तथास्मिन्वनेऽयं वृक्षः शोभनोऽयं वृक्षः शोभन इति क्रमाभिधाने साकल्येनापि व्याप्तो यौगपद्याभावान्न भवति। अस्मिन्वने सर्वे वृक्षाः शोभना इत्यत्र तु सर्वशब्देन वीप्सार्थाभिधानान्न भवति। यथा तद्धितसमासाभ्याम्। तद्धितेन तावत्, द्वौ द्वौ पादौ ददाति द्विपदिकां ददाति, एकैकं ददाति एकशो ददाति, एकैकशो ददातीत्यत्र वीप्सायां द्विर्वचने कृते ''बह्वल्पार्थात्''–(7. 2. 150.) इति कारके प्रशस् भविष्यति। समासेनापि, अर्थमर्थं प्रति प्रत्यर्थम्, गेहंगेहमनुप्रवेशमास्ते गेहानुप्रवेशमास्ते, क्वचित्तु वीप्स्यमानमपि समासेनाभिधीयते। पर्वणि पर्वणि सप्त पर्णान्यस्य सप्तपर्णः, पङ्क्तौ पङ्क्तौ अष्टौ पदान्यस्य अष्टापदः, ननु च वृक्षं वृक्षं सिञ्चतीत्यादौ वीप्सायां बह्वोऽर्थाः प्रतीयन्ते तत्र बहुषु बहुवचनं प्राप्नोति ? उच्यते-पृथक्संख्यायुक्तानामिति वचनात् परिगृहीतैकत्वादिसंख्यानां पदार्थानां वीप्सया योग इति पुनः समुदायाद्बहुवचनं न भवति ॥80॥

न्या०स०–वीप्सायाम्–उपचरितभेदस्येति एकस्यापि देशकालावस्थादिभेदेन भेदोपचारा-दनेकत्वाद् वीप्सायां द्विर्वचनविरोध इत्यर्थः।

व्यापकधर्म्मस्यापीत्यादि अत्रेयमाशङ्का–यदुतान्योन्यः संपद्यत इत्यादिषु

अन्यत्वादिधर्म्म एक एव तत्कथं वीप्सा ? इत्याह–व्यापकधर्मोऽन्यत्वादिः। जीवश्च व्याप्यः, स च जीवः कदाचिद् हस्ती भवति कदाचिन्नरः कदाचित् शृगाल इत्यनेकभेदः, व्यापकधर्मस्य व्याप्येन सहाभेदोपचारात् भेदत्वं व्यापकधर्म्मस्य भेदे नानात्वे सति व्याप-कान्तरापेक्षायां भवति, संपद्यत इत्यादिक्रियारूपायां वीप्सा भवति, यतः क्रियादिना व्याप्तु-मिच्छा वीप्सा इति क्रियादिर्व्यापकः।

यथाऽन्योऽन्यः संपद्यते स एव जीवोऽन्योऽन्यो भवति। कोऽर्थः ? कदाचिद् हस्ती

नरः श्वा च भवतीति व्याप्यभूतो जीवोऽनेकप्रकारः तद्भेदाद् व्यापकधर्मोप्यनेकप्रकारः, ततो बहूनामर्थानामित्यादि यद्वीप्सालक्षणं तद् घटत एव, एवं नवो नवो भवति जायमान इत्यत्रापि ।

ननु तस्यैवान्यमन्यत्वं संपद्यत इत्यर्थः तस्य च जायमानस्य नवत्वं भवतीत्यर्थ इत्यनयोः प्रयोगयोरर्थः, तत्कथं स एवान्योन्यः संपद्यते स एव नवो नवो भवति जायमान इति सामानाधिकरण्यं स्यात् ? उच्यते, धर्म्मधर्म्मिणोरभेदनयेन भविष्यतीति ।

प्लुप् चादावेकस्य स्यादेः ॥ 7. 4. 81. ॥

एकशब्दस्य वीप्सायां द्विरुक्तस्यादौ वर्तते य एकशब्दस्तत्संबन्धिनः स्यादेः प्लुप् भवति, पित्करणं पुंवद्भावार्थम् । अत एवातद्धितेऽपि लुपि पुंवद्भावः । एकैकः, एकैका, एकैकस्याः, एकएका, एकएकस्याः, अत्र विरामस्य विवक्षितत्वात्पुंवद्भावे सति संधिकार्यं न भवति । यथा अग्रे अग्रे सूक्ष्माः, यथा वा, ऋक् ऋगिति । आदिपदस्य स्यादेः प्लुप्युत्तरेणाभेदाश्रयणे स्याद्यन्तत्वात् ``सर्वादयोऽस्यादौ'' (3. 2. 61.) इति पुंवद्भावो न प्राप्नोतीति लुपः पित्त्वं विधीयते । चकार उत्तरत्र प्लुप्द्विर्वचनयोः समुच्चयार्थः । इह तु द्विर्वचनं पूर्वेणैव सिद्धम् । प्लुप्मात्रं विधीयते । आदाविति किम् ? उत्तरोक्तौ मा भूत् ।81।

न्या०स०—प्लुप् चा०—आदिपदस्येत्यादि ननु चात्र स्यादेर्लुपा निवृत्तेः ``सर्वादयोऽस्यादौ'' (3. 2. 61.) इति पुंवद्भावो भविष्यति किं पित्त्वविधानेन ? इत्याशङ्का ।

द्वन्द्वं वा ॥ 7. 4. 82. ॥

द्वन्द्वमिति वीप्सायां द्विरुक्तस्य द्विशब्दस्यादौ स्यादेः प्लुप् इकारस्याम् भाव उत्तरत्रेकारस्यात्वं स्यादेश्चाम्भावो वा निपात्यते । द्वन्द्वं तिष्ठतः, द्वौ द्वौ तिष्ठतः । नरकपटलान्यधोऽधोद्वन्द्वं हीनानि । द्वाभ्यां द्वाभ्यां हीनानि द्वन्द्वं युद्धं वर्तते । द्वयोर्द्वयोर्युद्धं वर्तते द्वन्द्वं कृतं द्वाभ्यां द्वाभ्यां द्वाभ्यां कृतम्, द्वन्द्वं स्थितं द्वयोर्द्वयोः स्थितम् ।।82।।

रहस्य–मर्यादोक्ति–व्युत्क्रान्ति–यज्ञपात्रप्रयोगे ॥ 7. 4. 83. ॥

वीप्सायामिति निवृत्तम् । द्वन्द्वमिति द्विशब्दस्य द्विर्वचनं शेषं पूर्ववत् रहस्यादिषु गम्यमानेषु निपात्यते । रहस्ये, द्वन्द्वं मन्त्रयन्ते, रहस्यं मन्त्रयन्त इत्यर्थः । मर्यादोक्तौ, आचतुरं हीमे पशवो द्वन्द्वं मिथुनायन्ते । माता पुत्रेण पौत्रेण प्रपौत्रेण तत्पुत्रेण च मैथुनं यातीत्यर्थः । व्युत्क्रान्तौ, द्वन्द्वं व्युत्क्रान्ताः द्वैराश्येन भिन्ना इत्यर्थः । व्युत्क्रान्तिर्भेदः । यज्ञपात्रप्रयोगे, द्वन्द्वं

यज्ञपात्राणि प्रयुनक्ति । द्वे द्वे प्रयुनक्तीत्यर्थः । रहस्यादिष्विति किम् ? द्वौ तिष्ठतः । उक्तिग्रहणं शब्दोपात्तायां मर्यादायां यथा स्यात् प्रकरणादिगम्यायां मा भूदित्येवमर्थम् । द्वन्द्वः समासः, द्वन्द्वः कलहः, द्वन्द्वं युद्धं, द्वन्द्वं युग्मम्, द्वन्द्वानि सहते, दुःखानीत्यर्थः । अत्र द्वन्द्व इति शब्दान्तरम् ॥83॥

*न्या०स०—रहस्य०—*रहस्यं मन्त्रयन्त इत्यर्थ इति अत्र द्वंद्वशब्दो रहस्यार्थः, न तु द्विशब्दार्थः संख्या काचिदस्ति, यदनेकार्थः—

'द्वंद्वः स द्वंद्वमाहवे रहस्ये मिथुने युग्मे' इति ।

लोकज्ञातेऽत्यन्तसाहचर्ये ॥ 7. 4. 84. ॥

लोकज्ञातेऽत्यन्तसाहचर्ये द्योत्ये द्विशब्दस्य पूर्ववत् द्वन्द्वमिति निपात्यते । द्वन्द्वं नारदपर्वतौ, द्वन्द्वं रामलक्ष्मणौ, द्वन्द्वं बलदेववासुदेवौ, द्वन्द्वं स्कन्दविशाखौ, द्वन्द्वं शिववैश्रवणौ । लोकज्ञात इति किम् ? द्वौ चैत्रमैत्रौ । अत्यन्तसाहचर्य इति किम् ? द्वौ युधिष्ठिरार्जुनौ । द्वन्द्वमिति च सूत्रत्रयेऽपि नपुंसकम् वेदितव्यमनुप्रयोगस्य नपुंसकत्वार्थम् ॥84॥

आबाधे ॥ 7. 4. 85. ॥

आबाधो मनः-पीडा प्रयोक्तृधर्मः, तस्मिन् विषये वर्तमानं शब्दरूपं द्विरुच्यते तत्र चादौ पूर्वपदे स्यादेः प्लुप् भवति । ऋक् ऋक्, पूः पूः, गतगतः, नष्टनष्टः, गतगता, नष्टनष्टा । नन करोमि । ऋगादेर्दुरुच्चारणादिना पीड्यमानः प्रयोक्ता एवं प्रयुङ्क्ते । अष्टमी अष्टमी कालिका कालिका इत्यत्र तु पूरणप्रत्ययान्तत्वात् कोपान्त्यत्वाच्च पुंवद्भावो न भवति ॥85॥

*न्या०स०—आबा०—*कालिकाकालिकेति ''गौरादिभ्य'' (2. 4. 19.) इति ङ्यां काल्येव ''यावादिभ्यः कः'' (7. 3. 15.) ।

नवा गुणः सदृशे रित् ॥ 7. 4. 86. ॥

गुणशब्दो मुख्यसदृशे गुणे गुणिनि वा वर्तमानो वा द्विरुच्यते तत्र चादौ वर्तमानस्य स्यादेः प्लुप् भवति सा च रित् । रित्करणं प्रतिषिद्धस्यापि पुंवद्भावस्य ''रिति'' (3. 2. 58.) इति विधानार्थम् । शुक्लशुक्लं रूपम्, शुक्लशुक्लः पटः, कालककालिका, शुक्लादिसदृशमरि-

पूर्णगुणमेवमुच्यते । वाग्रहणात्पक्षे जातीयरपि भवति । शुक्लजातीयः, पटुजातीयः । गुण इति किम् ? अग्निर्माणवकः, गौर्वाहीकः । सदा गुणवाची यः स इह गुणशब्दो गृह्यते । अयं तूपमानात्प्राग्द्रव्यवाची पश्चात्तु तैक्ष्ण्यजाड्यादिगुणवाचीति न भवति । सदृश इति किम् ? शुक्लः पटः, पटुश्चैत्रः ।।86।।

*न्या०स०—नवा०—*कालककालिकेति ``भाजगो'' (2. 4. 30.) इति ङ्यां काल्येव कालिका ।

प्रिय–सुखं चाकृच्छ्रे ।। 7. 4. 87. ।।

प्रियसुखशब्दौ अकृच्छ्रे क्लेशाभावे वा द्विरुच्येते तत्र चादौ शब्दरूपस्य स्यादेः प्लुप् भवति । प्रियप्रियेण ददाति । प्रियेण ददाति । सुखसुखेनाधीते सुखेनाधीते, अक्लेशेनाधीते इत्यर्थः । अकृच्छ्र इति किम् ? प्रियः पुत्रः, सुखो रथः । चकारः प्लुप् चादौ स्यादेः इत्यस्यानुकर्षणार्थः ।।87।।

वाक्यस्य परिर्वर्जने ।। 7. 4. 88. ।।

वाक्यस्यावयवो यः परिशब्दो न पदस्य स वर्जने वर्तमानो वा द्विरुच्यते । परिपरि त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो मेघः, परि त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो मेघः, परिपरि सौवीरेभ्यः, परि सौवीरेभ्यः । वाक्यस्येति किम् ? परित्रिगर्त वृष्टो मेघः । वाक्यस्यैवेत्यवधारणविज्ञानात्पदावयवे न भवति । परिरिति किम् ? अप त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो मेघः । वर्जन इति किम् । साधुर्देवदत्तो मातरं परि ।।88।।

*न्या०स०—वाक्य०—*वाक्यस्यैवेति । यद्यपि यः पदावयवः स वाक्यस्यापि तथापि यो वाक्यस्यैव भवतीति । ननु परिशब्दो नावाक्यावयवः कश्चिदस्ति सर्वमपि हि पदं वाक्यावयवे प्रयुज्यते वाक्यावयवत्वात् संव्यवहारस्य संव्यवहारार्थत्वाच्च शब्दप्रयोगस्य, न च परिशब्दः केवलः प्रयुज्यमानो वर्जनं गमयति द्योतकत्वात्, द्योतको हि कस्यचित् संनिधावेव प्रयुज्यमानो द्योत्यं द्योतयतीति वाक्यावयवत्वे सिद्धे वाक्यावयवत्वप्रतिपत्त्यर्थं वाक्यस्येत्यनर्थकम्, ततश्च सिद्धे सति नियमः ।

सम्मत्यसूया–कोप–कुत्सनेष्वाद्यामन्त्र्यमादौ स्वरेष्वन्त्यश्च प्लुतः ।। 7. 4. 89. ।।

कार्येष्वाभिमत्यं सम्मतिः पूजनं वा । परगुणासहनमसूया, कोपः क्रोधः, निन्दा कुत्सनम् । एते प्रयोक्तृधर्मा नाभिधेयधर्माः । एतेष्वर्थेषु वर्तमानस्य वाक्यस्यादिभूतमामन्त्र्यमामन्त्रणीयार्थं पदं द्विरुच्यते, तत्र द्विर्वचने आदौ पूर्वोक्तौ स्वरेषु स्वराणां मध्ये योऽन्त्यस्वरः स प्लुतो वा भवति । संमत्यसूयाकोपकुत्सनेष्विति बहुवचनात् द्विर्वचने विकल्पो न संबध्यते । संमतौ, माणवक 3 माणवक माणवक माणवक, अभिरूपक 3 अभिरूपक अभिरूपक अभिरूपक शोभनः खल्वसि । असूयायाम्, माणवक 3 माणवक माणवक माणवक अभिरूपक 3 अभिरूपक अभिरूपक अभिरूपक रिक्तं ते आभिरूप्यम् । कोपे, माणवक 3 माणवक माणवक माणवक अविनीतक 3 अविनीतक अविनीतक अविनीतक इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म । कुत्सने, शक्तिके 3 शक्तिके शक्तिके शक्तिके यष्टिके 3 यष्टिके यष्टिके यष्टिके रिक्ता ते शक्तिः । संमत्यसूयाकोपकुत्सनेष्विति किम् ? देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन । आदीति किम् ? शोभनः खल्वसि माणवक । आमन्त्र्यमिति किम् ? उदारो देवदत्तः । आदाविति किम् ? उत्तरोक्तौ मा भूत् । स्वरेष्विति किम् । व्यञ्जनान्तस्यापि यथा स्यात् । अन्त्य इति किम् ? आदिर्मध्यो वा मा भूत् । चकारो द्विर्वचनानुकर्षणार्थः । तथा च चानुकृष्टत्वादुत्तरत्र नानुवर्तते ॥89॥

भर्त्सने पर्यायेण ॥ 7. 4. 90. ॥

भर्त्सनं कोपेन दण्डाविष्करणम्, तत्र द्विर्वचनं सिद्धमेव प्लुतार्थ आरम्भः । भर्त्सने वर्तमानस्य वाक्यस्य यदामन्त्र्यं पदं तद्द्विरुच्यते । तत्र पर्यायेण पूर्वस्यामुत्तरस्यां वोक्तौ स्वरेष्वन्त्यः स्वरः प्लुतो वा भवति । चौर 3 चौर, चौर चौर 3, चौर चौर, दस्यो 3 दस्यो, दस्यो दस्यो 3, दस्यो दस्यो घातयिष्यामि त्वां, बन्धयिष्यामि त्वाम् ॥90॥

त्यादेः साकाङ्क्षस्याङ्गेन ॥ 7. 4. 91. ॥

वाक्यस्य स्वरेष्वन्त्यः प्लुतो वेत्यनुवर्तते भर्त्सन इति च, भर्त्सने वर्तमानस्य वाक्यस्य स्वरेष्वन्त्यः स्वरस्याद्यन्तस्य पदस्य वाक्यान्तराकाङ्क्षस्य अङ्ग इत्यनेन निपातेन युक्तस्य संबन्धी प्लुतो वा भवति । अङ्ग कूज 3 अङ्ग कूज इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म अङ्ग व्याहर 3 अङ्ग व्याहर इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म । त्यादेरिति किम् ? अङ्ग देवदत्त मिथ्या वदसि । साकाङ्क्षस्येति किम् ? अङ्ग पच, नेतदपरमाकाङ्क्षति । अङ्गेनेति किम् ? देवदत्त कूजेदानीं ज्ञास्यसि जाल्म । भर्त्सन इत्येव । अङ्गाधीष्व मोदकं ते दास्यामि ॥91॥

न्या०स०—त्यादे०—अङ्ग पचेति अत्राङ्गशब्दात् ``सम्मत्यसूया'' (7. 4. 89.) इति ``भर्त्सने प'' (7. 4. 90.) इति च सूत्रेण प्लुतो द्विर्वचनं च न 'भवति' यतोऽनयोरामन्त्रये आमन्त्रणीयार्थे यत्पदं वर्त्तते तद् गृह्यते, अङ्गेति च पदमामन्त्रणमेव द्योतयति न त्वामन्त्र्यम् ।

देवदत्त कूजेत्यादि नन्वत्र भर्त्सनस्य विद्यमानत्वात् 'सम्मत्यसूया' 7-4-89 इत्यनेनाद्या-मन्त्र्यस्य द्वित्वं प्लुतश्च कस्मान्न भवति ?

उच्यते, वाक्यैकदेशत्वान्न भवति, अत्र हि परमदेवदत्तेत्यादि महद्वाक्यमस्तीति न प्लुतः ।

क्षिया—ऽऽशीः—प्रैषे ।। 7. 4. 92. ।।

क्षिया आचारभ्रेषः, आशीः प्रार्थनाविशेषः, प्रैषोऽसत्कारपूर्विका व्यापारणा, एतेषु वर्तमानस्य वाक्यस्य स्वरेष्वन्त्यः स्वरस्त्याद्यन्तस्य पदस्य वाक्यान्तराकाङ्क्षस्य संबन्धी प्लुतो वा भवति ।

क्षियायाम्, स्वयं ह रथेन याति 3 उपाध्यायं पदातिं गमयति, स्वयं ह रथेन याति उपाध्यायं पदातिं गमयति, स्वयं ह ओदनं भुङ्क्ते 3 उपाध्यायं सक्तून् पाययति, स्वयं ह ओदनं भुङ्क्ते उपाध्यायं सक्तून् पाययति । आशिषि, सिद्धान्तमध्येषीष्ठाः 3 व्याकरणं च तात, सिद्धान्तमध्येषीष्ठा व्याकरणं च तात, पुत्रांश्च लप्सीष्ठाः 3 धनं च तात, पुत्रांश्च लप्सीष्ठाः धनं च तात । प्रैषे, त्वं ह पूर्वं ग्रामं गच्छ 3 चैत्रो दक्षिणम्, त्वं ह पूर्वं ग्रामं गच्छ चैत्रो दक्षिणम् । कटं च कुरु 3 ग्रामं च गच्छ 3, कटं च कुरु ग्रामं च गच्छ । त्यादेरित्येव । भवता खलु कटः कर्तव्यः ग्रामश्च गन्तव्यः । साकाङ्क्षस्येत्येव । दीर्घं ते आयुरस्तु ।।92।।

चितीवार्थे ।। 7. 4. 93. ।।

इवार्थे उपमायां वर्तमाने चित् इत्यस्मिन्निपाते प्रयुज्यमाने वाक्यस्य स्वरेष्वन्त्यः स्वरः प्लुतो वा भवति । अग्निश्चिद्भायाउत् अग्निश्चिद्भायात् । राजा चिदभूयाउत्, राजा चिद्भूयात् । अग्निरिव राजेवेत्यर्थः । चितीति किम् ? अग्निरिव भायात् । चितीति रूपसत्ताश्रयणादप्रयोगे न भवति । अग्निर्माणवको भायात् । इवार्थ इति किम् ? कर्णवेष्टकांश्चित्कारय । कर्णवेष्टकानेवेत्यर्थः । कथंचिदाहुः कृच्छ्रेणाहुरित्यर्थः ।।93।।

प्रतिश्रवण—निगृह्यानुयोगे ।। 7. 4. 94. ।।

प्रतिश्रवणं परोक्तस्याभ्युपगमः स्वयं प्रतिज्ञानं श्रवणाभिमुख्यं च, निगृह्य स्वमतात्प्रच्याव्या-नुयोगो निग्रहपदस्याविष्करणं निगृह्यानुयोगः । उपालम्भ इति यावत् । एतयोर्वर्तमानस्य

वाक्यस्य स्वरेष्वन्त्यस्वरः प्लुतो वा भवति । अभ्युपगमे,-गां मे देहि भोः, हन्त ते ददामि 3, हन्त ते ददामि । स्वयं प्रतिज्ञाने,-नित्यः शब्दो भवितुमर्हति 3, नित्यः शब्दो भवितुमर्हति । श्रवणाभिमुख्ये,-भो देवदत्त किं मार्ष 3, किं मार्ष । मार्षेति श्रवणाभिमुख्यद्योतको निपातः । निगृह्यानुयोगे, अद्य श्राद्धमित्यात्थ 3 । अद्य श्राद्धमित्यात्थ । अद्य श्राद्धेति वादी युक्त्या स्वमतात्प्रच्याव्यैव–मुपालभ्यते ।।94।।

विचारे पूर्वस्य ।। 7. 4. 95. ।।

किमिदं स्यात् किमिदमिति निरूपणं विचारः संशय इति यावत् । तस्मिन् विषये संशय्यमानस्य यत्पूर्वं तस्य स्वरेष्वन्त्यः स्वरः प्लुतो वा भवति । अहिर्नु 3 रज्जुर्नु, अहिर्नु रज्जुर्नु, स्थाणुर्नु 3 पुरुषो नु, स्थाणुर्नु पुरुषोनु ।।95।।

ओम:प्रारम्भे ।। 7. 4. 96. ।।

प्रारम्भे प्रणामादेरभ्यादाने वर्तमानस्य ओम्शब्दस्य स्वरेष्वन्त्य:स्वरः प्लुतो वा भवति । ओ 3 म् ऋषभं पवित्रम्, ओमृषभं पवित्रम्, एवम् ओ 3 म् ऋषभमृषभगामिनं प्रणमत 2 । ओ 3 म् अग्निमीले पुरोहितम् । प्रारम्भ इति किम् ? ओं ददामि । ओमत्राभ्युपगमे ।।96।।

*न्या०स०–ओम:–*प्रणामादेरिति ओम् इत्यस्य प्लुतविधानात् प्रणामादेरेव प्रारम्भो गम्यते ।

हेः प्रश्नाख्याने ।। 7. 4. 97. ।।

प्रश्नस्याख्याने पृष्टप्रतिवचने वर्तमानस्य वाक्यस्य स्वरेष्वन्त्यः स्वरो हिशब्दसंबन्धी प्लुतो वा भवति । अकार्षीः कटं देवदत्त, अकार्षं हि 3, अकार्षं हि । अलावीः केदारं देवदत्त, अलाविषं हि 3 । अलाविषं हि । हेरिति किम् ? अकार्षीः कटं देवदत्त, करोमि ननु । प्रश्नग्रहणं किम् । कटं देवदत्ताकार्षं हि । अप्रश्नपूर्वक आख्याने न भवति । आख्यानग्रहणं किम् ? देवदत्त कटमकार्षीर्हि । उत्तरेण सिद्धे नियमार्थं वचनम् । हेः प्रश्नाख्यान एव हेः प्रश्नाख्याने वाक्यस्य स्वरेष्वन्त्य एव प्लुत इति च ।।97।।

*न्या०स०–हेः प्रश्ना०–*नियमार्थमिति अत्र हेः प्रश्नाख्यान एवेति नियमेन देवदत्त कटमकार्षीर्हीति प्रश्ने प्लुतो निवर्त्त्यते, हेः प्रश्नाख्याने वाक्यस्य स्वरेष्वन्त्य एव प्लुत इत्यनेन तु

अकार्षं हि कटमित्यनन्त्यस्य न भवति, एतन्नियमद्वयमुपलक्षणं हेरेव प्रश्नाख्याने वाक्यस्य स्वरेष्वन्त्यः स्वरः प्लुतो भवतीत्यपि नियमो द्रष्टव्यस्तेन करोमि नन्विति हि सजातीयस्य निपातान्तरस्य प्लुतो निवर्त्त्यते । अगमः 3 पूर्वा 3 न् ग्रामा 3 नित्यादावनिपातस्य विजातीयस्य भवत्येव ।

प्रश्ने च प्रतिपदम् ॥ 7. 4. 98. ॥

प्रश्ने प्रश्नाख्याने च वर्तमानस्य वाक्यस्य संबन्धिनः पदस्य स्वरेष्वन्त्यः स्वरः प्लुतो वा भवति । प्रश्ने, अगमः 3 पूर्वा 3 न् ग्रामा 3 न् देवदत्त 3, अगमः पूर्वान् ग्रामान् देवदत्त । प्रश्नाख्याने, अगम 3 म् पूर्वा 3 न् ग्रामा 3 न् जिनदत्त 3 । अगमम्पूर्वान् ग्रामान् जिनदत्त । प्रश्ने चेति किम् ? देवदत्त ग्रामं गच्छ । प्रतिपदमिति किम् ? वाक्यस्यैवान्त्यः स्वरः प्लुतो मा भूत् ॥98॥

दूरादामन्त्र्यस्य गुरुर्वैकोऽनन्त्योऽपि लनृत् ॥ 7. 4. 99. ॥

यत्र प्राकृतात्प्रयत्नात्प्रयत्नविशेषे आश्रीयमाणे संदेहो भवति किमयं श्रोष्यति नवेति तद्दूरम् । वाक्यस्य यः स्वरेष्वन्त्यः स्वरो दूरादामन्त्र्यस्य पदस्य संबन्धी गुरुवनिन्त्योऽपि ऋकारवर्जितः स्वर लृकारश्चैको दूरादामन्त्र्यस्यैव संबन्धी स प्लुतो वा भवति । आगच्छ भो माणव कपिलक 3, आगच्छ भो माणव कपिलक । आगच्छ भो देवदत्त 3, आगच्छ भो देवदत्त । आगच्छ भो इन्द्रभूते 3, आगच्छ भो इन्द्रभूते । आगच्छ भोः क्लृप्तशिख 3, आगच्छ भोः क्लृप्तशिख । गुरुर्वैकोऽनन्त्योऽपि लनृत्, सक्तून् पिब दे 3 वदत्त । सक्तून् पिब देवदत्त । आगच्छ भो इ 3 न्द्रभूते, आगच्छ भो इन्द्रभूते । आगच्छ भो नृ 3षभ, आगच्छ भो नृषभ । आगच्छ भोः क्लृ3प्तशिख, आगच्छ भोः क्लृप्तशिख । महाविभाषयैव प्लुतविकल्पे सिद्धे वाग्रहणं न विकल्पार्थं किंत्वन्यप्लुतेन सह गुरोः असमावेशार्थम् । तेन क्लृ 3 प्तशिख 3 इति न भवति । दूरादिति किम् ? शृणु देवदत्त । आमन्त्र्यस्येति किम् ? आगच्छतु देवदत्तः । प्रधाने कार्यसंप्रत्ययादिह न भवति । आगच्छ भोः कपिलक माणव,–अत्र माणवेति कपिलक इत्यस्य विशेषणमित्त्यप्रधानता । गुरुरिति किम् ? अनन्त्यस्य लघोर्मा भूत् । एक इति किम् ? अनेकस्य गुरोर्यौगपद्येन मा भूत् । अनन्त्योऽपीति किम् ? अन्त्यस्यैव मा भूत्, लृकारग्रहणमनृदिति प्रतिषेधनिवृत्त्यर्थम् । अथ ऋतः प्रतिषेधे लृकारस्य कः प्रसङ्गः ? उच्यते, इदमेव ज्ञापकमृवर्णग्रहणे लृवर्णस्यापि ग्रहणं भवतीति, तेनाचीक्लृपदित्यादौ ऋवर्णकार्यम् लृवर्णस्यापि सिद्धं भवति । अनृदिति किम् ? कृष्णमि 3 त्र । कृष्णमित्र 3 । अनृदिति गुरुर्विशिष्यते न स्वरेष्वन्त्यस्तेनेहापि भवति । आगच्छ भोः कर्तृ 3, आगच्छ भोः कर्तृ । वाक्यस्य स्वरेष्वन्त्यः प्लुत इत्यनुवृत्तेरिह न भवति । देवदत्त अहो आगच्छ, अभिपूजितेऽपि

दूरादामन्त्र्यस्यैव प्लुत इष्यते इति अभिपूजिते चेति नारम्भणीयम्, शोभनः खल्वसि माणवक 3 । शोभनः खल्वसि माणवक ।।99।।

*न्या०स०–दूरा०–*ऋकारवर्जितः इति गुरोरेव विशेषणम् । ऋकारवर्जितः स्वर लृकारश्चेति । असमावेशार्थमिति तेन यदान्त्यस्य प्लुतस्तदान्त्यस्यैव न तु गुरोः, यदा तु गुरोस्तदा गुरोरेव न त्वन्त्यस्येत्यर्थः । ऋवर्णकार्यमिति–लृवर्णस्येति ``ऋतोऽत्'' (4. 1. 38.) इत्येवंविधम् ऋवर्णस्य इत्यनेन लृकारस्यापि मध्ये गुणबाधनार्थम् लृकारः ।

हे हैष्वेषामेव ।। 7. 4. 100. ।।

दूरादामन्त्र्यस्य संबन्धिनौ यौ हेहैशब्दौ कौ च तौ यौ तदामन्त्रणे वर्तेते तयोः प्रयुज्यमानयोस्तयोरेव वाक्ये यत्रतत्रस्थयोरन्त्यः स्वरः प्लुतो वा भवति । हे 3 देवदत्त आगच्छ, आगच्छ हे 3 देवदत्त, आगच्छ देवदत्त हे 3, है 3, देवदत्त आगच्छ, आगच्छ है 3 देवदत्त, आगच्छ देवदत्त है 3 । हे हैष्वित्वधारणस्य विषयार्थम् । एषामिति स्थानिनिर्देशार्थम् । बहुवचनं ह इ हे हए है इति लाक्षणिकयोरपि परिग्रहार्थम्, एवकारोऽन्यस्य प्लुतस्य व्युदासार्थः । अत एव चैवकारात् यत्रतत्रस्थयोः प्लुतो विज्ञायते ।।100।।

*न्या०स०–हेहै०–*एषामितीति हेहायामेवेत्येव कृते पूर्वसूत्रेण सामान्येन प्लुतप्राप्तौ द्योतकानां चेत् प्लुतः स्यात् तदा हेहायामेवेति नियमार्थं स्यात्तेन हे 3 आगच्छ हे 3 देवदत्त इत्यादि सिद्धं, पूर्वं हि देवदत्त 3 इत्यादौ चरितार्थं भोः प्रभृतिषु तु न स्यात् ।

यज तत्रस्थयोरिति यदि पुनरन्तभूतानामेव हेहायां प्लुतः स्यात्तदाऽपरस्यान्त्य–भूतस्या-संभवात् प्राप्तिरेव नास्ति किमेवकारेण ?

अस्त्री–शूद्रे प्रत्यभिवादे भो–गोत्र–नाम्नो वा ।। 7. 4. 101. ।।

यदभिवाद्यमानो गुरुः कुशलानुयोगेनाशिषा वा युक्तं वाक्यं प्रयुङ्क्ते स प्रत्यभिवादः । तस्मिन्नस्त्रीशूद्रविषये वर्तमानस्य वाक्यस्य स्वरेष्वन्त्यः स्वरो भोःशब्दस्य गोत्रस्य नाम्नो वामन्त्र्यस्य संबन्धी प्लुतो वा भवति । अभिवादये देवदत्तोऽहं भोः 3, अभिवादये देवदत्तोऽहं भोः, आयुष्मानेधि भोः 3, आयुष्मानेधि भोः, आयुष्मानेधि देवदत्त भोः 3 । आयुष्यानेधि देवदत्त भोः । गोत्रे, अभिवादये गार्ग्योऽहं भोः, कुशल्यसि गार्ग्य 3, कुशल्यसि गार्ग्य । आयुष्मानेधि गार्ग्य 3, आयुष्मानेधि गार्ग्य । राजन्यविशोरपि गोत्रत्वमेव । अभिवादयेऽहमिन्द्रवर्मा

भोः, आयुष्मानेधीन्द्रवर्म 3 न्, इन्द्रवर्मन् । अभिवादये इन्द्रपालितोहं भोः, आयुष्मानेधीन्द्रपालित 3 । इन्द्रपालित । नाम, अभिवादये देवदत्तोऽहं भोः, आयुष्मानेधि देवदत्त 3, देवदत्त । स्त्रीशूद्रवर्जनं किम् ? अभिवादये गार्ग्यहं भोः, आयुष्मती भव गार्गि, अभिवादये तुषजकोऽहं भोः, आयुष्यानेधि कुशल्यसि तुषजक । प्रत्यभिवादे इति किम् ? अभिवादये स्थाल्यहं भोः, आयुष्मानेधि स्थालि 3 । अभिवादयिताह खरकुटीवन्न ममेकारान्ता संज्ञा का तर्हि दण्डिवन्नकारान्ता । पुनर्गुरुराह आयुष्मानेधि स्थालि 3 न् स पुनराह ईकारान्तैव मम संज्ञा, स प्रत्युच्यते, असूयकस्त्वमसि जाल्म, न त्वं प्रत्यभिवादमर्हसि । भिद्यस्व वृषल स्थालि । भोगोत्रनाम्न इति किम् ? देवदत्त कुशल्यसि, देवदत्तायुष्मानेधि, पुनर्वाग्रहणमुत्तरत्र वाधिकारनिवृत्त्यर्थम् ।।101।।

न्या०स०–अस्त्री० देवदत्त कुशल्यसीत्यादि अत्र एधि असीति क्रियापदेन आमन्त्र्य इति द्वयङ्गविकलता व्यावृत्तेरिति न वाच्यं, यतोऽत्राव्यये त्वमित्यस्य अर्थस्य वाचके इत्यामन्त्र्यता, यद्वा वाक्यैकदेशो भव्य इत्याद्यध्याहारार्थः ।

प्रश्ना–ऽर्चा–विचारे च सन्धेयसंध्यक्षरस्या–ऽऽदिदुत्परः ।। 7. 4. 102. ।।

संधेयः संधियोग्यः यः क्वचित्स्वरे परे विकारमापद्यते, प्रश्नेऽर्चायां विचारे प्रत्यभिवादे च वर्तमानस्य वाक्यस्य संबन्धिनः स्वरेष्वन्त्यस्वरस्य संधेयसंध्यक्षरस्य प्लुतो भवन् आकार इदुत्परः प्लुतो भवति । स च प्रत्यासत्त्या एकारैकारयोरिकारपर ओकारौकारयोरुकारपरो भवति । प्रश्ने, अगमः 3 पूर्वान् 3 ग्रामा 3 नग्निभूता 3 इ, पटा 3 उ । अदा 3 स्तस्मा 3 इ, अपचा 3 इ, पटा 3 उ, अहौषी 3 रग्ना 3 उ । ``प्रश्ने च प्रतिपदम्'' (7. 4. 98.) इति प्लुतः । अर्चा पूजा तस्यां ``दूरादामन्त्र्यस्य'' (7. 4. 99.) इति प्लुतः । शोभनः खल्वसि अग्निभूता 3 इ । पटा 3 उ । विचारे, वस्तव्यं किं निर्ग्रन्थस्य सागारिका 3 इ उतानागारिके । प्रत्यभिवादे, आयुष्मानेधि अग्निभूता 3 इ, पटा 3 उ, आयुष्मन्तौ भूयास्तां देवदत्तजिनदत्ता 3 उ । प्रश्नार्चाविचारे चेति किम् ? आगच्छ भो अग्निभूते 3 । संधेयग्रहणं किम् ? कच्चि 3 त् कुशल 3 म् भवत्योः 3 कन्ये 3 । अगमः 3 पूर्वा 3 न् ग्रामा 3 नहो 3 भद्रकाऽसि गौः 3 । आयुष्मानेधि भो 3ः । संध्यक्षरस्येति किम् ? भद्रिकासि कुमारि 3 । वाक्यस्य स्वरेष्वन्त्यस्वर इति विज्ञानादिह न भवति । अगमः 3 पूर्वौ 3 ग्रामो 3 देवदत्त ।।102।।

न्या०स०—प्रश्ना०—संधियोग्य इति यस्य ``ईदूदेत्'' (1. 2. 34.) इत्येवमादिर्भिर्निषेधो नास्ति ।

तयोर्य्वौ स्वरे संहितायाम् ।। 7. 4. 103. ।।

तयोः प्लुताकारात्–परयोरिदुतोः स्थाने स्वरे परे संहितायां विषये यथासंख्यं यकारवकारावादेशौ भवतः । अविरामः संहिता, अगम 3 अग्निभूता 3 यत्रागच्छ, अगम 3 अग्निभूता 3 यिहागच्छ, अगमः 3 पटा 3 वत्रागच्छ, अगमः 3 पटा 3 वुदकमानय, स्वे दीर्घत्वस्यास्वे स्वरे ह्रस्वत्वस्य बाधनार्थं वचनम् । स्वर इति किम् ? अग्ना 3 इ, पटा 3 उ, संहितायामिति किम् ? अग्ना 3 इ इन्द्रम्, पटा 3 उ उदकम्, अग्ना 3 इ अत्र, पटा 3 अत्र । केचिदैदौतोश्चतुर्मात्रं प्लुतमिच्छन्ति । ऐ 4 तिकायन, औ 4 पगव ।।103।।

पञ्चम्या निर्दिष्टे परस्य ।। 7. 4. 104. ।।

पञ्चम्या निर्दिष्टे यत्कार्यमुच्यते तत्परस्य स्थाने भवति । अतो ``भिस ऐस्'' (1. 4. 2.) वृक्षैः, प्लक्षैः । इह न भवति, मालाभिरत्र । निर्दिष्टग्रहणस्या–नन्तर्यार्थत्वादिह न भवति, दृषद्भिः । व्यवहितेऽपि हि परशब्दो दृश्यते । यथा महोदयात्परं साकेतमिति । अत इत्यादौ दिग्योगलक्षणा पञ्चमी । तत्र पूर्वस्य च परस्य च कार्यं स्यादिति नियमार्थं वचनम् ।।104।।

सप्तम्या पूर्वस्य ।। 7. 4. 105. ।।

सप्तम्या निर्दिष्टे यत्कार्यमुच्यते तत्पूर्वस्यानन्तरस्य स्थाने भवति । ``इवर्णादेरस्वे स्वरे यवरलम्'' (1. 2. 21.) । दध्यत्र । मध्वत्र । निर्दिष्टाधिकारादिह न भवति । समिदत्र, त्रिष्टुबत्र, व्यवहितेऽपि पूर्वशब्दो दृश्यते । मथुरायाः पूर्वं पाटलिपुत्रमिति । स्वर इत्यादौ औपश्लेषिकमधिकरणं पूर्वं परं च संभवति तत्र परमेव ग्राह्यमिति नियमार्थं वचनम् ।।105।।

न्या०स०—सप्त०—नन्वत्र दध्यत्रेत्यादौ सूत्रमन्तरेणापि यत्वादि सिध्यति, यत ``इवर्णादे'' (1. 2. 21.) इत्यत्र स्वरे इत्यौपश्लेषिकमधिकरणं तच्च पूर्वं परं च संभवति, ततः स्वरः परो विद्यते, न च मध्विदमित्यादौ पूर्वस्मिन् स्वरे निमित्ते उत्तरस्य इकारस्य यत्वं स्यादित्याशङ्कनीयं यतः प्रकृतेः पूर्वं पूर्वमिति न्यायात् पूर्वस्य उकारस्य वत्वं भविष्यति ?

उच्यते, अष्टाभिरष्टप्रिय इत्यत्र पूर्वस्मिन् भिसि परे उत्तरस्याष्टन्शब्दस्य ``वाष्टनः'' (1. 4. 52.) इत्यात्वं स्यादिति सूत्रं सफलम् ।

षष्ठ्याऽन्त्यस्य ॥ 7. 4. 106. ॥

षष्ठ्या निर्दिष्टे यत्कार्यमुच्यते तदन्त्यस्य षष्ठीनिर्दिष्टस्यैव योऽन्त्यो वर्णस्तस्य स्थाने भवति न तु समस्तस्य । ``वाष्टन आः स्यादौ'' (1. 4. 52.) । अष्टाभिः । अष्टासु ॥106॥

अनेकवर्णः सर्वस्य ॥ 7. 4. 107. ॥

अनेकवर्ण आदेशः षष्ठ्या निर्दिष्टस्य सर्वस्यैव स्थाने भवति । ``त्रिचतुरस्तिसृचतसृ स्यादौ'' (2. 1. 1.) तिसृभिः, चतसृभिः । सर्वस्येति निर्दिश्यमानापेक्षम्, तेन व्याघ्रपादित्यत्र ``पात्पादस्याहस्त्यादेः'' (7. 3. 148.) इति निर्दिष्टस्य पादशब्दस्य भवति न तु समुदायस्य । ``ऋतां क्ङितीर्'' (4. 4. 117.) । किरति । पूर्वस्यापवादोऽयम् एवमुत्तरोऽपि ॥107॥

*न्या०स०–अने०–*एकशब्दोऽध्यारोपितद्वयादिवृत्तिर्नञा न एकोऽनेक इति विगृह्य नञ्समासः क्रियते । तस्मिन् कृते विषयगतायाः संख्याया अग्रहणे स्वसंख्यायाः अपरित्यागादेकवचनोपपत्तिः, अन्ये तु विषयगतां संख्यामाश्रित्य द्विवचनबहुवचनयोरुत्पत्तिमिच्छन्ति अनेकौ अनेके इति, तेन कदाचिदनेको वर्णोऽस्येति बहुव्रीहिः कदाचिदनेके वर्णा अस्येति ।

प्रत्ययस्य ॥ 7. 4. 108. ॥

प्रत्ययस्थाने विधीयमान आदेशः सर्वस्य भवति । सर्वे, अष्टौ, कति ॥108॥

स्थानीवाऽवर्णविधौ ॥ 7. 4. 109. ॥

स्थानं प्रसङ्गः, सोऽस्यातीति स्थानी आदेशी, आदेशस्थानिनोः पृथक्त्वात्स्थानिकार्यमादेशे न प्राप्नोतीत्यतिदिश्यते । आदेशः स्थानिवद्भवति स्थान्याश्रयाणि कार्याणि प्रतिपद्यते `अवर्णविधौ' न चेत्तानि स्थानिवर्णाश्रयाणि भवन्ति, तत्र धातुप्रकृतिविभक्ति–कृदव्ययपदादेशा उदाहरणम् । धात्वादेशो धातुवद्भवति । ``अस्तिब्रुवोर्भूवचावशिति'' (4. 4. 1.) भूवचो- स्तृजादयो भवन्ति । भविता, भवितुम्, भवितव्यम्, वक्ता, वक्तुम्, वक्तव्यम् । प्रकृत्यादेशः प्रकृतिवत् । कस्मै, के, केषाम् । किमः कादेशे कृते सर्वादित्वात्–स्मायादयो भवति । विभक्त्यादेशो विभक्तिवत् । वृक्षाय, प्लक्षाय, राजा । अत्र स्यादित्वाद्दीर्घत्वं पदत्वं च भवति । पचेयम्, पचेयुः । अत्र आद्यन्तत्वात्पदत्वम् । कृदादेशः कृद्वत् । प्रकृत्य । प्रहृत्य । अत्र क्त्वो यबादेशे ``ह्रस्वस्य तः पित्कृति'' (4. 4. 114.) इति तोऽन्तो भवति । अव्ययादेशोऽव्ययवत् ।

प्रस्तुत्य, उपस्तुत्य । अत्र ``अव्ययस्य'' (3. 2. 7.) इति सेर्लुप् भवति । पदादेशः पदवत्, धर्मो वो रक्षतु, धर्मो नो रक्षतु, पदत्वात्सो रुत्वम् । इवग्रहणं स्वाश्रयार्थम्, अन्यथा स्थानीत्यादेशस्य संज्ञा विज्ञायेत, तेन आहत आवधिष्टेत्यादौ ``आङो यमहनः स्वेऽङ्गे च'' (3. 3. 86.) इत्यनेनोभयत्राप्यात्मनेपदं भवति । अन्यथा वधेरेव स्यात् । अवर्णविधाविति किम् । वर्णाश्रयो विधिर्वर्ण–विधिरिति समासस्याश्रयणा–द्वर्णात्परस्य विधिर्वर्णे परतो विधिर्वर्णस्य स्थाने विधिर्वर्णेन विधिरप्रधान–वर्णाश्रयो वा विधिर्वर्णविधिरिति सर्वत्रावर्णविधाविति प्रतिषेधो भवति । तत्र वर्णात्परस्य विधिः । द्यौः, पन्थाः, सः । अत्र औत्वात्वत्यदाद्यत्वेषु कृतेषु स्थानिवद्भावाद्व्य–ञ्जनात्परस्य सेर्लोपः प्राप्नोति स न भवतीति । वर्णे परतो विधिः । क इष्टः, स उप्तः, अत्र य्वृति कृते ``घोषवति'' (1. 3. 21.) इति रोरुत्वम् ``एतदश्च''–(1. 3. 46.) इत्यादिना सेर्लोपश्च न भवति । वर्णस्य स्थाने विधिः, श्रीर्देवतास्य श्रायं हविः, अत्रेकारस्य वृद्धो कृतायां ``स्थानिवद्भावादवर्णेवर्णस्य'' (7. 4. 68.) इति लोपः प्राप्तो न भवति । वर्णेन विधिः । उरःकेण । उरःपेणः । उर)(केण । उर ⌣⌢ पेण ।

अत्र सकारादेशानां विसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयानां स्थानिवद्भाव–प्रतिषेधादलचटतवर्गशसान्तरे इति णत्वप्रतिषेधो न भवति । व्यूढोरस्केन महोरस्केनेत्यत्र तु सकारे कृते स्वाश्रयः प्रतिषेधः प्रवर्तते । अप्रधानवर्णाश्रयो विधिः । प्रदीव्य, प्रसीव्य । अत्र स्तादीत्यन्यपदार्थस्याशितः प्राधान्यात् स्तोरप्राधान्यमिति स्थानिवद्भावप्रतिषेधो भवति । स्थानिवर्णाश्रयकार्य–प्रतिषेधाच्चादेश–वर्णाश्रयाणि स्थान्यनुबन्धाश्रयाणि च कार्याणि भवन्त्येव । आदेशवर्णाश्रयाणि । सर्वेषाम् । अत्र सामादेशे कृते सकाराश्रयमेत्वं भवति । स्थान्यनुबन्धाश्रयाणि । प्रभिद्य, निरुध्य, प्रणीय, प्रलूय । अत्र क्त्वो यवादेशे कृते स्थानिवद्भावेन क्ङितीति गुणप्रतिषेधो भवति । अनुबन्धा ह्यसन्त एव गुणाभावादिक कार्यं कुर्वन्ति । अथ कथमग्रहीदित्यत्रेटो दीर्घत्वे स्थानिवद्भावादिट ईतीति सिचो लोपो भवति, वर्णविधिह्यषः ? उच्यते, –नायं वर्णविधिः, विशिष्टं ह्येष समुदायमवर्णमाश्रयते इटं नाम । अथ शोभना दृषदोऽस्य सुदृषदित्यत्र जस्लुपः स्थानिवद्भावेनासन्तत्वात् ``अभ्वादेरत्वसः सौ'' (1. 4. 90.) इति दीर्घः कस्मान्न भवति । ``लुप्यय्वृल्लेनत्'' (7. 4. 112.) इति प्रतिषेधात् । भ्वादिप्रतिषेधेन श्रूयमाणासन्त–परिग्रहाच्च न भवति । सुदृषदानित्यत्र तु इतिकरण–सामर्थ्यादसन्तलक्षणो विन्न भवति ।।109।।

न्या०स०–स्थानी०–अवर्णविधावित्यस्यार्थमाह–न चेत् तानीत्यादि वर्णाश्रयाणि कार्याणि त्रिविधानि विद्यन्ते, आदेशवर्णाश्रयाणि अनुबन्धवर्णाश्रयाणि स्थानिवर्णाश्रयाणि च, तत्र स्थान्याश्रयाणां कार्याणामति–देशप्रस्तावेन स्थानिवर्णाश्रयाणामेवा–वर्णविधाविति प्रतिषेधो न्याय्यो,

न त्वादेशाश्रयाणा–मनुबन्धाश्रयाणां चेति मनसिकृत्य स्थानिवर्णाश्रयाणी–त्युक्तम्, तेन सर्वेषां प्रभिद्येत्यादौ सामादेशे क्त्वो यबादेशे च कृते स्थानिवद्भावात् सकाराश्रयमेत्वम्, अक्ङिति इति गुणप्रतिषेधश्च भवत्येवाकार्यशब्दं पुनः पुनः प्रयुञ्जानः कार्याति–देशतामभ्याचष्टे, एवं च यत्कार्यं वर्णमुच्चार्य विधीयते तद्वर्णाश्रयमस्तु, यत्तु धात्वादिसमुदायोच्चारेण न तद्वर्णाश्रयं वर्णस्य तत्र शब्देनासंसर्गात् ।

ननु अग्निर्माणवकइति–वदिवग्रहणमन्तरेणापीवार्थानुमानं भविष्यति किमिवग्रहणेन ? इत्याशङ्क्याह–इवग्रहणं स्वाश्रयार्थमिति स्वस्य स्थानिस्वरूपस्य हन्इत्वादेराश्रय आश्रयणं तदर्थम्, अन्यथा इवग्रहणाभावे संज्ञासंज्ञिसंबन्धो विज्ञायेत, आदेश इति संज्ञी स्थानीति च संज्ञा ततो यत्रादेशः स्थानी च स्यात्तत्र स्थानीत्यादेशस्य संज्ञा विज्ञायेतेतीवग्रहणम् ।

स्वाश्रयः प्रतिषेध इति ``प्रत्यये'' (2. 3. 6.) इत्यनेन यः कृतः सकारस्तदाश्रयो णत्वनिषेधो, न तु मूलभूतसकाराश्रयः तस्य वर्णत्वात् वर्णाश्रये च स्थानित्वनिषेधात् ।

प्रतिषेधो भवतीति स्थानिवद्भावप्रतिषेधाच्च प्रदीव्येत्यादौ ``ऊदितो वा'' (4. 4. 42.) इतीट् प्राप्तः सकारतकार–रूपाप्रधानवर्णा–श्रयत्वात् स्थानित्वाभावे न भवति ।

गुणप्रतिषेध इति अत्रापि न स्थानिवर्णाश्रयं किमपि कार्यं विधीयते किंतु स्थानिनो योऽनुबन्धः ककारादिलक्षणस्तदाश्रय एव गुणप्रतिषेधस्तत्र च स्थानित्वम् ।

अथानुबन्धानामप्रयोगित्वात् कथं तेष्वसत्सु तदाश्रयं कार्यमुच्यत इत्यत आह-अनुबन्धा इत्यादि, वर्णविधिर्ह्येष इति । वर्णात् परतो विधिरिति समासात् । श्रूयमाणासन्तेति भ्वादयो हि तावत् पिडग्रः चर्म्मव इत्यादयः श्रूयमाणा सन्त एव प्रतिषिध्यन्ते, ततश्च गृह्यन्तेऽपि श्रूयमाणासन्त एव ।

स्वरस्य परे प्राग्विधौ ।। 7. 4. 110. ।।

स्वरस्यादेशः परे परनिमित्तको व्यवहितेऽव्यवहिते वा पूर्वस्य विधौ कर्त्तव्ये स्थानीव भवति । कथयति, अवधीत् । अत्राल्लुकः स्थानिवद्भावादु–पान्त्यलक्षणा वृद्धिर्न भवति । स्पृहयति, मृगयते । अत्र लघूपान्त्यलक्षणो गुणो न भवति । पादाभ्यां तरति पादिकः, अत्र पद्भावो न भवति । शातनी, पातनी । अत्रानोऽस्य लुग् न भवति । धरणस्यापत्यं धारणिः । रवणस्यापत्यं रावणिः । अत्र ``नोऽपदस्य''–(7. 4. 61.) इत्यन्त्य–स्वरादिलोपो न भवति । स्रंस्यते, ध्वंस्यते । अत्र णिलुकः स्थानिवद्भावादुपान्त्यनकारलोपो न भवति । याज्यते, वाप्यते, अत्र य्वृन्न भवति । निरादनं पूर्वं निराद्य, समाद्य । अत्र जग्धादेशो न भवति । घात्यात् । अत्र वधादेशो न भवति, निगार्यते, निगाल्यते । अत्र ``नवा स्वरे'' (2. 3. 103.)

इति पक्षे लत्वम् । चातुरौ, आनडुहौ । अत्र औत्वादेशस्य स्थानिवद्भावात् ``वाः शषे'' (1. 4. 82.) इति वा न भवति । पादे । अत्र एत्वादेशस्य स्थानिवद्भावात्पद्भावो न भवति । उभयजन्यत्वेऽपि अन्यतरव्यपदेशात् औत्वैत्वयोः परनिमित्तत्वम् । अवीवदद्वीणां परिवादकेनेत्यत्र तु णिजात्याश्रयणा–दुपान्त्यस्य ह्रस्वो भवति । द्वाभ्यामित्यत्र तु निमित्तापेक्षया प्राग्विधावात्वेऽत्वस्य न स्थानित्वम् । ``वैकत्र द्वयोः'' (2. 2. 85.) इति निर्देशात् ।

स्वरस्येति किम् ? अक्राष्टाम्, अद्राष्टाम् । अत्र सिज्लोपो न स्वरादेश इति ``षढोः कः सि'' (2. 1. 62.) इति कत्वे स्थानी न भवति । आगत्य, अभिमत्य । अत्र पञ्चमलोपो ह्रस्वलक्षणे तकारे स्थानी न भवति । पर इति किम् ? द्वौ पादौ ददाति द्विपदिकां ददाति, अत्राल्लुचः परनिमित्तत्वाभावात् स्थानित्वाभावे पदादेशो भवति । प्राग्विधाविति किम् ? बाभ्रव्यस्य छात्राः बाभ्रवीयाः । अत्र ``तद्धितय– स्वरेऽनाति'' (2. 4. 91.) इति यलोपे परविधौ कर्तव्येऽवादेशः स्थानी न भवति । निधानं निधिः, तस्यापत्यं नैधेयः, निधिकः । अत्र ``इडेत्पुसि चातो लुक्'' (9. 3. 94.) इत्याकारलोपो द्विस्वरलक्षण-एयणिक-प्रत्ययविधौ परस्मिन् स्थानी न भवति । अन्यथा त्रिस्वरत्वात्प्रत्ययो न स्यात् । इलुकाया अदूरभवं नगरमैलुकम्, परिखायाः पारिखम्, तत्र भवः ऐलुकीयः पारिखीयः । अत्राण्याकारलोपः परविधौ कखोपान्त्यलक्षणे ईये स्थानी न भवति । पूर्वस्माद्विधिः प्राग्विधिरित्य– प्याश्रीयते, तेन अधुक्षन्तेति ``स्वरेऽतः'' (4. 3. 75.) इति सकोऽकारलोपस्य परमप्यदादेशं प्रति स्थानिवद्भाव इति स न भवति । पूर्वत्रावर्ण–विधाविति प्रतिषेधाद्वर्ण–विध्यर्थं वचनम् ।।110।।

न्या०स०–स्वर०–वृद्धिर्न भवतीति ``ञ्णिति'' (4. 3. 100.) ``व्यञ्जनादेर्वोपान्त्य-स्यातः'' (4. 3. 47.) इत्याभ्याम् ।

औत्वैत्वयोरिति इष्टसिध्यर्थमकारस्यैव व्यपदेशः कार्यः, न त्वौकारैकारयोः ।

न संधि–ङी–य–क्विद्वि–दीर्घा–ऽसद्विधावस्क्लुकि ।।7. 4. 111.।।

पूर्वेणातिप्रसक्तः स्थानिवद्भावः प्रतिषिध्यते । संधिविधौ ङीविधौ यविधौ क्विविधौ द्वयोर्द्वित्वस्य विधौ दीर्घविधौ ``संयोगस्यादौ स्कोर्लुक्'' (2. 1. 88.) इति स्क्लुक्वर्जितेऽसद्विधौ च स्वरस्यादेशः स्थानीव न भवति । ``लि लौ'' (1. 3. 65.) इति यावत्संधिविधिः । तत्र वियन्ति, अपयन्ति । अत्रेणो यत्वं स्वरादेशः परनिमित्तकः पूर्वविधौ दीर्घत्वे एत्वे च कर्तव्ये स्थानीव न भवति । तानि सन्ति, तौ स्तः, अत्रास्तेरल्लोपो यत्वे आवादेशे च कर्तव्ये स्थानी न भवति । वैयाकरणः, सौवश्वः, अत्र यत्ववत्वयोः स्थानिवद्भावाभावादै–दौतोरायावादेशौ

न भवतः । शिण्ढि, पिण्ढि । अत्र श्नस्याकारलोपो ``म्नां धुड्वर्गेऽन्त्योऽपदान्ते'' (1. 3. 39.) इति वर्गान्ते कर्तव्ये स्थानी न भवति । शिंषन्ति पिंषन्ति इत्यत्र त्वनुस्वारे । जक्षतुः, जक्षुः । अत्र प्रथमत्वे घसेरुपान्त्यलोपः । निमित्तापेक्षयापि प्राग्विधिरिष्यते, तेन नयनं लवनमित्यत्र गुणस्य स्थानिवद्भाव–प्रतिषेधादयवादेशौ सिद्धौ । स्थानिवद्भावे त्वियुवादेशौ स्याताम् । ङीविधौ, बिम्ब्याः फलं बिम्बम्, हेमादित्वादञ् । ``फले'' (6. 2. 58.) इति लुप् । ङ च्यादेरित्यादिना ङीलुप्, तस्य परनिमित्तत्वेऽपि स्थानिवद्भावनिषेधात् ``अस्य ङ्यां लुक्'' (2. 4. 85.) इत्यकारस्य लुग् न भवति । एवमामलक्याः फलमामलकम्, ``दोरप्राणिनः'' (6. 2. 49.) इति मयट् । पञ्चभिः खारीभिः कृतः पञ्चखारः । ``कृते'' (6. 3. 190.) इत्यण् । ``द्विगोः''–(6. 1. 24.) इत्यादिना लुप् । पञ्चेन्द्राण्योऽग्नाय्यो वा देवतास्य पञ्चेन्द्रः, पञ्चाग्निः, अत्र ``देवता'' (6. 2. 101.) इत्यण् । तस्य लुपि ङीप्रत्ययस्यापि लुक् । तस्य स्थानिवद्भाव–प्रतिषेधात् तत्संनियुक्त आनागम ऐकारादेशश्च न भवति । यविधौ,-कण्डूतिः, कण्डूयतेः क्तावतो लोपः परनिमित्तको ``य्वोः प्वय्व्यञ्जने लुक्'' (4. 4. 122.) इति लोपे कर्तव्ये न स्थानिवद्भवति । सूर्येणैकदिक् सौरी बलाका । अत्रैकोऽण्यकारलोपो द्वितीयो ङ्यां तयोः स्थानिवत्त्वाद्यकार–स्यानन्तरो ङीर्न भवतीति यलोपो न स्यात् स्थानिवद्भावनिषेधाच्च भवति ।

क्विविधौ, देवयतेः क्विप्, दयूः, लवमाचष्टे लवयतेः क्विप् लौः, अत्र णिलुगल्लुचौ क्विब्विधावूटि कर्तव्ये न स्थानिवद्भवतः । द्वित्वविधौ, दद्ध्यत्र, मद्ध्वत्र,–अत्र यत्ववत्वयोः स्थानिवद्भावाभावादेकव्यञ्जनलक्षणं धकारस्य द्वित्वं भवति, द्वित्वस्य संधिकार्यत्वेनैव स्थानिवद्भावप्रतिषेधे सिद्धे द्विग्रहणमसिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्ग इति न्यायबाधनार्थम् । तेनान्तरङ्गे द्वित्वे क्रियमाणे यकारवकारौ परपदाश्रितत्वेन बहिर-ङ्गावपि नासिद्धौ भवतः । दीर्घविधौ, शामंशामम् । अशामि । शंशामंशंशामम्, अशंशामि, अत्र णिगन्ताद्यङन्ताच्च णिगि खणम्ञिचोः परयोर्णिग्लुग्यङो लुक् च स्थानिवन्न भवति । असदधिकारे विहितो विधिरसद्विधिः तत्र यायज्य–तेर्यायष्टिः । नाम्नि तिक्,–पापच्यतेः पापक्तिः । याजयतेर्याष्टिः, पाचयतेः पाक्तिः, अत्राल्लोपणिलोपयोः स्थानिवद्भाव–प्रतिषेधात् षत्वकत्वे भवतः । देहयतेर्देग्धिः, लेहयतेर्लेढिः । अत्र णिलोपस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् धुड्निमित्ते घत्वढत्वे भवतः । प्रतिदीन्वा, प्रतिदीन्वे । अत्र ``अनोऽस्य'' (2. 1. 107.) इति अलोपो ``भ्वादेर्नामिनः''–(2. 1. 63.) इत्यादिना दीर्घत्वे स्थानी न भवति । स्क्लुक्विधेः प्रतिषेधः किम् ? सुकुस्मयतेः क्विप् । सुकूः । काष्ठं तक्षयति क्विप्, काष्ठतक् । अत्र संयोगाद्योः स्कोर्लुकि णिलुकः स्थानिवद्भाव–प्रतिषेधाभावात् स्कोर्लुग्न भवति । संयोगान्तलोपस्त्व-सद्विधौ स्थानिवद्भाव–प्रतिषेधात् भवत्येव । काष्ठतडिति अण्यन्तस्य । प्रायिकोऽयं निषेधः, तेन मधुश्च्यतीति क्विप् । मधुक् । अत्र शलोपः सिद्धः ।

वेतस्वानित्यल्लुकः स्थानिवद्भावाभावेऽपि ``न स्तं मत्वर्थे'' (1. 1. 23.) इति पदत्वाभावात्सो रुर्न भवति । ब्रह्मबन्ध्वौ ब्रह्मबन्ध्व इति ऊङादेशस्य वकारस्य स्थानिवद्भावा–भावेऽप्यन्तर धस्य तृतीयत्वे लुकि च बहिरङ्गत्वेनासिद्धत्वम्, एवं किर्योः गिर्योरिति नामिनो दीर्घत्वे । काक्यर्थं वास्यर्थमित्यत्र तु पदस्येति यलोपे यत्वस्यासिद्धत्वम् । अथ सखीयतीति क्विपि अल्लुको यविधौ स्थानिवत्त्वा–भावाद्यलुकि ङसि ``योऽनेकस्वरस्य'' (2. 1. 56.) इति यस्य ``य्वोः'' (4. 4. 112.) इत्यादिना क्विबाश्रयो लुक् कथन्न भवति । बहिःप्रत्यया–श्रयत्वेन बहिरङ्गस्य यस्य अन्तःक्विबाश्रये लुक्यसिद्धत्वात् ॥111॥

न्या०स०—न संधि०—मधुक् इति अत्र ``न संधि०'' (7. 4. 111.) इत्यनेन स्थानित्वनिषेधः प्रवर्त्तते, असद्विधिकार्ये सलुकि णिलुकः स्थानित्वं न भवति ।

ऊङादेशस्येति ऊङ्प्रत्ययादेशो वकारोऽपि प्रत्ययस्तस्मिन् धस्य पदत्वे ``धुटस्तृतीयः'' (2.1.76.) इति धस्य दत्वं, तन्निषेधे संयोगान्तत्वात् 'पदस्य' (2.1.89.) इति लुग्वा प्राप्नोतीत्याशङ्का ।

लुप्यय्वृल्लेनत् ॥ 7. 4. 112. ॥

परस्य प्रत्ययस्य लुपि सत्यां लुब्भूतपरनिमित्तकं पूर्वकार्यं न भवति 'अय्वृल्लेनत्' य्वृल्लत्वमेनच्च वर्जयित्वा । तद्, अत्र स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् त्यदाद्यत्वसत्वे न भवतः । गर्गस्यापत्यानि गर्गाः, गर्गादित्वाद्यञ् । ``यञञोऽश्यापर्णान्तगोपवनादेः'' (6. 1. 126.) इति लुप् । कुवल्याः विकारः फलं कुवलम् । हेमादित्वादञ् । ``फले'' (6. 2. 58.) इति तस्य लुप् । अत्र वृद्धिर्न भवति । प्लुप्यपि लुब्रूपतास्त्येव, तेन पञ्चगोणिरित्यत्रेकणः प्लुपि वृद्धिर्न भवति । लुपीति वचनाल्लुकि भवत्येव, गोमान् यवमान् । अत्र सिलुकि तन्निमित्तं दीर्घत्वं भवति । लुपीति सप्तमीनिर्देशात् पूर्वस्य यत्कार्यं प्राप्तं तन्निषिध्यते । समुदायस्य तु भवत्येव । पयः, साम, पञ्च, सप्त । अत्र पदसंज्ञा तथा च तन्निबन्धनानि रुत्वनलोपादीनि भवन्ति । कथं पापक्ति पापचीतीत्यत्र द्वित्वम् ? नेदं यङि निमित्ते किंतु यङन्तस्य । अय्वृल्लेनदिति किम् ? य्वृत्, व्यध्, वेविद्धि । श्वि, शोशवीति । ग्रह, जरीगृहीति । ल्, गॄ, निजागलीति । एनत्, एनत्पश्य, एनच्छ्रितकः । स्थानीवावर्ण–विधाविति लुपः स्थानिवद्भावेन प्राप्तानां पूर्वेषां कार्याणां प्रतिषेधार्थं वचनम् ॥112॥

न्या०स०—लुप्यय्वृ०—पञ्चगोणिरिति ``क्यङ्मानि'' (3. 2. 50.) इति पुंवन्न भवति, ङ्यादेर्गोण-स्येत्यत्र गोणीशब्दवर्जनात्, एनच्छ्रितक इति नन्वत्रैतच्छब्दस्य साकाङ्क्षस्या–समर्थत्वात् कथं समास एनदादेशश्च ?

उच्यते, अर्थात् प्रकारणाद्वा अपेक्ष्ये निर्ज्ञाते समास एनदादेशश्च भवत्येव ।

विशेषणमन्तः ।। 7. 4. 113. ।।

विशिष्यतेऽनेनेति विशेषणम्, विशेषणं विशेष्यस्य समुदायस्यान्तोऽवयवो भवति, इह शास्त्रे धात्वादिः समुदायोऽभेदे–नावयवविशेषणक उपादीयते। तत्र सोऽवयवस्तत्–समुदायस्या–न्तत्वेन नियम्यते । अतः स्यमोऽम् । कुण्डं तिष्ठति, कुण्डं पश्य, इह न भवति तद् । 'युवर्णवृदृवशर-णगमृद्ग्रहः।' जयः, स्तवः, इह न भवति। सेकः, योगः। इणोऽलि अय इत्यादौ व्यवदेशिवद्भावाद्–भवति ।।113।।

न्या०स०–विशे०–इह शास्त्रे धात्वादिः समुदाय उपादीयते, कथंभूतोऽवयवो विशेषणं यस्य स तथा केनाभेदेन तादात्म्येन कोऽभिप्रायः ? किल ``नामिनो गुण'' (4. 3. 1.) इत्यत्र धातुर्नाम त्यभिधीयते, नाम्यवयवयोगात् समुदायोऽपि धातुलक्षणो नामीत्यभिधीयते इत्येकदेशेन सामानाधिकरण्येना–वयवविशेषणक उपादीयते इति तत्सामानाधिकरण्ये सति नामी आदौ मध्ये अन्ते च संभवति, तत्र सोऽवयवस्तस्य समुदायस्य अन्तत्वेन नियम्यते ।

सप्तम्या आदिः ।। 7. 4. 114. ।।

सप्तम्यन्तस्य विशेष्यस्य यद्विशेषणं तत्तस्यादिरवयवो भवतीति वेदितव्यम्। इन् ङीस्वरे लुक्। पथः, पथाम्। इह न भवति। पथिषु। ``द्व्युक्तोपान्त्यस्य शिति स्वरे'' (4. 3. 14.) नेनिजानि। अनेनिजम्। इह न भवति-नेनेक्ति। ``उत औविंति व्यञ्जनेऽद्वेः'' (4. 3. 59.) यौति, रौति । इह न भवति अस्तवीत् । पथा, अयौदित्यादौ व्यपदेशिवद्भावाद्भवति, अन्तत्वापवादो योगः ।।114।।

प्रत्ययः प्रकृत्यादेः ।। 7. 4. 115. ।।

यस्माद्यः प्रत्ययो विधीयते सा तस्य प्रकृतिः। प्रत्ययः प्रकृत्यादेः समुदायस्य विशेषणं वेदितव्यम् नोनाधिकस्य। मातुर्भोगो मातृभोगस्तस्मै हितो मातृभोगीणः। ``भोगोत्तरपदात्मभ्या-मीनः'' (7. 1. 40.)। खरपस्यापत्यं खारपायणः,–नडादित्वादायनण्। अत्र ``तदन्तं पदम्'' (1. 1. 20.) इति पदसंज्ञा समुदायस्य भवति न तूनस्य भोगीण इत्यादिरूपस्य तेनैकपदत्वात् णत्वं सिद्धम् । राज्ञः पुरुषः राजपुरुषः, ``षष्ठ्ययत्नाच्छेषे'' (3. 1. 76.) इति समासः । अधिकस्य न भवति। ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः, गार्ग्यस्यापत्यं गार्ग्यायणः। ``यञिञः'' (6. 1. 54.) इत्यायनण्। अधिकात्समुदायान्न भवति। परमगार्ग्यस्यापत्यम्। पुत्रमिच्छति पुत्रकाम्यति,

अधिकान्न भवति, महान्तं पुत्रमिच्छति, न्यूनाधिक–व्यवच्छेदार्थं वचनम् । तदन्तत्वं च ``विशेषणमन्तः'' (7. 4. 113.) इत्येव सिद्धम् ।।115।।

न्या०स०–प्रत्य०–प्रकृत्यादेरिति आदिशब्दात् प्रत्ययो गृह्यते, ततः प्रकृतिप्रत्ययसमुदायस्य प्रत्ययो विशेषणं भवतीति सिद्धम् ।

ननु प्रत्ययः प्रकृतेर्विशेषणं भवतीति किं न पूर्यते, किमादिग्रहणात् प्रत्ययग्रहणेन ?

उच्यते, आदिशब्दाभावे प्रत्ययः प्रकृतेर्विशेषणमिति कोऽर्थः ? प्रत्ययः पूर्वां प्रकृति विशेषयतीत्यर्थः स्यात्तथा च स्यादौ पूर्वस्याः प्रकृतेः स्याद्यन्तत्वं स्यात्ततः पयांसि इत्यादौ जसि पूर्वस्याः प्रकृतेर्विभक्त्यन्तत्वात् ``सो रुः'' (2. 1. 72.) इति रुत्वं स्यात्, यतः किं हि वचनान्न सिध्यतीति आदिग्रहणेन प्रत्ययो गृह्यते ।

णत्वं सिद्धमिति अन्यथा ``रषृवर्ण०'' (2. 3. 63.) इति एकपदत्वाभावात् णत्वं न स्यात् ।

गौणो ङ्यादिः ।। 7. 4. 116. ।।

ङीमारभ्य ष्यं यावत् ङ्यादिः प्रत्ययः स गौण उपसर्जनं सन् प्रकृत्यादेः समुदायस्य विशेषणं भवति नोनाधिकस्य । कारीषगन्ध्यामतिक्रान्तः स बन्धुरस्य अतिकारीष–गन्ध्यबन्धुः । अतिकौमुदगन्ध्यबन्धुः । अत्र ष्येणाधिकस्याग्रहणात् ``बन्धो बहुव्रीहौ'' (2. 4. 83.) इति ईच् न भवति । गौण इति किम् ? अगौणोऽधिकस्यापि समुदायस्य विशेषणं भवति, परमकारीषगन्धीबन्धुः परमकौमुदगन्धीबन्धुः । पूर्वेणैव सिद्धेऽगौणस्याधिकपरिग्रहार्थं वचनम् ।।116।।

न्या०स०–कृत्सग०–भस्मनिहुतमित्यादिषु ``तत्पुरुषे कृति'' (3. 2. 20.) इति सर्वत्रालुप् ।

कृत्–सगतिकारकस्यापि ।। 7. 4. 117. ।।

कृत्प्रत्ययः प्रकृत्यादेः समुदायस्य गतिकारकपूर्वस्य अपिशब्दात्–केवलस्यापि विशेषणं भवति, यथेह समासो भवति भस्मनिहुतम् प्रवाहेमुत्रितम् तथा उदकेविशीर्णम् अवतप्तेनकुलस्थितमिति सगतिकेन सकारकेण च क्तान्तेन ``क्तेन'' (3. 1. 92.) इति समासः सिद्धो भवति । तथा व्यावक्रोशी व्यावहासी सांकौटिनं सांराविणमिति ``नित्यं ञञिनोऽण्'' (7. 3. 58.) इति अण् सिद्धः । ``प्रत्ययः प्रकृत्यादेः'' (7. 4. 115.) इत्यतोऽप्राप्ते वचनम् ।।117।।

परः ।। 7. 4. 118. ।।

यः प्रत्यय स प्रकृतेः पर एव भवति । अजा, खट्वा, वृक्षः, वृक्षौ, वृक्षाः, जुगुप्सते, मीमांसते, कार्यम्, गम्यम्, औपगवः ॥118॥

स्पर्द्धे ॥ 7. 4. 119. ॥

द्वयोर्विध्योरन्यत्र सावकाशयोस्तुल्यबलयोः एकत्र अनेकत्र च उपनिपातः स्पर्धः तत्र यः सूत्रपाठे परः स विधिर्भवति । ``शसोऽता सश्च नः पुंसि'' (1. 4. 49.) इत्यस्यावकाशो वृक्षान् मुनीन् । ``नपुंसकस्य शिः'' (1. 4. 55.) इत्यस्य तु महान्ति यशांसि । इहोभयं प्राप्नोति वनानि मधूनि,–तत्र परत्वाच्छिरेव भवति । अयं तावदेकस्य द्विकार्ययोगे स्पर्ध उक्तः । अनेकस्याप्यसंभवे सति भवति । ``ईः षोमवरुणेऽग्नेः'' (3. 2. 42.) इत्यस्यावकाशोऽग्नीवरुणो, ``देवतानामात्वादौ'' (7. 4. 28.) इति वृद्धेरवकाश आग्नावैष्णवं हविः, इहोभयं प्राप्नोति । आग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत । परत्वात्तु वृद्धिर्भवति । अत्र ह्यग्नेरीत्वं वरुणशब्दस्य च वृद्धिरिति नैको द्विकार्ययुक्तः । असंभवस्त्वस्ति वृद्धौ सत्याम् ``इर्वृद्धिमत्यविष्णौ'' (3. 2. 43.) इति अग्नेरीत्वापवाद इर्भवति, परस्परप्रतिबन्धेनाप्रवृत्तौ पर्याये वा प्राप्ते वचनम् ॥119॥

*न्या०स०–स्पर्धे०–*एकत्रेति एकत्र एकस्मिन् स्थानिनि । उपनिपातः प्रसङ्गो द्वयोर्विध्योरित्यर्थः । अनेकत्र चेति अनेकस्मिन् स्थानिनि उपनिपातो द्वयोर्विध्योरित्यर्थः ।

आसन्नः ॥ 7. 4. 120. ॥

इह आसन्नानासन्नप्रसङ्गे यथास्वं स्थानार्थप्रमाणादिभिरासन्न एव विधिर्भवति । तत्र स्थानेन, दण्डाग्रम्, क्षुपाग्रम्, कण्ठ्ययोरकारयोः कण्ठ्य एवाकारो दीर्घो भवति । अर्थेन, वातण्ययुवतिः, दारदवृन्दारिका, अत्र वतण्डीशब्दस्य दरच्छब्दस्य च ``पुंवत्कर्मधारये'' (3. 2. 57.) इति पुंवद्भावे कर्तव्ये अर्थत आसन्नो वातण्ड्यभावो दारदभावश्च भवति । प्रमाणेत, अमुष्मै । अमूभ्याम् ``मादुवर्णोऽनु'' (2. 1. 47.) इति मात्रिकस्य मात्रिको द्विमात्रस्य च द्विमात्रः ॥120॥

*न्या०स०–आस०–*दारदभावश्चेति न तु वतण्डदरद्भावः पुंस्त्वं तु तस्यापि विद्यत एव परमनासन्नो गोत्रानभिधानात् ।

संबन्धिनां संबन्धे ॥ 7. 4. 121. ॥

संबन्धिशब्दानां यत्कार्यमुक्तं तत्संबन्ध एव सति भवति नान्यथा । 'श्वशुराद्यः'। श्वशुरस्यापत्यं श्वशुर्यः । संज्ञाशब्दात्तु इञेव । श्वाशूरिः । ''मातृपितुः स्वसुः'' (2. 3. 18.) मातृष्वसा, धान्यमातुः स्वसुस्तु न भवतिमातृस्वसा ।।121।।

समर्थः पदविधिः ।। 7. 4. 122. ।।

समर्थपदाश्रितत्वात्समर्थः । पदसंबन्धी विधिः पदविधिः, तेन यः पदाद्विधिः यश्च पदे यश्च पदस्य पदयोः पदानां वा स सर्वः पदविधिरेव, सर्वः पदविधिः समर्थो वेदितव्यः । समर्थानां पदानां विधिर्वेदितव्य इत्यर्थः । तच्च सामर्थ्यं व्यपेक्षा एकार्थीभावश्च । अत्र व्यपेक्षायां संबद्धार्थः संप्रेक्षितार्थो वा पदविधिः साधुर्भवति । एकार्थीभावे तु विग्रहवाक्यार्थाभिधाने यः शक्तः संगतार्थः संसृष्टार्थो वा पदविधिः स साधुर्भवति, अत्र च पदानि उपसर्जनीभूतस्वार्थानि निवृत्तस्वार्थानि वा प्रधानार्थोपादानात् द्व्यर्थानि अर्थान्तराभिधायीनि वा भवन्ति । पदविधिश्च समासनाम–धातुकृत्तद्धितोपपद–विभक्तियुष्मदस्मदादेश–प्लुतरूपो भवति । तत्र समासः, द्वितीया 'श्रितादिभिः' । धर्मं श्रितः धर्मश्रितः, 'तृतीया तत्कृतैः' । शङ्कुलया कृतः खण्डः शङ्कुलाखण्डः । 'चतुर्थी प्रकृत्या' यूपाय दारु यूपदारु, 'पञ्चमी भयाद्यैः' वृकाद्भयं वृकभयम्, 'षष्ठ्ययत्नाच्छेषे' राज्ञः पुरुषः राजपुरुषः, 'सप्तमी शौण्डाद्यैः' अक्षेषु शौण्डः अक्षशौण्डः, 'विशेषणं विशेष्येणैकार्थं कर्मधारयश्च' नीलं च तदुत्पलं च नीलोत्पलम्, एषु पूर्वोत्तरपदयोर्वाक्यावस्थायां परस्पराकाङ्क्षालक्षणा व्यपेक्षा । वृत्त्यवस्थायां तु पृथगर्थानां सतामेकार्थीभाव इति । तथा हि–धर्ममित्येतत्–साधनत्वात्–साध्यभूतां क्रियामपेक्षते । श्रित इत्येतदपि श्रयणक्रियोप–सर्जनकर्तृ वाचि स्वक्रियाविषयं साधनमपेक्षते, तयोश्च परस्परसंसर्गात् मूर्छितावयव इव वृत्तावेकार्थीभावो भवति ।

धर्मं श्रितो धर्मश्रितश्चैत्र इति, एवं शङ्कुलया कृतः खण्डः शङ्कुलाखण्ड इति, कर्तृकर्मणोर्गम्यमान–करोतिक्रियाकृता वाक्ये व्यपेक्षा । वृत्तावेकार्थीभावः, एवं चतुर्थीसमासादावपि यूपायेत्यादि सामान्यमवच्छेदाय भेदानाकाङ्क्षति किं यूपाय गच्छत्यागच्छति पुष्पं दारु वेति । दार्वपि यूपाय गृहाय दाहाय वेति भेदानाकाङ्क्षति । एवं सर्वत्र उपसर्जनानां प्रधानानां च परस्परमाकाङ्क्षावतां क्वचित्प्रकृतिविकार–भावलक्षणः क्वचिदवध्यवधिमद्भावात्मकः क्वचित्स्वस्वामिभावः क्वचिद्विषयविषयि–भावरूपः संबन्धो वाक्ये व्यपेक्षा, वृत्तौ त्वेकार्थीभावः । एवं नीलमित्येतद्विशेषणं गुणत्वात् द्रव्यमाकाङ्क्षति । उत्पलमित्येतदपि सर्वोत्पलाव–ग्रहरूपेण प्रवृत्तं सद्विशेष्यत्वा–द्विशेषणं गुणमाकाङ्क्षति । वृत्तौ पुनरेकार्थीभावेन पांसूदकवदविभागापन्नौ तावुभावप्यर्थावे क–स्मिन्नधिकरणे मूर्छिताविव भवतः । नीलं च तदुत्पलं च नीलोत्पलमिति,

तदेतत्सामर्थ्यम–विशेषोक्तमपि लोकव्यपेक्षया वृत्त्यवृत्त्योः स्वभावेन विभक्तमवतिष्ठते । यत्र त्वसामर्थ्यं तत्र समासो न भवति । पश्य धर्मम् श्रितो मैत्रो गुरुकुलम्, किं ते शङ्कुलया खण्डो मैत्र उपलेन, गच्छ यूपाय दारु शोभनं शैले, निवर्तस्व व्याघ्रात् भयं चैत्रस्य मैत्रात्, भार्या राज्ञः, पुरुषो देवदत्तस्य सक्तस्त्वमक्षेषु, शौण्डः पिबति पानागारे इति, नामधातुः, पुत्रमिच्छति पुत्रीयति, श्येन इवाचरति श्येनायते । समर्थ इति किम् ? पश्यति पुत्रमिच्छति सुखम्, कृत्- कुम्भं करोति कुम्भकारः, समर्थ इति किम् ? पश्य कुम्भं करोति कटम् । तद्धितः, उपगोरपत्यमौपगवः । समर्थ इति किम् ? गृहमुपगोरपत्यं तव । उपपदविभक्तिः नमो देवेभ्यः, अभिजानासि देवदत्त काश्मीरेषु वत्स्यामः, उपाध्यायश्चेदा–गच्छेदाशंसे युक्तोऽधीयीय ।

समर्थ इति किम् ? इदं नमो देवाः शृणुत, देवदत्त मातरं स्मरसि, अवसाम दीर्घं मगधेषु । युष्मदस्मदादेशः, धर्मस्ते स्वं धर्मो मे स्वम् । धर्मो वः स्वं धर्मो नः स्वम् । समर्थ इति किम् ? ओदनं पच, तव भविष्यति, मम भविष्यति । प्लुत, अङ्ग कूज 3 इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म । समर्थ इति किम् ? अङ्ग कूजत्ययमिदानीं ज्ञास्यति जाल्मः । पदग्रहणाद्वर्ण–विधिरसामर्थ्येऽपि भवति, तिष्ठतु दध्यशान त्वं शाकेन । तिष्ठतु कुमारीच्छत्रं हर देवदत्तेति । यत्वं द्वित्वं च भवति । एवं समासनामधातु–कृत्तद्धितेषु वाक्ये व्यपेक्षा वृत्तावेकार्थीभावः । शेषेषु पुनर्व्यपेक्षैव सामर्थ्यं भवति । ननु च राज्ञः पुरुषमानयेत्युक्ते योऽर्थे आनीयते राजपुरुषमान–येत्यप्युक्ते स एव तत्कोऽत्र व्यपेक्षैकार्थीभावयोर्विशेषः । उच्यते, संख्याविशेषो व्यक्ताभिधान–मुपसर्जनविशेषणं चयोगश्चेति । तत्र राज्ञः पुरुषः राज्ञोः पुरुषः राज्ञां पुरुषः इति वाक्ये संख्याविशेषो भवति, समासे न भवति । राजपुरुषः । वाक्ये ह्युपसर्जनानि विभक्तार्थाभिधा–यित्वात्–संख्याविशेषयुक्तं स्वार्थं प्रतिपादयन्ति । समासेऽन्तर्भूतस्वार्थं प्रधानार्थमभिदधतीत्य–भेदैकत्वसंख्यां गमयन्ति । संख्याविशेषाणाम–विभागेनावस्थानम–भेदैकत्वसंख्या ।।

'यथौषधरसाः सर्वे मधुन्याहितशक्तयः ।
'अविभागेन वर्तन्ते तां संख्यां तादृशीं विदुः' ।।1।।

विभक्तिवाच्यैव तु संख्या वृत्तौ निवर्तते नामादिगम्या तु न निवर्तते । यथा द्विपुत्रः पञ्चपुत्र इत्यादौ नामार्थ एवं संख्याविशेषः । तावकीनो मामकीन इत्यादेशा– भिव्यङ्ग्यमेकत्वम् । शौर्षिकः मासजात इति परिमाणस्वाभाव्यादे–कत्वसंख्यावगमः । कारकमध्यं व्यञ्जनमध्यमित्यादौ मध्यान्यथानुपपत्त्या द्वित्वावगमः । यत्रापि वृत्तौ विभक्तेर्लुब् नास्ति दास्याः पुत्र देवानांप्रियः आमुष्यायणः अप्सव्यः गोषुचरः वर्षासुज इति तत्रापि संख्याविशेषो नास्ति सामान्येन विशेषणमात्रप्रतीतेः । अत एव वृत्तो संख्याभेदाभावात्स्वभावतो निवृत्ता विभक्तिर्लुपा अन्वाख्यायते, अलुप्समासे तु शब्दान्तरं विभक्त्यन्तप्रतिरूपावयवमनेनोपायेन प्रतिपाद्यते, तथा वाक्ये व्यक्ताभिधानं

भवति । ब्राह्मणस्य कम्बलस्तिष्ठति । समासे पुनरव्यक्तंः ब्राह्मणकम्बलस्तिष्ठतीति, संदिह्यतेऽत्र षष्ठीसमासो वा संबोधनं वेति । किंचित्पुनरव्यक्तं वाक्ये । यथार्धं पशोर्देवदत्तस्येति । पशुगुणस्य वा देवदत्तस्य यदर्धं यो वा संज्ञीभूतो पशुस्तस्य यदर्धमिति । तच्च समासे व्यक्तम् अर्धपशु देवदत्तस्येति, तथा वाक्ये उपसर्जनविशेषणं भवति । ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः, समासे न भवति । राजपुरुषः । यथाहुः—'सविशेषणानां वृत्तिर्न वृत्तस्य वा विशेषणं न प्रयुज्यत इति' । विशेषणयोगे हि सापेक्षत्वेनागमकत्वात्सामर्थ्यं न भवति । यत्र च क्वचिद्विशेषणयोगेऽपि गमकत्वं तत्र भवत्येव समासः यथा देवदत्तस्य गुरुकुलम्, यज्ञदत्तस्य दासभार्या । यदाह—

'संबन्धिशब्दः सापेक्षो, नित्यं सर्वः प्रवर्तते ।
स्वार्थवत्सा व्यपेक्षास्य वृत्तावपि न हीयते ।।1।।'

तथा वाक्ये चयोगो भवति स्व—चयोगः स्वामि—चयोगश्च । राज्ञो गौश्चाश्वश्च पुरुषश्च । चैत्रस्य मैत्रस्य मित्रस्य च गोः । समासे न भवति । राज्ञो गोऽश्वपुरुषाः । चैत्रमैत्रमित्राणां गौरिति । यदि समर्थः पदविधिः कथमसामर्थ्ये सूर्यमपि न पश्यन्त्यसूर्यंपश्या राजदाराः, पुनर्न गीयन्तेऽपुनर्गेयाः श्लोकाः, श्राद्धं न भुङ्क्तेऽश्राद्धभोजी, अलवणभोजी, सर्वश्चर्मणा कृतः सार्वचर्मीणो रथः, कृतः पूर्वं कटोऽनेनेति कृतपूर्वी कटम् इत्याद्या वृत्तयो भवन्ति । किं हि वचनान्न भवति ।।122।।

*न्या०स०—सम०—*व्यपेक्षेति परस्पराकाङ्क्षेत्यर्थः सा च वाक्ये संभवति, एकार्थीभावस्तु समासे । संबद्धार्थ इति संबद्धोऽर्थो यस्य यत्र झटित्येव पदानामन्वयः प्रतीयते राज्ञः पुरुष इत्यादौ संबद्धार्थः पदविधिः ।

संप्रेक्षितार्थ इति संप्रेक्षितः कष्टकल्पनया प्रतीतोऽर्थो यत्र यथा—

राजोत्पले हरिभुजामिह के शवस्य, यस्योरसीन्दुरदनं च जटाकलापे ।
शं खाम्बरोऽपि पवनादरिनाथसूनुः, कान्ता स वोऽगतनया विपुलं ददातु ।।1।।

इत्यादौ क्लिष्टकाव्ये कष्टकल्पनयार्थः प्रतीयते, अस्य काव्यस्य व्याख्या—

यस्योरसि हरिभुजां वायुभुजां सर्पाणां राजा शेषः, यस्य च जटाकलापे इन्दुर्यस्य च शवस्य के मृतकस्य के मस्तके उत्पले निर्मांसे अदनं भक्षणं, यस्य च कान्तागतनयाद्रिसुता स खाम्बरोऽपि विपुलं शं सुखं वो ददातु, पवनात् सर्पस्तस्यारिर्मयूरस्तस्य नाथः कार्तिकेयः स सूनुर्यस्येत्यर्थः ।

संगतार्थो गतार्थः, यथा वीरपुरुषको ग्रामः अतिखट्व इति, अत्र हि पदानामर्थः सर्वोऽपि गतः समासार्थ एव प्रतीयते, संसृष्टार्थस्तु मिलितार्थः, यथा राजपुरुष इति ।

द्व्यर्थानीति प्रधानोऽर्थः समासार्थलक्षणस्तदुपादानात् द्व्यर्थानीति, अयमर्थः, एकस्तावन् प्रधानोऽर्थः परः स्वार्थ इति द्व्यर्थता ।

अर्थान्तराभिधायीनीति अर्थान्तरं समासार्थलक्षणं तदभिधायीनीति ।

मूर्च्छितावयव इवेति मूर्च्छितभिन्नपदार्थावयव इत्यर्थः । उपसर्जनानां प्रधानानां चेति द्वितीयाद्यन्तानां विशेषणानां प्रथमान्तानां विशेष्याणां चेत्यर्थः ।

द्रव्यमाकाङ्क्षतीति द्रव्याश्रयो गुण इति गुणलक्षणात् । अङ्ग कूजत्ययमिति अत्र ``त्यादेः साकाङ्क्षस्य'' (7. 4. 91.) इत्यनेन सूत्रेणायमित्यनेन आकाङ्क्ष्यमाणस्य इदानीं ज्ञास्यतीत्यस्य वाक्यस्य भेदकत्वेनासामर्थ्यात् प्लुतो न भवति ।

परिमाणस्वाभाव्यादिति यद्यपि सूर्पाभ्यां सूर्पैर्वा क्रीत इति मासौ मासा वा जातस्येति विग्रहे संख्याविशेषोऽस्ति, तथापि वृत्तौ परिमाणस्वाभाव्यादेकत्वमेव प्रतीयते ।

अन्वाख्यायत इति नहि विद्यमानेऽर्थे विभक्तेर्लुबन्वाख्यायते अपि तु संख्याभेदाभावात् कोऽर्थः ? एकत्वद्वित्वबहुत्वाभावात् स्वत एव निवृत्ता विभक्तिः ``ऐकार्थ्ये'' (3. 2. 8.) इति लुपान्वाख्यायते ।

चयोगो भवतीति वाक्ये भिन्नत्वात् पदार्थानां भेदनिबन्धनसमुच्चयद्योतनाय च शब्दः प्रयुज्यते, वृत्तौ तु समूहलक्षणैकार्थप्रादुर्भावात् भेदस्य निवर्त्तनात् द्योत्यार्थाभावात् द्योतकस्य चशब्दस्य निवृत्तिः ।

कथमसामर्थ्ये इत्यादि–अत्र हि सूर्यकर्म्मिकया दृशिक्रियया नञः संबन्धः, न सूर्यसत्तया । पुनर्न गीयन्त इति गानेन नञः संबन्धो न पुनः शब्दार्थेन ।

अश्राद्धभोजीत्यादौ तु भुजिना नञः संबन्धो न श्राद्धादिना श्राद्धादिभोजननिषेधावगमात्, एवं सार्वचर्म्मीणः कृतपूर्वीत्यत्र सर्वशब्दस्य कृतशब्देन कृतशब्दस्य कटशब्देन च संबन्धो न चर्म्मपूर्वशब्दाभ्यामिति । किं हि वचनान्न भवतीति गमकत्वात् ``नञ्'' (3. 1. 51.) इत्यनेनासामर्थ्येऽपि बाहुलकाद् भवतीत्यर्थः ।

इति व्याकरणस्य सारोद्धारप्रकरणे सप्तमस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ।

(प्रशस्तिः)

आसीद् वादिद्विरदपृतनापाटने पञ्चवक्त्र
श्चान्द्रेगच्छेऽच्छतरधिषणो चर्म्मसूरिर्मुनीन्द्रः ।
पट्टे तस्याजनि जनमनोऽनोकहानन्दकन्दः,
सूरिः सम्यग्गुणगणनिधिः, ख्यातिभाग् रत्नसिंहः ॥1॥

यस्योपरागसीमाय-मुदयः परभागभाग् ।
देवेन्द्रसूरिस्तत्पट्टे, जज्ञे नव्यो नभोमणिः ॥2॥

इतश्च– निर्वीराधनमुक्तिशास्त्ररचनाभीवावधोत्सर्प्पणा-
श्रीकौमारविहारमण्डितमही, भूपप्रबोधादिका ।
क्षीरोदोदधिमुद्रितेऽवनितले, यस्योर्जिताः केलयः,
सोऽभूत्तीर्थकरानुकारिरचनः (चरितः) श्रीहेमचन्द्रो गुरुः ॥3॥

किंच– भूपालमौलिमाणिक्य, मालालालितशासनः ।
दर्शनषट्कनिस्तन्द्रो हेमचन्द्रो मुनीश्वरः ॥4॥
तेषामुदयचन्द्रोऽस्ति, शिष्यः संख्यावतां वरः ।
यावज्जीवमभूद्यस्य, व्याख्याज्ञानामृतप्रपा ॥5॥
तस्योपदेशाद् देवेन्द्रसूरिः शिष्यलवो व्यधात् ।
न्याससारसमुद्धारं, मनीषी कनकप्रभः ॥6॥

तद्धितावचूर्णिका समाप्ता ।

``इति लघुन्यासप्रशस्तिः''

ये तु शास्त्रे सूचिता लोकसिद्धाश्च न्याया न तदर्थ यत्नः क्रियते । स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा ॥1॥ सुसर्वार्द्धदिक्शब्देभ्यो जनपदस्य ॥2॥ ऋतोर्वृद्धिमद्विधाववयवेभ्यः ॥3॥ स्वरस्य ह्रस्वदीर्घप्लुताः ॥4॥ आद्यन्तवदेकस्मिन् ॥5॥ प्रकृतिवदनुकरणम् ॥6॥ एकदेशविकृतम-नन्यवत् ॥7॥ भूतपूर्वकस्तद्वदुपचारः ॥8॥ भाविनि भूतवदुपचारः ॥9॥ यथासंख्यमनुदेशः समानानाम् ॥10॥ विवक्षातः कारकाणि ॥11॥ अपेक्षातोधिकारः ॥12॥ अर्थवशाद्विभक्ति-परिणामः । अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य (ग्रहणम्) ॥14॥ लक्षणप्रतिपदोक्तयाः प्रतिपदोक्तस्यैव (ग्रहणम्) ॥15॥ नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ॥16॥ प्रकृतिग्रहणे यङ्लुबन्तस्यापि ॥17॥ श्तिवा शवाऽनुबन्धेन निर्दिष्टं यद्गणेन च । एकस्वरनिमित्तं च पञ्चैतानि न यङ्लुपि ॥18॥ संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य ॥19॥ असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे ॥20॥ न स्वरा-नन्तर्ये ॥21॥ गौण मुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः ॥22॥ कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे ॥23॥ क्वचिदुभयगतिः ॥24॥ सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः ॥25॥ धातोः स्वरूपग्रहणे तत्प्रत्यये कार्यविज्ञानम् ॥26॥ नञ्युक्तं तत्सदृशे ॥27॥ उक्तार्थानामप्रयोगः ॥28॥ निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याप्यभावः ॥29॥ संनियोगशिष्टानामेकापायेऽन्यतरस्याप्यपायः ॥30॥ नान्वाचीयमाननिवृत्तौ प्रधानस्य ॥31॥ निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धकस्य ॥32॥ एकानुबन्धग्रहणे

न द्व्यनुबन्धकस्य ॥33॥ नानुबन्धकृतान्यसारूप्यानेकस्वरत्वानेकवर्णत्वानि ॥34॥ समासान्तागमसंज्ञाज्ञापकगणनञ्निर्दिष्टान्यनित्यानि ॥35॥ पूर्वेऽपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् ॥36॥ मध्येऽपवादाः पूर्वान् ॥37॥ यं विधि प्रत्युपदेशोऽनर्थकः स विधिर्बाध्यते ॥38॥ यस्य तु विधेर्निमित्तमेव नासौ बाध्यते ॥39॥ येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधकः ॥40॥ बलवन्नित्यमनित्यात् ॥41॥ अन्तरङ्ग बहिरङ्गात् ॥42॥ निरवकाशं सावकाशात् ॥43॥ वार्णात् प्राकृतम् ॥44॥ य्वृत् य्वृदाश्रयं च ॥45॥ उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिः ॥46॥ लुबन्तरङ्गेभ्यः ॥47॥ सर्वेभ्यो लोपः ॥48॥ लोपात्स्वरादेशः ॥49॥ आदेशादागमः ॥50॥ आगमात्सर्वादेशः ॥51॥ परान्नित्यम् ॥52॥ नित्यादन्तरङ्गम् ॥53॥ अन्तरङ्गाच्चानवकाशम् ॥54॥ उत्सर्गादपवादः ॥55॥ अपवादात् क्वचिदुत्सर्गोऽपि ॥56॥ नानिष्टार्था शास्त्रप्रवृत्तिरिति ॥57॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां श्रीसिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानुशासनबृहद्वृत्तौ सप्तमस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥7।4॥

क्षितिधव ! भवदीयः क्षीरधारावलक्षै–
रिपुविजययशोभिः श्वेत एवासिदण्डः ॥
किमुत कवलितैस्तैः कज्जलैर्मालवीनां
परिणतमहिमाऽसौ नीलिमानं बिभर्ति ॥1॥

इति सप्तमोऽध्यायः ॥

निस्सीमप्रतिभैकजीवितधरौ निःशेषभूमिस्पृशां,
पुण्यौघेन सरस्वतीसुरगुरू स्वाङ्गैकरूपौदधत् ।
यः स्याद्वादमसाधयन्निजवपुर्दृष्टान्ततः सोऽस्तु मे,
सद्बुद्धयम्बुनिधिप्रबोधविधये श्रीहेमचन्द्रः प्रभुः ॥

श्री मल्लिषेणसूरिः ॥

समाप्त

जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर, मरुधररत्न, पू.आ. श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा. द्वारा मुख्यतया हिन्दी भाषा में आलेखित 259 पुस्तकों में से उपलब्ध एवं अवश्य पठनीय साहित्य-सूची

Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य
1.	पंच-प्रतिक्रमण सूत्र (भाग-1)	210/-
2.	पंच-प्रतिक्रमण सूत्र (भाग-2)	220/-
3.	पंच-प्रतिक्रमण सूत्र (भाग-3)	125/-
4.	पंच-प्रतिक्रमण सूत्र (भाग-4)	135/-
5.	आओ संस्कृत सीखें भाग-1	150/-
6.	आओ संस्कृत सीखें भाग-2	400/-
7.	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-2	85/-
8.	विवेकी बनो	90/-
9.	प्रवचन-वर्षा	60/-
10.	आओ श्रावक बनें !	25/-
11.	व्यसन-मुक्ति	100/-
12.	श्रावक जीवन दर्शन	250/-
13.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (41 से 57)	275/-
14.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (58 से 80)	280/-
15.	सात वासुदेव-प्रतिवासुदेव बलदेव	50/-
16.	समाधि मृत्यु	80/-
17.	Pearls of Preaching	60/-
18.	New Message for a New Day	600/-
19.	Panch Pratikraman Sootra	100/-
20.	अमृत रस का प्याला	300/-
21.	ध्यान साधना	40/-
22.	जीव विचार विवेचन	100/-
23.	नवतत्त्व विवेचन	110/-
24.	दंडक सूत्र विवेचन	90/-
25.	लघु संग्रहणी	140/-
26.	तीन भाष्य	150/-
27.	पहला कर्मग्रन्थ	160/-
28.	दूसरा कर्मग्रन्थ	55/-
29.	तीसरा कर्मग्रन्थ	90/-
30.	चौथा कर्मग्रन्थ	140/-
31.	पाँचवाँ कर्मग्रन्थ	160/-
32.	छठा-कर्मग्रन्थ	210/-
33.	गणधर-संवाद	80/-
34.	आओ ! उपधान पौषध करें !	130/-
35.	विविध देववंदन	100/-
36.	भव आलोचना	10/-
37.	आध्यात्मिक पत्र	60/-
38.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-1	125/-
39.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-2	175/-
40.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-3	150/-
41.	श्री नमस्कार महामंत्र	180/-
42.	परमेष्ठि-नमस्कार	180/-
43.	आठ कर्म निवारण पूजाएं	200/-
44.	तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-1	200/-
45.	तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-2	200/-
46.	सज्झायों का स्वाध्याय	100/-
47.	सम्यग्दर्शन का सूर्योदय	160/-
48.	श्रमण क्रिया के मुख्य सूत्र	200/-
49.	कल्पसूत्र के हिन्दी प्रवचन	240/-
50.	पर्युषण अष्टाह्निका प्रवचन	120/-
51.	आओ ! पर्युषण प्रतिक्रमण करें !	150/-
52.	प्रतिक्रमण उपयोगी संग्रह	80/-
53.	मन के जीते जीत है	80/-
54.	प्रात: स्मरणीय महापुरुष भाग-1	300/-
55.	प्रात: स्मरणीय महापुरुष भाग-2	300/-
56.	प्रात: स्मरणीय महासतियाँ भाग-1	280/-
57.	प्रात: स्मरणीय महासतियाँ भाग-2	300/-
58.	इन्द्रिय पराजय शतक	150/-
59.	संबोह-सित्तरि (वैराग्य का अमृत कुंभ)	160/-
60.	वैराग्य-शतक	140/-
61.	आनन्दघन चौबीसी विवेचन	200/-
62.	धर्म-बीज	140/-
63.	45 आगम परिचय	200/-
64.	नित्य देववंदन	निशुल्क
65.	श्री भद्रंकर प्रश्नोत्तरी	170/-
66.	अध्यात्मयोगी से प्रश्नोत्तर	160/-
67.	कोयंबत्तुर-प्रवचन	150/-
68.	दक्षिण भारत प्रवचन	160/-
69.	महावीर-प्रभु की अंतिम देशना	220/-
70.	योग की आठ दृष्टियाँ	430/-
71.	साचा माणस बनीए ! (गुजराती)	300/-
72.	शुभ-संदेश	250/-
73.	भक्ति से मुक्ति	200/-
74.	सहनशील बनों (22 परीषह)	180/-
75.	नवपद आराधना विधि	नवपद आराधना
76.	शत्रुंजय की भाव यात्रा	230/-
77.	नवकार-प्रवचन	180/-
78.	10 श्रमण-धर्म	250/-
79.	श्री सिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनम् (प्रथमो भाग:)	1170/-
80.	श्री सिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनम् (द्वितीयो भाग:)	1040/-
81.	श्री सिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनम् (तृतीयो भाग:)	900/-
82.	श्री सिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनम् (चतुर्थो भाग:)	1270/-

पुस्तक प्राप्ति स्थान : दिव्य सन्देश प्रकाशन C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट,कालबादेवी, मुंबई-400 002.

M. 84 84 84 84 51 (only whatsapp)

Kamal PRINTER'S
M. 9820530299